

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ५९
प्राकृत भारती अकादमी पुष्प : ११०

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय

लेखक
डॉ० सागरमल जैन



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

लेखक



डॉ० सागरमल जैन का जन्म मध्यप्रदेश के शाजापुर नगर में सन् १९३२ में हुआ था। सन् १९६३ में आप एम० ए० (दर्शनशास्त्र) करने के पश्चात् १९६४ से मध्य-प्रदेश शासकीय महाविद्यालय में प्रवक्ता पद पर कार्यरत हो गये। १९६९ में

आपने 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' जैसे गम्भीर विषय पर पी-एच० डी० की। १९६४ से १९७९ तक लगातार शिक्षण कार्य करने के पश्चात् १९७९ में आपको पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक पद हेतु आमन्त्रित किया गया जिसकी आपने सहर्ष स्वीकृति दे दी। तब से आप पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक पद को सुशोभित कर रहे हैं।

आपने लगभग २० स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन तथा ६० से भी अधिक ग्रन्थों का कुशल सम्पादन किया है। २० छात्र अब तक आपके निर्देशन में पी-एच० डी० प्राप्त कर चुके हैं। आपके अनेकों शोध-पत्र देश-विदेश के विभिन्न-पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। जैन साहित्य की विशिष्ट सेवाओं के लिए आपको अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है जिनमें डिप्टी-मल पुरस्कार, प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार, आचार्य हस्ती-मल पुरस्कार एवं रामपुरिया पुरस्कार मुख्य हैं। अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् के आप संस्थापक रहे हैं। १९८५ एवं १९९३ में आपको विश्वधर्म संसद शिकागो में जैन धर्म के प्रतिनिधि प्रवक्ता के रूप में आमन्त्रित किया गया। आज भी प्रतिवर्ष जैन धर्म-दर्शन पर विशिष्ट व्याख्यान हेतु आपको अमेरिका, इंग्लैंड आदि देशों में आमन्त्रित किया जाता है।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ५९

प्राकृत भारती अकादमी पुष्प : ११०

जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय

लेखक

डॉ० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई० टी० आई० रोड, करौंदी

पो. : बी० एच० यू०, वाराणसी - २२१ ००५

दूरभाष : ३११४६२

एवं

प्राकृत भारती अकादमी

३८२६, यति श्यामलाल जी का उपाश्रय

मोती सिंह भोमियों का रास्ता

जयपुर - ३०२ ००३ (राज०)

प्रथम संस्करण : १९९६

मूल्य : १००.०० रुपये

मुद्रक

वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी - १०

ISBN 81-96715-17-7

Publisher

Pārśvanātha Vidyāpīṭha

I. T. I. Road, Karaundi,

P. O. : B. H. U., Varanasi - 221 005

Phone : 311462

&

Prākṛta Bhāratī Academy

3826, Yati Shyamlal Ji Ka Upashraya

Moti Singh Bhomiyon Ka Rasta

Jaipur - 302 003 (Raj.)

First Edition : 1996

Price : Rs. 100.00

Printed at

Vardhaman Mudranalaya

Varanasi - 10

प्रकाशकीय

जैन धर्म के दो प्रमुख सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बर तो प्रसिद्ध ही हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त जैनों का एक सम्प्रदाय और भी था, जो यापनीय के नाम से जाना जाता था। यह सम्प्रदाय ईसा की पाँचवीं शती से लेकर पन्द्रहवीं शती तक की एक सहस्र वर्ष की सुदीर्घ अवधि में अस्तित्व में रहा है। साहित्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से जैन धर्म को इसका अवदान महत्त्वपूर्ण रहा है। इस सम्प्रदाय के अनेकों ग्रन्थ आज भी दिगम्बर परम्परा में आगमत्तुल्य माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय की विशेषता यह है कि यह श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के मध्य एक योजक कड़ी का कार्य करता है। जहाँ एक ओर यह स्त्रीभक्ति, केवली-भुक्ति तथा आगमों का अस्तित्व आदि प्रश्नों पर श्वेताम्बर परम्परा से सहमत है, तो वहीं दूसरी ओर मुनि की अचेलता को लेकर दिगम्बर परम्परा का भी समर्थन करता है। लगभग सहस्र वर्ष की लम्बी अवधि में इस सम्प्रदाय में अनेक आचार्य और मुनि हुए हैं, जिन्होंने विपुल साहित्य का सृजन किया है। इसके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित अनेक मन्दिर एवं अभिलेख भी उपलब्ध होते हैं, जो इसकी महत्ता को स्थापित करते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इस सम्प्रदाय के विषय में जनसाधारण एवं विद्वत् वर्ग दोनों ही में जानकारी का प्रायः अभाव ही है। कुछ स्वतन्त्र लेखों और मात्र श्रीमती कुसुम पटोरिया की कृति **यापनीय सम्प्रदाय और उसका साहित्य** को छोड़ कर इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्रकाश में नहीं आयी है। इस सम्बन्ध में जैन विद्या के अधिकृत विद्वान डॉ० सागरमल जैन ने गम्भीरता से अध्ययन करके इस वृहद्काय ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में उन्होंने सम्प्रदाय निरपेक्ष होकर तथ्यों को प्रस्तुत करने का यथासम्भव प्रयत्न किया है। प्रस्तुत कृति के मूल्य और महत्त्व का निर्धारण तो विद्वद्गण करेंगे, हमें तो केवल इतना तोष है कि हमने इस अज्ञात सम्प्रदाय के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध लेखक की कृति को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है जिससे जन-जन को इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध हो सके।

प्रस्तुत कृति का प्रकाशन **पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी** और **प्राकृत**

भारती अकादमी, जयपुर दोनों के द्वारा संयुक्त रूप से किया जा रहा है। यह ग्रन्थ संयुक्त रूप से प्रकाशित हो इसके लिए प्राकृत भारती संस्थान के निदेशक महोपाध्याय विनयसागर जी के प्रयत्नों एवं ग्रन्थ के लेखक एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के निदेशक डॉ० सागरमल जी की सहयोग भावना को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। ये दोनों ही संस्थाएँ सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से जैन विद्या के क्षेत्र में कार्य कर रही हैं और यही कारण था कि दोनों संस्थाओं ने सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से लिखे गये इस ग्रन्थ के प्रकाशन का दायित्व वहन किया है और इसके प्रकाशन में आर्थिक सहयोग किया है।

इस ग्रन्थ के लेखन-मुद्रण आदि का सम्पूर्ण कार्य पार्श्वनाथ विद्यापीठ में ही हुआ है, अतः ग्रन्थ के प्रकाशन की इस बेला में हम विद्यापीठ के समस्त स्टाफ और मुद्रक महावीर प्रेस के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

भवदीय

देवेन्द्रराज मेहता

मानद सचिव, प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

भूपेन्द्रनाथ जैन

मानद सचिव, पार्श्वनाथ विद्यापीठ,
वाराणसी

लेखकीय

प्रस्तुत कृति के प्रणयन की कथा अत्यन्त रोचक है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण, भगवान् महावीर की परम्परा का सही रूप में प्रतिनिधित्व करने वाला तथा वर्तमान श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं के मध्य योजक कड़ी के रूप में विकसित यह सम्प्रदाय मेरी अध्ययन-रुचि का विषय तो था ही और इसीलिए इस पर प्रो० उपाध्याय एवं पं० नाथूरामजी प्रेमी के निबन्धों के आधार पर लगभग ६०-७० पृष्ठों की एक लघु पुस्तिका लिखने का निर्णय लेकर यह कार्य प्रारम्भ भी किया था। तब मैंने यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि यह कृति इतना वृहद् आकार ले लेगी। मात्र सोचा यही था कि 'श्रमण' के विभिन्न अंकों में धारावाहिक लेख के रूप में इसे प्रकाशित कर बाद में इस लघु कृति को स्वतंत्र रूप से मुद्रित करवा दिया जायेगा। इसी आशय के साथ 'श्रमण' के दो अंकों में इस कृति की प्रारम्भिक सामग्री कम्पोजिंग हेतु प्रेस को दी गयी। जब उसका प्रूफ आया तो मैंने देखा कि उस प्रूफ के पीछे की तरफ **यापनीय सम्प्रदाय और उसका साहित्य** नामक किसी अन्य कृति का प्रूफ भी था, जो उसी प्रेस में मुद्रित हो रही थी जहाँ हमने अपनी कृति मुद्रणार्थ दी थी। जब मैंने सम्बन्धित प्रेस से सम्पर्क स्थापित किया तो ज्ञात हुआ कि श्रीमती कुसुम पटोरिया की यह कृति आधे से अधिक छप चुकी है और जल्द ही पूर्ण होने वाली है। अतः मैंने अपनी कृति का कम्पोजिंग कार्य उन दो फर्माँ के बाद रोक दिया जो श्रमण (जुलाई, १९८८) के साथ कृति के प्रथम अध्याय के रूप में मुद्रित हो चुके थे। श्रीमती पटोरिया की उस कृति का जब मैंने अध्ययन किया तो मुझे यह लगा कि इस सन्दर्भ में पर्याप्त संशोधन करके अभी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। क्योंकि श्रीमती पटोरिया की कृति से दो तथ्य स्पष्ट रूप से उभर कर मेरे सामने आये थे, एक तो यह कि उसमें श्वेताम्बर आगम साहित्य के आधार पर तथ्यों के आकलन के बिना ही निष्कर्ष निकाल लिये गये थे। दूसरे यह कि अधिकांश निष्कर्ष पूर्व के दिगम्बर विद्वानों — विशेषरूप से पं० नाथूरामजी प्रेमी, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार आदि के लेखों पर आधारित थे। उनमें कोई नवीनता नहीं थी। यद्यपि अनेक संदर्भों में मैं पं० नाथूराम जी प्रेमी और श्रीमती कुसुम पटोरिया के निष्कर्षों से सहमत हुआ हूँ किन्तु अधिकांशतः यह कृति पूर्व विद्वानों की मान्यताओं की समीक्षा के रूप में ही है। मैंने उनकी समीक्षा एवं नवीन तथ्यों के

उद्घाटन की दृष्टि को सामने रखकर इस कृति के प्रणयन को गति दी और इस कार्य में मैंने दिगम्बर साहित्य के साथ-साथ श्वेताम्बर आगमिक एवं आगमेतर साहित्य को भी आधार बनाया। कृति के मूल्य और महत्त्व का आकलन करना तो विद्वानों का कार्य है, किन्तु इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से यह निवेदन कर देना चाहूँगा कि प्रस्तुत कृति के प्रणयन की दीर्घ कालावधि के दौरान अनेक नवीन तथ्यों एवं जानकारियों के उपलब्ध होने पर मेरी अवधारणाओं में भी कहीं-कहीं परिवर्तन हुआ है। उदाहरण के रूप में प्रारम्भ में मैंने मूलसंघ को दिगम्बर मान लिया था, किन्तु बाद में मुझे जो साक्ष्य उपलब्ध हुए उनके आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि वस्तुतः मूलसंघ के प्राचीन अभिलेखीय उल्लेख दिगम्बर नहीं, बल्कि यापनीय हैं। यापनीय ग्रन्थों की मूलाचार, मूलआराधना (भगवती आराधना) जैसी संज्ञायें हमारे उक्त निष्कर्ष का समर्थन करती हैं। पाँचवीं शती के लगभग जब इस सम्प्रदाय का यापनीय नामकरण हुआ, तब तक दिगम्बर सम्प्रदाय तो 'निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय' नाम से ही जाना जाता था। चौथी-पाँचवीं शती के जिन दो अभिलेखों में 'मूलसंघ' शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ वे शब्द यापनीयों के ही सूचक हैं। पाठकों से मेरा अनुरोध है कि कृति में जहाँ कहीं ऐसे कुछ अन्तर्विरोध परिलक्षित हों, वहाँ परवर्ती उल्लेख को नवीन शोध का निष्कर्ष मानकर उसे ही मेरा मन्तव्य माना जाय। वस्तुतः प्रस्तुत कृति के प्रणयन में अनेक श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों के आद्योपान्त अध्ययन की अपरिहार्यता के कारण पर्याप्त श्रम के साथ-साथ समय भी लगा, किन्तु इससे मेरी अनेक पूर्व अवधारणाएँ टूटीं और अनेक नये तथ्य मेरी जानकारी में आये। इससे बाध्य होकर मुझे अपने परवर्ती लेखन में अपने ही पूर्व निष्कर्षों से भिन्न निष्कर्षों की स्थापना करनी पड़ी है, जो मेरी अनाग्रही दृष्टि का परिणाम है।

इस समस्त अध्ययन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि जैन संघ में जो विभिन्न सम्प्रदायों का उद्भव और विकास हुआ, वह देश-कालगत परिस्थितियों एवं अन्य सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव का परिणाम है — अतः उनमें मौलिक विरोध नहीं है। श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों का उद्भव वस्तुतः उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में देश, काल और परिस्थितियों के आधार पर हुए परिवर्तनों के परिणामस्वरूप ही हुआ है। जैन समाज का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अपने विभिन्न सम्प्रदायों के उद्भव और विकास को समझने का प्रयास नहीं किया और यह नहीं देखा गया कि वे क्यों और किन परिस्थितियों में और किनके प्रभाव से विकसित हुए हैं।

मेरी यह कृति निश्चय ही दोनों परम्पराओं के आग्रही दृष्टिकोणों को

झकझोरेगी और उनमें समवाय लिए एक नयी दिशा प्रदान करेगी। इस कृति में मेरे जो निष्कर्ष हैं वे यथा सम्भव साम्प्रदायिक आग्रहों से ऊपर उठकर मात्र ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर निकाले गये हैं। इस लेखन में श्वेताम्बर परम्परा के आगमिक और अन्य साहित्य की मेरी जानकारी मेरे लिए सहयोगी हुई है, फिर भी मैंने दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों की कहीं उपेक्षा नहीं की है, वरन् उनका भी आद्योपान्त अध्ययन कर एक संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यद्यपि मैं अपनी भाषा में संयत रहा हूँ फिर भी कहीं-कहीं आग्रही दृष्टिकोणों पर चोट करने के लिए मेरी लेखनी में कठोरता आयी है, किन्तु मेरा अनुरोध है कि इसे किसी प्रकार की दुर्भावना का प्रतीक न मानकर साम्प्रदायिक व्यामोहों के प्रति मेरी अन्तर्व्यथा की अभिव्यक्ति ही माना जाय। फिर भी यदि मेरी लेखनी से किसी को कोई चोट पहुँचती हो तो मैं उसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

प्रस्तुत कृति के प्रारम्भ के दो अध्याय, जो यापनीय सम्प्रदाय के उद्भव, विकास एवं उसके गच्छों, कुलों एवं अन्वयों से सम्बन्धित हैं, वस्तुतः अत्यन्त सक्षिप्त ही हैं, क्योंकि वे यापनीय सम्प्रदाय पर एक संक्षिप्त ग्रन्थ लिखने के उद्देश्य से ही लिखे गये थे, किन्तु यापनीय साहित्य वाला इसका तीसरा अध्याय अति विस्तृत हो गया है और असन्तुलित सा लगता है। इसका मूलभूत कारण यह है कि एक ओर जहाँ इस अध्याय में मुझे श्रीमती कुसुम पटोरिया द्वारा यापनीय माने गये ग्रन्थों के संदर्भ में उनके मन्तव्यों की समीक्षा करनी पड़ी है, जिसमें पक्ष एवं विपक्ष दोनों के मन्तव्यों पर विचार आवश्यक था वहीं दूसरी ओर मेरे अध्ययन के क्रम में जिन अनेक नवीन यापनीय ग्रन्थों की जानकारों मुझे मिली उन्हें भी स्वाभाविक रूप से इस अध्याय में समाहित करना पड़ा है। इससे आकार असंतुलित हो गया है। इसी अध्याय में मुझे तत्त्वार्थसूत्र किस परम्परा का ग्रन्थ है इसे लेकर लगभग १६० पृष्ठों का लेख सविस्तार लिखना पड़ा क्योंकि उसे अपनी परम्परा का सिद्ध करने हेतु श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परम्परा के विद्वानों के अपने-अपने तर्क हैं और मुझे उनकी समीक्षा करनी पड़ी है। इसके विस्तार का एक कारण यह भी रहा है कि इस अध्याय का लेखन और प्रकाशन दोनों साथ-साथ चलते रहे और लगभग ४ वर्षों की सुदीर्घ अवधि में यह अध्याय पूर्ण हुआ और मैं उस दौरान उपलब्ध नवीन-नवीन सामग्री के संकलन का मोह संवरण नहीं कर सका। कृति का अन्तिम अध्याय मान्यताओं के संदर्भ में है जिसमें विस्तार से बचने के लिए यापनीय संघ की केवल उन्हीं मान्यताओं की चर्चा की है, जो उसकी अपनी विशिष्ट हैं और जिन्हें लेकर उसका श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं से विरोध है। शेष मान्यताओं, जो तीनों

सम्प्रदायों में समान हैं, की चर्चा मात्र पिष्टपेषण होगा, यह समझकर उसकी उपेक्षा कर दी गयी है। इस कृति के अन्त में एक और अध्याय जोड़ने की मेरी इच्छा थी जिसमें यापनीय आचार्यों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विवेचन किया जाना था, किन्तु ग्रन्थ के विस्तार-भय से तथा मेरी प्रशासनिक व्यस्तताओं से प्रकाशनकार्य में आगे और अधिक विलम्ब न हो जाय, इसे ध्यान में रखकर लेखनी को यहीं विराम देना पड़ रहा है। सम्भव हुआ तो भविष्य में यापनीय आचार्यों का जैन धर्म को अबदान नामक एक स्वतन्त्र पुस्तिका प्रस्तुत करने का प्रयास करूँगा।

अन्त में मैं उन सभी के प्रति अपना आभार व्यक्त करना चाहूँगा जिनका प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग मुझे इस कृति के प्रणयन में मिला है। सर्वप्रथम तो मैं श्रीमती कुसुम पटोरिया का आभारी हूँ जिनकी कृति मेरे लेखन, चिन्तन और समीक्षा-मन्तव्यों के प्रस्तुतीकरण का उपजीव्य बनी है। यदि उनकी कृति मेरे समक्ष नहीं होती तो सम्भवतः यह ग्रन्थ मात्र १०० पृष्ठों में ही सिमट कर रह गया होता। इसके अध्यायों के वर्गीकरण एवं विषय के प्रस्तुतीकरण में मैंने उनकी कृति यापनीय सम्प्रदाय और उसका साहित्य का पूरा लाभ उठाया है फिर भी मैं स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि उनके और मेरे निष्कर्ष अनेक बिन्दुओं पर बिल्कुल भिन्न हैं। प्रस्तुत कृति उनकी कृति का अनुकरण मात्र न होकर वस्तुतः उनके मन्तव्यों की व्यापक समीक्षा ही है, जो अनेकानेक नवीन तथ्यों का उद्घाटन करती है, फिर भी उनका इतना ऋण तो मुझे अवश्य स्वीकार करना होगा कि उनकी कृति के परिणामस्वरूप ही मेरी प्रस्तुत कृति अस्तित्व में आई है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत कृति के प्रणयन में मेरे आधार बने हैं — प्रो० ए० एन० उपाध्ये और पं० नाथूरामजी प्रेमी के लेख। इन सभी के मन्तव्यों को मैंने यथा अवसर उद्धृत और उल्लेखित भी किया है। विचार-समीक्षा की दृष्टि से विशेष रूप से तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के निर्धारण में मैंने पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार और डॉ० दरबारी लालजी कोठिया के लेखन को भी आधार बनाया है और उन्हें कहीं-कहीं सम्पूर्ण रूप से उद्धृत भी किया है। अतः मैं इन सभी का आभारी हूँ। इस सम्बन्ध में मैं पं० दलसुख भाई मालवणिया और प्रो० मधुसूदन ढाकी का भी आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे दिशा प्रदान की। इसके साथ ही मैं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के उन सभी सहयोगी साथियों को भी धन्यवाद देना चाहूँगा जिनके सहयोग के अभाव में इस कृति के प्रकाशन में और कितना विलम्ब होता, यह कहा नहीं जा सकता। इस सन्दर्भ में मैं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ० अशोक कुमार सिंह, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, डॉ० शिवप्रसाद, डॉ० इन्द्रेशचन्द्र सिंह, डॉ० रज्जनकुमार एवं शोध अध्येता डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी तथा श्री असीमकुमार मिश्र के

सहयोग को विस्मृत नहीं कर सकता जिन्होंने अलग-अलग रूपों में इसका डिक्टेसन लेने, प्रेस कापी तैयार करने, शब्द अनुक्रमणिका बनाने एवं प्रूफ संशोधन आदि में मेरा सहयोग किया।

यद्यपि प्रस्तुत कृति के प्रकाशन की प्रक्रिया पार्श्वनाथ विद्यापीठ में प्रारम्भ हो गयी थी, किन्तु आदरणीय श्री देवेन्द्रराज मेहता, सचिव, प्राकृत भारती अकादमी तथा महोपाध्याय पं० विनयसागर, निदेशक, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर के आग्रह और स्नेह के वशीभूत होकर मैंने इसे पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं प्राकृत भारती दोनों संस्थाओं से सम्मिलित रूप से प्रकाशित करवाने का निर्णय लिया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ और विशेष रूप से उसके मन्त्री, भाई भूपेन्द्रनाथ जी जैन का तो मेरे ऊपर ऋण है ही, क्योंकि उनके द्वारा उपलब्ध साधन सुविधाओं के आधार पर ही इस कृति का प्रणयन हो पाया है। प्राकृत भारती अकादमी का विशेषरूप से उसके सचिव देवेन्द्रराजजी मेहता और निदेशक, महोपाध्याय विनयसागरजी का भी मैं उतना ही आभारी हूँ जिन्होंने पूर्व में मेरी छः पुस्तकों का प्रकाशन किया है। चूँकि दोनों ही संस्थाएँ सम्प्रदाय निरपेक्ष होकर जैन विद्या के विकास में कार्यरत हैं, अतः उनके द्वारा संयुक्त रूप से इस कृति का प्रकाशन हो, इसमें मुझे किसी प्रकार का कोई संकोच भी नहीं था। इससे दोनों संस्थाओं का अर्थभार भी कम हुआ है। इस कृति में प्रस्तुत निष्कर्ष और विचार मेरे अपने हैं और प्रकाशन संस्थाएँ उसके लिए उत्तरदायी नहीं हैं, यद्यपि इन्होंने मेरी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति को जो मान दिया है उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। मैं उन सभी विद्वानों के सुझाओं, मार्गदर्शन एवं समीक्षाओं का आभारी रहूँगा जो प्रस्तुत कृति का अध्ययन कर अपने मन्तव्यों से मुझे अवगत करायेंगे। हो सकता है कि उनके द्वारा प्रस्तुत विचारबिन्दुओं के आधार पर इसका अगला संस्करण और अधिक सशक्त और सुन्दर बन सके। प्रस्तुत कृति के प्रकाशन में मेरे कारण जो अनपेक्षित विलम्ब हुआ है उसके लिए मैं प्रकाशक और पाठक दोनों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

१ अप्रैल, १९९६

महावीर जयन्ती

सागरमल जैन

निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी

विषय सूची

प्रकाशकीय

लेखकीय

अध्याय

पृ० सं०

१ : विषय प्रवेश

१ - ३२

यापनीय शब्द का अर्थ २, यापनीय और बोटिक ८, यापनीय संघ की उत्पत्ति १२, यापनीय संघ की उत्पत्ति कथा २१, यापनीयों का उत्पत्ति स्थल २६, यापनीय संघ के अभिलेखीय साक्ष्य २७।

२ : यापनीय संघ के गण और अन्वय

३३ - ६७

पुत्रागवृक्षमूलगण ३४, कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण ३५, श्रीमूल-मूलगण ३५, पुत्रागवृक्षमूलगण ३५, कण्डूरुकाणूरगण ३७, कुमुदिगण/कुमुलिगण ३९, कोरयगण ३९, कोटिमडुवगण ४०, बन्दियूरगण (वाडियूरगण) ४१, यापनीय संघ के अन्य गण ४१, यापनीय संघ का अन्य संघों से संबंध ४३, निर्ग्रन्थ संघ और मूलसंघ ४४, मूलसंघ (निर्ग्रन्थ संघ) का यापनीयों से संबंध ४६, कूर्चक और यापनीय ४८, द्राविड़ संघ और यापनीय संघ ५५, काष्ठासंघ और यापनीय संघ ५६, माथुरसंघ ६०, पुत्राट संघ और यापनीय संघ ६१, लाइबागड़ गच्छ और यापनीय ६४, यापनीय और श्वेताम्बर ६५।

३ : यापनीय साहित्य

६८ - ३८४

यापनीयों के आगम ६८, क्या यापनीय आगम वर्तमान श्वेताम्बर आगमों से भिन्न थे ? ७१, किसी ग्रन्थ को यापनीय मानने का आधार ८१, यापनीय आचार्यों द्वारा रचित आगमिक साहित्य ८२, कसायपाहुडसुत्त ८२, षट्खण्डागम ९०, धरसेन, उनकी परम्परा और काल ९०, पुष्पदंत और भूतबलि ९८, प्रज्ञापना और षट्-खण्डागम १०५, स्थानांग और षट्खण्डागम १०५, आवश्यक-निर्युक्ति और षट्खण्डागम १०६, यतिवृषभ के कसायपाहुड चूर्णि-सूत्र और तिलोपपण्णत्ति १०८, भगवती-आराधना १२०, मूलाचार

और उसकी परम्परा १३०, पिण्डछेदशास्त्र १४३, छेदशास्त्र १५३, अपराजितसूरि की विजयोदया टीका १५४, आवश्यक सूत्र (प्रतिक्रमण सूत्र) १६०, बृहत्कथाकोश (आराधनाकथाकोश) १६५, बृहत्कथाकोश के यापनीयत्व में बाधक तथ्य और उनके प्रामाण्य का प्रश्न १६९, हरिषेण और जिनसेनरचित हरिवंशपुराण १७०, महाकवि स्वयंभू और उनका पउमचरिउ १८०, जटासिंह-नन्दि का बराङ्चरित और उसकी परम्परा १८५, पाल्यकीर्ति शाकटायन और उनका शाकटायनव्याकरण २००, शाकटायन के शब्दानुशासन की यापनीय टीकाएँ २०३, शाकटायन के स्त्रीमुक्ति और केवलीभुक्ति प्रकरण २०५, प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र २०६, विमलसूरि और उनके पउमचरियं की परम्परा २०८, पउमचरियं की दिगम्बर परम्परा से निकटता सम्बन्धी कुछ तथ्य २०८, सिद्धसेन दिवाकर और उनके सन्मत्तिसूत्र की परम्परा २२३, क्या सिद्धसेन दिगम्बर हैं ? २२५, सिद्धसेन के काल के आधार पर उनके सम्प्रदाय का निर्धारण २३०, क्या सिद्धसेन यापनीय हैं ? २३२, तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा २३९, तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता २४०, तत्त्वार्थ के आधारभूत ग्रन्थ २४४, क्या उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का आधार कुन्दकुन्द के ग्रन्थ हैं ? २४७, तत्त्वार्थसूत्र के मूलपाठ का प्रश्न २५३, सूत्रों का विलोपन एवं वृद्धि २५४, सूत्रगत मतभेद २५५, क्या तत्त्वार्थसूत्र का भाष्य-मान्य पाठ अप्रामाणिक और परवर्ती है ? २५७, क्या वाचक उमास्वाति और उनका तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर परम्परा का है ? २६२, क्या प्रशम-रतिप्रकरण और तत्त्वार्थभाष्य भिन्नकृतक हैं ? २६७, क्या तत्त्वार्थ-सूत्र और तत्त्वार्थभाष्य भिन्नकृतक हैं ? २७८, सर्वार्थसिद्धि का पाठसंशोधन क्यों ? २९२, विचार-विकास की दृष्टि से सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य का पूर्वापरत्व २९९, तत्त्वार्थभाष्य की स्वोपज्ञता एवं प्राचीनता ३०५, भाष्य की प्राचीनता ३०६, स्वोपज्ञभाष्य की आवश्यकता ३१०, तत्त्वार्थसूत्र के कुछ सूत्रों का दिगम्बर मान्यताओं से विरोध ३११, क्या तत्त्वार्थ और उसका स्वोपज्ञभाष्य श्वेताम्बरों के विरुद्ध है ? ३१६, क्या तत्त्वार्थभाष्य का श्वेताम्बर परम्परा से विरोध है ? ३४८, क्या तत्त्वार्थ यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है ? ३५०, तत्त्वार्थ का काल ३६६, उमास्वाति का जन्म-

स्थल एवं कार्यक्षेत्र ३७३, उमास्वाति की उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल ऊँचेहरा (म० प्र०) ३७४, उमास्वाति का जन्म स्थान नागोद (म० प्र०) तत्त्वार्थ सूत्र की परम्परा का निर्धारण ३८५।

४ : यापनीय संघ की विशिष्ट मान्यताएँ ३८६ - ४९९

यापनीय संघ की विशिष्ट मान्यताएँ ३८६, श्वेताम्बर साहित्य में उल्लिखित यापनीय संघ की मान्यताएँ ३८७, दिगम्बर साहित्य में उल्लिखित यापनीयों की मान्यताएँ ३९९, स्त्री-भुक्ति, अन्यतैर्थिक भुक्ति एवं सवस्त्रभुक्ति का प्रश्न ३९२, गृहस्थभुक्ति का प्रश्न ४१०, केवली-भुक्ति का प्रश्न ४१५, केवली कवलाहार का निषेध क्यों ? ४२०, दिगम्बर परम्परा का पूर्वपक्ष ४२१, यापनीयों का उत्तरपक्ष ४२५, जैनधर्म में अचेलकत्व और सचेलकत्व का प्रश्न ४३१, प्रस्तुत अध्ययन की स्रोत सामग्री ४३२, महावीर के पूर्व निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र की स्थिति ४३३, ऋषभ का अचेल धर्म ४३५, पार्श्व का सचेल धर्म ४३६, वस्त्र के सम्बन्ध में यापनीय दृष्टिकोण ४५६, निर्ग्रन्थ संघ में उपकरणों की विकास यात्रा ४६९, जिनकल्प और स्थविरकल्प ४७४, प्रतिलेखन/पिच्छी ४७६, पायपुंछन (पात्रप्रोछन) ४७९, पात्र (कमण्डलु), पंचमहाव्रत और उनकी भावनाएँ ४८७, रात्रि-भोजन निषेध-छठा व्रत ४९१।



अध्याय-१

विषय-प्रवेश

सामान्यतया आज विद्वत्त्वर्ग और जन-साधारण जैनधर्म के दो प्रमुख सम्प्रदायों—श्वेताम्बर और दिगम्बर से ही परिचित हैं, किन्तु उसका 'यापनीय' नामक एक अन्य महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय भी था, जो ई० सन् की दूसरी शती से पन्द्रहवीं शताब्दी तक लगभग १४०० वर्ष जीवित रहा और जिसने न केवल अनेकों जिन-मन्दिर बनवाये एवं मूर्तियाँ स्थापित कीं, अपितु जैन-साहित्य के क्षेत्र में और विशेषकर जैन शौरसेनी प्राकृत साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अवदान भी प्रदान किया। यह सम्प्रदाय आज से ५० वर्ष पूर्व तक जैन समाज के लिए भी पूर्णतः अज्ञात बना हुआ था। संयोग से विगत ५० वर्षों की शोधात्मक प्रवृत्तियों के कारण इस सम्प्रदाय के कुछ अभिलेख एवं ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। फिर भी अभी तक इस सम्प्रदाय पर चार-पाँच लेखों के अतिरिक्त कोई भी विशेष सामग्री प्रकाशित नहीं हुई है। सर्वप्रथम प्रो० ए० एन० उपाध्ये एवं प० नाथूराम जी प्रेमी ने ही इस सम्बन्ध में कुछ लेख प्रकाशित किये थे,^१ किन्तु उनके पश्चात् इस दिशा में पुनः उदासीनता आ गई थी।^२ प्रस्तुत

1. a— Indian Antiquary VII pp. 34

b— H. Luders : E. IV, p 238

c—नाथूराम प्रेमी : जैन हितैषी, XIII पृ० २५०-७५

d—A. N. Upadhye : Journal of the University of Bombay, 1956, I—VI pp 224 ff;

e—नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास—द्वितीय संस्करण (बम्बई १९५६) पृ० ५६, १५५, ५२१

f—P. B. Desai : Jainism in South India, pp. 163-66
आदि।

g—ए० एन० उपाध्ये : जैन सम्प्रदाय के यापनीय संध पर कुछ और प्रकाश, अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २४४-२५३

२. डॉ० कुमुम पटोरिया का 'यापनीय और उनका साहित्य' नामक ग्रन्थ सद्यः ही प्रकाशित हुआ है।

आलेख उसी उदासीनता को तोड़ने का एक प्रयास मात्र है। आशा है जैन-विद्या के विद्वान् इस दिशा में पुनः सक्रिय होंगे।

आज विशृङ्खलित होते हुए जैन समाज के लिए इस सम्प्रदाय का ज्ञान और भी आवश्यक है, क्योंकि इस सम्प्रदाय की मान्यताएँ आज भी जैनधर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर शाखाओं के बीच योजक कड़ी बन सकती हैं। दुर्भाग्य से आज भी अनेक जैन विद्वान् और मुनिजन यह नहीं जानते हैं कि जैनधर्म का एक ऐसा भी सम्प्रदाय, जो श्वेताम्बर और दिगम्बर के मध्य एक योजक कड़ी के रूप में विद्यमान था एवं लगभग १४०० वर्षों तक अपने को जीवित बनाये रखकर आज से लगभग ६०० वर्ष पूर्व काल के गर्भ में ऐसा विलीन हो गया कि आज लोग उसका नाम तक भी नहीं जानते हैं। आज जैनधर्म में 'यापनीय' परम्परा का कोई भी अनुयायी शेष नहीं है। आज यह परम्परा मात्र इतिहास को वस्तु बनकर रह गयी है। किन्तु इनके द्वारा स्थापित मन्दिर एवं मूर्तियाँ तथा सृजित साहित्य सहज ही आज हमें उसका स्मरण करा देते हैं। आज जब जैन धर्म में साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढ़मूल होता जा रहा है, यापनीय संघ के इतिहास और उनकी मान्यताओं का बोध न केवल जैन संघ में समन्वय का सूत्रपात कर सकता है, वरन् टूटते हुए जैन संघ को पुनः एकता की कड़ी में जोड़ सकता है। वस्तुतः 'यापनीय' परम्परा वह सेतु है, जो श्वेताम्बर और दिगम्बर के बीच की खाई को पाटने में आज भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। अग्रिम पंक्तियों में हम ऐसे महत्त्वपूर्ण और समन्वयवादी सम्प्रदाय के सन्दर्भ में गवेषणात्मक दृष्टि से कुछ विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

यापनीय शब्द का अर्थ

भाषा एवं उच्चारण भेद के आधार पर आज हमें 'यापनीय' शब्द के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं यथा—यापनीय, जापनीय, यपनी, आपनीय, यापुलिय, आपुलिय, जापुलिय, जावुलीय, जाविलिय, जावलिय, जावलि-गेय आदि आदि।^१ 'यापनीय' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें जैन आगम साहित्य और पाली त्रिपिटक साहित्य में प्राप्त होता है। प्राकृत और पाली साहित्य में 'यापनीय' शब्द का प्रयोग कुशल-क्षेम पूछने के प्रसंग में ही

१. ए० एन० उपाध्ये : जैन सम्प्रदाय के यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश, अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २४६;

हुआ है। दूसरों से कुशल-सोम पूछते समय यह पूछा जाता था कि आपका 'यापनीय' कैसा है (कि यापनीय ?)। 'भगवती' नामक जैन आगम में यापनीय शब्द का प्राकृत रूप 'जवणिज्ज' प्राप्त होता है। उसमें सोमिल नामक ब्राह्मण भगवान् महावीर से प्रश्न करता है—हे भन्ते। आपकी यात्रा कैसी हुई ? आपका यापनीय कैसा है ? आपका स्वास्थ्य (अव्वावह) कैसा है ? आपका विहार कैसा है ? भगवती और ज्ञाताधर्मकथा में इस प्रसंग में दो प्रकार के यापनीयों की चर्चा भी हुई है—इन्द्रिय यापनीय और नो-इन्द्रिय यापनीय। इन्द्रिय यापनीय की व्याख्या करते हुए भगवान् महावीर ने कहा था कि मेरी श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियाँ व्याधिरहित एवं मेरे नियन्त्रण में हैं। इसी प्रकार नो-इन्द्रिय यापनीय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था कि मेरे क्रोध, मान, माया एवं लोभ विच्छिन्न या निर्मूल हो गये हैं, अब वे अभिव्यक्त या प्रकट नहीं होते हैं^२।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भगवतोसूत्र में इन्द्रिय और मन की नियन्त्रित एवं शान्त स्थिति के अर्थ में ही यापनीय शब्द का प्रयोग हुआ है। इन्द्रियों की वृत्तियों और मन की वासनाओं का शान्त एवं नियन्त्रित होना ही यापनीय की कुशलता

१. जत्ता ते भन्ते ? जवणिज्जं (ते भन्ते ?) अव्वावाहं (ते भन्ते) फासुय-विहारं (ते भन्ते ?) ?

सोमिला ! जत्ता वि मे, जवणिज्जं पि मे, अव्वावाहं पि मे, फासुयविहारं पि मे ।

भगवई (लाडनूँ) १०।२०६-२०७

२. किं ते भन्ते ! जवणिज्जं ?

सोमिला ! जवणिज्जे दुविहे पणत्ते, तं जहा इंदियजवणिज्जे य, नोइंदिय-जवणिज्जे य ॥

से किं ते इंदियजवणिज्जे ?

इंदियजवणिज्जे—जं मे सोइंदिय-चक्खिदिय-श्राणिदिय-जिळ्मिदियफासिदियाइं निरुवहयाइं वसे वट्टंति, सेत्तां इंदियजवणिज्जे ।

से किं तं नोइंदियजवणिज्जे ?

नो-इंदियजवणिज्जे जं मे कोह-माण-माया-लोभा वोच्छिण्णा नो उदोरेंति, सेत्तां नोइंदियजवणिज्जे सेत्तां जवणिज्जे ।

भगवई (लाडनूँ) १०।२०८-२१०

का सूचक है। वस्तुतः यह शब्द मनुष्य के मानसिक कुशल-क्षेम का सूचक है। 'किं जवणिच्च' का अर्थ है आपकी मनोदशा कैसी है? अतः यापनीय शब्द मनोदशा (Mood) या मानसिक स्थिति (Mental State) का सूचक है। इस शब्द का प्रयोग मन की प्रसन्नता को जानने के लिए प्रश्न के रूप में किया जाता था।

पालो साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। भगवान् बुद्ध का अपने ग्राम में आगमन हाने पर भृगु, भगवान् से पूछते हैं कि हे भिक्षु! आपका क्षमा-भाव कैसा है? आपका यापनीय कैसा है? आपको आहार आदि के लाभ में कोई कठिनाई तो नहीं है? प्रत्युत्तर में भगवान् बुद्ध ने कहा, मेरा क्षमा-भाव (क्षमनीय) अच्छा है, मेरा यापनीय सुन्दर है। मुझे आहार-लाभ में कोई कठिनाई नहीं है। इस प्रकार यहाँ भी यापनीय शब्द जीवन-यात्रा के कुशल-क्षेम के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त हुआ है। 'कच्चि यापनीय' का अर्थ है आपकी जीवन यात्रा कैसी चल रही है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ पालो साहित्य में 'यापनीय' शब्द जीवन यात्रा के सामान्य अर्थ का सूचक है, वहाँ जैन साहित्य में वह इन्द्रियों एवं मन की वृत्तियों या मनोदशा का सूचक है, भगवता और ज्ञाताधर्मकथा में 'इन्द्रिय-यापनीय' और 'नो-इन्द्रिय-यापनीय' को स्पष्ट करते हुए यही बताया गया है कि जिसकी इन्द्रियाँ स्वस्थ और नियन्त्रण में हैं तथा जिसका मन वासनाओं के आवेग से रहित एवं शान्त हो चुका है, ऐसे नियन्त्रित इन्द्रिय और मनवाले व्यक्ति का यापनीय कुशल है। यद्यपि जहाँ 'यापनीय' शब्द इन्द्रिय और मन की वृत्तियों का सूचक है, किन्तु अपने मूल अर्थ में तो यापनीय शब्द व्यक्ति को 'जीवन यात्रा' का ही सूचक है। व्यक्ति को जीवन यात्रा के कुशलक्षेम को जानने के लिए ही उस युग में यह प्रश्न किया जाता था कि आपका यापनीय कैसा है? बौद्ध परम्परा में इसी अर्थ में यापनीय शब्द का प्रयोग होता था किन्तु जैन परम्परा ने उसे एक आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया था। ज्ञाताधर्म-कथा एवं भगवती में महावीर ने 'यात्रा' का ज्ञान, दर्शन और चारित्र

१. आयस्मंतं भगुं भगवा एतदवोच—“कच्चि, भिक्षु, खमनीयं कच्चि यापनीयं कच्चि पिण्डकेन न किलमसी” ति? खमनीयं, भगवा, यापनीयं, भगवा, न चाहं, भन्ते पिण्डकेन किलमामी” ति ।

की साधना से जोड़ा तो 'यापनीय' को इन्द्रिय और मन की वृत्तियों से । इस प्रकार निर्ग्रन्थ परम्परा में 'यापनीय' शब्द ने एक नया अर्थ लिया ।

प्रो० ए० एन० उपाध्ये यहाँ अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि—“नायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथा) में 'इन्द्रिय-जवणिज्जे' शब्द का प्रयोग किया गया है । इसका अर्थ यापनीय न होकर यमनीय होता है, जो यम् (नियन्त्रणे) धातु से बनता है । इसकी तुलना 'थवणिज्जे' शब्द से की जा सकती है जो स्थापनीय शब्द के लिए प्रयुक्त होता है । इस तरह 'जवणिज्ज' का सही संस्कृत रूप यापनीय नहीं हो सकता । अतः 'जवणिज्ज' साधु वे हैं जो, यम-याम का जीवन बिताते थे । इस सन्दर्भ में पार्व्व प्रभु के चउज्जाम—चातुर्याम धर्म से यम-याम की तुलना की जा सकती है ।”

किन्तु प्रो० ए० एन० उपाध्ये द्वारा 'जवनिज्ज' का यमनीय अर्थ करना उचित नहीं है । यदि उन्होंने विनयपिटक का उपयुक्त प्रसंग देखा होता, जिसमें 'यापनीय' शब्द का जीवनयात्रा के कुशल-क्षेम जानने के सन्दर्भ में स्पष्ट प्रयोग है, तो सम्भवतः वे इस प्रकार का अर्थ नहीं करते । यदि उस युग में इस शब्द का 'यमनीय' के रूप में प्रयोग होता तो फिर पाली साहित्य में यापनीय शब्द का स्पष्ट प्रयोग न मिलकर 'यमनीय' शब्द का ही प्रयोग मिलता । अतः स्पष्ट है कि मूल शब्द 'यापनीय' ही है, यमनीय नहीं है । यद्यपि आगमों में आध्यात्मिक दृष्टि से यापनीय शब्द की व्याख्या करते हुए उसे अवश्य ही मन और इन्द्रिय की नियन्त्रित या संयमित दशा का सूचक माना गया है ।

यापनीय शब्द की उपयुक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त विद्वानों ने उसकी अन्य व्याख्यायें भी देने का प्रयत्न किया है । मुनि कल्याण-विजय जो यापनीय के उपरोक्त अर्थों से सहमत नहीं हैं । वे लिखते हैं कि “कोई-कोई विद्वान् “यापनीय” शब्द का अर्थ निर्वाह करना बताते हैं, जो यथार्थ नहीं है । यापनीय नाम पड़ने का खास कारण उनके गुरुवन्दन में आने वाला “जावणिज्जाए” शब्द है । निर्ग्रन्थ श्रमण अपने बड़ेरों (ज्येष्ठ) को वन्दन करते समय निम्नलिखित पाठ बोलते हैं :

“इच्छामि खमासमणो ! वंदितं जावणिज्जाए निसीहिआए, अणुजा-
णह मे मि उग्गहं निसीहि ।”

अर्थात् "मैं चाहता हूँ, हे पूज्य ! वन्दन करने को, शरीर की शक्ति के अनुसार। इस समय मैं दूसरे कार्यों की तरफ से ध्यान रोकता हूँ, मुझे आज्ञा दीजिए, परिमित स्थान में आने की।"

उपर्युक्त वन्दनक सूत्र में आने वाले जावणिज्जाए—'यापनीय' शब्द के बारम्बार उच्चारण करने के कारण लोगों में उनकी "यापनीय" नाम से प्रख्याति हो गई। लोगों को पूरे सूत्र पाठ को तो आवश्यकता थी नहीं। उसमें जो विशिष्ट शब्द बारम्बार सुना उसी को पकड़ कर श्रमणों का वही नाम रख दिया। ऐसा होना अशक्य भी नहीं है। मारवाड़ के यतियों का इसी प्रकार "मत्थेण"—यह नामकरण हुआ है। जब वे एक दूसरे से मिलते हैं अथवा जुड़े पड़ते हैं तब "मत्थेण वंदामि" यह शब्द संक्षिप्त वन्दन के रूप में बोला जाता है। इसको बार-बार सुनकर बोलने वालों का नाम ही लोगों ने "मत्थेण" रख दिया। यही बात "यापनीय" नामकरण में समझ लेना चाहिए।^१

मेरी दृष्टि में कल्याणविजयजी का यापनीय नामकरण के सम्बन्ध में प्रस्तुत उपरोक्त विवरण सत्य के निकट है, किन्तु वे यापनीय शब्द के निर्वाह परक अर्थ का जो विरोध करते हैं वह समुचित नहीं है।

प्रो० तैलंग के अनुसार 'यापनीय' का अर्थ बिना ठहरे हुए सदैव विहार करने वाला है।^२ सम्भव है कि जब उत्तर और दक्षिण भारत में चैत्यवास अर्थात् मन्दिरों में अपना मठ बनाकर रहने की प्रवृत्ति पनप रही थी तब उन मुनियों को जो चैत्यवास का विरोध कर सदैव विहार करते थे—यापनीय कहा गया हो। किन्तु इस व्याख्या में कठिनाई यह है कि चैत्यवास का विकास परवर्ती है, वह ईसा की चौथी या पाँचवीं शती में प्रारम्भ हुआ, जब कि यापनीय संघ ईसा की दूसरी के अन्त या तीसरी शती के प्रारम्भ में अस्तित्व में आ चुका था।

प्रो० एम० ए० ढाकी यापनीय शब्द को मूल में यावनिक मानते हैं। उनके अनुसार सम्भावना यह है कि मथुरा में शक और कुषाणों के काल में कुछ यवन जैन मुनि बने हों और उनकी परम्परा यावनिक (यवन + इक्) कही जाती हो। उनके मतानुसार 'यावनिक' शब्द ही आगे चल कर

१. पट्टावलीपरागसंग्रह (मुनि कल्याणविजयगणि) पृ० ९१

२. पूर्वोक्त, अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २४६।

यापनीय बन गयो।^१ यह सत्य है कि यापनीय परम्परा का विकास मथुरा में उसी काल में हुआ है, जब शक, हूण आदि के रूप में यवन भारत में प्रविष्ट हो चुके थे और मथुरा उनका केन्द्र बन गया था। फिर भी ध्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से यार्वनिक शब्द का यापनीय रूप बनाना—यह सन्तोषजनक व्याख्या नहीं है।

संस्कृत और हिन्दी शब्द कोशों में 'यापन' शब्द का एक अर्थ परित्याग करना या निष्कासित करना भी बताया गया है।^२ प्रो० आप्टे ने 'याप्य' शब्द का अर्थ निकाले जाने योग्य, तिरस्करणीय या नीच भी बताया है^३ इस आधार पर यापनीय शब्द का अर्थ नीच, तिरस्कृत या निष्कासित भी होता है। अतः सम्भावना यह भी हो सकती है कि इस वर्ग को तिरस्कृत, निष्कासित या परित्यक्त मानकर 'यापनीय' कहा गया हो।

वस्तुतः प्राचीन जैन आगमों एवं पाली त्रिपिटक में यापनीय शब्द जीवनयात्रा के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था। 'आपका यापनीय कैसा है' इसका अर्थ होता था कि आपकी जीवन-यात्रा किस प्रकार चल रही है। इस आधार पर मेरा यह मानना है कि जिनकी जीवन-यात्रा सुविधापूर्वक चलती हो वे यापनीय हैं। सम्भवतः जिस प्रकार उत्तर भारत में श्वेताम्बरों ने इस परम्परा को अपने साम्प्रदायिक दुरभिनवेश में 'बोटिक' अर्थात् भ्रष्ट या पतित कहा; उसी प्रकार दक्षिण में दिग्म्बर परम्परा ने भी उन्हें उनके सुविधावादी जीवन के आधार पर अथवा उन्हें तिरस्कृत मानकर यापनीय कहा हो।

इस प्रकार हमने यहाँ यापनीय शब्द की सम्भावित विभिन्न व्याख्याओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। किन्तु आज स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में यह बता पाना तो कठिन है कि इन विविध विकल्पों में किस आधार पर इस वर्ग को यापनीय कहा गया था। फिर भी कल्याणविजयजी की मान्यता अधिक युक्तिसंगत है।

१. प्रो० एम० ए० हाकी से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर।

२. अ—कालिका प्रसाद : बृहत् हिन्दी कोश (ज्ञानमंडल, वाराणसी) वि० सं० २००९, पृ० १०६८।

(ब)—वामन शिवराम आप्टे : संस्कृत-हिन्दी कोश (दिल्ली-१९८४)पृ० ८३४

३. वामन शिवराम आप्टे—वही पृ० ८३४।

यापनीय और बोटिक

यापनीयों के लिए श्वेताम्बर परम्परा में लगभग ८वीं शताब्दी तक 'बोडिय' (बोटिक) शब्द का प्रयोग होता रहा है।^१ मेरी जानकारी के अनुसार श्वेताम्बर परम्परा में सबसे पहले हरिभद्र के ग्रन्थों में यापनीय शब्द का प्रयोग हुआ है।^२ फिर भी यापनीय और बोटिक एक ही हैं—ऐसा स्पष्ट उल्लेख श्वे० साहित्य में हमें कहीं नहीं मिलता है। हरिभद्र भिन्न-भिन्न प्रसंगों में इन दोनों शब्दों की व्याख्या तो करते हैं, किन्तु ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं ऐसा स्पष्ट उल्लेख वे भी नहीं करते। यद्यपि श्वे० साहित्य में 'बोटिक' और 'यापनीय' सम्प्रदाय के सम्बन्ध में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसे देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों शब्द एक ही परम्परा को सूचित करते हैं।

श्वे० आचार्यों ने बोटिकों को जो दिगम्बर मान लिया है, वह एक भ्रान्ति है। श्वेताम्बर साहित्य में उल्लिखित 'बोटिक' दिगम्बर नहीं हैं, इस तथ्य को पं० दलसुख भाई भालवणिया ने अपने एक लेख—'क्या बोटिक दिगम्बर हैं?'—में बहुत ही स्पष्टतापूर्वक प्रतिपादित किया है। उनका यह लेख Aspects of Jainology Vol, II पं० बेचरदासदोशी स्मृतिग्रन्थ में पार्श्वनाथ विद्याश्रम से ही प्रकाशित हुआ है। वे लिखते हैं—
“विशेषावश्यक की विस्तृत चर्चा में विवाद के विषय वस्त्र और पात्र हैं, इसमें स्व मुक्ति निषेध की चर्चा नहीं है। दिगम्बर संप्रदाय में वस्त्र-पात्र के अलावा स्त्रीमुक्ति का भी निषेध है। अतएव जिनभद्र के समय में बोटिक को दिगम्बर संप्रदाय के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। मुद्रित आवश्यकचूर्ण में जितने अंश में बोटिक की चर्चा है, उसके मार्जिन में 'दिगम्बरोत्पत्ति' छपा है। किन्तु वह सम्पादक का भ्रम है। क्योंकि चूर्ण में भी बोटिक की चर्चा में कहीं भी स्त्रीमुक्ति की चर्चा को स्थान नहीं मिला है। अतएव बोटिक और दिगम्बर में भेद करना जरूरी है। यहाँ यह भी बता देना जरूरी है कि विशेषावश्यकभाष्य की गाथा २६०९ की

१. आवश्यकनियुक्ति (हरिभद्रीयवृत्ति) में उपलब्ध मूलभाष्य गाथा पृ० २१५-१६।

२. स्त्रीग्रहणं तासामपि तद्भव इव संसारक्षयो भवति इति ज्ञापनार्थं वचः यथोक्तम् यापनीयतंत्रे—श्रीललितविस्तरा, पृ० ५७-५८, ऋषभदेव केशरी-मल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम।

टीका में बोटिक चर्चा का उपसंहार करते हुए स्त्रीमुक्ति की चर्चा के लिए उत्तराध्ययन के छत्तोसर्वे अध्ययन की टीका को 'देख लेने को कहा है। वह भी उनके मत में बोटिक और दिगम्बर को एक मानने के भ्रम के कारण है। इस समय चर्चा से इतना स्पष्ट है कि बोटिक दिगम्बर नहीं थे। इस समय चर्चा से दो फलित निकलते हैं—प्रथम तो यह कि श्वेताम्बर ग्रन्थों में बोटिक नाम से जिस संप्रदाय का उल्लेख हुआ है, वह दिगम्बर संप्रदाय से भिन्न है और जिसे अन्यत्र यापनीय नाम से जाना जाता है। दूसरे दिगम्बर संप्रदाय—ज्ञा स्त्रीमुक्ति का निषेध करता है—उससे प्रारंभिक श्वेताम्बर आचार्य परिचित नहीं थे'।^१

बोटिकों की उत्पत्ति-कथा से भी यह स्पष्ट है कि इन्होंने जिनकल्प का विच्छेद स्वीकार नहीं किया था और वस्त्र को परिग्रह मानकर मुनि के लिए अचेलकता का ही प्रतिपादन किया था। शिवभूति द्वारा अपनी बहन उत्तरा को वस्त्र रखने की अनुमति देना यह भी सूचित करता है कि इस सम्प्रदाय में साध्वियां सवस्त्र रहती थीं। इस सम्प्रदाय के तत्कालीन परम्परा से मतभेद के जो उल्लेख मिलते हैं उनसे यही फलित होता है कि इनका मुख्य विवाद मुनि के सचेल और अचेल होने के सम्बन्ध में था। स्त्रीमुक्ति और केवली-कवलाहार के सम्बन्ध में इनका कोई मतभेद नहीं था अथवा यह कहें कि यह प्रश्न उस समय उत्पन्न ही नहीं हुआ था। विशेषावश्यकभाष्य में इन्हें आचारांग आदि आगमों को स्वीकार करने वाला माना गया है।^२ अतः बोटिक दिगम्बर परम्परा के समान न तो स्त्री-मुक्ति और केवली-मुक्ति का निषेध करते थे और न जैनागमों का पूर्णतः विच्छेद ही स्वीकार करते थे। मात्र यह कहते थे कि आगमों में जो वस्त्र-पात्र के उल्लेख हैं, वे आपवादिक स्थिति के हैं। इस प्रकार बोटिकः स्त्री-मुक्ति और केवली-कवलाहार का निषेध करने वाले और आचारांग आदि आगमों को विच्छिन्न मानने वाले दिगम्बर सम्प्रदाय से भिन्न थे।

यदि हम बोटिकों की इन मान्यताओं की तुलना यापनीय परम्परा से करते हैं तो दोनों में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। यापनीयों का जो भी साहित्य उपलब्ध है, उससे भी स्पष्ट रूप से यही निष्कर्ष निकलता है कि यापनीय यद्यपि मुनि की अचेलता पर बल देते थे किन्तु दूसरी ओर वे स्त्री-मुक्ति, अन्य तैथिकों (दूसरी धर्म परंपरा) की मुक्ति, केवलीकवला-

१. उत्तराध्ययन-शान्त्याचार्य की टीका पृ० १८१।

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३०५४।

हार और आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार, मरणवि-
भक्ति, प्रत्याख्यान आदि आगमों को स्वीकार करते थे। वे दिगम्बर परंपरा
के समान अंग आगमों के सर्वथा विच्छेद की बात नहीं मानते थे। इस
परम्परा में आगे चलकर जिन स्वतंत्र ग्रन्थों और आगमों की टीकाओं का
निर्माण हुआ उनमें अर्धमागधी आगम साहित्य की सैकड़ों गाथाएँ और
उद्धरण प्राप्त होते हैं। अतः उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर पूर्णरूपेण
सुनिश्चित है कि यापनीय और बोटिक दोनों सम्प्रदाय एक ही हैं। इस
निष्कर्ष की सत्यता को उनकी निम्न मान्यताओं की समरूपता में स्पष्टतः
देखा जा सकता है—१. बोटिक और यापनीय दोनों ही मुनि के लिए
उत्सर्ग मार्ग की दृष्टि से अचेलता के पक्षधर हैं तथा दोनों आचारांग आदि
आगमों की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं और उनके वस्त्र, पात्र सम्बन्धी
उल्लेखों को आपवादिक मानते हैं। जबकि दिगम्बर परम्परा आचारांग
आदि अंग आगमों का विच्छेद मानती है और वस्त्रधारी को किसी भी
स्थिति में मुनि नहीं मानती है। पुनः यापनीय और बोटिक दोनों ने स्त्री-
मुक्ति का निषेध नहीं किया है और साध्वी में वस्त्र ग्रहण होते हुए भी
महाव्रतों का सद्भाव माना तथा स्त्री की दीक्षा को स्वीकार किया। जबकि
दिगम्बर परम्परा स्त्री-दीक्षा एवं स्त्री-मुक्ति का निषेध करती है।
संक्षेप में आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगमों को मान्य करने और स्त्री-
मुक्ति का निषेध न करने से बोटिक और यापनीय एक परम्परा
के सूचक हैं। अतः श्वेताम्बर साहित्य में प्रयुक्त बोटिक शब्द
यापनीयों का ही पर्यायवाची है।

बोटिक शब्द की व्याख्या

प्राकृत 'बोडिय' शब्द का संस्कृत रूपान्तरण बोटिक किया गया है।
उत्तराध्ययनसूत्र की शान्त्याचार्य की टीका में बोटिक शब्द की व्याख्या
करते हुए कहा गया—'बोटिकाश्चासौ चरित्रविकलतया मुण्डमात्रत्वेन'^१
अर्थात् चरित्रिक विकलता के कारण मात्र मुण्डित बोटिक कहे जाते हैं।
किन्तु इस व्याख्या से बोटिक शब्द पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता,
मात्र बोटिकों के चरित्र के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है।

मेरी दृष्टि में प्राकृत में 'बोडिय' के स्थान पर 'वाडिय' शब्द
होना चाहिए था जिसका संस्कृत रूप वाटिक होगा। 'वाटिक' शब्द का

१. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य की टीका, पृ० १८१।

अर्थ वाटिका या उद्यान में रहने वाला है। आवश्यकटीका में शिव-भूति की कथा से स्पष्ट है कि बोटिक मुनि नग्न रहते थे, भिक्षादि प्रसंग को छोड़कर सामान्यतया ग्राम या नगर में प्रवेश नहीं करते थे और वे नगर के बाहर उद्यानों या वाटिकाओं में ही निवास करते थे।^१

अतः सम्भावना यह है कि वाटिका में निवास के कारण वे वाडिय या बाडिय कहे जाते होंगे। सम्भवतः आगे चलकर वाडिय शब्द का परिवर्तित रूप 'बोडिय' हो गया हो। कल्पसूत्र में वेसवाडिय (वेस्य-वाटिक) उडुवाडिय (ऋतुवाटिक) आदि गणों के उल्लेख मिलते हैं।^२ जिस प्रकार श्वेतपट प्राकृत में सेतपट > सेअपड > सेअअड > सेवडा हो गया, उसी प्रकार सम्भवतः वाटिक > वाडिय > वाडिय > बोडिय हो गया हो। आज भी मालव प्रदेश में उद्यान को बाड़ी कहा जाता है। इसी प्रसंग में मुझे मालवी बोलों में प्रयुक्त 'बोडा' शब्द का भी स्मरण हो जाता है। गुजराती एवं मालवी में केशरहित मस्तक वाले व्यक्ति को 'बोडा' कहा जाता है। अतः सम्भावना यह भी हो सकती है कि लुंचित केश या केशरहित सिर वालों को 'बोडिय' कहा गया हो। शब्दों के रूप परिवर्तन की ये व्याख्याएँ मैंने अपनी बुद्धिनुसार करने की चेष्टा की है। भाषाशास्त्र के विद्वानों से अपेक्षा है कि इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालें।

प्रो० एम० ए० ढाकी बोटिक की मेरी इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'बोटवुं' शब्द आज भी गुजराती भ्रष्ट या अप-वित्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है।^३ सम्भवतः यह देशीय शब्द हो और उस युग में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता रहा हो। अतः श्वेताम्बरों ने उन्हें साम्प्रदायिक अभिनिवेशवश 'बोडिय' अर्थात् भ्रष्ट या पतित कहा होगा। क्योंकि श्वेताम्बर परंपरा उनके लिए मिथ्यादृष्टि, प्रभूततरविसं-वादी, सर्वविसंवादी और सर्वापलापी जैसे अनादरसूचक शब्दों का प्रयोग

१. आवश्यक टीका (हरिभद्र कृत) पृ० ४२३।

२. अ—थेरेहितो भदजसेहितो भारद्वायगोत्तोहितो एत्थ णं उडुवाडियगणे नामं गणे निग्गए । कल्पसूत्र (प्राकृतभारती, जयपुर, संस्करण) सूत्र २१३।

ब—थेरेहितो णं कामिड्ढिहितो कुंडलिसगोत्तोहितो एत्थ णं वेसवाडियगणे नामं गणे निग्गये । कल्पसूत्र, वही सूत्र-१२४।

३. देखिये बोडुं-हिन्दी-गुजराती कोश (अहमदाबाद-१९६१) पृ० ३४८।

कर रही थी।^१ पुनः भोजपुरी और अवधी में आज भी बोरना या बूड़ना शब्द डूबने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। व्यञ्जना से इसका अर्थ भी पतित या गिरा हुआ हो सकता है।

‘बोडिय’ शब्द की इन विभिन्न व्याख्याओं में मुझे प्रो० ढाकी की व्याख्या अधिक युक्तिसंगत लगती है। क्योंकि इस व्याख्या से यापनीय और बोटिक शब्द पर्यायवाची भी बन जाते हैं। यदि यापनीय का अर्थ तिरस्कृत या निष्कासित और बोटिक का अर्थ भ्रष्ट या पतित है, तो दोनों पर्यायवाची ही सिद्ध होते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति में हमें यह स्मरण रखना होगा कि ये दोनों नाम उन्हें साम्प्रदायिक दुरभिवेश वश ही दिये गये हैं। जहाँ श्वेताम्बरों ने उन्हें बोडिय (बोटिक = भ्रष्ट) कहा, वहीं दिगम्बरों ने उन्हें यापनीय (तिरस्कृत या निष्कासित) कहा। यापनीयों के लिए बोटिक शब्द का प्रयोग श्वेताम्बर परंपरा में केवल आगमिक व्याख्या ग्रन्थों तक ही सीमित रहा है; इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इस शब्द का प्रयोग अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। यह संभव है कि आगे चलकर इस वर्ग ने स्वयं अपने लिए ‘यापनीय’ शब्द को स्वीकार कर लिया होगा, क्योंकि यापनीय शब्द की व्याख्या प्रशस्त अर्थ में भी संभव है। अभिलेखों में भी ये अपने को ‘यापनीय’ के रूप में ही अंकित करवाते थे।

यापनीय संघ की उत्पत्ति

यापनीय सम्प्रदाय कब उत्पन्न हुआ ? यह प्रश्न विचारणीय है। भगवान् महावीर का धर्म संघ कब और किस प्रकार विभाजित हुआ गया, इसके प्राचीनतम उल्लेख हमें कल्पसूत्र^२ और नन्दीसूत्र^३ की स्थविरावलियों में मिलता है। ये स्थविरावलियाँ स्पष्ट रूप से हमें यह तो बताती हैं कि महावीर का धर्मसंघ विभिन्न गणों में विभाजित हुआ और ये गण शाखाओं में, शाखायें कुल में और कुल सम्भोगों में विभाजित हुए, किन्तु नन्दीसूत्र और कल्पसूत्र की स्थविरावलियों में ऐसा कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, जिससे महावीर के धर्मसंघ के यापनीय, श्वेताम्बर और

१. (अ) प्रो० एम० ए० ढाकी से प्राप्त व्यक्तिगत सूचना पर आधारित।

(ब) देखिए बोटवुं—हिन्दी-गुजराती कोश पृ० ३४८।

२. कल्पसूत्र स्थविरावली २०७-२२४।

३. नन्दीसूत्र (मधुकर मुनि) गाथा २५-५०।

दिगम्बर परम्पराओं में विभाजित होने की कोई सूचना मिलती हो। इन दोनों स्थविरावलियों में भी कल्पसूत्र की स्थविरावली अपेक्षाकृत प्राचीन है, इसमें दो बार परिवर्धन हुआ है। अन्तिम परिवर्धन वीर निर्वाण सम्बत् ९८० अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी का है। नन्दीसूत्र की स्थविरावली भी इसी काल की है, किन्तु दोनों स्थविरावलियाँ स्थूलभद्र के शिष्यों से अलग हो जाती हैं। इनमें कल्पसूत्र की स्थविरावली का सम्बन्ध गणधर वंश से जोड़ा जाता है।^१ सम्भवतः गणधरवंश संघ व्यवस्थापक आचार्यों की परम्परा (Administrative lineage) का सूचक है जब कि वाचक वंश उपाध्यायों या विद्यागुरुओं की परम्परा का सूचक है। वाचक वंश विद्या-वंश है। इसमें विद्वान् जैनाचार्यों के नामों का कालक्रम से संकलन है। किन्तु इन स्थविरावलियों में यापनीय या बोटिक संघ की उत्पत्ति का कोई भी संकेत नहीं मिलता है।

कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियाँ अन्तिम रूप से देवर्धगणि क्षमाश्रमण तक की परम्परा का अर्थात् वीरनिर्वाण से एक हजार वर्ष तक (ई० पू० पाँचवीं शती से ईसा की पाँचवीं शती तक) के जैन श्रमण संघ के इतिहास का उल्लेख करती हैं, फिर भी इसमें सम्प्रदायभेद की कहीं चर्चा नहीं है, मात्र गणभेद आदि की चर्चा है।

श्वेताम्बर परम्परा के उपलब्ध आगमिक साहित्य स्थानाङ्ग और आवश्यकनियुक्ति में हमें सात निह्वनों का उल्लेख मिलता है। ये सात निह्वन जामालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठ-माहिल हैं। इनमें जामालि और तिष्यगुप्त महावीर के जीवन काल में और शेष पाँच उनके निर्वाण के पश्चात् २१४ से ५८४ वर्ष के बीच हुए हैं।^२ रोहगुप्त से त्रैराशिक मत की उत्पत्ति का उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरा-

१. पट्टावलीपरागसंग्रह (कल्याण विजयगणि) के प्रारम्भिक अध्याय।

२. (अ) समणस्य णं भगवओ महावीरस्स तित्थासि सत्त पवयणणिण्हगा पणत्ता, तं जहा—बहुरता, जीवपएसिया, अवत्तिया, सामुच्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया अबद्धिया ॥

एसि णं सत्तण्हं पवयणणिण्हगाणं सत्तं मम्मारिया हुत्था, तं जहा—जमाली, तीसगुत्ते, आसाढे, आसमित्ते, गंगे, छलुए, गोष्ठमाहिले ॥

एत्तेसि णं सत्तण्हं पवयणणिण्हगाणं सत्तउप्पत्तिणगरा हुत्था, तं जहा—

स्थानाङ्ग सत्तमं ठाणं १४०-१४२, पृष्ठ संख्या ७५३-७५४;

वली में भी है। [निह्लव वे हैं जो सैद्धान्तिक या दार्शनिक मान्यताओं के सन्दर्भ में मतभेद रखते हैं, किन्तु आचार और वेश बही रखते हैं।] इन सात निह्लवों में कहीं भी बोटिक (बोडिय), जिन्हें सामान्यतया दिगम्बर मान लिया जाता है, किन्तु वस्तुतः जो यापनीय हैं, का उल्लेख नहीं है। बोटिक सम्प्रदाय का सर्वप्रथम उल्लेख आवश्यक मूलभाष्य की गाथा १४५ से १४८ तक में मिलता है।^१ ये गाथायें हरिभद्र की आवश्यक-निर्युक्ति टीका में मूल गाथा ७८३ के पश्चात् संकलित हैं। इस प्रकार श्वेताम्बर आगमिक साहित्य आवश्यक मूलभाष्य की रचना के पूर्व तक बोटिक, यापनीय एवं दिगम्बर परम्पराओं के सम्बन्ध में हमें कोई सूचना नहीं देता। आश्चर्य यह है कि स्त्रीमुक्ति एवं केवलीकवलाहार का निषेध

(ब) बहुरय जमालिपंभवा जीवउएसस य तीसगुत्ताओ ।
 अब्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥ ७७९ ॥
 गंगाओ दोकरिया छ्लुगा तेरासियाण उप्पत्ती ।
 थेरा य गोठुमात्थि पुठुमबद्धं परुविति ॥ ७८० ॥
 सावत्थी उसन्नपुरं सेयविया मिहिल उल्लुगतीरं ।
 पुरिमंतरंजि दसपुर रथवीरपुरं च नगराई ॥ ७८१ ॥
 चोइस सोथस वासा चोइसवीमुत्तरां य दोण्णि सया ।
 अट्ठावोसा य दुवे पंचेव सया उ चोयाला ॥ ७८२ ॥
 सया चुलसीया छच्चेव सया णोत्तरा होति ।
 णाणुप्पत्तीय दुवे उप्पण्णा णित्त्वुए सेसा ॥ ७८३ ॥
 —आवश्यक निर्युक्ति

: १. छव्वाससयाई नवुत्तराई तइया सिद्धिगयस्स वीरस्स ।
 तो बोडियाण विट्ठी रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥
 रहवीरपुरं नयरं जीवगमुज्जाण अज्जकण्हे ।
 सिवभइस्सवहिमि य पूच्छा थेराण कहणा य ॥

ऊहाए पणत्तं बोडियसिवभूइउत्तराहि इमं ।
 मिच्छादंसणमिणमो रहवीरपुरे समुप्पण्णं ॥
 बोडियसिवभूईओ बोडियाल्लगस्स होइ उप्पत्ती ॥
 कोडिण्ण-कोट्टवीरा परंपराफासमुप्पण्णा ।

—आवश्यक मूलभाष्य १४५-१४८, उद्धृत आवश्यकनिर्युक्ति-
 हरिभद्रीयवृत्ति, पृ० २१५

करने वाली दिगम्बर परम्परा का उल्लेख तो विक्रम की आठवीं शती के पूर्व के किसी भी श्वेताम्बर ग्रन्थ में नहीं मिलता है। साहित्यिक दृष्टि से यापनीय सम्प्रदाय के सम्बन्ध में जो उल्लेख उपलब्ध हैं वे लगभग ईसा की ५वीं शताब्दी या उसके पश्चात् के हैं। यद्यपि इसके पूर्व भी यह सम्प्रदाय अस्तित्व में तो अवश्य ही आ गया था।

जहाँ तक अभिलेखीय साक्ष्यों का प्रश्न है मथुरा के, ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी के, जो जैन अभिलेख उपलब्ध हैं, उनमें गणों, शाखाओं, कुलों एवं सम्भोगों के उल्लेख मिलते हैं। ये समस्त गण, कुल, शाखाएँ और सम्भोग कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार ही हैं।^१ दिगम्बर साहित्य में हमें इन गणों, शाखाओं एवं कुलों का किञ्चित् भी संकेत उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि मथुरा से उपलब्ध उन सभी मूर्तियों और आयागपट्टों (जिनपर ये अभिलेख अंकित हैं) में तीर्थङ्कर को नग्न रूप में अंकित किया गया है किन्तु वहीं उसी काल में कल्पसूत्र एवं आचाराङ्ग (द्वितीय श्रुतस्कंध) में उल्लिखित महावीर के गर्भपरिवर्तन की घटना का अंकन भी उपलब्ध है।^२ साथ ही उन अभिलेखों में कल्पसूत्र के अनुरूप गण, कुल, शाखा और संभोगों के उल्लेख यह सूचित करते हैं कि ये सभी अभिलेख और मूर्तियाँ दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध नहीं हैं। पुनः मथुरा के प्राचीन शिल्प में मुनि के हाथ की कलाई पर लटकते हुए वस्त्र का अंकन भी मिलता है, जिसमें वे अपनी नग्नता को छिपाये हुए हैं। यह तथ्य इस शिल्प को दिगम्बर परम्परा से पृथक् करता है।^३ किन्तु मथुरा का जैन शिल्प यापनीय भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यापनीय परम्परा की उत्पत्ति इससे किञ्चित् परवर्ती है। इस शिल्प में आर्य कृष्ण (अज्ज कप्ह) का, जिनके शिष्य शिवभूति से आवश्यक मूलभाष्य में बोटिका या यापनीय परम्परा का विकास माना गया है, नामोल्लेख पूर्वक अंकन उपलब्ध होता है। पं० कैलाशचन्द्र जो शास्त्री ने इसे अर्धस्फालक सम्प्रदाय का माना है,^४ किन्तु इस सम्प्रदाय के अस्तित्व का दसवीं शती के पूर्व का कोई भी साहित्यिक या अभिलेखीय साक्ष्य नहीं है। पं० नाथूराम जो

१. पट्टावलीपरामसंग्रह, कल्याणविजय पृ० ३४-४५

२. Jaina Stupas and Other Antiquities of India, ... V. A. Smith, Plate No. 10, 15, 17 pp. 24, 25

३. Jaina Stupas and Other Antiquities. pp. 24-25.

४. जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका, पृ० ३८५।

‘प्रेमी’ के अनुसार ऐसा कोई सम्प्रदाय ही नहीं था। यह मात्र संघभेद के पूर्व की स्थिति है।^१ सत्य तो यह है कि यापनीयों या बोटिकों ने आर्यकृष्ण के उसी वस्त्र का विरोध कर, अचेलक परम्परा के पुनः स्थापन का प्रयत्न किया था। देश-काल के प्रवाह में जैन संघ में जो परिवर्तन आ रहे थे, उसी का विरोध यापनीयों या बोटिकों की उत्पत्ति का कारण बना।

इस प्रकार अभिलेखीय और साहित्यिक दोनों ही प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि ईसा की लगभग दूसरी शताब्दी तक चाहे महावीर के धर्मसंघ में विभिन्न गण, शाखा, कुल और मम्भोग अस्तित्व में आ गये थे, फिर भी श्वेताम्बर या यापनीय जैसे वर्गों में उसका स्पष्ट विभाजन नहीं हो पाया था। अतः यह स्पष्ट है कि जैन धर्म में श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं यापनीय सम्प्रदाय ईसा की तीसरी शती या उसके पश्चात् ही अस्तित्व में आये हैं। यद्यपि इस संघभेद के मूल कारण इसके पूर्व भी भीतर-भीतर अपनी जड़ें जमा चुके थे।

जैसा कि हम पूर्व में देख चुके हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में मतभेद और संघभेद सम्बन्धी जो सूचनार्थ उपलब्ध हैं, उनमें प्रथमतः स्थानाङ्ग एवं आवश्यकनियुक्ति में बोटिक या बोडिय का कहीं भी उल्लेख नहीं है। ‘बोडिय’ (बाटिक) का सर्वप्रथम उल्लेख आवश्यकमूलभाष्य में है। इस ग्रन्थ के अनुसार वीर निर्वाण के ५०९ वर्ष में रथवीरपुर नगर के दीपक उद्यान में अज्ज कण्ह (आर्यकृष्ण) के शिष्य शिवभूति द्वारा बोटिक परम्परा की उत्पत्ति हुई।^२ आवश्यकमूलभाष्य, आवश्यकनियुक्ति एवं विशेषावश्यकभाष्य के मध्य काल की रचना है। उपलब्ध आवश्यकनियुक्ति वार निर्वाण के ५८४ वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसा की प्रथम शती की घटनाओं का उल्लेख करती है,^३ अतः उसके पश्चात् ही उसका रचनाकाल माना जा सकता है। विशेषावश्यकभाष्य का रचनाकाल सामान्यतया ईसा की छठीं शताब्दी का अन्तिम चरण (शक ५३१ के पूर्व) माना जाता है।^४ अतः इस अवधि के बीच ही बोटिक मत या

१. (अ) वही, पृ० ३८१। (ब) जैनहितैषी, भाग १३, अंक ९-१०।

२. आवश्यकमूलभाष्य १४५-१४८।

उद्धृत—आवश्यकनियुक्ति हरिभद्र-वृत्ति, पृ० २१५-२१६।

३. आवश्यकनियुक्ति ७७९-७८३।

४. जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका, पृ० ३७२।

यापनीय परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ होगा। आवश्यकमूलभाष्य में जो वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद अर्थात् ईसा की द्वितीय शती में इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति का उल्लेख है, वह किसी सीमा तक सत्य प्रतीत होता है।

दिगम्बर परम्परा में जैन संघ के इस विभाजन की सूचना देने वाला कोई प्राचीन ग्रन्थ नहीं है, मात्र ई० सन् ९४२ (वि० सं० ९९९) में देवसेन द्वारा रचित 'दर्शनसार' है।^१ इस ग्रन्थ के अनुसार विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र देश के वलभी नगरी में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई। इसमें यह भी कहा गया है कि श्रीकलश नामक श्वेताम्बर मुनि से विक्रम संवत् २०५ में कल्याण में यापनीय संघ उत्पन्न हुआ।^२ चूँकि 'दर्शनसार' आवश्यकमूलभाष्य की अपेक्षा पर्याप्त परवर्ती है, अतः उसके विवरणों की प्रामाणिकता को स्वीकार करने में विशेष सतर्कता की आवश्यकता है, फिर भी इतना निश्चित है कि जब आवश्यक-मूलभाष्य और दर्शनसार दोनों ही वि० सं० १३६ अथवा १३९ या वीर निर्वाण संवत् ६०६ या ६०९ में संघ भेद की घटना का उल्लेख करते हैं,^३ तो एक दूसरे से पुष्टि होने के कारण इस तथ्य को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता कि विक्रम संवत् की प्रथम शती के अन्त या द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में जैनों में स्पष्ट रूप से संघभेद हो गया था। 'दर्शनसार' में इस संघ भेद की घटना के ७० वर्ष पश्चात् यापनीय संघ की उत्पत्ति का उल्लेख है। आवश्यकमूलभाष्य में भी कहा गया है कि शिवभूति के शिष्य कौडिन्य और कोट्टवीर से यह परम्परा आगे चली।^४ अतः यह मानने में विशेष बाधा नहीं आती कि यह बोटिक सम्प्रदाय जिसका उल्लेख आवश्यकमूलभाष्य में मिलता है, ईसा की दूसरी शताब्दी के अन्त में या तृतीय शताब्दी के आरम्भ में एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ होगा। यद्यपि यह प्रश्न अनिर्णीत ही है कि इस सम्प्रदाय ने पूर्ण स्वतंत्र होकर 'यापनीय' नाम कब धारण किया, क्योंकि 'यापनीय' शब्द का सत्रमे प्राचीन प्रयाग दक्षिण भारत में मृगेश्वरमन् के ईसा की

१. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका पृ० ३७२।

२. वही, पृ० ३७२।

३. वही, पृ० २७२-२७३।

४. आवश्यक मूलभाष्य गाथा १४५-१४८ उद्धृत आवश्यक नियुक्ति हरि-भद्रीय वृत्ति।

पाँचवीं शताब्दी के अभिलेख में ही मिलता है,^१ यद्यपि उत्तर भारत में इससे पूर्व भी यह सम्प्रदाय अपनी जड़ें जमा चुका था। किन्तु यह किस नाम से अभिहित होता था, इसका कोई स्पष्ट संकेत उपलब्ध नहीं होता है। उत्तर भारत में हरिभद्र के ग्रन्थ श्री ललितविस्तरा (लगभग आठवीं शती पूर्वार्द्ध) में सर्वप्रथम 'यापनीय' नाम मिलता है। इसके पूर्व के उत्तर-भारत में न तो अभिलेखों में और न ही साहित्यिक ग्रन्थों में यापनीयों का उल्लेख है। यह निश्चित है कि इस सम्प्रदाय को इसके पूर्व श्वेताम्बर बोटिक (बोडिय) कह रहे थे, किन्तु यह अपने को किस नाम से अभिहित करता था, इसका पता नहीं चलता है। जो संकेतसूत्र उपलब्ध हैं, उनसे मात्र कुछ सम्भावनाएँ प्रकट की जा सकती हैं, निश्चित रूप में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम कल्पसूत्र, स्थानाङ्ग आदि आगम ग्रन्थों में और मथुरा के अभिलेखों में जिन गण, शाखा, कुल, सम्भोग आदि का उल्लेख है, वे श्वेताम्बर और यापनीय दोनों के पूर्वज तो माने जा सकते हैं, किन्तु इनके आधार पर यह बता पाना कठिन है कि यापनीय प्रारम्भ में अपनी पृथक्ता को किस रूप में सूचित करते थे। इस सम्बन्ध में मात्र पभोसा, विदिशा और पहाड़पुर के अभिलेखों पर विचार करना होगा। पभोसा के अभिलेख में काश्यपीय अर्हत्तों का उल्लेख आया है।^२ प्रश्न उठता है कि ये काश्यपीय अर्हत्त कौन थे? कल्पसूत्र स्थविरावली में काश्यपीय शाखा के सम्बन्ध में एक उल्लेख मिलता है।^३ यह तो निश्चित है कि काश्यपगोत्रीय किसी धर्माचार्य के शिष्य ही 'काश्यपीय अर्हत्त' कहे जाते होंगे। इस सम्बन्ध में तीन संभावनाएँ हो सकती हैं—

(१) भगवान् महावीर के काश्यपगोत्रीय होने से उनकी शिष्य परम्परा अपने को काश्यपीय अर्हत्त कहती हो।

(२) कल्पसूत्र स्थविरावली में आचार्य भद्रबाहु के शिष्य 'गोदास' को काश्यप गोत्रीय कहा गया है अतः उनको शिष्य परम्परा भी अपने को काश्यपीय अर्हत्त के नाम से अभिहित करती हो।

(३) आर्य शिवभूति और आर्यकृष्ण जिनके मध्य वस्त्र-पात्र का विवाद हुआ था—के परवर्ती तीन आचार्यों आर्यभद्र, आर्यनक्षत्र और

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, अभिलेख सं० १०२-१०३।

२. वही, अभिलेख सं० ६-७

३. कल्पसूत्र २१५.

आर्यरक्ष (सम्भवतः आर्यरक्षित) को भी कल्पसूत्र स्थविरावलो में काश्यप गोत्रीय कहा गया है, अतः इनको शिष्य परम्परा भी काश्यपीय अर्हत् कहलाती हो ।

प्रथम और द्वितीय विकल्प इसलिए निरस्त हो जाते हैं कि कल्पसूत्र काश्यपिका शाखा को सुहस्ति के शिष्य वशिष्ठ गोत्रीय ऋषिगुप्त से निकले मानव गण की एक शाखा बताता है । यद्यपि इसमें काश्यपिका शाखा के प्रवर्तक का नाम अज्ञात ही है । पुनः ये उल्लेख यापनीयों की उत्पत्ति के पूर्व के हैं ।

चूँकि पभोसा का अभिलेख भी लिपि की दृष्टि से शुंगकालीन माना जाता है, अतः उसका समय ई०पू० द्वितीय-प्रथम शती तो निश्चित ही होगा, किन्तु यापनीयों की उत्पत्ति तो ईसा की द्वितीय शताब्दी के लगभग मानी जाती है । अतः पभोसा के अभिलेख के आधार पर भी यापनीयों को काश्यपीय अर्हत् कहना प्रमाणभूत नहीं हो सकता ।

विदिशा के उदयगिरि के अभिलेख^१ (गुप्त संवत् १०६, वि० सं०, ४२६) में पार्श्वनाथ की प्रतिमा को स्थापित कराने वाले ने अपने आपको आर्यकुल एवं भद्रान्वय के आचार्य गोशर्मा का शिष्य बताया है । इस अभिलेख के भद्रान्वय को यापनीय परम्परा का पूर्व नाम माना जा सकता है । कल्पसूत्र स्थविरावली में आर्य शिवभूति और आर्यकृष्ण, जिनके मध्य वस्त्र-पात्र-विवाद हुआ था, के पश्चात् आर्यभद्र का नाम आता है । मेरो दृष्टि में इस शिलालेख में उल्लिखित आर्यकुल और भद्रान्वय का सम्बन्ध इन्हीं आर्यभद्र से हो सकता है । संभावना है कि काश्यपगोत्रीय आर्यभद्र आर्यशिवभूति के पक्षधर रहे हों और उन्हें ही अग्रगण्य मानकर यह परम्परा अपने को आर्यकुल और भद्रान्वय की मानती हो । यह निश्चित है कि उत्तर-भारत की यह अचेल परंपरा जिसे हम बोटिक या यापनीय के नाम से जानते हैं, मथुरा से लेकर सांची तक अपना व्यापक प्रभाव रखती थी । संभावना यही है कि उत्तर-भारत में अपने प्रारम्भिक काल में यह यापनीय परम्परा आर्यकुल और भद्रान्वय के नाम से पहचानी जाती रही हो ।

विदिशा के महाराजाधिराज रामगुप्त के काल की एक अन्य प्रतिमा पर पाणिपात्रिक आर्यचन्द्र क्षमण-श्रमण (खमण-समण) के पट्टशिष्य तथा

१. आचार्य-भद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसाधार्यकुलोद्गतस्य [।] आचार्य-गोशर्म
—जैलशिलालेख संग्रह द्वितीय भाग, पृ० ५७

चेलु क्षमण के शिष्य आचार्य सर्पसेन (नागसेन) क्षमण का उल्लेख है।^१ इसमें पाणिपात्रिक विशेषण जहाँ इन आचार्यों को श्वेताम्बर परम्परा से पृथक् करता है वहीं क्षमण-श्रमण (खमण-समण), यह विरुद्ध इन्हें दिगम्बर परम्परा से पृथक् करता है क्योंकि क्षमण-श्रमण का विरुद्ध दिगम्बर परम्परा में कभी भी प्रचलित नहीं रहा। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में चौथी-पाँचवीं शताब्दी में यह विशेषण विशेष रूप से प्रचलित रहा है। श्वेताम्बर आगमों के अन्तिम संकलनकर्ता देवर्धिगणि क्षमण-श्रमण (खमण-समण) के नाम से जाने जाते हैं। कल्पसूत्रस्थविरावली में इनके पूर्व के आचार्यों को भी क्षमण-श्रमण कहा गया है। चूँकि बोटिक या यापनीय परम्परा का विकास भी उत्तर-भारत की इसी परम्परा से हुआ है। अतः उनमें भी यह विरुद्ध प्रचलित रहा होगा। विदिशा के ये अभिलेख यापनीय परम्परा से संबन्धित हैं, इसकी पुष्टि प्रो० यू० पी० शाह ने भी की है, वे लिखते हैं—आर्यचन्द्र निश्चय ही दिगम्बर (अचेलक) थे और वे सम्भवतः यापनीय संघ से सम्बद्ध थे। प्रो० यू० पी० शाह ने इस अभिलेख के सर्पसेन को नागसेन माना है। कल्पसूत्रस्थविरावली में आर्यकृष्ण और शिवभूति की परंपरा में आर्यभद्र, आर्यनक्षत्र, आर्यरक्ष के पश्चात् उल्लेखित आर्यनाग को उपरोक्त शिलालेख के आर्य सर्पसेन नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनकी गुरु परंपरा का कल्पसूत्र की परंपरा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं जुड़ता है फिर भी इस विवेचन के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आर्यकुल और भद्रान्वय एवं सर्पसेन का सम्बन्ध निश्चित रूप से यापनीय परंपरा से है।

पहाड़पुर (बंगाल) के एक अभिलेख में काशी की पंचास्तूपान्वय का उल्लेख हुआ है। अभिलेखीय साक्ष्यों एवं शिल्पांकन से यह स्पष्ट है कि मथुरा में जैन परम्परा में स्तूप आराधना की पद्धति प्रचलित थी। यह भी सत्य है कि उत्तर-भारत में सचेल और अचेल परम्पराओं का विभाजन मथुरा के आसपास के प्रदेश में ही कहीं हुआ था। अतः सम्भावना यह हो सकती है कि मथुरा से विभाजित होकर जो अचेल शाखा ग्वालियर, देवगढ़ के रास्ते से विदिशा और सांची पहुँची वह आर्यकुल और भद्रान्वय के नाम से जानी जाती हो और इसी प्रकार जो शाखा मथुरा से काशी होती हुई बंगाल को गई वह अपने को पंचास्तूपान्वय के नाम से प्रकट

१. जर्नल आफ ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट बड़ौदा जिल्द १८ (सन् १९६९) पृ० २४७-५१ श्री इन्स्क्रिप्शन्स आफ रामगुप्त—जी० एस० घट्ट.

करती हो। अतः यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि उत्तर-भारत में अपने प्रारंभिक काल में यापनीय परम्परा अपने को आर्यकुल-भद्रान्वय और पंचस्तूपान्वय के नाम से अभिहित करती हो। यद्यपि उस परम्परा के विरोधी श्वे० आचार्य उसे बोटिक ही कहते थे। किन्तु इनका यापनीय नामकरण इनके दक्षिण पहुँचने पर ही हुआ है।

यापनीय-संघ की उत्पत्ति-कथा

यापनीयों या बोटिकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में कथायें उपलब्ध होती हैं। श्वेताम्बर परम्परा में यह कथा विशेषावश्यकभाष्य और आवश्यकचूर्णि (६-७ शती) में उपलब्ध होती है। श्वेताम्बर परम्परानुसार रथवीरपुर नगर के दीपक नामक उद्यान में आर्यकृष्ण नामक आचार्य का आगमन हुआ। उस नगर में सहस्रमल्ल शिवभूति निवास करता था। प्रतिदिन अर्द्धरात्रि के पश्चात् घर आने के कारण उसका अपनी माता और पत्नी से कलह होता था। एक बार रात्रि में विलम्ब से आकर द्वार खुलवाने पर उसकी माता ने द्वार न खोलते हुए कहा इस समय जहाँ द्वार खुला हो वहीं चले जाओ। निराश होकर नगर में घूमते समय उसे मुनियों के निवास का द्वार उद्घाटित दिखाई पड़ा। उसने अन्दर जाकर मुनियों का वन्दन किया और प्रव्रजित होने की आकांक्षा व्यक्त की। पहले आचार्य सहमत नहीं हुए परन्तु उसके द्वारा स्वयं केश-लुञ्चन कर लेने पर आचार्य ने उसे मुनिलिङ्ग प्रदान किया। एक बार रथवीरपुर आगमन पर राजा ने उसे बहुमूल्य रत्नकम्बल भेंट किया। आचार्य ने इसके ग्रहण करने पर आपत्ति की और शिवभूति को बिना बताये ही किसी समय उस रत्नकम्बल के आसन निर्मित कर दिये। इस कारण आचार्य और शिवभूति में मतभेद उत्पन्न हो गया। एक बार आचार्य द्वारा जिनकल्प का वर्णन करते समय उसने वर्तमान में जिनकल्प का आचरण न करने और उपधि (परिग्रह) रखने का कारण पूछा? आचार्य ने उत्तर दिया—जम्बू स्वामी के पश्चात् जिनकल्प का विच्छेद हो गया। शिवभूति ने कहा—मैं जिनकल्प का आचरण करूँगा, उपधि के परिग्रहण से क्या लाभ? क्योंकि परिग्रह के सद्भाव में कषाय, मूर्च्छा आदि अनेक दोष हैं। आगम में भी अपरिग्रह का उल्लेख है, जिनेन्द्र भी अचेत थे, अतः अचेतता सुन्दर है। इस पर आचार्य ने उत्तर दिया कि शरीर के सद्भाव में भी कभी-कभी कषाय, मूर्च्छा आदि होते हैं तब तो देह का भी परित्याग कर देना चाहिए, आगम में अपरिग्रह का जो उपदेश दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि धार्मिक उपकरणों में मूर्च्छा

नहीं रखनी चाहिए। जिन भी एकान्त रूप से अचेलक नहीं हैं, क्योंकि सभी जिन एक वस्त्र लेकर दीक्षित होते हैं। गुरु के इस प्रकार प्रतिपादित करने पर भी शिवभूति कर्मोदय के कारण वस्त्रों का त्याग करके संघ से पृथक् हो गया। उसे वन्दन करने हेतु आई उसकी बहन उत्तरा भी उसका अनुसरण कर अचेल हो गई। किन्तु भिक्षार्थ नगर में जाने पर गणिका ने उसे देखा और कहा कि इस प्रकार लोग हमसे विरक्त हो जायेंगे या हमारे प्रति आकर्षित नहीं होंगे। उसने उत्तरा के उर में वस्त्र बांध दिया। यद्यपि उसने वस्त्र की अपेक्षा नहीं की, किन्तु शिवभूति ने कहा कि इसे देवता का दिया हुआ मानकर ग्रहण करो। शिवभूति के दो शिष्य हुए कौडिन्य और कोट्यवोर। इन शिष्यों से उसकी पृथक् परम्परा आगे बढ़ी।^१

अर्धमागधी आगम साहित्य एवं मथुरा के अंकनों से ज्ञात होता है कि आर्यकृष्ण के समय में मुनि नग्नता को छिपाने के लिए वस्त्र का उपयोग करते थे।^२ सम्भवतः शिवभूति का इसी प्रश्न पर आर्य कृष्ण से विवाद हुआ होगा। इस कथा में भी मतभेद का मुख्य कारण वस्त्र एवं उपधि का ग्रहण ही माना गया है। कथानक के अन्य तथ्यों में कितनी प्रामाणिकता है, यह विचारणीय है। यह सम्भव है कि शिवभूति द्वारा अचेलकता को ग्रहण करने पर उनकी बहन एवं सम्बन्धित साध्वियों ने भी अचेलकत्व का आग्रह किया होगा, किन्तु शिवभूति ने साध्वियों की अचेलकता को उचित न समझकर कहा हो कि जिस प्रकार तीर्थङ्कर देवदूष्य नामक वस्त्र ग्रहण करते हैं उसी प्रकार साध्वियों को भी देवता का दिया हुआ मानकर एक वस्त्र ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में बोटिकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कथा मिलती है वह साम्प्रदायिक अभिनिवेश से पूर्णतया मुक्त तो नहीं है—फिर भी उसमें इतनी सत्यता अवश्य है कि बोटिक अचेलकता के प्रश्न को लेकर तत्कालीन परम्परा से अलग हुए थे तथा उन्होंने साध्वियों के लिए एक वस्त्र रखना मान्य किया था। कथानक का शेष भाग साम्प्रदायिक अभिनिवेश की रचना है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी सत्यता इस अर्थ में है कि आर्यकृष्ण और शिवभूति काल्पनिक व्यक्ति न होकर ऐतिहासिक व्यक्ति

१. आवश्यकनियुक्ति हरिभद्रीयवृत्ति. पृष्ठ २१६-२१८

२. Jaina Stupas and other Antiquities of Mathura—V. A. Smith, Plate No. 10, 15, 17, pp 24.25 |

हैं क्योंकि उनका उल्लेख कल्पसूत्र की स्थविरावली में मिलता है। यद्यपि जहाँ कल्पसूत्र स्थविरावली में आर्यकृष्ण का उल्लेख शिवभूति के शिष्य के रूप में हुआ है, वहीं विशेषावश्यक में शिवभूति को आर्यकृष्ण का शिष्य कहा गया है। अज्जकण्ह [आर्यकृष्ण] का उल्लेख मथुरा के अभिलेख में भी है।^१ सम्भव है कि दोनों ही गुरुभ्राता हों।

दिगम्बर परम्परा में यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो कथानक उपलब्ध होते हैं। देवसेन (लगभग ई० सन् की दसवीं शताब्दी) के दर्शनसार नामक ग्रन्थ के २९वीं गाथा के अनुसार श्री कलश नामक श्वेताम्बर साधु ने विक्रम की मृत्यु के २०५ वर्ष पश्चात् कल्याण नगर में यापनीय संघ प्रारम्भ किया।^२ ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण का अभाव है।

यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरा कथानक रत्ननन्दी के भद्रबाहुचरित (ईसा की लगभग १५वीं शताब्दी) में उपलब्ध होता है—

करहाटक के राजा भूपाल की पत्नी नृकुलादेवी ने राजा से आग्रह किया कि वे उसके पैतृक नगर जाकर वहाँ आये हुए आचार्यों को आने हेतु अनुनय करें। राजा ने नृकुलादेवी के निर्देशानुसार अपने मन्त्री बुद्धिसागर को भेजकर उन मुनियों से करहाटक पधारने की प्रार्थना की। राजा के आमन्त्रण को स्वीकार कर वे मुनिगण करहाटक पधारे। उनके स्वागत हेतु जाने पर राजा ने देखा कि वे साधु सवस्त्र हैं और उनके पास भिक्षा पात्र और लाठी भी है। यह देखकर राजा ने उन्हें वापस लौटा दिया। नृकुलादेवी को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने उन मुनियों से दिगम्बर मुद्रा में पिच्छ-कमण्डलु लेकर पधारने का आग्रह किया और उन्होंने तदनु रूप दिगम्बर मुद्रा धारण कर नगर प्रवेश किया। इस प्रकार वे साधु वेष से तो दिगम्बर थे किन्तु उनके क्रिया-कलाप श्वेताम्बरों जैसे थे। यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में रत्ननन्दी का यह कथन पूर्णतः प्रामाणिक नहीं है। यापनीयों की उत्पत्ति श्वेताम्बर परम्परा से न होकर उस मूल धारा से हुई है, जो श्वेताम्बर परम्परा को भी पूर्वज थी,

१. (अ) कल्पसूत्र, २२३/१

(आ) Jaina Stupas and other Antiquities of Mathura—V.A. Smith, Plate No. 10, 15, 17, pp. 24-25.

2. Annals of the B. O. R. I. XV-III. IV, pp. 191ff, Poona, 1934;

देखें अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० १३४।

जिससे काल-क्रम से वर्तमान श्वेताम्बर धारा का विकास हुआ है। वस्तुतः महावीर के धर्मसंघ में जब वस्त्र-पात्र आदि में वृद्धि होने लगी और अचेलकत्व की प्रतिष्ठा क्षीण होने लगी, तब उससे अचेलता के पक्षधर यापनीय और सचेलता के पक्षधर श्वेताम्बर ऐसी दो धारायें निकलीं। पुनः यापनीय सम्प्रदाय का जन्म दक्षिण में न होकर उत्तर भारत में हुआ। “यापनीयों ने जब दक्षिण भारत में प्रवेश किया, तब वे श्वेताम्बर साधु के वेश में गये थे—यह एक भ्रान्त धारणा ही है। उनके कथन में मात्र इतनी ही सत्यता हो सकती है कि यापनीयों के आचार-विचार में कुछ बातें श्वेताम्बर परम्परा के समान और कुछ बातें दक्षिण में उपस्थित दिगम्बर परम्परा के समान थीं।

इन्द्रनन्दी के ‘नीतिसार’ में यद्यपि यापनीयों की उत्पत्ति-कथा नहीं दी गई है, किन्तु निम्न पाँच प्रकार के जैनाभासों की चर्चा करते हुए उसमें उन्होंने यापनीयों का भी उल्लेख किया है—गोपुच्छिक, श्वेतवासा, द्रविड, यापनीय और निःपिच्छक^१।

इन्द्रनन्दी के उपर्युक्त कथन से मात्र इतना ही फलित होता है कि यापनीय परम्परा इन्द्रनन्दी की मूलसंघीय दिगम्बर परम्परा से भिन्न थी, वे उन्हें जैनाभास मानते थे अर्थात् उनकी दृष्टि में यापनीय जैनधर्म के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं। वस्तुतः यापनीय संघ की उत्पत्ति और स्वरूप सम्बन्धी जो कथानक मिलते हैं, वे सभी विरोधियों द्वारा प्रस्तुत हैं और संघ की यथार्थ स्थिति से अवगत नहीं कराते हैं। यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मेरा चिन्तन इस प्रकार है—मथुरा के अङ्कनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यकृष्ण के समय अर्थात् विक्रम की दूसरी शताब्दी में जैनमुनि एक वस्त्र, पिच्छि या रजोहरण एवं पात्र धारण करने लगे थे। हो सकता है कि छेदसूत्रों में वर्णित १४ उपकरण पूर्ण रूप से प्रचलित न भी हो पाये हों, किन्तु इतना अवश्य है कि वस्त्र रखकर नग्नता छिपाने का प्रयत्न और भिक्षा पात्रों का प्रयोग होने लगा था। एक वस्त्रखण्ड मुखवस्त्रिका के रूप में भी ग्रहण किया जाता था। हाथ की

१. भद्रबाहुचरित—कोल्हापुर १९२१, IV., पृ० १३५-१५४ देखें अनेकान्त. वर्ष २८, किरण १।

२. गोपुच्छिकाः श्वेतवासाः द्राविडो यापनीयकाः।

निःपिच्छिकश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥

देखें अनेकान्त, वर्ष २८ किरण १, पृ० २४६।

कलाई पर वस्त्र डालकर नग्नता को छिपा लिया जाता था, विशेष रूप से जब भिक्षादि हेतु नगर में जाना होता था। शिवभूति का आर्यकृष्ण से इसी प्रश्न को लेकर विवाद हुआ। जहाँ आवश्यकमूलभाष्य में आर्यकृष्ण और शिवभूति के मध्य गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बताया गया है, वहाँ कल्प-सूत्र स्थविरावली में शिवभूति को आर्यकृष्ण के पहले दिखाया गया है। फिर भी दोनों की समकालिकता में कहीं बाधा नहीं आती है। वस्तुतः विवाद दोनों के बीच हुआ था इसमें कोई सन्देह नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा में भी रत्नकम्बल के प्रसङ्ग को लेकर, जो कथानक खड़ा किया गया है वह मुझे प्रामाणिक नहीं लगता। वस्तुतः महावीर के पश्चात् उनके संघ में वस्त्र-पात्र ग्रहण करने का क्रमशः विकास हुआ है। क्षुल्लकों और सदोषलिङ्ग वाले व्यक्तियों अथवा राजपरिवार से आये व्यक्तियों के लिए अपवादरूप में वस्त्र रखने की अनुमति पहले से ही थी, किन्तु जिनकल्प का विच्छेद मानकर जब सचेलता सामान्य नियम बनने लगी, तो शिवभूति ने इसका विरोध कर अचेलता को ही उत्सर्ग मार्ग स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनके पूर्व आर्यरक्षित को भी अपने पिता, जो उनके ही संघ में दीक्षित हो गये थे, नग्नता धारण करवाने हेतु विशेष प्रयत्न करना पड़ा था, क्योंकि वे अपने परिजनों के समक्ष नग्न नहीं रहना चाहते थे। यद्यपि इन्हीं आर्यरक्षित ने भिक्षा पात्र के अतिरिक्त वर्षाकाल में मल-मूत्र आदि के लिए एक अतिरिक्त पात्र रखे जाने की अनुमति भी दी थी। महावीर के काल से ही निर्ग्रन्थ संघ में नग्नता का एकान्त आग्रह नहीं था, किन्तु उसे अपवाद के रूप में ही स्वीकृत किया गया था। किन्तु जब जिनकल्प को विच्छिन्न मानकर अचेलता के अपवाद को ही उत्सर्ग मानकर नग्नता को छिपाने के लिए वस्त्र रखना अनिवार्य किया होगा, तो शिवभूति को अचेलता को ही उत्सर्ग मार्ग के रूप में स्वीकार करने के लिए संघर्ष करना पड़ा होगा। उन्होंने जिनकल्प को विच्छिन्न मानकर समर्थ के लिए अचेलता और पाणीतलभोजी होना आवश्यक माना। आपवादिक स्थिति में वस्त्र-पात्र से उनका विरोध नहीं था। भगवतीआराधना में हमें उनके इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है। यद्यपि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उनके द्वारा अचेलकत्व के पुनर्स्थापन के इस प्रयास से स्पष्ट रूप से संघभेद हो गया था, क्योंकि कल्प-सूत्र को पट्टावली में जो अन्तिम परिवर्धन देवद्विगण के समय पाँचवीं शताब्दी में हुआ उसकी पहली गाथा में गौतम गोत्रीय फल्गुमित्र, वशिष्ठ-गोत्रीय धनगिरि, कोत्सगोत्रीय शिवभूति और कौशिकगोत्रीय दुर्जयन्त

कृष्ण का उल्लेख है। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि इसमें शिवभूति के पश्चात् आर्यकृष्ण का उल्लेख है जबकि आवश्यकमूलभाष्य में शिवभूति को आर्यकृष्ण का शिष्य बताया गया है। सम्भावना यह हो सकती है कि शिवभूति और आर्यकृष्ण गुरु-शिष्य न होकर गुरु बन्धु हों। इससे शिवभूति और आर्यकृष्ण के समकालिक होने में भी कोई बाधा नहीं आती है। यह भी सत्य ही है कि उपधि के प्रश्न को लेकर शिवभूति और आर्यकृष्ण के बीच यह विवाद हुआ और शिवभूति के शिष्यों कौडिन्य और कोट्यवीर से अचेलता की समर्थक यह धारा पृथक् रूप से प्रवाहित होने लगी होगी।

यापनीयों का उत्पत्ति-स्थल

यापनीयों अथवा बोटिकों के उत्पत्ति-स्थल को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराएँ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखती हैं। श्वेताम्बरों के अनुसार उनकी उत्पत्ति रथवीरपुर नामक नगर में हुई, यह नगर मथुरा के समीप उत्तर भारत में स्थित था। जबकि दिगम्बरों के अनुसार इनका उत्पत्ति स्थल दक्षिण भारत में कल्याण या उत्तर पश्चिमी कर्णाटक में स्थित करहाटक था। इस प्रकार श्वेताम्बरों के अनुसार वे उत्तर में और दिगम्बरों के अनुसार दक्षिण में उत्पन्न हुए। प्रश्न यह है कि इनमें से कौन सत्य है? श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में तथ्य यह है कि उसमें इस विभाजन को आर्यकृष्ण और शिवभूति से सम्बन्धित किया गया है—इन दोनों के उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में उपलब्ध है। पुनः आर्यकृष्ण को अभिलेख सहित मूर्ति भी मथुरा से उपलब्ध है जो वस्त्रखण्ड कलाई पर डालकर अपनी नग्नता छिपाये हुए है। अस्तु, आवश्यकमूलभाष्य का उत्तर भारत में उनकी उत्पत्ति का संकेत प्रामाणिक है। जहाँ तक रत्ननन्दो के दक्षिण भारत में इनकी उत्पत्ति के उल्लेख का प्रश्न है, वह इसलिए अधिक प्रामाणिक नहीं है कि प्रथम तो वह उनकी उत्पत्ति १२०० वर्षों बाद जब यह सम्प्रदाय मरणासन्न स्थिति में था तब लिखा गया, जबकि आवश्यकमूलभाष्य उनकी उत्पत्ति के लगभग २०० वर्ष पश्चात् निर्मित हो चुका था। दूसरे उस कथानक की पुष्टि के अन्य कोई साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य नहीं हैं। तीसरे दसवीं शती से पहले 'कल्याण' का अस्तित्व ही संदिग्ध है। दक्षिण भारत में उनकी उत्पत्ति बताने का मूल कारण यह है कि यापनीयों का दिगम्बर परम्परा से साक्षात्कार दक्षिण भारत में ही हुआ था।

यापनीय संघ के अभिलेखीय साक्ष्य

यापनीय संघ और उसके आचार्यों, भट्टारकों एवं उपासकों के सम्बन्ध में हमें जो सूचनार्थ उपलब्ध होती हैं, उनके दो आधार हैं—एक साहित्यिक उल्लेख और दूसरे अभिलेखीय साक्ष्य। इनमें भी अभिलेखीय साक्ष्य अधिक प्रामाणिक कहे जा सकते हैं क्योंकि प्रथम तो वे समकालिक होते हैं, दूसरे इनमें किसी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना अत्यल्प होती है। यापनीय सम्प्रदाय के सम्बन्ध में हमें अनेक अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। इन अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर प्रो० आदिनाथ नेमनाथ उपाध्ये ने 'अनेकान्त' वर्ष २८, किरण-१ में यापनीय संघ के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रस्तुत विवेचन का आधार उनका वही निबन्ध है, किन्तु हमने उन अभिलेखों के मुद्रित रूपों को देखकर अपेक्षित सामग्री को जोड़ा भी है।

यापनीय संघ के सम्बन्ध में सर्वप्रथम अभिलेख हमें 'कदम्बवंशीय' मृगेशवर्मन् ई० सन् (४७५-८९०) का प्राप्त होता है। इस अभिलेख में यापनीय, निर्ग्रन्थ एवं कूर्चकों को दिये गये भूमिदान का उल्लेख है।^१ इसी काल के एक अन्य अभिलेख (ई० सन् ४९७ से ५३७ के मध्य) दामकीर्ति, जयकीर्ति प्रतीहार, निमित्तज्ञान पारगामी आचार्य बन्धुसेन और तपोधन शास्त्रागम विज्ञ कुमारदत्त नामक चार यापनीय आचार्यों एवं मुनियों के उल्लेख हैं।^२ इसमें यापनीयों की तपस्वी (यापनीयास्तपस्विनः) तथा सद्धर्ममार्ग में स्थित (सद्धर्ममार्गस्थित) कहा गया है। आचार्यों के लिए 'सूरि' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन दोनों अभिलेखों से यह भी सूचना मिलती है कि राजा ने मन्दिर की पूजा, सुरक्षा और दैनिक देखभाल के साथ-साथ अष्टान्निका महोत्सव एवं यापनीय साधुओं के भरण-पोषण के लिए दान दिया था, इससे यह फलित होता है कि इस काल तक यापनीय संघ के मुनियों के आहार के लिए कोई स्वतन्त्र व्यवस्था होने लगी थी और भिक्षावृत्ति गौण हो रही थी, अन्यथा उनके भरण-पोषण हेतु दान दिये जाने के उल्लेख नहीं होते। इसके पश्चात् देवगिरि से कदम्बवंश की दूसरी शाखा के कृष्णवर्मा (ई० सन् ४७५-४८५) के काल का अभिलेख

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, लेख क्रमांक ९९।

२. वही, भाग २, लेख क्रमांक १००।

मिलता है, जिसमें उसके पुत्र युवराज देववर्मा द्वारा त्रिपर्वत के ऊपर के कुछ क्षेत्र अर्हन्त भगवान् के चैत्यालय की मरम्मत, पूजा और महिमा के लिए यापनीय संघ को दिये जाने का उल्लेख है।^१ इस अभिलेख के पश्चात् ३०० वर्षों तक हमें यापनीय संघ से सम्बन्धित कोई भी अभिलेख उपलब्ध नहीं होता है, जो अपने आप में एक विचारणीय तथ्य है। इसके पश्चात् ई० सन् ८१२ का राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष का एक अभिलेख प्राप्त होता है।^२ इस में यापनीय आचार्य कुविलाचार्य के प्रशिष्य एवं विजयकीर्ति के शिष्य अर्ककीर्ति का उल्लेख मिलता है। इस लेख में यापनीय नन्दीसंघ और पुन्नागवृक्षमूलगण एवं श्री कित्याचार्यान्वय का भी उल्लेख हुआ है। इस अभिलेख में यह भी उल्लेख है कि आचार्य अर्ककीर्ति ने शनि के दुष्प्रभाव से ग्रसित पुलिगिल देश के शासक विमलादित्य का उपचार किया था। इस अभिलेख से अन्य फलित यह निकलता है कि ईसा की नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यापनीय आचार्य न केवल मठाधीश बन गये थे अपितु वे वैद्यक और यन्त्र-मन्त्र आदि का कार्य भी करने लगे थे। लगभग ९वीं शताब्दी के एक अन्य अभिलेख^३ में, जो कि चिंगलपेट, तमिलनाडु से प्राप्त हुआ है, यापनीय संघ और कुमिलिगण के महावीराचार्य के शिष्य अमरमुदलगुरु का उल्लेख है जिन्होंने देशवल्लभ नाम का एक जिनमन्दिर बनवाया था। इस दानपत्र में यापनीय संघ के साधुओं के भरण-पोषण का भी उल्लेख है। इससे भी यही लगता है कि इस काल तक यापनीय मुनि पूर्णतया मठाधीश हो चुके थे और मठों में ही उनके आहार को व्यवस्था होती थी। इसके पश्चात् यापनीय संघ से सम्बन्धित एक अन्य दानपत्र पूर्वोत्तालुक्यवंशीय 'अम्मराज द्वितीय' (९४५ ई०) का है।^४ इसने कटकाभरण जिनालय के लिए मलियपुण्डी नामक ग्राम दान में दिया था। इस मन्दिर के अधिकारी यापनीय संघ 'कोटिमडुवगण' नन्दिगच्छ के गणधर सदृश मुनिवर जिननन्दी के प्रशिष्य मुनिपुंगव दिवाकर के शिष्य जिनसदृश गुणसमुद्र महात्मा श्री मन्दिर देव थे। इसके पूर्व के अभिलेख में जहाँ यापनीय नन्दीसंघ ऐसा उल्लेख है, वहाँ इसमें यापनीय संघ नन्दीगच्छ ऐसा उल्लेख है।

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख क्रमांक १०५।

२. वही, भाग २, लेख क्रमांक १२४।

३. वही, भाग ४, लेख क्रमांक ७०।

४. वही, भाग २, लेख क्रमांक १४३।

यापनीय संघ से ही सम्बन्धित ई० सन् ९८० का चालुक्यवंश का भी एक अभिलेख मिलता है।^१ इस अभिलेख में शान्तिवर्म द्वारा निर्मित जैन मन्दिर के लिए भूमिदान का उल्लेख है, इसमें यापनीय संघ के काण्डूर-गण के कुछ साधुओं के नाम दिये गये हैं यथा—बाहुवलिदेवचन्द्र, रविचन्द्रस्वामी, अर्हन्तन्दी, शुभचन्द्र, सिद्धान्तदेव, मौनिदेव और प्रभाचन्द्रदेव आदि। इसमें प्रभाचन्द्र को शब्दविद्यागमकमल, षट्कर्ताकलङ्क कहा गया है। ये प्रभाचन्द्र—‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’ और ‘न्यायकुमुदचन्द्र’ के कर्ता प्रभाचन्द्र से भिन्न यापनीय आचार्य शाकटायन के ‘शब्दानुयासन’ पर ‘न्यास’ के कर्ता हैं।

प्र० पी० बी० देमाई ने अपने ग्रन्थ में सौदत्ति (बेलगाँव) के एक अन्य अभिलेख की चर्चा की है जिसमें यापनीय संघ के काण्डूरगण के शुभचन्द्र-प्रथम, चन्द्रकीर्ति, शुभचन्द्र ‘द्वितीय’, नेमिचन्द्र ‘प्रथम’, कुमारकीर्ति, प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र द्वितीय के उल्लेख हैं।^२ यापनीय संघ से सम्बन्धित ई० सन् १०१३ का एक अन्य अभिलेख ‘बेलगाँव’ की टोड्डावसदी की नेमिनाथ की प्रतिमा के पादपोठ पर अंकित है, जिसे यापनीय संघ के पारिसय्य ने ई० सन् १०१३ में निर्मित करवाया था।^३ इसी प्रकार सन् १०२० ई० के ‘रद्वग’ लेख में यापनीय संघ के ‘पुन्नागवृक्षमूलगण के प्रसिद्ध उपदेशक आचार्य कुमारकीर्ति पण्डितदेव को ‘हुविनवागे’ की भूमि के दान का उल्लेख है।^४ ई० सन् १०२८-२९ के हासुर के अभिलेख में यापनीय संघ के गुरु जयकीर्ति को सुपारी के बाग और कुछ घर मन्दिर के लिए दान में देने के उल्लेख हैं।^५ ‘हुली’ के दो अभिलेख जो ई० सन् १०४४ के हैं, उनमें यापनीय संघ के पुन्नागवृक्षमूलगण के बालचन्द्रदेव भट्टारक^६ का तथा दूसरे में रामचन्द्रदेव^७ का उल्लेख है। इसी

१. जैन शिला लेख संग्रह, भाग २, लेख क्रमांक १६०।

२. Jainism in South India and Some Jaina Epigrphs P. B. Desai p. 165.

३. देखें—अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २४७।

४. (अ) Journal of the Bombay Historical Society, III, pp. 100.

(ब) अनेकान्त, वर्ष २८ किरण १, पृ० २४८।

५. (अ) वही पृ० २४८।

(ब) South Indian Inscriptions XII No. 65, Madras 1940.

६. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४, लेख क्रमांक १३०।

७. वही।

प्रकार ई० सन् १०४५ के मुगद (मैसूर) लेख में भी यापनीय संघ के कुमुदिगण के कुछ आचार्यों के उल्लेख मिलते हैं—श्री कीर्तिगोरवडि, प्रभाशशांक, नयवृत्तिनाथ, एकवीर, महावीर, नरेन्द्रकीर्ति नागविक्रि, वृत्तीन्द्र, निरवद्यकीर्ति, भट्टारक माधवेन्दु, बालचन्द्र, रामचन्द्र, मुनिचन्द्र, रविकीर्ति, कुमारकीर्ति, दामनंदि, त्रैविद्यगोवर्धन, दामनन्दि, वड्डाचार्य आदि ।^१ यद्यपि प्रोफेसर उपाध्ये ने इन नामों में से कुछ के सम्बन्ध में कृत्रिमता की सम्भावना व्यक्त की है, किन्तु उनका आधार क्या है ? यह उन्होंने अपने लेख में स्पष्ट नहीं किया है ।

इसी प्रकार मोरब जिला धारवाड के एक लेख में यापनीय संघ के जय-कीर्तिदेव के शिष्य नागचन्द्र के समाधिमरण का उल्लेख है । इसमें नागचन्द्र के शिष्य कनकशक्ति को मन्त्रचूडामणि बताया गया है ।^२ सन् १०९६ में त्रिभुवनमल्ल के शासनकाल में यापनीय संघ के पुन्नागवृक्ष-मूलगण के मुनिचन्द्र त्रैविद्य भट्टारक के शिष्य चारुकीर्ति पंडित को सोविसेट्टि द्वारा एक उपवन में दान दिये जाने का उल्लेख है ।^३ इस दान-पत्र में यह भी उल्लेख है कि इसे मुनिचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य दायियय्य ने लिपिबद्ध किया था । धर्मपुरी जिला बीड़, महाराष्ट्र के एक लेख में यापनीय संघ और वन्दियूर गण के महावीर पंडित को कुछ नगरों से विविधकरों द्वारा प्राप्त आय का कुछ भाग भगवान् की पूजा और साधुओं के भरण-पोषण हेतु दान दिये जाने का उल्लेख है ।^४ इसी प्रकार ११वीं शताब्दी के एक अन्य अभिलेख में यापनीय संघ की माइलायान्वय एवं कोरेयगण के देवकीर्ति को गन्धवंशो शिवकुमार द्वारा जैन मन्दिर निर्मित करवाने और उसकी व्यवस्था हेतु चुमुदवाड नामक ग्राम दान में देने का उल्लेख है ।^५ इस अभिलेख में देवकीर्ति के पूर्वज गुरुओं में शुभकीर्ति, जिनचन्द्र, नागचन्द्र, गुणकीर्ति आदि आचार्यों का भी उल्लेख है ।

१. (अ) अनेकान्त, वर्ष २८; किरण १, पृ० २४८ ।

(ब) South Indian Inscriptions XII. No. 78, Madras 1940.

(स) जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४, लेखक्रमांक १३१ ।

२. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४, लेखक्रमांक १४३ ।

३. वही १६८ ।

४. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ५, लेखक्रमांक ६९-७० ।

५. I. A. XVIII. p. 309. Also see Jainism in South India—
P. B. Desai, p. 115.

इसी प्रकार बल्लाल देव और गणधरादित्य के समय में ईसवी सन् ११०८ में मूलसंघ पुन्नागवृक्षमूलगण की आर्यिका रात्रिमती कन्ति की शिष्या बम्मगवुड़ द्वारा मन्दिर बनवाने का उल्लेख है^१। यहाँ मूलसंघ का उल्लेख कुछ भ्रान्ति उत्पन्न करता है, यद्यपि पुन्नागवृक्षमूलगण के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह आर्यिका यापनीय संघ से ही सम्बन्धित थी। क्योंकि पुन्नागवृक्षमूलगण यापनीय संघ का ही एक गण था।

बइलमोगल जिला बेलगाँव से चालुक्यवंशी त्रिभुवनमल्लदेव के काल का एक अभिलेख^२ प्राप्त है इसमें यापनीय संघ मइलायान्वय कोरेयगण के मूल भट्टारक और जिनदेवसूरि का विशेष रूप से उल्लेख है। इसी प्रकार विक्रमादित्य 'षष्ठ' के शासन काल का हूलि जिला बेलगाँव का एक अभिलेख^३ है जिसमें यापनीय संघ के कण्डूरगण के बाहुबली, शुभचन्द्र, मौनिदेव, माघनंदि आदि आचार्यों का उल्लेख है। एकसम्बि जिला बेलगाँव से प्राप्त एक अभिलेख^४ में विजयादित्य के सेनापति कालण द्वारा निमित नेमिनाथ वसति के लिए यापनीय संघ पुन्नागवृक्षमूलगण के महामण्डलाचार्य विजयकीर्ति को भूमिदान दिये जाने का उल्लेख है। इस अभिलेख में इन विजयकीर्ति की गुरुपरम्परा के रूप में मुनिचन्द्र, विजयकीर्ति 'प्रथम', कुमारकीर्ति और त्रैविद्य विजयकीर्ति का भी उल्लेख है।

असिकेरे, मैसूर के एक अभिलेख^५ में यापनीयसंघ के मडुवगण की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। इस मन्दिर की मूर्ति प्रतिष्ठा पुन्नागवृक्षमूलगण और यापनीय संघ के शिष्य भाणकसेली द्वारा कराई गई थी। प्रतिष्ठाचार्य यापनीय संघ के मडुवगण के कुमारकीर्ति सिद्धान्त देव थे। इस अभिलेख में यापनीय शब्द को मिटाकर काष्ठामुख शब्द को जोड़ने की घटना की सूचना भी सम्पादक से मिलती है। इनके अतिरिक्त १२वीं शताब्दी में लोकापुर जिला बेलगाँव के एक अभिलेख^६ में उभयसिद्धान्त

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, लेखक्रमांक २५०।

२. Annual Report of South Indian Inscriptions. 1951—52, No. 33, p. 12 See also.

अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २४८।

३. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४, लेखक्रमांक २०७।

४. वही, भाग ४, लेखक्रमांक २५९।

५. Journal of the Karnatak University, X, 1965, 159, ff.

६. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ५, लेखक्रमांक ११७।

चक्रवर्ती यापनीय संघ—कण्डूरगण के गुरु सकलेन्दु सैद्धान्तिक का उल्लेख है। इसी क्षेत्र के मनोलि जिला बेलगाँव के एक अभिलेख में यापनीय संघ के गुरु मुनिचन्द्रदेव के शिष्य पाल्यकीर्ति के समाधिमरण का उल्लेख है^१—ये पाल्यकीर्ति सम्भवतः सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाल्यकीर्ति शाकटायन ही हैं, जिनके द्वारा लिखित शब्दानुशासन एवं उसकी अमोघवृत्ति प्रसिद्ध है। इनके द्वारा लिखित स्त्री-निर्वाण और केवलीभुक्तिप्रकरण भी शाकटायन-व्याकरण के साथ भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि वे यापनीय परम्परा के आचार्य थे। इसी प्रकार १३वीं शती के हुकेरि जिला बेलगाँव के एक अभिलेख में^२ व्रंकीर्ति का नामो-ल्लेख है। यापनीय संघ का उल्लेख करने वाला अन्तिम अभिलेख^३ ईसवी सन् १३९४ का कगवाड जिला बेलगाँव में उपलब्ध हुआ है। यह अभिलेख तलघर में स्थित भगवान् नेमिनाथ की पीठिका पर अंकित है। इसमें यापनीय संघ और पुन्नागवृक्षमूलगण के नेमिचन्द्र, धर्मकीर्ति और नागचन्द्र का उल्लेख है।



१. Jainism in South India, P. B. Desai, p. 404.

२. जैन शिलालेखसंग्रह, भाग ४, क्रमांक ३८४।

३. जिनविजय (कन्नड़) बेलगाँव, जुलाई १९३१।

अध्याय : २

यापनीय संघ के गण और अन्वय

अभिलेखीय एवं साहित्यिक आधारों से हमें यापनीय संघ के अवान्तर गणों और अन्वयों की सूचना मिलती है। इन्द्रनदि के नीतिसार के आधार पर प्रो० उपाध्ये लिखते हैं कि "यापनीयों में सिंह, नन्दि, सेन और देवसंघ आदि नाम से सबसे पहले संघ-व्यवस्था थी, बाद में गण, गच्छ आदि की व्यवस्था बनी।"^१ किन्तु अभिलेखीय सूचनाओं से यह ज्ञात होता है कि गण ही आगे चलकर संघ में परिवर्तित हो गए। कदम्ब नरेश रविवर्मा के हल्मी अभिलेख में 'यापनीय संघेभ्यः' ऐसा बहुवचनात्मक प्रयोग है।^२ इससे यह सिद्ध होता है कि यापनीय संघ के अन्तर्गत भी कुछ संघ या गण थे। यापनीय संघ के एक अभिलेख में "यापनीय नन्दीसंघ" ऐसा उल्लेख मिलता है।^३ ऐसा प्रतीत होता है कि नन्दि संघ यापनीय परम्परा का ही एक अंग था। कुछ अभिलेखों में यापनीयों के नन्दिगच्छ का भी उल्लेख उपलब्ध होता है।^४ दिगम्बर परम्परा के अभिलेखों में गच्छ शब्द का प्रयोग बहुत कम मिलता है, सामान्यतया उनमें संघ, गण और अन्वय के प्रयोग पाये जाते हैं, जबकि श्वेताम्बर परम्परा के अभिलेखों में गण, गच्छ, शाखा, कुल और संभोग के प्रयोग हुए हैं। यापनीय संघ के अभिलेखों में भी केवल उपयुक्त अभिलेख में गच्छ शब्द का प्रयोग मिला है।

अभिलेखों में यापनीय संघ के जिन गणों, अन्वयों का उल्लेख मिला है—उनमें पुन्नागवृक्षमूलगण, कुमिलि अथवा कुमुदिगण, मडुवगण, कण्डूर-गण या काणूरगण, बन्दिद्यूगण, कोरेयगण का उल्लेख प्रमुख रूप से हुआ है। सामान्यतया यापनीय संघ से सम्बन्धित अभिलेखों में अन्वयों का उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु ११वीं शताब्दी के कुछ अभिलेखों में

१. अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २५०।

२. Epigraphia India Vol. X. No. 6, see Ibid., p 247.

३. अनेकान्त, वर्ष १८, किरण १, पृष्ठ २४४-४५।

४. अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृष्ठ २५०।

कोरेयगण के साथ मङ्गलापान्वय अथवा मैलापान्वय के उल्लेख मिलते हैं^१। यापनीय संघ के प्रारम्भिक अभिलेखों में उसके किसी गण या अन्वय का उल्लेख नहीं मिलता। यापनीयों में संघ, गण अथवा अन्वय सम्बन्धी उल्लेख हमें नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध अर्थात् सन् ८१२ ई० से मिलने लगते हैं उसके पूर्व के अभिलेखों में मात्र 'यापनीयसंघेभ्यः' ऐसा बहुवचनात्मक उल्लेख प्राप्त हुआ है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यापनीयों में संघ व्यवस्था थी, गण, अन्वय आदि की व्यवस्था नहीं थी। ये संघ ऐसे समूह थे, जिसमें मुनियों के नामान्त विशिष्ट प्रकार के होते थे, जैसे नन्दिसंघ के मुनियों के नाम के अन्त में नन्दि शब्द प्रयुक्त होता था। सेनसंघ में मुनियों के नाम के अन्त में सेन शब्द प्रयुक्त होता था। इसी प्रकार सिंह संघ और देव संघ में भी नामान्तक शब्दों की स्थिति थी।

पुन्नागवृक्षमूलगण

गण व्यवस्था की दृष्टि से यापनीय संघ के अभिलेखों में सर्व प्रथम यापनीय नन्दिसंघ पुन्नागवृक्षमूलगण ऐसा उल्लेख मिलता है^२। यद्यपि इसके पूर्व भी सन् ४८८ ई० के एक अभिलेख में कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण का उल्लेख है^३ किन्तु इस गण के साथ यापनीय संघ का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसके सम्बन्ध में डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी लिखते हैं कि लेख क्रमांक १०६ में उल्लिखित 'मूलगण' को श्री प्रेमीजी मूलसंघ समझ बैठे, किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है।^४ डा० चौधरी के अनुसार यह गण यापनीय संघ का ही एक गण था। अन्य अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि नन्दीसंघ आठवीं-नवीं शताब्दी तक यापनीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही था, अतः नन्दीसंघ से सम्बन्धित उस काल के गणों को यापनीय संघ से ही सम्बद्ध समझना चाहिए। यह यापनीय नन्दीसंघ कई गणों में विभक्त था। इनमें कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण, श्रीमूलमूलगण तथा पुन्नागवृक्षमूलगण प्रमुख थे। मेरी दृष्टि में यापनीय प्रारम्भ में अपने गण को

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, लेख क्रमांक १३, १८२।
२. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, ले० क्र० १२४।
३. वही, भाग २, ले० क्र० १०६।
४. वही, भाग ३, भूमिका पृ० २७।

‘मूलगण’ कहते रहे होंगे—जिसका आगे विभाजन होने पर उपयुक्त तीन गण बने, किन्तु सभो ने ‘मूलगण’—यह पद सुरक्षित रखा ।

कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण

इस गण का सर्वप्रथम उल्लेख कोल्हापुर के सन् ४८८ ई० के एक अभिलेख में हुआ है । इसमें कनकोपल आम्नाय के जिननन्दि को एक जैन मंदिर हेतु गाँव तथा कुछ जमीन देने का उल्लेख है ।^१ इसमें जिननन्दि के साथ ही सिद्धनन्दि, चितकाचार्य और उनके गुरु के रूप में नागदेव का उल्लेख हुआ है । यह कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण यापनीय संघ से सम्बन्धित था, इसका एक प्रमाण यह ही सकता है कि कडब के अभिलेख में जो आचार्यों की सूची दी गयी है उसमें कित्याचार्यान्वय (चितकाचार्यान्वय) का भी उल्लेख है ।^२ कित्याचार्य या चितकाचार्य का यह अन्तर उच्चारण भेद या लेखन की भूल के कारण हो सकता है । यापनीय परम्परा से ही आगे कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण, श्रीमूल मूलगण और पुन्नागवृक्षमूलगण निकले । कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण का उल्लेख हमें इसके पश्चात् कहीं नहीं प्राप्त होता है, अतः यह गण कब विलुप्त हो गया, यह कहना कठिन है ।

श्रीमूलमूलगण

देवरहल्लि (देवलापुर प्रदेश) में पटेल कृष्णय्य के ताम्रपत्रों पर सन् ७७६ ई० के एक अभिलेख में श्रीमूलमूलगण का उल्लेख मिलता है । इस अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि इस गण में एरेगित्तर गण और पुलिकल गच्छ भी था । इस अभिलेख में इस गण की आचार्य-परम्परा इस प्रकार दी गई है—चन्द्रनन्दी, कीर्तिनन्दी और विमलनन्दी ।^३ श्रीमूल-मूलगण का भी आगे कोई उल्लेख नहीं मिलता है अतः आगे इस गण का भी क्या हुआ—यह ज्ञात नहीं जैसा कि पूर्व में सूचित कर चुके हैं प्रो० गुलाब चन्द्र चौधरी ने इन दोनों गणों के साथ स्पष्ट रूप से यापनीय संघ का उल्लेख न होने पर भी इन्हें यापनीय संघ का ही गण माना है ।

पुन्नागवृक्ष मूलगण

यापनीय संघ के गणों में पुन्नावृक्षमूलगण सबसे अधिक दीर्घजीवी

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, ले० क्र० १०६ ।

२. वही, भाग २, ले० क्र० १२४ ।

३. वही भाग २ ले० क्र० १२१

है। इस गण का सर्वप्रथम उल्लेख हमें कडब के सन् ८१२ ई० के एक अभिलेख में प्राप्त होता है।^१ इस अभिलेख में इस गण के आचार्यों की परम्परा इस प्रकार दी गई है—श्री कित्याचार्य, इनके पश्चात् अनेक आचार्यों के होने पर श्री कूविलाचार्य, श्री विजयकीर्ति और श्री अर्ककीर्ति। इस अभिलेख की विशेषता है कि इसमें स्पष्ट रूप से 'श्रीयापनीय नन्दीसंघपुन्नागवृक्षमूलगण' श्री कित्याचार्यन्वये' ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। इस अभिलेख में यह भी बताया गया है कि अर्ककीर्ति ने चाकिराज के भानजे विमलादित्य की शनिबाधा दूर की थी और उसी चाकिराज की प्रार्थना पर गोविन्दराज 'तृतीय' ने शिलाग्राम में जैन मंदिर के प्रबन्ध के लिए जालमंगल नामक ग्राम प्रदान किया था। इस शिलालेख में उल्लिखित अर्ककीर्ति को श्री नाथूरामजी प्रेमी ने शाकटायनव्याकरण के कर्ता पाल्यकीर्ति का गुरु या सधर्मा होने की सम्भावना व्यक्त की है।^२

इसके पश्चात् 'पुन्नागवृक्षमूलगण' से सम्बन्धित रद्वग का सन् १०२० ई० का अभिलेख प्राप्त होता है।^३ इस अभिलेख में पुन्नागवृक्षमूलगण के कुमारकीर्ति पण्डितदेव का उल्लेख है। पुनः हामुर (धारवाड़) के सन् १०२८ के एक अभिलेख में यापनीय संघ के पुन्नागवृक्षमूलगण के आचार्य जयकीर्ति का उल्लेख मिलता है।^४ इसी प्रकार हूलि के अभिलेख में भी यापनीय पुन्नागवृक्षमूलगण भट्टारक बालचन्द्रदेव और रामचन्द्रदेव के उल्लेख मिलते हैं।^५ सन् ११०८ ई० के कोल्हापुर के शिलहारवंशीय बल्लालदेव और गण्डरादित्य के शासनकाल में मूलसंघ, पुन्नागवृक्षमूलगण की आर्यिका रात्रिमतिकन्ति की शिष्या बम्मगउण्ड ने एक मंदिर का निर्माण करवाया था।^६ उस अभिलेख में पुन्नागवृक्षमूलगण को मूलसंघ से सम्बन्धित बताया गया है इस आधार पर गुलाबचन्द्र चौधरी ने

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, ले० क्र० १२४
२. जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी, पृ० १६७।
३. Journal of Bombay Historical Society Vol. 3 p. 102.
देखें, अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृष्ठ २४८।
४. साउथ इण्डियन इन्स्ट्रिक्शन्स, खण्ड १२, नं० ६५, मद्रास १९४०
५. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४, लेख क्र० १३०
६. वही भाग २, ले० क्र० २५०

यह सम्भावना व्यक्त की है कि इस काल में यह गण यापनीय संघ से अलग हो गया था और मूलसंघ द्वारा आत्मसात् कर लिया गया था।^१ किन्तु हमें उनका मन्तव्य इसलिए समुचित नहीं लगता है, क्योंकि इस काल के पूर्व एवं पश्चात् के पुन्नागवृक्षमूलगण के अनेक अन्य अभिलेख भी मिलते हैं, जिनमें स्पष्ट रूप से यापनीय संघ के साथ 'पुन्नागवृक्षमूलगण' का उल्लेख हुआ है। इस अभिलेख में १२ वर्ष पूर्व दोग्गि, धारवाड़ के एक अभिलेख में यापनीय संघ मूलवृक्षगण के मुनिचन्द्र, त्रैविद्यभट्टारक के शिष्य पं० चारुकीर्ति का स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त है।^२ अतः यह कल्पना समुचित नहीं लगती कि यापनीय संघ का पुन्नागवृक्षमूलगण मूलसंघ में समाहित हो गया हो।

एकसाम्बि बेलगाँव से प्राप्त सन् ११५५ ई० के एक अभिलेख में यापनीय संघ पुन्नागवृक्ष मूलगण के विजयकीर्ति को सेनापतिकालन द्वारा नेमिनाथ वसति के लिए भूमिदान दिये जाने का उल्लेख है। इस अभिलेख में विजयकीर्ति की गुरु परम्परा के रूप में मुनिचन्द्र, विजयकीर्ति 'प्रथम', कुमारकीर्ति और त्रैविद्यकीर्ति के उल्लेख हैं।^३ यापनीय संघ के पुन्नागवृक्षमूलगण का अन्तिम अभिलेख ई० सन् १३९४ कगवाड़, जिला बेलगाँव में उपलब्ध हुआ है। इसमें पुन्नागवृक्षमूलगण के नेमिचन्द्र, धर्मकीर्ति और नागचन्द्र के नामों का उल्लेख है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुन्नागवृक्षमूलगण यापनीय सम्प्रदाय में सबसे लम्बी अवधि तक जीवित रहनेवाला गण है और इसी गण के सर्वाधिक अभिलेख भी मिलते हैं।

कण्डूर-काणूरगण

यापनीय संघ का एक अन्य महत्वपूर्ण गण कण्डूरगण या काणूरगण के नाम से जाना जाता है। इस गण का सर्वप्रथम उल्लेख ई० सन् ९८० ई० के सौदत्ति के अभिलेख में मिलता है।^४ इस अभिलेख में स्पष्टरूप से यापनीय संघ का नाम निर्दिष्ट है। अतः यह गण यापनीय संघ का ही गण था। इस अभिलेख में इस गण के आचार्यों के नाम इस प्रकार

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ३, भूमिका, पृ० २९
२. वही, भाग ४, ले० क्र० १६८
३. वही, भाग ४, ले० क्र० २६०
४. वही, भाग २, ले० क्र० १६०

उल्लिखित हुए हैं—बाहुबलिदेव, रविचन्द्र स्वामी, अर्हन्नन्दी, शुभचन्द्र, मुनिचन्द्र और प्रभाचन्द्रदेव। ये प्रभाचन्द्रदेव 'न्यायकुमुदचन्द्र' के कर्ता प्रभाचन्द्र से भिन्न शाकटायन व्याकरण पर 'न्यास' के कर्ता हैं। ज्ञातव्य है कि पाल्यकीर्ति शाकटायन भी यापनीय संघ के आचार्य थे। सौदत्ति के ही अन्य बिना काल निर्देश के अभिलेख में रविचन्द्र स्वामी और अर्हन्नन्दी का उल्लेख है।^१ यह अभिलेख सम्भवतः ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का है। इसी प्रकार सौदत्ति के ही अन्य अभिलेख का निर्देश डॉ० पी० बी० देसाई ने किया है। जिसमें इस गण के शुभचन्द्र 'प्रथम', चन्द्रकीर्ति, शुभचन्द्र 'द्वितीय', नेमिचन्द्र, कुमारकीर्ति, प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र 'द्वितीय' का उल्लेख है।^२

इसी प्रकार बेलगांव जिले के लोकापुर नामक स्थान के एक अभिलेख में यापनीय संघ के कण्डूरगण के सकलेन्दु सैद्धान्तिक के शिष्य अभय-सिद्धान्तचक्रवर्ती नागचन्द्रसूरि के उपदेश में एक मूर्ति की स्थापना का निर्देश है।^३

बन्दलिके के १०७४ ई० के अन्य अभिलेख में काणूरगण का उल्लेख है किन्तु इसमें इसे मूलसंघान्वय का गण कहा है इसमें परमानन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य कुलचन्द्रदेव को शान्तिनाथ मन्दिर के लिए भूमिदान का निर्देश है।^४

इसी प्रकार अदरगुंघि धारवाड़ के एक अभिलेख में यापनीय संघके कण्डूरगण के एक मन्दिर की भूमि की सीमाओं का उल्लेख है।^५

इस प्रकार हम देखते हैं कि ई० सन् की दसवीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक इस गण के अस्तित्व की हमें सूचना मिलती है। ई० सन् १०७४ के बन्दलिके के अभिलेख में तथा १०७५ के कुप्पटूर के अभिलेखमें इस गण का सम्बन्ध मूलसंघ (जैन शि० सं० ४/२९१) के साथ बताया गया है। इसके आधार पर डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी ने यह अनुमान लगाया है कि

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, ले० क्र० २०५

२. Jainism in South India by P. B. Desai p. 165

३. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ५, ले० क्र० ११७

४. वही, भाग २, ले० क्र० २०७

५. (अ) वही, भाग ४, ले० क्र० ३६८

(ब) देखें—यापनीय और उनका साहित्य, कुसुम पटोरिया, पृ० ७३

यह गण भी मूलसंघ में आत्मसात् हो गया होगा। किन्तु इसके बाद १३वीं शताब्दी तक इस गण के अभिलेखों में यापनीय संघ का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अतः यह निश्चय करता कठिन होता है कि यह गण, जो यापनीय संघ का एक गण था, पूर्णतः मूलसंघ के द्वारा आत्मसात् कर लिया गया था। यह हो सकता है कि इस गण के कुछ आचार्य मूलसंघ में चले गये हों। किन्तु यह भी सत्य है कि यापनीय संघ धीरे-धीरे समाप्त हो रहा था और उसके गण और आचार्य द्रविड़संघ और मूलसंघ से जुड़ते जा रहे थे।

कुमुदिगण/कुमुलिगण

दक्षिण कर्नाटक और तमिल प्रदेश में यापनीय सम्प्रदाय के जिन गणों का उल्लेख मिलता है, उनमें कुमुदिगण एक प्रमुख गण है। यद्यपि इस गण के कुछ अभिलेख उत्तरी कर्नाटक में भी मिले हैं। इस गण का सबसे प्राचीन अभिलेख कोरप्पाकम्-तमिलनाडु से नवीं शताब्दी का प्राप्त हुआ है। इसमें अमरमुदलगुरु द्वारा देशवल्लभ नामक जिनालय के निर्माण का उल्लेख है। इसमें यापनीय संघ का भी स्पष्ट निर्देश है।^१ इसी प्रकार मुगद, जिला मैसूर से ई० सन् १०४५ का एक अभिलेख उपलब्ध है जिसमें कुमुदिगण के कुछ आचार्यों का उल्लेख हुआ है, यथा—सिरिकीर्ति गोरवाड़, प्रभाशशांक, नयवृत्तिनाथ, एकवीर, महावीर, नरेन्द्रकीर्ति, नागविविक, वृतीन्द्र, निरवद्यकीर्ति भट्टारक, माधवेन्दु, बालचन्द्र, रामचन्द्र, मुनिचन्द्र, रविकीर्ति, कुमारकीर्ति, कुमारचन्द्र, दामनन्दि, त्रैविद्यगोवर्द्धन, दामनन्दि, वड्डाचार्य आदि।^२ प्रो० उपाध्ये ने यह सूची प्रामाणिक नहीं मानी है। इसी प्रकार गदग (धारवाड़) के एक अभिलेख में भी कुमुदिगण के शान्तिदेव के समाधिमरण का उल्लेख है।^३ इस प्रकार हम देखते हैं कि कुमुदिगण नवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक अर्थात् लगभग ३०० वर्ष तक अस्तित्व में रहा।

कोरयगण

कोरयगण के उल्लेख पर्याप्त रूप से परवर्ती हैं। यद्यपि इस गण का

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४, ले० क्र० ७०
२. वही, भाग ४, ले० क्र० १४३
३. वही, भाग ४, ले० क्र० ६११, ६१२

४० : जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय

शक संवत् २६१ अर्थात् ३३६ ई० का कल्भावि का एक अभिलेख उपलब्ध हुआ है किन्तु इस अभिलेख में जो शक संवत् २६१ को विभव संवत्सर नाम दिया गया है वह विभव संवत्सर शक संवत् २६१ में न होकर शक संवत् २३१ में पड़ता है। वस्तुतः यह मर्करा के दानपत्र के समान कोई जाली दानपत्र प्रतीत होता है।^१

इस अभिलेख में कोरेयगण के मइलापान्वय के आचार्य शुभकीर्ति, जिनचन्द्र, नागचन्द्र, गुणकीर्ति और जिनदत्त के उल्लेख मिलते हैं।^२

इसी प्रकार बदलहौंगल (बेलगांव) के एक अभिलेख में यापनीय संघ का मइलापान्वय के कोरेयगण के मुल्ल भट्टारक एवं जिनदेश्वरसूरि का वर्णन है।^३ पुनः सन् १२०९ ई० के हन्नकेरि, सन् १२१९ ई० के नदली (बेलगांव) तथा सन् १२५७ ई० के हन्नकेरि के अभिलेखों में भी यापनीय संघ के मइलापान्वय और कोरेयगण का उल्लेख है। बदली (बेलगांव) के अभिलेख में भट्टारक माधव, विजयदेव, भट्टारक कीर्ति, कनकप्रभ और श्रीधर त्रैविद्यदेव का उल्लेख हुआ है^४, जबकि हन्नकेरि के अभिलेख में इनमें से परवर्ती दो आचार्या कनकप्रभ और श्रीधर का उल्लेख है।^५

कोरेयगण के अभिलेख सन् ८७५ ई० से प्रारम्भ होकर सन् १२५७ ई० तक मिलते हैं। इस प्रकार यह गण लगभग ४०० वर्ष तक जीवित रहा। यापनीय संघ में यही एकमात्र ऐसा गण है जिसमें स्पष्ट रूप से मैलाप-अन्वय का भी उल्लेख मिलता है। मैलापतीर्थ में उत्पन्न होने के कारण ही यह अन्वय मैलापान्वय नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा।

कोटिमडुवगण

मदनूर, जिला नेल्लोर में ई० सन् ९४५ के अभिलेख में यापनीय संघ कोटिमडुवगण, अहंनन्दीगच्छ के जिननन्दि मुनीश्वर के शिष्य

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, ले० क्र० १८२

२. वही, भाग २, ले० क्र० १८२

३. वही, भाग ४, ले० क्र० २०९

४. Karnataka Inscriptions Vol. I (1941) p. 75-76

५. उद्धृत-यापनीय और उनका साहित्य, पृ० ७४

दिवाकर मुनि एवं उनके शिष्य मन्दिरदेव का उल्लेख है।^१ इस अभिलेख में गण के कटकाभरण जिनालय का भी उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार प्रो० पी० बी० देसाई ने अपने ग्रन्थ Jainism in South India में ११२४ ईस्वी के सेडम के अभिलेख के आधार पर मडुवगण के प्रभाचन्द्र त्रैविद्य का उल्लेख किया है।^२ इसी प्रकार अर्सिकेरे (मैसूर) के एक अन्य अभिलेख में मडुवगण यापनीय संघ के कुमारकीर्ति का उल्लेख हुआ है।^३

इस प्रकार हम देखते हैं कि कोटिमडुवगण के उल्लेख ई० सन् ९४५ से प्रारम्भ होकर १२वीं शती के मध्य तक अर्थात् दो सौ वर्ष तक मिलते हैं। इसके पश्चात् इस संघ का कोई अन्य अभिलेख उपलब्ध नहीं होता है।

बन्दिद्यूरगण (वाडियूरगण)

बन्दिद्यूरगण के तीन अभिलेख प्राप्त होते हैं। ये तीनों अभिलेख ११-१२वीं शताब्दी के हैं। धर्मपुरी, जिला बोड़ (महाराष्ट्र) से लगभग ११वीं सदी के एक अभिलेख में यापनीय संघ बन्दिद्यूरगण के महावीर पण्डित का उल्लेख है।^४ इसी प्रकार बेंगलि (गुलबर्गा) के एक अभिलेख में यापनीयसंघ के वाडियूरगण के नागदेव सैद्धान्तिक के शिष्य ब्रह्मादेव का उल्लेख है।^५ तीसरे वारंगल के एक अभिलेख में इसी गण के गुणचन्द्र महामुनि के स्वर्गवास का उल्लेख है। इस अभिलेख का काल सन् ११३१ ई० बताया गया है।^६ इसके पश्चात् इस गण का कोई अभिलेख प्राप्त नहीं हो सका है। इस प्रकार यह गण लगभग एक शताब्दी तक ही जीवित रहा।

यापनीय संघ के अन्य गण

ऊपर हमने जिन गणों का उल्लेख किया है उनमें कनकोपल सम्भूत वृक्ष मूलगण और श्रीमूल मूलगण को छोड़कर शेष सभी गणों से सम्बन्धित

१. जैनशिलालेखसंग्रह भाग, २, ले० क्र० १४३
२. Jainism in South India P. B. Desai, p. 403
३. Journal of Karnataka University, Vol. 10. (1965) p, 159,
४. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ५ ले० क्र० ७०
५. वही, भाग ५, ले० क्र० १२५
६. वही, भाग ५, ले० क्र० ८६

अभिलेखों में कहीं न कहीं यापनीय संघ का उल्लेख प्राप्त हो जाता है।^१ किन्तु कुछ ऐसे भी गण हैं जिन्हें विद्वानों ने यापनीय-संघ से सम्बद्ध माना है, यद्यपि शिलालेखों में उनके साथ स्पष्ट रूप से यापनीय संघ का निर्देश नहीं है। प्रो० गुलाबचन्द्र चौधरी ने जैनशिलालेखसंग्रह-भाग ३ की भूमिका में बलहारीगण और उसके अड्डकलिगच्छ को भी यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित माना है।^२ श्रीमती कुसुम पटोरिया ने भी प्रो० गुलाबचन्द्र चौधरी के आधार पर ही इस गण को यापनीय संघ के गणों की चर्चा के प्रसंग में उल्लिखित किया है।^३ इस गण का प्राचीनतम अभिलेख लगभग ई० सन् ९४५ का है। इसमें सर्वलोकाश्रय जिनभवन के लिए बलहारीगण और अड्डकलिगच्छ को दान दिये जाने का उल्लेख है। इसमें आचार्यों की जो परम्परा दी गई है उसमें सकलचन्द्र, अप्यपोट्टि और अर्हन्नन्दी के उल्लेख हैं।^४ इसी प्रकार बलगार गण का ई० सन् १०४८ का एक अन्य अभिलेख जो बेलगाँव से प्राप्त हुआ है, उसमें मेघनन्दि भट्टारक के शिष्य अष्टोपवासो केशवनन्दी का उल्लेख है।^५ प्रो० गुलाबचन्द्र चौधरी ने नन्द्यन्त नाम के कारण तथा उक्तगण के साथ किसी अन्य संघ का उल्लेख न होने से इसे यापनीय संघ का माना है। यह उल्लेखनीय है कि लगभग ११वीं शताब्दी से ही इस बलहार या बलकारगण का बलात्कारगण के रूप में मूलसंघ के साथ उल्लेख मिलने लगता है।

यापनीय संघ के गणों के इतिहास-निर्धारण में हमारे सामने प्रमुख कठिनाई यह आती है कि जो गण या संघ प्रारम्भ में यापनीय संघ के साथ प्रतीत होते हैं वे आगे चलकर मूलसंघ या द्रविडसंघ के साथ उल्लिखित मिलते हैं। उदाहरण के रूप में नन्दीसंघ जिसका सर्वप्रथम उल्लेख यापनीय नन्दोसंघ इस रूप में हुआ है,^६ आगे चलकर द्रविडगण के साथ उल्लिखित मिलता है। १२वीं शताब्दी से तो इसका उल्लेख नन्दीगण और नन्दीगच्छ के रूप में मूलसंघ के साथ भी हुआ है। इसी प्रकार बलगारगण, जो पहले स्वतन्त्र रूप से उल्लिखित है, आगे चलकर मूलसंघ

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ३ भूमिका पृ० ३०
२. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० ५१-५३
३. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, ले० क्र० १४४
४. वही, भाग २, ले० क्र० १८१
५. वही, भाग ३, भूमिका पृ० ३०

के साथ उल्लिखित मिलता है। इसी प्रकार यापनीय संघ के पुन्नागवृक्ष-मूलगण और काणूरगण का भी उल्लेख आगे चलकर मूलसंघ के साथ देखा जाता है। प्रो० गुलाबचन्द्र चौधरी ने इन्हीं आधारों पर यह कल्पना की है कि यापनीय संघ के विविधगण क्रमशः मूलसंघ अथवा द्रविड़ संघ द्वारा आत्मसात् कर लिये गये।^१

यापनीय संघ का अन्य संघों से सम्बन्ध

मृगेशवर्मा के अभिलेखों में सर्वप्रथम हमें यापनीय, निर्ग्रन्थ, कूर्चक और श्वेतपट महाश्रमण संघ ऐसे चार संघों के उल्लेख मिलते हैं। हल्ली के अभिलेख में यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक ऐसे तीन संघ एक साथ उल्लिखित हैं।^२ यह अभिलेख शान्तिवर्मा के ज्येष्ठ पुत्र मृगेशवर्मा का है और ई० सन् ५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का है। मृगेशवर्मा के देवगिरि से उपलब्ध एक अन्य अभिलेख में श्वेतपट महाश्रमण संघ और निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ ऐसे दो संघों का उल्लेख है। इसमें श्वेतपट महाश्रमणसंघ के साथ 'सद्धर्मकरणपरस्य' ऐसा विशेषण भी उल्लिखित है।^३ यह अभिलेख भी पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का ही है। किन्तु इन अभिलेखों से लगभग १०० वर्ष पूर्व से ही मूलसंघ का भी उल्लेख उपलब्ध होने लगता है। मूलसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख नोणमंगल की ताम्रपट्टिकाओं पर हुआ है। इन ताम्रपट्टिकाओं पर गंगकुल के राजाओं को परम्परा देते हुए यह बताया गया है कि माधववर्मा 'द्वितीय' ने अपने राज्य के १३वें वर्ष में फाल्गुन शुक्ल पंचमी को आचार्य वीरदेव की सम्मति से मूलसंघ द्वारा प्रतिष्ठापित जिनालय में उक्तभूमि और कुमरिपुर ग्राम दान में दिया।^४ पुनः नोणमंगल के ही पाँचवीं शती के पूर्वार्ध के एक अन्य संस्कृत-कन्नड़ मिश्रित दानपत्र में कोंगणिवर्मा द्वारा अपने राज्य के प्रथमवर्ष की फाल्गुन शुक्ल पंचमी को परमार्हत् उपाध्याय विजयकीर्ति की सहमति से मूलसंघ के चन्द्रनन्दि आदि द्वारा प्रतिष्ठापित कोरिकुन्द (देश) में उरनूर के जिनमन्दिर को वेन्नेल्करनि गाँव तथा चुंगी की आय का चतुर्थ भाग दान में दिया।^५ विद्वानों ने यह दानपत्र सन् ४२५ ई०

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ३, भूमिका, पृ० ३०
२. यापनि (नी)य निर्ग्रन्थकुच्चकानं... जैन शिलालेख संग्रह भाग २ ले० क्र० ९६
३. वही, भाग ५, ले० क्र० ९८
४. वही, भाग २, ले० क्र० ९०
५. वही, भाग ५, ले० क्र० ९४

के लगभग का माना है। इस प्रकार ई० सन् की ५वीं शताब्दी में दक्षिण भारत के उत्तरी भाग में हमें निम्न पाँच जैन संघों के उल्लेख मिलते हैं—

(१) निर्ग्रन्थसंघ, (२) मूलसंघ, (३) कूर्चकसंघ, (४) यापनीयसंघ और (५) श्वेतपटमहाश्रमणसंघ। इनमें से प्रथम चार दिगम्बर (अचेलक) संघ हैं और अन्तिम श्वेताम्बर (सचेलक) संघ है।

निर्ग्रन्थ संघ और मूलसंघ

सर्वप्रथम हमें निर्ग्रन्थ संघ और मूलसंघ के सम्बन्ध में विचार करना है। दक्षिण में निर्ग्रन्थ संघ का उल्लेख हमें मात्र मृगेशवर्मा के दो अभिलेखों देवगिरि और हल्सी में मिलता है। देवगिरि अभिलेख में श्वेतपट महाश्रमण संघ और निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ का उल्लेख साथ-साथ हुआ है। ये दोनों क्रमशः जैनों की श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओं के परिचायक हैं। इस दान-पत्र से यह फलित होता है कि उस समय राजा दोनों सम्प्रदायों का समानरूप से सम्मान करते थे। साथ ही इन दोनों सम्प्रदायों में मान्यता या आचार भेद के होते हुए भी परस्पर सौहार्द और सह-अस्तित्व रहा होगा, अन्यथा एक ही गाँव की आय को तीन भागों में विभाजित करके यह नहीं कहा जाता कि इसका एक भाग अर्हद्-देवता के लिए, एक भाग श्वेतपटमहाश्रमणसंघ के लिए और एक भाग निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ के लिए निश्चित किया गया। सम्भवतः उस समय तक श्वेताम्बर और दिगम्बरों के मन्दिर अलग-अलग नहीं होते थे। दोनों एक मन्दिर में उपासना कर लेते थे, प्रो० गुलाबचन्द्र चौधरी ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। साथ ही इससे यह भी फलित होता है कि श्वेतपट महाश्रमण संघ ईसा की ५वीं शताब्दी में दक्षिण-प्रदेश में उपस्थित था। श्वेताम्बर ग्रंथों में प्रतिष्ठानपुर (पैठण) में आर्य कालक के समय से ही उनकी उपस्थिति के संकेत हैं। इस अभिलेख में उल्लिखित निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ से क्या तात्पर्य था, यह स्पष्ट नहीं होता। यद्यपि 'महा' विशेषण लगाने से लगता है कि अचेल वर्ग के सभी अवान्तर सम्प्रदायों के लिए यह एक सामान्य नाम होगा अर्थात् मूलसंघ, यापनीयसंघ और कूर्चकसंघ इन तीनों को निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ में समाहित किया गया होगा, किन्तु हल्सी के पूर्वोक्त अभिलेख में 'यापनीयनिर्ग्रन्थकूर्चकानां' ऐसा बहुवचनात्मक प्रयोग मिलता है, इससे यह सिद्ध होता है कि यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक ये तीन स्वतन्त्र सम्प्रदाय थे।

किन्तु निर्ग्रन्थ संघ और मूलसंघ एक ही थे या अलग-अलग-प्रमाणों

के अभाव में यह स्पष्ट कर पाना कठिन है। नोणमंगल की ताभ्रपट्टिकाओं पर मूलसंघानुष्ठित मन्दिरों के उल्लेख से भी यह स्पष्ट नहीं होता कि मूलसंघ और निर्ग्रन्थ संघ एक ही थे या अलग-अलग। मेरी दृष्टि में सम्भवतः दोनों एक ही रहे होंगे। यदि अलग-अलग होते तो कहीं न कहीं इन दोनों का भी एक साथ उल्लेख अवश्य होता।

इस सम्बन्ध में मेरे विचार निम्न हैं जिस पर विद्वानों से चिन्तन करने की अपेक्षा है। यापनीयों के दक्षिण में प्रवेश के पूर्व भद्रबाहु के पहले या उनके साथ जो निर्ग्रन्थ श्रमणवर्ग दक्षिण चला गया था, वह अपने आप को 'निर्ग्रन्थ' ही कहता होगा; क्योंकि उस समय तक संघभेद या गणभेद नहीं हुआ था। सम्भवतः जब यापनीय उत्तरभारत से दक्षिणभारत की ओर गये तब वे अपने गण को मूलगण कहते रहे होंगे, क्योंकि यापनीयों (बोटिक) के विभाजन के समय उत्तर भारत में गण-भेद हो चुका था। अतः यापनीयों ने भी अपने साथ गण का प्रयोग अवश्य किया होगा। उनके जिन प्राचीन गणों के उल्लेख हैं उनमें पुन्नागवृक्षमूलगण, कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण और श्रीमूलमूलगण ये तीन नाम मिलते हैं और इन तीनों के साथ मूलगण का प्रयोग है। अतः यह स्वाभाविक है कि जब उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ सचेलता और अचेलता के प्रश्न पर दो भागों में विभक्त हो गया, तो उत्तर भारत की उस अचेल शाखा ने, जिसे श्वेताम्बरों ने बोटिक और दिगम्बरों ने यापनीय कहा है, अपने को तीर्थंकर महावीर के मूल आचार मार्ग का अनुसरण करने के कारण 'मूलगण' कहा होगा। जब यह मूलगण दक्षिण में प्रविष्ट हुआ होगा तो दक्षिण के निर्ग्रन्थ संघ ने इनकी सुविधावादी प्रवृत्तियों के कारण अथवा आपस में मिलते समय 'कि जवणिज्जं' (कि यापनीय ?)—ऐसा पूछने पर या वन्दन करते समय 'जवणिज्जाये' शब्द का जोर से उच्चारण करने के कारण इन्हें 'यापनीय' (जावनीय) नाम दिया होगा। इन्हें बाहर से आया जानकर अपने संघ को मूलसंघ के नाम से अभिहित किया होगा। अतः सम्भावना यही है कि मूलगण और मूलसंघ अलग-अलग थे। 'मूलगण' यापनीय था और मूलसंघ निर्ग्रन्थ था। निर्ग्रन्थ संघ मूलसंघ से भिन्न नहीं था, यह उन अचेल श्रमणों का वर्ग था, जो भद्रबाहु के पूर्व या भद्रबाहु के समय से दक्षिण भारत में विचरण कर रहे थे। अतः ई० सन् की पाँचवीं शती तक दक्षिण भारत में यापनीयों से भिन्न अचेल परम्परा के दो अन्य संघ भी थे एक निर्ग्रन्थ संघ (मूलसंघ) और दूसरा कूर्चक संघ।

मूलसंघ (निर्ग्रन्थ संघ) का यापनीयों से सम्बन्ध

यापनीयों का मूलसंघ से कैसा सम्बन्ध था और उसमें परस्पर किन बातों को लेकर मतभेद था ? इस सम्बन्ध में जो साहित्यिक सूचनाएँ हमें उपलब्ध हैं उनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उनमें मुख्यतया निम्न बातों में मतभेद रहा होगा—

(१) भद्रबाहु के पूर्व या उनके साथ जो मुनिसंघ दक्षिण की यात्रा पर गया था वह यद्यपि अपने साथ महावीर का तत्त्वज्ञान और आचार-मार्ग लेकर अवश्य गया था किन्तु उनके पास मात्र उतना ही साहित्य रहा होगा, जितना भद्रबाहु के काल तक निर्मित हो पाया था। पुनः विस्मृति और भाषागत विभिन्नताओं के कारण वे उन आगम ग्रन्थों को मूल रूप में कितना सुरक्षित रख पाये थे, आज यह कहना भी कठिन है। सम्भवतः कालक्रम में उस परम्परा के पास आचारमार्ग और तत्त्वज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों की अपनी भाषा में जानकारी के अतिरिक्त विशिष्ट ग्रन्थ शेष नहीं रह गये थे। यही कारण है कि दक्षिण भारत का वह निर्ग्रन्थ संघ (मूलसंघ) आगमों को विच्छिन्न मानने लगा था। यापनीय संघ जो कि उनके बाद लगभग पाँच सौ वर्ष पश्चात् उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा से अलग होकर दक्षिण भारत पहुँचा था, वह अपने साथ जिन आगम ग्रन्थों को ले गया था, उनको मूलसंघ ने मानने से इन्कार कर दिया होगा। क्योंकि उन ग्रन्थों में भी चाहे वे अपवाद मार्ग के रूप में ही क्यों न हों, वस्त्र, पात्र आदि के उल्लेख तो थे ही। यही कारण था कि दक्षिण भारत में निर्ग्रन्थसंघ या मूलसंघ के आचार्यों ने आगे चलकर क्षेत्रीय भाषा के अतिरिक्त संस्कृत को भी अपना प्रमुख माध्यम बनाया। कुन्दकुन्द ही मूलसंघ के प्रथम आचार्य थे, जिन्होंने अपने संघ में आगमों की पूर्ति के लिए यापनीयों की शैली में शौरसेनी में ग्रन्थ लिखे। यद्यपि कुन्दकुन्द की लेखन-दृष्टि यापनीय ग्रन्थों से बिल्कुल भिन्न थी। इस प्रकार आगमों के विच्छिन्न होने के प्रश्न पर दक्षिण भारत के निर्ग्रन्थ-मूलसंघ और यापनीयों में मतभेद रहा होगा।

(२) यापनीयों और दक्षिण भारत के निर्ग्रन्थ संघ मूलसंघ में मतभेद का दूसरा कारण अपवाद के रूप में वस्त्र-पात्र का ग्रहण भी हो सकता है क्योंकि यापनीय वस्त्र-पात्र को अपवाद रूप में ग्राह्य मानते थे। क्योंकि उनके द्वारा मान्य आगमों और निर्मित ग्रन्थों—दोनों में ही अपवाद रूप में इनके ग्रहण का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः दक्षिण में मुनि आचार में शिथिलाचार का प्रवेश यापनीयों के द्वारा ही प्रारम्भ हुआ।

(३) विवाद का तीसरा आधार सम्भवतः स्त्री-दीक्षा भी हो सकता है। मूलसंघ स्त्री को महाव्रतारोहण रूप दीक्षा देने के विरोध में रहा होगा क्योंकि उसके द्वारा सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग सम्भव नहीं था। यह बात कुन्दकुन्द के एवं परवर्ती ग्रन्थों से पुष्ट होती प्रतीत होती है। मूलसंघ के आचार्यों ने यापनीय, द्रविड और माथुरसंघ को इसलिए भी जैनाभास कहा था कि वे स्त्री को पंचमहाव्रत रूप दीक्षा प्रदान करते थे। सम्भवतः मूलसंघ स्त्री को केवल सामायिक चरित्र ग्रहण करने की अनुमति देता होगा, छेदोपस्थापनीय चारित्र अर्थात् महाव्रतारोपण की अनुमति नहीं देता होगा। आगे चलकर यही विवाद अधिक तीव्र हुआ और मूलसंघ के आचार्यों ने स्त्री-दीक्षा के साथ-साथ स्त्री-मुक्ति का भी निषेध कर दिया।

आज हमारे समक्ष ई० सन् की पाँचवीं शताब्दी के पूर्व का कोई भी ऐसा साहित्य नहीं है जिसमें स्त्री-मुक्ति का प्रश्न जैन संघ में विवादास्पद बना हो। सर्वप्रथम लगभग पाँचवीं-छठीं शताब्दी में कुन्दकुन्दकृत माने जाने वाले सुत्तपाहुड में स्त्री-मुक्ति के निषेध का प्रश्न उपस्थित होता है। स्मरण रहे कि पाश्चात्य विद्वानों ने इस ग्रन्थ के कुन्दकुन्दकृत होने में भी संदेह प्रकट किया है। यह प्रश्न विवादास्पद बनने पर सबसे पहले यापनीयों ने ही स्त्री-मुक्ति के पक्ष में तर्क देने प्रारम्भ किये होंगे और मूलसंघ के आचार्यों ने उनके विरोध में अपने तर्क दिये होंगे। श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में तो स्त्री-मुक्ति के प्रश्न की चर्चा सर्वप्रथम लगभग ८वीं शताब्दी से और वह भी यापनीय ग्रन्थों के आधार पर देखी जाती है। हरिभद्र जैसा समर्थ आचार्य भी स्त्री-मुक्ति के अपने पक्ष के समर्थन में यापनीयों के कथन को ही 'यापनीयतन्त्रे' कहकर उद्धृत करता है।

(४) इसके अतिरिक्त केवली-भुक्ति, केवली को कितने परीषह होते हैं आदि कुछ तात्त्विक मान्यताओं को लेकर भी दोनों में मतभेद रहा होगा।

किन्तु कालक्रम से जब मूलसंघ भी भट्टारक परम्परा के प्रभाव में आ गया तो आचार-मार्ग के जिन प्रश्नों को लेकर यापनीयों और मूलसंघ में विरोध था उसकी तीव्रता समाप्त हो गयी और सैद्धान्तिक प्रश्नों में भी कुछ बातों को छोड़कर दोनों में समन्वय होता गया। मूलसंघ के आचार्यों ने भी षट्खण्डागम, कषायपाहुड, तिलोयपणत्ति, भगवती-

आराधना, मूलाचार जैसे यापनीय ग्रन्थों को मान्य कर लिया और आगे चलकर उन पर टीकायें भी लिखी। इस प्रकार निकटता बढ़ने और मूलसंघ के भट्टारकों के अतिप्रभावशाली होने के कारण धीरे-धीरे यापनीय संघ के विभिन्न आचार्य एवं गण मूलसंघ में आत्मसात् होते रहे। अभिलेखों में एक ही गण या संघ का दोनों परम्पराओं में समानरूप से पाया जाना इसी तथ्य का संकेतक है। चाहे यापनीय संघ के सभी आचार्य एक साथ मूलसंघ में प्रविष्ट नहीं हुए हों किन्तु कुछ आचार्य उनके प्रभाव में आते रहे।

यापनीय संघ के मूलसंघ में आत्मसात् होने की यह प्रक्रिया हमें पार्श्व के निर्ग्रन्थ संघ की महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में आत्मसात् होने की प्रक्रिया का स्मरण करा देती है। जिस प्रकार पार्श्व का निर्ग्रन्थ संघ महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में समाकर आज इतिहास की वस्तु हो गया उसी प्रकार यापनीय संघ भी आज इतिहास की वस्तु हो गया। जिस प्रकार पार्श्व के निर्ग्रन्थ संघ ने महावीर के निर्ग्रन्थ संघ के आचार-व्यवहार को अन्दर ही अन्दर काफी प्रभावित किया उसी प्रकार यापनीयों ने दक्षिण के निर्ग्रन्थ संघ या मूलसंघ के आचार-व्यवहार को भी प्रभावित किया। जिस प्रकार आज पार्श्व की परम्परा के आगम महावीर की परम्परा के अभिन्न अंग हो गये, उसी प्रकार सभी यापनीय ग्रन्थ दिगम्बरों में आगम तुल्य मान्य हो गये। आज इस मूलसंघ के अतिरिक्त अन्य सभी अचेलक संघ नामशेष हो गये हैं। यह मूलसंघ भी निर्ग्रन्थ अचेल परम्परा को मात्र ग्रंथों में या सिद्धान्त में ही जाँचित रख सका, व्यवहार में नहीं। व्यवहार में निर्ग्रन्थ अचेल मुनियों की यह परम्परा सहस्राब्दि से अधिक कालतक विलुप्त रहकर आचार्य शान्तिसागरजी से लगभग आज से आठ दशक पूर्व पुनर्जीवित हुई है। क्या ऐसा ही कोई प्राज्ञ संत यापनीय संघ की इस मूलधारा को भी व्यावहारिक रूप में पुनर्जीवित कर जैनों के साम्प्रदायिक भेदों के बीच समन्वय का सेतु निर्मित करेगा ?

कूर्चक और यापनीय—जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया है मृगेश वर्मा के अभिलेख में निर्ग्रन्थ, कूर्चक और यापनीयों का एक ही साथ उल्लेख है। अतः यह सिद्ध होता है कि निर्ग्रन्थ, कूर्चक और यापनीय तीनों अलग-अलग सम्प्रदाय थे। कूर्चक सम्प्रदाय का इस अभिलेख के अतिरिक्त एक अन्य अभिलेख भी मिला है। इसमें कूर्चक संघ के अन्तर्गत वारिषेण आचार्य के संघ का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इस अभिलेख के

अनुसार कूर्चक संघ के वारिसेनाचार्य के अन्वय में चन्द्रक्षान्त नामक मुनि को कदम्ब नरेश रविवर्मा ने अपने राज्य के चौथे वर्ष में अपने पितृव्य शिवरथ के उपदेश से सिंह सेनापति के पुत्र मृगेशवर्मा द्वारा निर्मित जिनमदिर में अष्टाह्निका पूजा के लिए और सर्वसंघ के भोजन के लिए वसुन्तवाटक नामक ग्राम दान में दिया था ।^१ इस अभिलेख में 'कूर्चकानां वारिसेनाचार्य संघ हस्ते चन्द्रक्षान्तं प्रमुखं कृत्वा' ऐसा उल्लेख होने से यह अनुमान होता है कि कूर्चक संघ के अन्तर्गत भी अनेक संघ (अन्वय) रहे होंगे । कूर्चकों के सन्दर्भ में ये दोनों ही अभिलेख 'हल्सी' से उपलब्ध हुए हैं । इसके अतिरिक्त कूर्चकों से सम्बन्धित अन्यत्र कहीं से कोई भी अभिलेख उपलब्ध नहीं है । अतः यह निश्चित करने में अत्यन्त कठिनाई का अनुभव होता है कि इस सम्प्रदाय की मान्यताओं का अन्य संघों से क्या अन्तर था, यह कितने वर्षों तक जीवित रहा और उसका मुख्य प्रभाव-क्षेत्र कहाँ था ?

तापस परम्परा के साधुओं की चर्चा के संग में कूर्चकों का उल्लेख श्वेताम्बर आगम साहित्य और आगमिक व्याख्या साहित्य दोनों में ही उपलब्ध होते हैं । इन तापसों में शिखी, जटी आदि के साथ कूर्चकों का भी उल्लेख हुआ है और उनमें मुख्य रूप से निर्ग्रन्थ श्रमण और श्रमणियों को कूर्चक के साथ किसी भी प्रकार वस्त्रादि के लेन-देन का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए, इसकी चर्चा है ।^२ किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि हल्सी के दोनों अभिलेखों में उल्लिखित कूर्चक संघ तापस-परम्परा से सम्बन्धित न होकर जैन परम्परा से ही सम्बन्धित था । जैन परम्परा का यह कूर्चक सम्प्रदाय कौन था, इसकी क्या मान्यताएँ थीं, साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों स्रोतों से इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता ।

आदरणीय नाथूराम जी प्रेमी ने यह अनुमान लगाया है कि जैन साधुओं का भी कोई एक वर्ग होगा जो दाढ़ी आदि रखता होगा और इसी कारण वह कूर्चक कहलाता होगा । वे लिखते हैं कि "कूर्चक (प्राकृत-कुच्चय) शब्द के अनेक अर्थ हैं, दर्भ, कुशाकीमुट्टो, मयूरपिच्छि और दाढ़ी-मूँछ । कूँची इसका देशी रूप है । कर्नाटक में कूँचो-कमण्डलु साधुओं के उपकरणों के रूप में आमतौर से व्यवहृत होता है । इससे

१. जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख क्रमांक ९९ एवं १०२ ।

२. कावलिए य भिक्खु सुइवादी कुच्चिए अवेसत्थी वाणियग तछण संसट्ट मेहुणे मोहए चव—बृहत्कल्पसूत्र-लघुभाष्य-२८२३

दानपत्रों के इस शब्द ने पहले-पहल हमें मयूरपिच्छि रखनेवाले जैन साधुओं के ही किसी सम्प्रदाय को समझने के लिए ललचाया। यापनीय साधु मयूरपिच्छि रखते थे और दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु भी मयूरपिच्छि रखते हैं; परन्तु दानपत्रों का उक्त कूर्चक सम्प्रदाय इन दोनों से भिन्न कोई तीसरा ही प्रतीत होता है और कुछ प्राचीन उल्लेखों के मिल जाने से अब हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि यह कूर्चक जैन साधुओं का ऐसा सम्प्रदाय होना चाहिए जो दाढ़ी मूँछ रखता होगा।^१ उन्होंने यह यह भी माना है कि वाराणसचरित के कर्ता जटासिंह नन्दी का जो वर्णन उपलब्ध है वह सम्भवतः जैन साधुओं द्वारा “जटा” रखे जाने का आभास देता है। अपने कथन की पुष्टि में प्रेमी जी जिनसेन रचित आदिपुराण में उनकी जटाओं का “जटाः प्रचल वृत्तयः” के रूप में जो वर्णन किया गया है—उसका उल्लेख करते हैं।^२ किन्तु आदरणीय प्रेमी जी के इस निष्कर्ष से सहमत होने में कुछ कठिनाई है। क्योंकि केशलोच जैन श्रमण संघ का एक अपरिहार्य नियम रहा है और उस परम्परा का भंग करके जैन श्रमण दाढ़ी और जटायें रखने लगे हों इसका जटानन्दी के उपर्युक्त उल्लेख के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। पुनः जटा के कारण ‘जटी-जटिल’ नामकरण होता है, कूर्चक नहीं। ओषधिनियुक्ति में गेरुए वस्त्रधारी दाढ़ी रखने वाले साधुओं का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु जैन साधु दाढ़ी रखते थे ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।^३ चूँकि श्वेताम्बरों में केश लोच का अन्तराल स्थविरों के लिए सामान्यतया १ वर्ष का और अन्य साधुओं के लिए ८, ६ अथवा ४ मास का होता था। उसके मध्य तो इस वर्ग के जैन साधुओं की दाढ़ी तो बढ़ ही जाती होगी। अतः यदि दाढ़ी के आधार पर ही कुछ जैन साधु कूर्चक कहे जाते हों तो सम्भव यही लगता है कि वे स्थविरकल्पी या श्वेताम्बर होंगे। दाढ़ी आदि के कारण किसी दिगम्बर जैन संघ का नाम कूर्चक संघ पड़ा हो इसका हमारे पास कोई भी ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। श्वेताम्बर आगमों में जिनकल्पी (नग्नमुनि) के लिए नित्य लोच का

१. जैन इतिहास और साहित्य (पं० नाथूराम प्रेमी), द्वितीय संस्करण पृ० ५५८-५६२।

२. काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रचलवृत्तयः। अथानिस्मानन्दन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात्—आदिपुराण ५०।

३. कासायवत्कूर्चं धराय—ओषधिनियुक्ति भाष्य—८३।

विधान है। यापनीय ग्रन्थ मूलाचार में भी उत्कृष्ट मध्य और जघन्य भेद से एक मास, दो मास और चार मास में लोच का विधान है अतः इस वर्ग की दाढ़ी अधिक बढ़ने की सम्भावना नहीं है। यदि दाढ़ी के आधार पर ही कोई संघ कूर्चक कहलाया हो तो वह वही होगा जिसके आगम वर्ष में एक बार ही लोच का विधान करते हों।

प्राकृत में 'कुच्चग' शब्द दाढ़ी के अतिरिक्त कंधी और कूची—व्यञ्जना से प्रतिलेखन या रजोहरण—इन अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है।^१ अतः कूर्चक शब्द से केवल दाढ़ी रखनेवाले को गृहीत करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। 'कुच्चग' (कूर्चक) शब्द का प्रयोग कंधी या कूची रखने वाला के सम्बन्ध में भी हो सकता है। हो सकता है कि जो स्थविरकल्पो श्रमण वर्ष में एक ही बार केशलोच करते हों, वे अपने बड़े हुए बालों में जुएँ आदि जीवोत्पत्ति नहीं हो, इस अहिंसक दृष्टि से अपने पास कंधी रखने लगे हों। स्मरण रहे श्वेताम्बर साधुओं में आगमिक निर्देश न होने पर भी आज कंधा रखा जाता है। अतः उन्हें कुच्चग (कूर्चक) कहा जाता होगा। पुनः रजोहरण या पिच्छि भी एक प्रकार की कूची ही थी, अतः यह भी सम्भव है कि विशिष्ट प्रकार के रजोहरण या पिच्छि रखने के कारण भी जैन साधुओं का एक वर्ग कूर्चक कहलाता हो। आचारांगचूर्णि में बोटिकों के उपकरणों की चर्चा करते हुए 'धम्मकुच्चग' ऐसा स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है।^२ यहाँ 'धम्मकुच्चग' शब्द का अभिप्राय प्रतिलेखन या पिच्छि से ही है। उसके आगे लगा 'धम्म' शब्द यह सूचित करता है, वह धर्मोपकरण है। यापनीय ग्रन्थ मूलाचार में भी प्रतिलेखन (पिच्छि) को संयमोपकरण कहा गया है। इस प्रकार आचारांगचूर्णि में वर्णित 'धम्मकुच्चग' धार्मिक उपकरण अर्थात् पिच्छि विशेष ही है और उपर्युक्त विकल्पों में अधिक सम्भव यही है कि इसी कारण यह वर्ग कुर्चक कहलाया हो। यहाँ विशेषरूप से यह ज्ञातव्य है कि जैन श्रमणों में पिच्छि के स्वरूप एवं प्रकार के आधार पर गण या संघ का नामकरण होता रहा है। अचेलक परम्परा में ही गो-पिच्छक और निष्पिच्छक जैसे संघ रहे हैं। इसी प्रकार गृद्धपिच्छाचार्य—यह नामकरण भी पिच्छि के प्रकार के आधार पर हुआ है। अतः सम्भव है कि जैन श्रमणों का एक वर्ग अपनी अहिंसक दृष्टि के कारण पशुओं के

१. पाइयसद्महण्णवो पृ० २५०-२५१।

२. बोडिएण धम्मकुच्चगकडसागरादि सेच्छया गहिता। आचारांगचूर्णि पृ० ८२।

केशों अथवा पक्षियों की पूँछों या पंरों से बने हुए प्रतिलेखन के स्थान पर वानस्पतिक रेशों यथा—पटसन, मूँज आदि के प्रतिलेखन रखता हो और इस कारण उसे कूर्चक कहा जाता हो। आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में शय्या के लिए ग्रहण किये जानेवाले विभिन्न प्रकार के घासों के उल्लेख में 'कुच्च' नामक घास का भी उल्लेख है।

कूर्चक शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में अन्य विकल्प यह भी है कि—कल्पसूत्र में बोटिक या यापनीय संघ के प्रथम आचार्य शिवभूति को कोत्स गोत्रीय कहा गया है। उसमें 'कोच्छ सिवभूई' ऐसा उल्लेख है।^१ यह भी हो सकता है कि शिवभूति को परम्परा के ये श्रमण अपने को कोच्छग (कोत्सक) कहते हों और यही कोच्छग शब्द क्रमशः ध्वनि परिवर्तन के कारण कोच्छग—कोच्चग—कुच्चग हो गया हो और उसका संस्कृत रूपान्तरण कूर्चक कर लिया गया हो। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण यह है कि ओसवालों के 'बुरड' गोत्र के कुछ लोग आज अपने को 'बरार' लिखते हैं। यह ध्वनिपरिवर्तन ऐसे हुआ है—बुरड—बरड। बरड को अंग्रेजी में Barar लिखा जाता है, जिसका पुनः नागरीकरण करके बरार लिखा जाने लगा है। ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि शिवभूति की परम्परा का अचेलक संघ ही कूर्चक कहलाया हो। किन्तु यहाँ समस्या यह है कि एक अभिलेख में यापनीयों और कूर्चकों का एक साथ उल्लेख हुआ है। अतः यह मानना होगा कि यापनीय एवं कूर्चक भिन्न-भिन्न होकर भी एक ही परम्परा के थे। शिवभूति की परम्परा ही आगे चलकर दो भागों में बँट गई, उनमें से एक यापनीय कहलाती हो और दूसरी कूर्चक। यह भी सम्भव है कि कूर्चक जहाँ वानस्पतिक रेशों का प्रतिलेखन रखते होंगे, वहाँ यापनीय मयूरपिच्छी।

पुनः कूर्चक शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में एक अन्य विकल्प यह भी हो सकता है कि यह गोच्छग से बना हो। श्वेताम्बर परम्परा में प्रतिलेखन या पिच्छी के लिए गोच्छा या गोच्छग शब्द का प्रयोग आज भी होता है। यह प्राकृत 'गोच्छग' शब्द, जो कि संस्कृत गुच्छ से बना है, तमिल या कन्नड में 'ग' का 'क' होने से उसे कोच्छक कहा जाता हो। क्योंकि तमिल में 'ग' आदि तृतीय व्यञ्जन नहीं होते हैं। अतः गोच्छग का कोच्चक हुआ होगा और इसी 'कोच्चक' का संस्कृत रूपान्तरण कूर्चक किया गया होगा। दूसरे शब्दों में गोच्छा (गोच्छग) रखने वाले जैन श्रमण ही कूर्चक कहलाये हों।

१. कोच्छं सिवभूई—कल्पसूत्रम् (प्राकृत भारती) २२३/९।

अतः यह मानना भी पूर्णतः निराधार तो नहीं है कि दाढ़ी-मूँछ या कंधी रखनेवाले श्रमण कूर्चक कहलाते थे । फिर भी अधिक सत्य तो यही लगता है कि विशिष्ट प्रकार के वानस्पतिक रेशों से बने प्रतिलेखन (कुच्चगया-गोच्छग) रखने के कारण ही जैन श्रमणों का एक वर्ग कूर्चक कहलाया होगा । श्वेताम्बर परम्परा में आज भी मयूरपिच्छि आदि के स्थान पर ऊन या अन्य वानस्पतिक रेशों के गोच्छग रखने का प्रचलन है । लेखक ने बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व तक जैन स्थानकों में प्रमाजर्जन के लिए पटसन की कूचियों का प्रयोग होते देखा है । हो सकता है कि जो श्वेतपट महाश्रमण संघ दक्षिण गया था, वह पटसन या मूँज आदि के गोच्छग रखता हो और इसी कारण कूर्चक कहलाया हो । अतः इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि दाढ़ी-मूँछ, कंधी या वानस्पतिक रेशों के गोच्छग रखनेवाला श्वेतपट महाश्रमण संघ ही कूर्चक हो । क्योंकि उस अभिलेख में श्वेतपट महाश्रमण संघ का उल्लेख नहीं है, मात्र निर्ग्रन्थ, यापनीय और कूर्चक का उल्लेख है अतः निर्ग्रन्थ और यापनीय से भिन्न कूर्चक श्वेताम्बरों का वाचक भी हो सकता है । श्वेताम्बरों (श्वेतपट महाश्रमण संघ) का हो एक वर्ग कूर्चक कहा जाता हो, इसके पक्ष में निम्न तथ्यों को प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) यदि कूर्चक का अर्थ दाढ़ी-मूँछ से युक्त श्रमण—ऐसा करें तो यह निश्चित है कि जिनकल्पी अचेल निर्ग्रन्थों की अपेक्षा स्थविरकल्पी सचेल परम्परा में केश लोच का अधिकतम अन्तराल एक वर्ष का मान्य होने से उन्हें ही कूर्चक कहा गया होगा । आज भी श्वेताम्बर मुनियों को वर्ष के अधिकतम समय में दाढ़ी से युक्त देखा जाता है ।

(२) यदि कूर्चक का अर्थ कंधी रखने वाला करें तो यह तर्क भी श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में जाता है—क्योंकि केश लोच का अन्तराल अधिक होने से केशों में जीवोत्पत्ति न हो इस दृष्टि से अधिकांश श्वेताम्बर मुनि आज भी कंधी रखते हैं । यद्यपि इस सन्दर्भ में आगमिक निर्देशों का अभाव है ।

(३) यदि कूर्चक का सम्बन्ध मयूर-पिच्छि से भिन्न पटसन आदि वानस्पतिक रेशों या ऊन आदि की कूची या गोच्छग से माना जाये तो यह तर्क भी कूर्चकों के श्वेताम्बर होने के पक्ष में जाता है, क्योंकि उनमें आज भी प्रतिलेखन को गोच्छग (गोछा) कहा जाता है—श्वेताम्बर

मन्दिरों में और स्थानकों में प्रमार्जनी के रूप में पटसन की कूचियों का उपयोग होते स्वयं लेखक ने देखा है ।

(४) कूर्चकों के श्वेताम्बर होने के पक्ष में एक तर्क यह भी है कि उस अभिलेख में यापनीय कूर्चक और निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) का ही उल्लेख है और कूर्चक यापनीयों और दिगम्बरों से भिन्न श्वेताम्बर माने जा सकते हैं । फिर भी जब तक निश्चित प्रमाण न मिले, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अचेलक सम्प्रदाय का एक वर्ग जो दाढ़ी-मूँछ या कंधी या वानस्पतिक रेशों का गोच्छग रखता था, कूर्चक हो किन्तु इतना निश्चित ही है कि कूर्चक निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) और यापनीय से भिन्न हैं । इस सम्बन्ध में अधिक निश्चितरूप से कुछ कहने के लिए वारिषेण और चन्द्रशात मुनि तथा उनको गुरु या शिष्य परम्परा से सम्बन्धित कुछ अभिलेखीय या साहित्यिक साक्ष्य खोजने होंगे । यदि किसी परम्परा की पट्टावली ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी के लगभग किसी वारिषेण आचार्य या चन्द्रशात मुनि का उल्लेख मिल जाता है तो जैनों के कूर्चक सम्प्रदाय के सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिकता पूर्वक कुछ कहा जा सकता है । आशा है विद्वद् वर्ग इस दिशा में प्रयत्न जारी रखेगा ।

कूर्चकों और यापनीयों के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर कुछ कह पाना कठिन है, क्योंकि कूर्चकों की मान्यताओं और उनके आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में कोई भी साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध नहीं है । इस सम्बन्ध में हम जो कुछ भी कह सकते हैं वह एक तार्किक परिकल्पना से अधिक कुछ भी नहीं है । जैसा कि हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं कि यदि कूर्चक कोच्छ (कौत्स) गोत्रीय शिवभूति की परम्परा से सम्बन्धित हैं तो हमें यह मानना होगा कि यापनीय और कूर्चक दोनों एक ही परम्परा की दो शाखाएँ हैं । यदि हम कूर्चकों को वर्ष में एकबार केश लोच करने के कारण दाढ़ी-मूँछ से युक्त अथवा कंधी या ऊन, वानस्पतिक-रेशों आदि का बना गोच्छग (कूर्ची) रखने वाले मानते हैं तो श्वेताम्बरों के साथ उनकी निकटता प्रतीत होती है । फिर भी यह कह पाना कठिन ही है कि वे सचेल परम्परा के थे या अचेल परम्परा के, सम्भावनाएँ दोनों ही हो सकती हैं । परन्तु ये सब परिकल्पनाएँ ही हैं । ई० सन् की ५वीं शती के इन दो अभिलेखों के अतिरिक्त कूर्चकों के सम्बन्ध में अन्य कोई भी अभिलेखीय या साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध न होने से इतना तो निश्चित है कि यह संघ बहुत ही अल्पजीवी रहा है और इसकी मान्यताओं के सम्बन्ध में अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है ।

द्राविड़ संघ और यापनीय संघ

दर्शनसार के कर्ता देवसेन के अनुसार^१ पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने विक्रमसंवत् ५२६ अर्थात् ई० सन् ४६९ में दक्षिण मथुरा में द्राविड़ संघ की स्थापना की। दर्शनसार में प्रस्तुत विवरण के अनुसार जब इन्हें अप्रासुक चने खाने से वर्जित किया गया, तो उन्होंने विद्रोह करके एक नये संघ की स्थापना कर दी। इनका कहना था कि बीजों में जीव नहीं होता है, मुनियों के लिए खड़े होकर खाने (स्थित-भोजन) का नियम नहीं है। यह संघ सावद्य अर्थात् भूमि, जल, बीज आदि सचित्त है—इस अवधारणा को नहीं मानता था। अतः इनके अनुसार कृषि आदि करवाना तथा शीतल जल से स्नान करना भी मुनि के लिए वर्जित नहीं है। प्रारम्भिक अभिलेखों में कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघ के साथ द्राविड़गण रूप में इसका उल्लेख देखकर डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने यह अनुमान लगाया कि द्राविड़ संघ प्रारम्भ में मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय से सम्बन्धित रहा होगा, किन्तु आगे चलकर यह यापनीयों के नन्दीसंघ में द्राविड़गण के रूप में समाहित हुआ होगा। परवर्तीकाल में यह द्राविड़संघ इतना प्रभावशाली हो गया कि इसने अपने को संघ का रूप दे दिया और यापनीय नन्दीसंघ को नन्दीगण के रूप में अपने में समाहित कर लिया। यापनीयों के समान ही द्राविड़संघ को भी जैनाभास कहा गया है। इससे लगता है कि यापनीय संघ और द्राविड़संघ कुछ मान्यताओं में एक दूसरे के निकट ही थे। यापनीयों के नन्दीसंघ का नन्दीगण के रूप में द्राविड़संघ में समाविष्ट होना भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। यद्यपि

१. सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो ।
 णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्थो ॥
 अप्पासुयचणयाणं भक्खणदो वज्जिदो मुणिदेहि ।
 परिरइयं विवरीयं विसेसियं वग्गणं चोज्जं ॥
 बीएसु णत्थि जीवो उब्भसण णत्थि मुणिदाणं ।
 सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठं ॥
 कच्छं खेत्तं वसहिं कारिऊण जीवंतो ।
 ण्हंतो सीयलनीरे पावं पउरं च संबेदि ॥
 पंचसए छब्बीसे विक्कामरायस्य मरणपत्तस्स ।
 दक्खिणमहुरा जादो दाविडसंघो महामोहो ॥

—दर्शनसार गाथा २४-४८ तक

प्रमाणाभाव में द्राविड़ों और यापनीयों के बीच किन बातों में समानता और किन बातों में अन्तर था इसको स्पष्ट कर पाना कठिन है। द्राविड़संघ की कृतियों के उपलब्ध होने पर उनका अध्ययन करके ही इस सम्बन्ध में कुछ लिखा जा सकता है।

काष्ठासंघ और यापनीय संघ

मूलसंघ और द्राविड़संघ की अपेक्षा काष्ठा संघ परवर्ती है। यापनीयों और द्राविड़ों के समान ही इस संघ को भी जैनाभास कहा गया है। इस संघ की उत्पत्ति जिनसेन के सतीर्थ और विनयसेन के शिष्य कुमारसेन के द्वारा वि० संवत् ७५३ अर्थात् सन् ६९६ ई० में हुई। आदरणीय प्रेमी जी ने इस उत्पत्ति संवत् को सन्दिग्ध माना है।^१ 'दर्शनसार' में इस संघ की निम्न मान्यताओं का उल्लेख हुआ है—स्त्रियों की पुनः दीक्षा, क्षुल्लकों की वीरचर्या, कर्कश केश ग्रहण और छठे अणुव्रत की स्वीकृति।^२

इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अलग-अलग मान्यताएँ हैं। पण्डित परमानन्द शास्त्री का कहना है कि इनका उत्पत्ति सम्वत् विक्रम सं० ७५३ के स्थान पर शक सम्वत् ७५३ होगा तभी विनयसेन के गुरु बन्धु जिनसेन के समय के साथ संगति बैठ सकती है काष्ठा संघ भी अचेलक परम्परा का एक दीर्घजीवी संघ है। इस संघ के चार गच्छ माने जाते हैं। माथुर गच्छ, बागड़ गच्छ, लाड़बागड़ गच्छ, और नन्दी बागड़ गच्छ।^३ यद्यपि काष्ठा संघ से इन गच्छों का सम्बन्ध पर्याप्त परवर्ती ही है। प्रो० जोहरापुरकर लिखते हैं—“सम्भवतः १२वीं शती तक माथुर, बागड़ और लाड़बागड़ इन तीन संघों का काष्ठा संघ से कोई सम्बन्ध नहीं था।” प्रो० जोहरापुरकर के अनुसार ऐसी स्थिति में यह मानना उचित

१. (अ) सत्तसएतेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।

णंदियेडेवरगामेकट्टोसंघो मुणेयव्वो ॥ दर्शन ३८ ।

(बी) देखें—जैन साहित्य और इतिहास—पृ० २७६-२७७ ।

२. इत्थीणं पुणद्विक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरिअत्तं ।

कक्कसकेसगहणं, छट्टं च अण्णुव्वदं णाम ॥ दर्शनसार ३५

३. काष्ठा संघो भुवि ख्यातो जानन्ति नुसुरासुराः ।

तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ ॥

श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरो बागड़ाभिधः ।

लाड़-बागड़ इत्येते विख्याताः क्षितिमण्डले ॥

—उद्धृत जैनसाहित्य और इतिहास पृ० २७७ ।

होगा कि माथुर आदि चार संघों का एकीकरण होकर १२वीं शती में काष्ठा संघ की स्थापना हुई है। वे देवसेन की कृति 'दर्शनसार' के रचना-काल को भी संशयास्पद मानते हैं। उनके अनुसार दर्शनसार उन देवसेन की कृति है जिनकी चरणपादुकाएँ १५४५ में स्थापित हुई थीं।^१ काष्ठा संघ को 'गोपिच्छिक' भी कहा गया है।^२

काष्ठासंघ की पूर्वोक्त चार मान्यताओं के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने काष्ठा की प्रतिमा की पूजा के विधान को भी काष्ठासंघ की विशिष्ट मान्यता कहा है।^३ काष्ठासंघ के उत्पत्ति स्थल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् मथुरा के पास काष्ठा नामक ग्राम में इसकी उत्पत्ति मानते हैं^४ तो कुछ नन्दीतट ग्राम (वर्तमान नांदेड) में^५ और कुछ अग्रोहा में इसकी उत्पत्ति बताते हैं। काष्ठा संघ के संस्थापक के रूप में लोहाचार्य का उल्लेख है।^६ काष्ठासंघ का विशेष प्रभाव अग्रवाल समाज पर था। लोहे का व्यवसाय करने के कारण अग्रवाल समाज का एक वर्ग आज भी लोहिया कहा जाता है। सम्भावना यह है कि लोहियों के वंश का होने के कारण अथवा लोहियों के धर्मगुरु होने से उन्हें लोहाचार्य कहा गया होगा। स्मरण रहे कि लौहकार और लौह-वणिक् ऐसे दो वर्गों का उल्लेख मथुरा के प्राचीन जैन अभिलेखों में भी मिलता है। लोहियों का सम्बन्ध इन्हीं लौह-वणिकों से होगा।

काष्ठासंघ और यापनीय संघ के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि काष्ठासंघ चाहे यापनीय न हो किन्तु वह यापनीयों से बहुत अधिक प्रभावित तो अवश्य ही है। हो सकता है कि नन्दीसंघ और पुन्नाटसंघ—जो क्रमशः नन्दीतटगच्छ और पुन्नाटगच्छ के नाम से काष्ठा संघ में लगभग १२वीं शती में अन्तर्भुक्त

१. देखें—भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २११-२१२।

२. देखें—(अ) जैनसाहित्य और इतिहास (प्रेमीजी) पृ० २७६।

(ब) काष्ठा संघे चमरी बालैः पिच्छिका....।

—षड्दर्शन समुच्चय (हरिभद्र) की गुणरत्न की टीका पृ० १६१।

३. देखें—जैनसाहित्य और इतिहास (प्रेमीजी) २७६।

४. भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २११।

५. नन्दियेडेवरगामे दर्शनसार ३९।

६. पं० बुलाकीचन्द्र कृत कथा कोश (वि० सं० १७३७)।

—उद्धृत यापनीय और उनका साहित्य पृ० ५९।

हुए हैं, उसके कारण ही काष्ठा संघ में कुछ यापनीय मान्यताओं का प्रवेश हुआ है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि यापनीयों के समान काष्ठासंघ का दृष्टिकोण भी स्त्रियों के सन्दर्भ में उदार था। पुन्नाटसंघीय आचार्य स्त्रीमुक्ति एवं स्त्री को छेदोपस्थापनीय चारित्र (महाव्रतारोपण) का निषेध नहीं करते थे। दर्शनसार में भी काष्ठासंघ की विशेष मान्यता की चर्चा करते हुए स्त्रियों की पुनर्दीक्षा का उल्लेख किया गया है। काष्ठासंघ यापनीयों के समान ही स्त्रियों को छेदोपस्थापनीय चारित्र प्रदान करता था। श्रमती (डॉ० कुसुम पटोरिया) ने छेदोपस्थापनीय का अर्थ श्रुतसागर की षट्पाहुड टीका के आधार पर प्रायश्चित्त कर लेने पर पुनः दीक्षा प्राप्त करना—ऐसा जो लिखा है, वह श्रुतसागर जी की एवं उनकी भ्रान्ति ही है। छेद का तात्पर्य है पूर्व की दीक्षा-पर्याय का अर्थात् सामायिक चारित्र की दीक्षा-पर्याय का छेद, और उपस्थापन का अर्थ है—संघ में वरीयता क्रम प्रदान करना या संघ में सम्मिलित करना। श्वेताम्बर परम्परा में आज भी छेदोपस्थापनीय चारित्र के पश्चात् ही नवदीक्षित मुनि को संघ में सम्मिलित माना जाता है और उसी दिन से वरीयता (ज्येष्ठता) निश्चित की जाती है। छेदोपस्थापनीय चारित्र प्रदान करने का अर्थ महाव्रतारोपण करना है। इससे यही फलित होता है कि काष्ठासंघ में सवस्त्र होते हुए भी स्त्रियों को महाव्रत प्रदान किये जाते थे। यहाँ पुनर्दीक्षा शब्द का अर्थ भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। श्वेताम्बर आगमिक व्याख्याओं के अनुसार महावीर ने ही अपने संघ में सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र—ऐसे दो प्रकार की श्रमण दीक्षाओं की व्यवस्था की थी। पार्श्व की परम्परा में ऐसी व्यवस्था नहीं थी, सम्भवतः नवागन्तुक युवाओं और उन पार्श्वपत्य श्रमणों को जो वस्त्र का त्याग नहीं करना चाहते थे स्थविरकल्प अर्थात् पार्श्व के संघ की व्यवस्था के अनुसार सामायिक चारित्र प्रदान किया जाता था—ये युवा हों तो क्षुल्लक और वृद्ध हों तो स्थविर कहलाते थे। जिनकी साधना को परख लिया जाता था और जो वस्त्रादि सम्पूर्ण परिग्रह का त्यागकर जिनकल्प का आचरण करते थे उन्हें ही छेदोपस्थापनीय चारित्र प्रदान किया जाता था। श्वेताम्बर परम्परा में आज भी सर्वप्रथम छोटी दीक्षा के रूप में सामायिक चारित्र प्रदान किया जाता है और फिर कुछ समय पश्चात् उसकी क्षमता के

परीक्षण के उपरान्त बड़ी दीक्षा के रूप में छेदोपस्थापनीय चारित्र प्रदान करके उसे पाँच महाव्रतों के पालन की प्रतिज्ञा कराई जाती है। जहाँ अचेलक परम्परा की मूलसंघ आदि अन्य कुछ शाखाएँ सवस्त्र स्त्री को मात्र सामायिक चारित्र प्रदान करते थे, वहाँ यापनीय और काष्ठासंघ दोनों ही स्त्री को छेदोपस्थापनीय चारित्र भी प्रदान करते थे। दूसरे शब्दों में जहाँ अन्य अचेल परम्पराओं में स्त्री को नग्न न हो पाने के कारण मुनि पद के अयोग्य माना जाता था, वहाँ यापनीय और काष्ठासंघीय उसे मुनि-पद के योग्य मानते थे। काष्ठासंघ की अन्य मान्यताओं के सन्दर्भ में "खुल्लयलोयस्स वीर चरियअत्तं" का उल्लेख भी देवसेन ने किया है। यहाँ क्षुल्लकों को वीरचर्या का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है। क्षुल्लक का अर्थ सवस्त्र मुनि या ईषत्मुनि है और वीरचर्या का अर्थ 'स्वयं भ्रामर्या भोजनम्' अर्थात् भिक्षावृत्ति से भोजन प्राप्त करना है।^१ इस प्रकार क्षुल्लकों के लिए भी मुनि-सदृश भिक्षाचर्या का विधान यापनीय और काष्ठासंघ में समान रूप से स्वीकृत था। इसके अतिरिक्त काष्ठासंघ भी यापनीयों के सदृश ही रात्रि-भोजन निषेध को छठे अणुव्रत के रूप में स्वीकार करता था। स्मरण रहे कि श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराएँ रात्रि भोजन निषेध को षष्ठव्रत के रूप में स्वीकार करती हैं। 'दशवैकालिक सूत्र' में स्पष्ट रूप से रात्रि-भोजन निषेध को षष्ठव्रत कहा गया है।^२ अतः हम कह सकते हैं कि यापनीय और काष्ठासंघ की मान्यताएँ बहुत कुछ समान ही थीं। यह सम्भव है कि जब यापनीयों का पुन्नागण पुन्नाटसंघ के रूप में और पुन्नाटसंघ पुन्नाटगच्छ के रूप में काष्ठासंघ में अन्तर्भावित हुआ तो उसके प्रभाव से ये मान्यताएँ काष्ठासंघ में आई हैं। अनेक दिग्म्बर विद्वानों ने भी यह स्वीकार किया है कि काष्ठासंघ का आविर्भाव पुन्नाटगच्छ, बागड़ गच्छ, लाड़बागड़ गच्छ और नन्दीतट गच्छ के सम्मिलन से ही हुआ है।^३

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि काष्ठासंघ और यापनीय संघ में सैद्धान्तिक दृष्टि से अधिक दूरी नहीं है और यही कारण है कि आगे चलकर यापनीय संघ के अनेक गण और अन्वय काष्ठासंघ में अन्तर्भावित होते दिखाई देते हैं।

१. धर्मावृत (सागर)—आशाषर, ज्ञानदीपिका पञ्जिका सह, पृ० ३०४।
२. दशवैकालिक ४।
३. भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २१३।

माथुरसंघ

देवसेन ने माथुरसंघ की उत्पत्ति काष्ठासंघ से ही मानी है, उनके अनुसार काष्ठासंघ के रामसेन के द्वारा ही वि० संवत् ९५३ में संघ की उत्पत्ति हुई। माथुरसंघ का मुख्य प्रभाव क्षेत्र पूर्वी राजस्थान पश्चिमी उत्तर-प्रदेश, हरियाणा, गोपाञ्चल अर्थात् आगरा ग्वालियरदि का क्षेत्र तथा बुन्देलखण्ड रहा है। माथुर संघ को निष्पिच्छक संघ भी कहा जाता है। ऐसा लगता है कि काष्ठासंघ में जो चामर-पिच्छि रखी जाती थी, उसकी कर्कश केश ग्रहण के रूप में आलोचना होने के कारण ही माथुर-संघ के भट्टारकों ने पिच्छि का परित्याग कर दिया होगा। षड्दर्शन—समुच्चय को गुणरत्न की टीका^१ में तथा इन्द्रनन्दी कृत नीतिसार^२ में इन्हें निष्पिच्छक कहा गया है। किन्तु लाटी संहिता, में जो कि काष्ठासंघ और माथुर गच्छ के पं० राजमल्ल की कृति है, में जहाँ क्षुल्लक के लिए वस्त्र पिच्छि^३ का उल्लेख मिलता है वहीं ऐलक के लिए स्पष्ट रूप से पिच्छि का उल्लेख^४ है। वस्त्र-पिच्छि के दो अर्थ होते हैं—वस्त्र के धागों से बनी हुई पिच्छि अथवा वस्त्र ही है पिच्छि जिसको। स्मरण रहे कि श्वेताम्बर परम्परा में आज भी ऊनी धागों से बने रजोहरण रखे जाते हैं।

यह माना जाता है कि माथुरसंघ क्षुल्लक की बोरचर्या का निषेध करता था। यह सत्य है कि मूलसंघीय वसुनन्दी ने अपने श्रावकाचार

१. काष्ठासङ्घे चमरोबालैः पिच्छिका, मूलसङ्घे माथुरपिच्छैः पिच्छिका, माथुरसङ्घे मूलतोऽपि पिच्छिका नावृता गोप्यां माथुरपिच्छिका ।

—षड्दर्शनसमुच्चय पृ० १६१ ।

२. गोपुच्छिकाः श्वेतवासाः द्राविडाः यापनीयकाः ।

निपिच्छिकाश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥

—नीतिसार (इन्द्रनन्दी १०)

३. क्षुल्लकः कोमलाचारः शिखासूत्राङ्कितो भवेत् ।

एकवस्त्रं सकौपीनं वस्त्रपिच्छकमण्डलुम् ॥

—लाटीसंहिता ७।६३

४. तत्रैलकः स गृह्णाति वस्त्रं कौपीनमात्रकम् ।

लोचं स्मश्रुशिरोलोम्नां पिच्छिकां च कमण्डलुम् ॥

—लाटी संहिता ७।५६

में^१ तथा स्वतन्त्र विचारक पं० आशाधर ने अपने सागारधर्मामृत^२ में क्षुल्लकों की वीरचर्या का स्पष्ट रूप से निषेध किया है किन्तु लाटी संहिता में पं० राजमल्ल जी, जो अपने को काष्ठासंघ और माथुर गच्छ का मानते हैं—वीरचर्या का स्पष्ट रूप से समर्थन करते हैं। मात्र यही नहीं वे क्षुल्लकों की सम्पूर्ण भिक्षाचर्या का विवरण भी प्रस्तुत करते हैं। अतः जबतक इस संघ के अन्य किसी ग्रन्थ में कोई स्पष्ट उल्लेख न मिले इस निर्णय पर पहुँचना कठिन है कि माथुरसंघीय स्पष्ट रूप से वीरचर्या का निषेध करते थे। श्रीमती (डा०) कुसुम पटोरिया ने जो यह लिखा है कि माथुरगच्छ वीरचर्या का निषेध करता है उसका आधार क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। यदि उनका आधार वसुनन्दी और आशाधर हैं, तो ये दोनों माथुरगच्छीय नहीं हैं अतः इनके ग्रन्थों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि माथुरगच्छ क्षुल्लकों की वीरचर्या का निषेध करता है। यद्यपि आशाधर के धर्मामृत (सागर) की टीका में वीरचर्या का अर्थ भिक्षावृत्ति किया गया है, किन्तु हमें यह अर्थ उचित नहीं लगता है, क्योंकि वसुनन्दी और आशाधर दोनों ही क्षुल्लकों की वीरचर्या का निषेध करने वाली इस गाथा के पूर्व ऊपर की गाथाओं में क्षुल्लक और ऐलक को भिक्षाचर्या विधि का प्रतिपादन करते हैं। अतः वीरचर्या का अर्थ अन्य कुछ होना चाहिए।

पुनः लाटीसंहिता में यद्यपि क्षुल्लक और ऐलक को उत्कृष्ट श्रावक कहा जाना इस तथ्य का सूचक है कि उनपर मूलसंघीय परम्परा का प्रभाव है किन्तु उनके लिए ईषत्मुनि, सन्मुनिरेव आदि विशेषणों का प्रयोग यह सूचित करता है कि उनपर यापनीय प्रभाव भी है।

पुन्नाटसंघ और यापनीय संघ

पुन्नाटसंघ के सन्दर्भ में साहित्यिक साक्ष्य तो ईसवी सन् आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से मिलने लगते हैं, किन्तु अभिलेखीय साक्ष्य बारहवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं मिलते। सुलतानपुर के सन् ११५४ के शिलालेख में आचार्य अमृतचन्द्र के शिष्य विजयकीर्ति को पुन्नाट बताया

१. दिण्णपडिम वीरचरिया-तियाल योगेसु णत्थि अहियारो सिद्धन्तरहंसाणवि
अज्जयणं देसविरदाणं ।
—वसु० श्रा० ३१२/५०

२. श्रावको वीरचर्याह प्रतिमातापनादिषु ।
स्यान्नाधिकारो सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि ॥

—सागरधर्मामृत ७/५०

गया है। साहित्यिक साक्ष्यों से हमें यह ज्ञात होता है कि हरिवंश पुराण के रचयिता जिनसेन और बृहत्कथा कोष के रचयिता हरिषेण पुन्नाट-संघीय थे। इसी पुन्नाट संघ का आगे चलकर काष्ठासंघ के पुन्नाटगच्छ के रूप में उल्लेख मिलता है। श्रीमती कुसुम पटोरिया के अनुसार काष्ठा संघ में इस संघ का अन्तर्भाव जिनसेन और हरिषेण के बाद ही कभी हुआ होगा। स्मरण रहे कि मूलसंघीय दिगम्बर परम्परा ने काष्ठासंघ को भी जैनाभास कहा है। यहाँ यह विचारणीय है कि प्रारम्भ में इन पुन्नाटसंघी आचार्यों की क्या मान्यताएँ थीं और यापनीय परम्परा से उनका क्या सम्बन्ध था।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने जिनसेनकृत हरिवंश पुराण और आचार्य हरिषेणकृत बृहत्कथा कोष में ऐसे अनेक तथ्यों को खोज निकाला है जिनके आधार पर ये ग्रन्थ स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, अन्यलिङ्गमुक्ति का निषेध करने वाली मूलसंघीय दिगम्बर परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के सिद्ध होते हैं।^१ इस सन्दर्भ में विशेष चर्चा तो हम यापनीय साहित्य के प्रसंग में करेंगे। यहाँ तो मात्र यह संक्षिप्त सूचना ही पर्याप्त है कि हरिवंशपुराण में यशोदा से महावीर का विवाह, नन्दीषेण मुनि का रोगी मुनि के लिए आहार लाना, बलदेव की स्वर्गगति आदि ऐसे अनेक तथ्य हैं जो उन्हें मूलसंघीय दिगम्बर परम्परा से पृथक् करते हैं और यापनीय परम्परा के निकट खड़ा कर देते हैं।^२ यद्यपि हरिवंशपुराण के प्रथम और अन्तिम सर्ग में आचार्यों की जो सूची दी गयी है उसके कारण पुन्नाटसंघ को यापनीय मानने में बाधा आती है। किन्तु श्रीमती कुसुम पटोरिया और पं० नाथूराम जी प्रेमी ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि ये अंश यापनीय साहित्य के दिगम्बर साहित्य में अन्तर्भूत होने के बाद प्रक्षिप्त हुए हैं।^३ हरिवंशपुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन के पुन्नाट संघ को यापनीय परम्परा से सम्बद्ध मानने के लिए प्रमुख आधार तो यह है कि बृहत्कथा कोष के रचयिता हरिषेण भी पुन्नाट संघीय हैं और उनके बृहत्कथा कोष में यापनीय तत्त्व भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। जैसे स्त्रीमुक्ति, स्त्री के द्वारा तीर्थङ्कर नामकर्म का उपाजन,

१. (अ) जैनसाहित्य और इतिहास पृ० १२२।
- (ब) यापनीय और उनका इतिहास पृ० १५१।
२. देखें—यापनीय और उनका साहित्य पृ० १५०।
३. वही, पृ० १५१।

गृहस्थमुक्ति तथा भगवती आराधना के आधार पर अपने कथा-कोष का निर्माण आदि ।^१ हरिषेण को यापनीय मानने में मात्र एक ही बाधा आती है, वह यह कि उन्होंने अपनी भद्रबाहु कथा में अर्धस्फालक काम्बल तीर्थ और यापनीय संघ की उत्पत्ति का असम्मानजनक रूप से उल्लेख किया है। श्रीमती कुसुम पटोरिया ने इस अंश को भी प्रक्षिप्त होने की संभावना प्रकट की है।^२ इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि दिगम्बर आचार्यों ने यापनीय सम्प्रदाय के साहित्य को अपने में समाहित करते समय उसमें अनेक प्रक्षेपण किये हैं। इस सबकी चर्चा हमने अलग से की है। बृहत्कथा-कोष में स्त्रीमुक्ति और गृहस्थ मुक्ति के उल्लेख इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि पुन्नाटसंघीय हरिषेण यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहे होंगे।^३

पुन्नाटसंघ के यापनीय परम्परा से सम्बद्ध मानने का एक आधार तो यह है कि यापनीयों का एक प्राचीन गण का नाम पुन्नागवृक्षमूलगण था। सम्भव है कि यही पुन्नाग गण आगे चलकर पुन्नाटसंघ बन गया हो। इस संदर्भ में प्रो० जोहरापुरकर का कथन विशेषरूप से द्रष्टव्य है— लिखते हैं—“शक संवत् ७३५ में कुविलाचार्य के प्रशिष्य तथा विजयकीर्ति के शिष्य अर्ककीर्ति को चाकीराज की प्रार्थना से बल्लभेन्द्र ने जाल नामक ग्राम दान में दिया था। अर्ककीर्ति ने अपने को यापनीय नन्दीसंघ तथा पुन्नागवृक्षमूल का कहा है। सम्भवतः पुन्नागवृक्षमूलगण पुन्नाटसंघ का ही रूपान्तरण है।^४ मेरी उनसे इस संदर्भ में यह भिन्नता है कि जहाँ वे पुन्नाटसंघ से पुन्नागवृक्षमूलगण का आविर्भाव मानते हैं, वहाँ मैं पुन्नाग वृक्षमूलगण से पुन्नाट संघ का आविर्भाव हुआ है—ऐसा मानता हूँ। यद्यपि पुन्नागवृक्षमूलगण के कुछ परवर्ती अभिलेख भी उपलब्ध हैं। सम्भावना यह है कि कर्नाटक से सौराष्ट्र जाने पर इस पुन्नागवृक्षमूलगण ने स्वतंत्ररूप से अपने को पुन्नाट संघ घोषित किया है। ये दोनों रचनाएँ सौराष्ट्र में ही निर्मित हैं। गणों के संघों में और संघों के गणों में परिवर्तित होने के अनेक उल्लेख हमें दक्षिण भारत की अचेलक परम्परा में मिलते हैं। पं० नाथूराम जी प्रेमी के अनुसार पुन्नाट कर्नाटक का प्राचीन नाम है और कर्नाटक के मुनि संघ को कर्नाटक के बाहर जाने पर यह

१. यापनीय और उनका साहित्य पृ० १५१-१५३।

२. वही पृ० १५३।

३. वही पृ० १५३।

४. भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २५७।

नाम प्राप्त हुआ। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि उत्तरी कर्नाटक में यापनीयों का प्राबल्य था। पुनः उत्तर भारत के अन्य प्रदेशों से यापनीयों का ही निकट सम्बन्ध था क्योंकि वे उत्तर भारत से ही दक्षिण में आये थे और उनका विहार उत्तर-पश्चिम तथा मध्यभारत में होता रहता था। हरिवंशपुराण और बृहत्कथा-कोष दोनों की ही रचना वद्वंमानपुर में हुई और यह वद्वंमानपुर सौराष्ट्र का बड़वाण ही मालूम होता है। यह सत्य है कि सौराष्ट्र श्वेताम्बरों का केन्द्र था। वहाँ यापनीयों का ही प्रवेश अधिक सम्भव था, क्योंकि मुनि के उत्सर्गलिङ्ग और अपवादलिङ्ग के प्रश्न को छोड़ कर दोनों में सैद्धान्तिक विवाद अल्पतम थे और निकटता अधिक थी। इस बात के भी अनेक प्रमाण हैं कि यापनीय परम्परा के मुनियों का आवागमन कर्नाटक से सौराष्ट्र तक प्राचीन काल में भी होता था। यापनीय संघ के षट्खण्डागम के रचयिता और स्त्रीमुक्ति के समर्थक पुष्पदंत एवं भूतबली का आचार्य धरसेन के पास सौराष्ट्र में कर्मशास्त्र के अध्ययन हेतु जाना इसका प्रबलतम प्रमाण है। यह स्पष्ट है कि श्वेताम्बरों और यापनीयों में इतनी दूरी नहीं थी, जितनी कि स्त्रीमुक्ति निषेधक मूलसंघीय दिग्म्बर परम्परा और श्वेताम्बर परम्परा में थी। आगमों और स्त्रीमुक्ति को स्वीकार करने के कारण यापनीयों और श्वेताम्बरों में अधिक विरोध नहीं था। मुझे तो ऐसा लगता है कि वे एक दूसरे को आगम, कर्मसाहित्य आदि का अध्ययन भी करवाते थे। धरसेन या तो सचेल परम्परा के थे या फिर यापनीय थे। उन्होंने ही कर्नाटक से पुष्पदन्त और भूतबली को सौराष्ट्र बुलाया था। अपने पुराने सम्बन्धों के कारण पुन्नाटसंघ गुजरात में अधिक विकसित एवं पल्लवित हुआ।

लाड़बागड़ गच्छ और यापनीय

पुन्नाटगच्छ के समान लाड़बागड़गच्छ को काष्ठासंघ का उपभेद बताया जाता है, किन्तु काष्ठा संघ में अन्तर्भाव के पूर्व यह गच्छ पुन्नाट संघ से सम्बन्धित रहा है। इस गच्छ का मुख्य प्रभाव क्षेत्र गुजरात, राजस्थान और मालवा रहा है। लाड़बागड़ गच्छ के उल्लेख वि० सं० १०५५ से वि० सं० १४९३ तक मिलते हैं अतः यह एक दीर्घजीवी गच्छ है।^१ शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि लाड़बागड़ गच्छ मूलसंघ का विरोधी था। इस गच्छ के भट्टारक चामर की पिच्छि रखते थे। आगे चलकर यह गच्छ भी पुन्नाट संघ के साथ काष्ठा संघ में अन्तर्भूत हो गया।

१. देखें—भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २५७-२६२।

यह संघ भी काष्ठा संघ के अनुरूप ही स्त्रियों की पुनः दीक्षा, क्षुल्लकों की वीरचर्या, कर्कश केश की पिच्छ और रात्री भोजन निषेध को षष्ठ व्रत के रूप में स्वीकृत करता रहा है। इससे भी इस संघ की यापनीय से कुछ निकटता तो सिद्ध होती है। लाड़वागड़गच्छ पुन्नाटसंघ से निकला है और पुन्नाटसंघ यापनीयों से निकला है अतः यह भी यापनीय मान्यताओं से प्रभावित रहा है और इसने काष्ठा संघ में अन्तर्भूत होकर उसकी मान्यताओं को भी प्रभावित किया है।^१

यापनीय और श्वेताम्बर

प्रथम अध्याय में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि यापनीय और श्वेताम्बर, उत्तर भारत के जैन श्रमण संघ की ही दो शाखाएँ हैं। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि यापनीय और श्वेताम्बर दोनों ही इस अविभक्त संघ में (ईसा की दूसरी शती तक) निमित्त आगमिक साहित्य के समान रूप से उत्तराधिकारी बने। साथ ही यह भी सत्य है कि प्राचीन काल में यापनीय और श्वेताम्बर दोनों एक ही साथ नग्न मूर्तियों की उपासना करते थे। दोनों के आगम और मन्दिर भी एक ही थे। इतना ही नहीं वे परस्पर एक दूसरे को ग्रन्थों का अध्ययन भी करवाते थे। मथुरा, सौराष्ट्र और उत्तरी कर्नाटक में उनकी साथ-साथ उपस्थिति भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती है। प्रारम्भ में दोनों में मात्र वस्त्र मुनि के लिए अपवाद लिग है या उत्सर्ग लिग है, इस प्रश्न को छोड़कर अन्य बातों में समानताएँ थीं। आगम ग्रन्थों के मान्य करने के कारण स्त्री मुक्ति, सबस्त्र मुक्ति, अन्यालिग मुक्ति महावीर का गर्भापहरण, महावीर का विवाह आदि अनेक प्रश्नों पर यापनीय और श्वेताम्बरों की दृष्टि समान ही थी। मुनि की अचेलता और पाणि-पात्र में भोजन इन दो बातों को छोड़कर मुनि आचार सम्बन्धी शेष नियमों में उन दोनों में लगभग समानता ही देखी जाती है। मूलस्रोत की एकता के कारण दोनों में समानताएँ तो हैं—किन्तु उन्होंने एक दूसरे को किसी रूप में प्रभावित किया है—ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अचेल परम्परा के इन विभिन्न संघों, गणों और गच्छों के यापनीयों के सम्बन्ध के तुलनात्मक विवेचन में हमने यह स्पष्ट रूप से देखा है कि मूलसंघ को छोड़कर जैनाभास के रूप में उल्लेखित जितने संघ हैं, वे किसी न किसी

रूप में यापनीयों से सम्बन्धित हैं और उनपर यापनीय मान्यताओं का कम या अधिक प्रभाव भी पड़ा है। उदाहरण के रूप में काष्ठासंघ और उसके पुन्नाट तथा लाडवागड़ गच्छों पर यापनीयों का स्पष्ट प्रभाव है। काष्ठासंघ में स्त्रियों की पुनर्दीक्षा, क्षुल्लकों की वीरचर्या आदि ऐसी अवधारणाएँ हैं, जो निश्चित ही काष्ठासंघ में अन्तर्भुक्त यापनीय परम्परा के अवशेष हैं। द्राविड़ संघ में भी जब यापनीयों के नन्दीसंघ का प्रवेश नन्दीगण के रूप में हुआ तो वे भी किसी सीमा तक यापनीयों से प्रभावित हुए होंगे। यद्यपि द्राविड़ संघ के साहित्य के सम्यक् अध्ययन के बिना यह कहना कठिन है कि उनपर कितना और किस सीमा तक यापनीयों का प्रभाव है। द्राविड़ संघ की बीज में जीव नहीं है, शीतल जल से स्नान करने, खेती करवाने आदि में दोष नहीं है—आदि मान्यताएँ मात्र उसमें प्रविष्ट शिथिलाचार की ही सूचक हैं। काष्ठासंघ में अन्तर्भुक्त माथुरसंघ यद्यपि मुख्यतः मूलसंघीय मान्यताओं से प्रभावित है। किन्तु उस पर काष्ठासंघ के माध्यम से आये यापनीय प्रभाव को भी पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता। यह सत्य है कि यापनीय संघ और मूलसंघ परस्पर एक दूसरे के विरोधी रहे हैं, और इसलिए मूलसंघ पर यापनीयों का प्रभाव नहीं देखा जाता। यद्यपि यापनीयों के कुछ गण कालान्तर में मूलसंघ में अन्तर्भूत होते हुए देखे जाते हैं, किन्तु उन्होंने मूलसंघ की मान्यताओं को प्रभावित किया ही—यह कह पाना कठिन है। इसके विपरीत उनपर मूलसंघ की मान्यताओं का अधिक प्रभाव हुआ है। यहाँ हमें मूलाचार, मूलराधना आदि ग्रन्थों को उनके साथ जुड़े हुए 'मूल' शब्द के आधार पर मूलसंघ से सम्बन्धित मानने की भ्रान्ति से बचना चाहिए। वस्तुतः ये ग्रन्थ मूलसंघ के न होकर यापनीयों के मूलगण से सम्बन्धित रहे हैं। जैसा कि हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं, अपने दक्षिण प्रवेश के समय यापनीय अपने को मूलगण, आर्यकुल और भद्रान्वय के नाम से ही सूचित करते थे। इस ग्रन्थ में यापनीय मान्यताओं की स्पष्ट उपस्थिति यह सूचित करती है कि ये ग्रन्थ यापनीय ही हैं और इनके साथ जुड़ा 'मूल' विशेषण यापनीयों के मूलगण का सूचक है यापनीयों के इन ग्रन्थों को अपना कर मूलसंघ ने इनमें अपनी मान्यताओं के अनुरूप यथाशक्य परिवर्तन भी किये, फिर भी इनमें कुछ ऐसे तत्त्व बने रहे जिसके कारण उनका यापनीय होना स्पष्ट हो जाता है। अतः चाहे मूलसंघ ने यापनीयों का विरोध ही किया हो और उनके साहित्यिक ऋण को स्वीकार भी नहीं किया हो, किन्तु

यापनीयों के साहित्य को अपनाकर मूलसंघ उनमें उपकृत तो अवश्य ही हुआ है। आज भी यदि यापनीय और कष्ठासंघीय साहित्य मूलसंघीय दिगम्बर परम्परा से अलग कर दिया जाय तो मात्र कुन्दकुन्द के ग्रन्थों, तत्त्वार्थ की कुछ टीकाओं और कुछ संस्कृत पुराण-ग्रन्थों के अतिरिक्त उनका अपना कुछ नहीं बचता। अन्य कुछ जो भी है वह यापनीयों के ग्रन्थों पर उनको मूलात्मा से पृथक होकर की गई टीकाएँ हैं। अगले अध्याय में हम यापनीय साहित्य पर विचार करेंगे।



यापनीय साहित्य

यापनीय परम्परा के मान्य ग्रन्थों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम वे ग्रन्थ जो उत्तरीय जैन संघ की अविभक्त धारा में यापनीयों के पृथक् होने के पूर्व से चले आ रहे थे और जिन्हें वे भी मान्य करते थे, अर्थात् जो उन्हें विरासत में प्राप्त थे। दूसरे वे ग्रन्थ जिन्हें यापनीय आचार्यों ने स्वयं निमित्त किया था या जिन पर उन्होंने टीकाएँ लिखी थीं। प्रथम प्रकार में मुख्यतः वे आगम ग्रन्थ आते हैं, जिन्हें यापनीय मान्य करते थे और जिनके उद्धरण सम्मानपूर्वक अपने मत के समर्थन में प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रन्थों में आचारांग, सूत्रकृतांग, ज्ञाताधर्म-कथा, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, निशीथ, जीतकल्प, व्यवहार, आवश्यक आदि आगम तथा इन आगमों की नियु-क्तियाँ, मरण-विभक्ति, संस्तारक, संग्रह, स्तुति (देविन्द थुई) प्रत्याख्यान (आतुर एवं महाप्रत्याख्यान) आदि प्रकीर्णक तथा कर्मप्रकृति (कम्मपयडी) आदि कर्म साहित्य के ग्रन्थ हैं। इन आगमिक ग्रन्थों के अध्ययन-अध्या-पन और स्वाध्याय की परम्परा यापनीयों में थी। दूसरे प्रकार के ग्रंथ वे हैं, जिनकी इन ग्रन्थों की विषय-वस्तु के आधार पर अथवा इनकी गाथाओं को लेकर अथवा स्वतन्त्र रूप से यापनीय आचार्यों ने स्वयं रचना की थी। इन ग्रन्थों में कसायपाहुड (पेज्जदोसपाहुड), षट्खण्डागम (छक्खण्डागम), कसायपाहुड पर यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र, शिवार्य को भगवती आराधना, बट्टकेर का मूलाचार, हरिषेण का बृहत्कथाकोश, जिनसेन का हरिवंशपुराण, शाकटायन-व्याकरण और उसकी स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलमुक्ति प्रकरण अपगजित सूरि की आराधना और दशवैकालिक पर विजयोदया टीका, स्वयंभू का पउम-चरिउ, जटारिसहनन्दि का वारांगचरित्र आदि उल्लेखनीय हैं। आचार्य हरिभद्र ने 'यापनीयतन्त्र' का भी उल्लेख किया है।

यापनीयों के आगम

यापनीय संघ के आचार्य आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, निशीथ, व्यवहार, आवश्यक आदि आगमों को मान्य करते थे। इस प्रकार आगमों के विच्छेद होने की जो दिगम्बर मान्यता है, वह उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। यापनीय आचार्यों द्वारा निमित्त किसी भी ग्रन्थ में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि अंगादि-आगम

विच्छिन्न हो गये हैं। वे आचारांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, कल्प आदि को अपनी परम्परा के ग्रन्थों के रूप में उद्धरित करते थे। इस सम्बन्ध में आदरणीय पं० नाथूराम प्रेमी का यह कथन द्रष्टव्य है—“अक्सर ग्रन्थकार किसी मत का खण्डन करने के लिए उसी मत के ग्रन्थों का हवाला दिया करते हैं और अपने सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं। परन्तु इस टीका (अर्थात् भगवती आराधना की विजयोदया टीका) में ऐसा नहीं है, इसमें तो टीकाकार ने अपने ही आगमों का हवाला देकर अचेलता सिद्ध की है।”^१

आगमों के अस्तित्व को स्वीकार कर उनके अध्ययन और स्वाध्याय सम्बन्धी निर्देश भी यापनीय ग्रंथ मूलाचार में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होते हैं। मूलाचार में चार प्रकार के आगम ग्रन्थों का उल्लेख है—(१) गणधर कथित, (२) प्रत्येकबुद्ध कथित, (३) श्रुतकेवलि कथित और (४) अभिन्न दशपूर्णी कथित।

इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि संयमी पुरुषों एवं स्त्रियों अर्थात् मुनियों एवं आर्यिकाओं के लिए अस्वाध्यायकाल में इनका स्वाध्याय करना वर्जित है किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका अस्वाध्यायकाल में पाठ किया जा सकता है, जैसे—आराधना (भगवती-आराधना), निर्युक्ति, मरणविभक्ति, संग्रह (पंचसंग्रह या संग्रहणोसूत्र) स्तुति (देविदत्थु), प्रत्याख्यान (आउर पच्चक्खाण एवं महापच्चक्खाण) धर्मकथा (ज्ञाताधर्मकथा) तथा ऐसे ही अन्य ग्रन्थ।^२

यहाँ पर चार प्रकार के आगम ग्रन्थों का जो उल्लेख हुआ है, उस पर थोड़ी विस्तृत चर्चा अपेक्षित है, क्योंकि मूलाचार की मूलगाथा में मात्र इन चार प्रकार के सूत्रों का उल्लेख हुआ है। उसमें इन ग्रन्थों का नाम-निर्देश नहीं है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दि न तो यापनीय परम्परा से सम्बद्ध थे और न उनके सम्मुख ये ग्रन्थ ही थे। अतः इस प्रसंग में

१. जैन साहित्य और इतिहास (पं० नाथूराम प्रेमी) पृ० ६१।

२. सुत्तं गणधर कथिदं तहेव पत्तेयबुद्ध कथिदं च।

सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्ण दसपुब्ब कथिदं च ॥

तं पढ्दिदुमसज्जाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।

एत्तो अण्णो गंधो कप्पदि पढ्दिदुं असज्जाए ॥

आराहणा निज्जुत्ती मरणविभत्ती संगहत्थुदिओ।

पच्चक्खाणावासयधम्मकाओ य एरिसओ ॥—मूलाचार, ५/८०-८२।

उनकी प्रत्येक-बुद्धकथित की व्याख्या पूर्णतः भ्रान्त ही है। मात्र यही नहीं, अगली गाथा की टीका में उन्होंने 'थुदि', 'पच्चक्खाण' एवं 'धम्मकहा' को जिन ग्रन्थ से समीकृत किया है वह तो और भी अधिक भ्रामक है। आश्चर्य है कि वे 'थुदि' से देवागमस्तोत्र और परमेष्ठिस्तोत्र को समीकृत करते हैं, जबकि मूलाचार का मन्तव्य अन्य ही है।^१ जहाँ तक गणधरकथित ग्रन्थों का प्रश्न है वहाँ लेखक का तात्पर्य आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अंग ग्रन्थों से है, प्रत्येकबुद्धकथित ग्रन्थ से तात्पर्य प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित से है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित प्रत्येकबुद्धकथित माने जाते हैं; ये ग्रन्थ प्रत्येकबुद्धकथित हैं, ऐसा स्पष्ट उल्लेख भी समवायांग, उत्तराध्ययननिर्युक्ति आदि में है।^२ श्रुतकेवलि कथित ग्रन्थों से तात्पर्य आचार्य स्वयम्भूरचित दशवैकालिक, आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) रचित बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध (आयार दसा), व्यवहार एवं निशीथ आदि से है तथा अभिन्न दशपूर्वी कथित ग्रन्थों से उनका तात्पर्य कम्मपयडी आदि 'पूर्व' साहित्य के ग्रन्थों से है। यहाँ स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि यदि यापनीय परम्परा में ये ग्रन्थ विच्छिन्न माने जाते तो फिर इनके स्वाध्याय का निर्देश लगभग ईसा की छठीं शताब्दी के ग्रन्थ मूलाचार में कैसे हो पाता। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसा की दूसरी शती में आचारांग धारियों की परम्परा भी समाप्त हो गई थी फिर वीर निर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात् भी आचारांग आदि के स्वाध्याय करने का निर्देश देने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। ज्ञातव्य है कि मूलाचार की यही गाथा कुन्दकुन्द के सुत्तपाहुड में भी मिलती है किन्तु कुन्दकुन्द आगमों के उपर्युक्त प्रकारों का उल्लेख करने के पश्चात् उनकी स्वाध्याय विधि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते हैं। जबकि मूलाचार स्पष्टतः उनके

१. देखिए—मूलाचार, ५/८०-८२ पर वसुनन्दि की टीका।

२. (अ) अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया।

बंधे मुवखे य कया छत्तीसं उत्तरज्जयणा ॥

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति ४।

(ब) पत्तेयबुद्धमिसिणो बीसं तित्थे अरिट्ठनेमिस्स।

पासस्स य पण्णदस वीरस्स विलीणमोहस्स ॥

—इसिभासियाई, संग्रहणी गाथा।

(स) पण्हावागरणदसासु णं ससमय-परसमय-पण्णवय-पत्तेअबुद्ध***।

—समवायांग ५४७।

स्वाध्याय का निर्देश करता है। मात्र यही नहीं मूलाचार में आगमों के अध्ययन की उपधान विधि अर्थात् तप पूर्वक आगमों के अध्ययन करने की विधि का भी उल्लेख है।^१ आगमों के अध्ययन की यह उपधान विधि श्वेताम्बरों में आज भी प्रचलित है। विधिमार्गप्रथा में इसका विस्तृत उल्लेख है।^२ इससे यह भी स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाता है कि मूलाचार उसी यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है, जो आगमों की विच्छिन्न नहीं मानती थी और जिसमें इन आगमों के अध्ययन, अध्यापन और स्वाध्याय की परम्परा थी। यापनीय परम्परा में ये अंग आगम और अंगबाह्य आगम प्रचलन में थे इसका प्रमाण यह है कि नवों शताब्दी में यापनीय आचार्य अपराजित भगवती-आराधना की टीका में न केवल इन आगमों से अनेक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं, अपितु स्वयं दशवैकालिक पर टीका भी लिख रहे हैं। मात्र यही नहीं, यापनीय पर्युषण के अवसर पर कल्पसूत्र का वाचन भी करते थे, ऐसा निर्देश स्वयं दिगम्बराचार्य कर रहे हैं।

क्या यापनीय आगम वर्तमान श्वेताम्बर आगमों से भिन्न थे ?

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि यापनीय के ये आगम कौन से थे ? क्या वे इन नामों से उपलब्ध श्वेताम्बर परम्परा के आगमों से भिन्न थे या यही थे ? हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों ने यह कहने का अतिसाहस भी किया है कि ये आगम वर्तमान श्वेताम्बर आगमों से सर्वथा भिन्न थे। पं० कैलाशचन्द्र जी ने ऐसा ही अनुमान किया है, वे लिखते हैं कि "जैन परम्परा में दिगम्बर और श्वेताम्बर के समान एक यापनीय संघ भी था। संघ यद्यपि नग्नता का पक्षपाती था तथापि श्वेताम्बरीय आगमों को मानता था। इस संघ के आचार्य अपराजित सूरि की संस्कृत टीका भगवती आराधना नामक प्राचीन ग्रन्थ पर है। जो मुद्रित भी हो चुकी है। उसमें नग्नता के समर्थन में अपराजित सूरि ने आगम ग्रन्थों से अनेक उद्धरण दिये हैं, जिनमें से अनेक उद्धरण वर्तमान आगमों में नहीं मिलते।"^३ आदरणीय पं० जी ने यहाँ जो 'अनेक' शब्द का प्रयोग किया है वह भ्रान्ति उत्पन्न करता है। मैंने अपराजित सूरि की टीका में उद्धृत आगमिक सन्दर्भों की श्वेताम्बर आगमों से तुलना करने पर स्पष्ट रूप से

१. मूलाचार, ५।२८२।

२. विधिमार्गप्रथा, योगविधि, पृ० ४९-५१।

३. जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका पृ० ५२५।

यह पाया है कि लगभग ९० प्रतिशत सन्दर्भों में आगमों की अर्धभागघी प्राकृत पर शौरसेनी प्राकृत के प्रभाव के फलस्वरूप हुए आंशिक पाठभेद को छोड़कर कोई अन्तर नहीं है। जहाँ किंचित् पाठभेद है वहाँ भी अर्थ भेद नहीं है। आदरणीय पंडित जी ने इस ग्रन्थ में भगवतीआराधना की विजयोदया टीका से आचारांग का एक उद्धरण प्रस्तुत करते यह दिखाया है कि यह वर्तमान आचारांग में नहीं मिलता है। उनके द्वारा प्रस्तुत वह उद्धरण निम्न है—

तथा चोक्तमाचारङ्गे^१—सुदं में* आउस्सत्तो* भगवदा एवमक्खादा इह खलु संयमाभिमुखा दुविहा इत्थी पुरिसा जादा हवंति । तं जहा सव्वस-मण्णागदे णो सव्वसमण्णागदे चेव । तत्थ जे सव्वसमण्णागदे थिणा* हत्थपाणीपादे सव्विदिय समण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थ धारिउं एवं परिहिउं एवं अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति ।^२

निश्चय ही उपर्युक्त सन्दर्भ आचारांग में इसी रूप में शब्दशः नहीं है किन्तु 'सव्वसमन्नागय' नामक पद और उक्त कथन का भाव आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के अष्टम अध्ययन में आज भी सुरक्षित है। अतः इस आधार पर यह कल्पना करना अनुचित होगा कि यापनीय परम्परा का आचारांग, वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध आचारांग से भिन्न था। क्योंकि अपराजित सूरि द्वारा उद्धरित आचारांग के अन्य सन्दर्भ आज भी श्वेताम्बर परम्परा के आचारांग में उपलब्ध हैं। अपराजित ने आचारांग के लोकविचय नामक द्वितीय अध्ययन के पञ्चम उद्देशक के उल्लेखपूर्वक जो उद्धरण दिया है, वह आज भी उसी अध्याय के उसी उद्देशक में उपलब्ध है। इसी प्रकार उसमें 'अहं पुण एवं जाणेज्ज उपातिकंते हेमते... ठविज्ज' जो यह पाठ आचारांग से उद्धृत है—वह भी वर्तमान आचारांग के अष्टम अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में है। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग तथा कल्प आदि के सन्दर्भों की भी यही लगभग यह स्थिति है। अब हम उत्तराध्ययन के सन्दर्भों पर विचार करेंगे। आदरणीय पंडित जी ने जैन साहित्य की पूर्वपीठिका में अपराजित की भगवती आराधना की टीका की निम्न दो गाथाएं उद्धृत की हैं—

१. देखें—(अ) भगवती आराधना, विजयोदयाटीका (सं० पं० कैलाशचन्द्र जी) गाथा—४२३ की टीका पृ० ३२०-३२७।

२. शुद्ध पाठ इस प्रकार होना चाहिए—

*में = मे, *आउस्सत्तो = आउस्संती, *थिणा = थिरांग।

परिचत्सेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए ।
 अचेलपवरे भिक्खू जिणरूपघरे सदा ॥
 सचेलगो सुखी भवादि असुखी वा वि अचेलगो ।
 अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खु न चितए ॥

पंडितजी ने इन्हें उत्तराध्ययन की गाथा कहा है और उन्हें वर्तमान उत्तराध्ययन में अनुपलब्ध भी बताया है ।^१ किन्तु जब हमने स्वयं पंडितजी द्वारा ही सम्पादित एवं अनुवादित भगवती अराधना की टीका देखी, तो उसमें इन्हें स्पष्ट रूप से उत्तराध्ययन की गाथायें नहीं कहा गया है । उसमें मात्र “इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति” कहकर इन्हें उद्धृत किया गया है । आदरणीय पंडितजी को यह भ्रान्ति कैसे हो गई हम नहीं जानते । पुनः ये गाथाएं भी चाहे शब्दशः उत्तराध्ययन में न हों, किन्तु भावरूप से तो दोनों ही गाथाएं और शब्दरूप से इनके आठ चरणों में से चार चरण तो उपलब्ध ही हैं । उपरोक्त उद्धृत गाथाओं से तुलना के लिए उत्तराध्ययन की ये गाथाएं प्रस्तुत हैं—

‘परिजुण्णेहि वत्थेहि होक्खामि त्ति अचेलए ।
 अदुवा ‘सचेलए होक्खं’ इदं भिक्खू न चिन्तए ॥
 ‘एगया अचेलए होइ सचले यावि एगया ।’
 एयं धम्महियं नच्चा नाणी नो परिदेवए ॥

—उत्तरा० २।१२-१३

जिस प्रकार श्वे० परम्परा में ही चूर्णि में आगत पाठों और शीलांक या अभयदेव की टीका में आगत पाठों में अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत की दृष्टि से पाठभेद रहा है, उसी प्रकार यापनीय परम्परा के आगम के पाठ माथुरी वाचना के होने के कारण शौरसेनी प्राकृत के आगम से युक्त रहे होंगे । किन्तु यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि प्राचीन स्तर के सभी आगम ग्रन्थ मूलतः अर्धमागधी के रहे हैं । उनमें जो महाराष्ट्री या शौरसेनी के शब्द रूप उपलब्ध होते हैं, वे परवर्ती हैं । विजयोदया के आचारांग आदि के सभी आगमिक सन्दर्भों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पूर्णतः शौरसेनी प्रभाव से युक्त हैं । मूलतः आचारांग उत्तराध्ययन आदि आगम तो निश्चित ही अर्धमागधी में रहे हैं । यहाँ दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं, प्रथम यही है कि माथुरी वाचना के समय उन पर शौरसेनी का प्रभाव आया हो और यापनीयों ने उसे

१. जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका, पृ० ५२६

मान्य रखा हो। दूसरे यह है कि यापनियों ने उन आगमोंका शौरसेनीकरण करके श्वे० परम्परा में मान्य आचारांग आदि से उनमें अपनी परम्परा के अनुरूप कुछ पाठभेद रखा हो। किन्तु इस आधार पर भी यह यह कहना उचित नहीं होगा कि यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा के आगम भिन्न थे। ऐसा पाठ-भेद तो एक ही परम्परा के आगमों में भी उपलब्ध है। स्वयं पं० कैलाशचन्द्र जी ने अपने ग्रन्थ जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका में जो अपराजितसूरि की भगवतीआराधना की टीका से आचाराङ्ग का उपयुक्त पाठ दिया है, उसमें और स्वयं उनके द्वारा सम्पादित भगवती आराधना की अपराजित सूरि की टीका में उद्धरित पाठ में ही अन्तर है—एक में 'थीण' पाठ है—दूसरे में 'थीरांग' पाठ है, जिससे अर्थ भेद भी होता है।^१ इसी प्रकार उत्तराध्ययन को गाथा के सन्दर्भ में जहाँ पूर्वपीठिका में 'परिचत्तेसु' पाठ है, वहाँ आराधना में 'परिणत्तेसु' पाठ है।^२ एक ही लेखक और सम्पादक की कृति में भी पाठ भेद हो तो भिन्न परम्पराओं में किञ्चित् पाठ भेद होना स्वाभाविक है, किन्तु उससे उनकी पूर्ण भिन्नता की कल्पना नहीं की जा सकती है। पुनः यापनीय परम्परा द्वारा उद्धृत आचारांग उत्तराध्ययन आदि के उपयुक्त पाठों की अचेलकत्व की अवधारणा का प्रश्न है, वह श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में आज भी उपलब्ध है।

इसी प्रसंग में उत्तराध्ययन की जो अन्य गाथायें उद्धृत की गई हैं, वे आज भी उत्तराध्ययन के २३ वें अध्ययन में कुछ पाठ भेद के साथ उपलब्ध हैं। आराधना की टीका में उद्धृत इन गाथाओं पर भी शौरसेनी का स्पष्ट प्रभाव है। यह भी स्पष्ट है कि मूल उत्तराध्ययन अर्धमागधी की रचना है। इससे ऐसा लगता है कि यापनीयों ने अपने समय के अविभक्त परम्परा के आगमों को मान्य करते हुए भी उन्हें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करने का प्रयास किया था, अन्यथा अपराजित की टीका में मूल आगमों के उद्धरणों का शौरसेनी रूप न मिलकर अर्धमागधी रूप ही मिलता है। इस सम्बन्ध में पं० नाथूराम जी प्रेमी का निम्न वक्तव्य विचारणीय है—

'श्वेताम्बर संप्रदाय मान्य जो आगम ग्रन्थ हैं, यापनीय संघ शायद उन सभी को मानता था, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि दोनों के आगमों में कुछ पाठ-भेद था और उसका कारण यह हो कि उपलब्ध वल्लभी वाचना के पहले की कोई वाचना (संभवतः माथुरी वाचना) यापनीय

संघ के पास थी, क्योंकि विजयोदया टीका में आगमों के जो उद्धरण हैं वे श्वेताम्बर आगमों में बिल्कुल ज्यों के त्यों नहीं कुछ पाठ-भेद के साथ मिलते हैं।^१ यापनीयों के पास स्कंदिल की माथुरी वाचना के आगम थे यह मानने में एक बाधा आती है, वह यह कि स्कंदिल की वाचना का काल वीर नि० ८२७-८४० अर्थात् ईसा की तृतीय शती का अन्त और चतुर्थशती का प्रारम्भ है, जबकि संघभेद उसके लगभग २०० वर्ष पहले हीघटित हो चुका था। अतः प्रो० ढाकी की यह मान्यता उचित ही है कि वह वाचना फल्गुमित्र की रही होगी। यापनीयों ने उसमें अपने मतवर्षों के अनुसार कुछ प्रक्षेप भी किया होगा।^२ यद्यपि फल्गुमित्र की परम्परा की इस वाचना के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि यापनीय आगम वही थे, जो उन नामों से आज श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध हैं। मात्र उनमें किञ्चित् पाठभेद था तथा भाषा की दृष्टि से शौरसेनी का प्रभाव अधिक था। यापनीय ग्रन्थों में आगमों के जो उद्धरण मिलते हैं उनमें कुछ तो वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में अनुपलब्ध हैं, कुछ पाठान्तरण के साथ उपलब्ध हैं। जो अनुपलब्ध हैं, उनके सम्बन्ध में दो विकल्प हैं—प्रथम यह कि मूलागमों के वे अंश बाद के श्वेताम्बर आचार्यों ने अगली वाचना में निकाल दिये और दूसरा यह कि वे अंश यापनीय मान्यता के प्रक्षिप्त अंश हैं। किन्तु प्रथम विकल्प में इसलिए विश्वास नहीं होता कि यदि परवर्ती वाचनाओं में वे सब बातें, जो उस युग के आचार्यों को मान्य नहीं थीं या उनको परम्परा से विरुद्ध थीं, निकाल दी गईं हों तो वर्तमान श्वेताम्बर आगमों में अचेलता के समर्थक सभी अंश निकाल दिये जाने चाहिए थे। मुझे ऐसा लगता है कि आगमों की वाचनाओं (संकलन) के समय केवल वे ही अंश नहीं आ पाये थे जो विस्मृत हो गये थे अथवा पुनरावृत्ति से बचने के लिए 'जाव' पाठ देकर वहाँ से हटा दिये गये थे। मान्यता भेद के कारण कुछ अंश जानबूझकर निकाले गये हों, ऐसा कोई भी विश्वसनीय प्रमाण हमें नहीं मिलता। किन्तु यह हो सकता है कि वे अंश किसी अन्य गण की वाचना के रहे हों, जिनके प्रतिनिधि उस वाचना में सम्मिलित नहीं थे। कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं कि विभिन्न

१. जैन साहित्य और इतिहास पृ० ६०

२. प्रो० मधुसूदन ढाकी से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर

गणों में वाचना-भेद या पाठभेद होता था। विभिन्न गणों के निर्माण का एक कारण वाचना भेद भी माना गया है। यह कहा जाता है कि महावीर के ग्यारह गणधरों की नौ वाचनाएँ थीं अर्थात् महावीर के काल में भी वाचना-भेद था। क्योंकि प्रत्येक वाचनाचार्य को अध्यापन शैली भिन्न होती थी। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में शब्द के स्थान पर अर्थ पर बल दिया जाता था, तीर्थङ्कर को अर्थ का प्रवर्तक माना गया था जबकि वैदिक परम्परा शब्द प्रधान थी। यही कारण है कि जैनों ने यह माना कि चाहे शब्द भेद हो, अर्थ भेद नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि वाचना भेद बढ़ते गये। हमें यापनीय ग्रन्थों में उपलब्ध आगमिक उद्धरणों का वर्तमान आगमों से जो पाठभेद मिलता है उनका कारण वाचना-भेद है, अर्थ भेद नहीं, क्योंकि ऐसे अनुपलब्ध अंशों या पाठभेदों में विषय प्रतिपादन को दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। किन्तु इस सम्भावना से पूरी तरह इनकार नहीं किया जा सकता कि स्वयं यापनीयों ने भी अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए कुछ अंश जोड़े हों अथवा परिवर्तित किये हों। श्वेताम्बर परम्परा में भी बलभी वाचना में या उसके पश्चात् भी आगमों में कुछ अंश जुड़ते रहे हैं—इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। हम पण्डित कैलाशचन्द्र जी के इस कथन से सहमत हैं कि बलभी वाचना के समय और उसके बाद भी आगमों के स्वरूप में कुछ परिवर्तन हुए हैं। किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त 'बहुत' शब्द आपत्ति जनक है फिर भी ध्यान रखना होगा कि इनमें प्रक्षेप ही अधिक हुआ है, निकाला कुछ नहीं गया है। किन्तु ऐसा प्रक्षेप मात्र श्वेताम्बरों ने किया है और दिगम्बरों तथा यापनीयों ने नहीं किया है—यह नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि यापनीय परम्परा ने भी आगमों में अपने अनुकूल कुछ अंश प्रक्षिप्त किये हों। मूलाचार, भगवती आराधना आदि ग्रन्थों को देखने से ऐसा स्पष्ट लगता है कि उन्होंने अर्धमागधी आगम साहित्य को ही सैकड़ों गाथायें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करके अपने इन ग्रन्थों की रचना की है, मूलाचार का लगभग आधा भाग प्रकीर्णकों, नियुक्तियों एवं आगमों की गाथाओं से निर्मित है यह तो निश्चित है कि प्राचीन आगम-साहित्य अर्धमागधी में था। यापनीय ग्रन्थों में उपलब्ध आगमिक सन्दर्भों के सदैव शौरसेनी रूप ही मिलते हैं, जो इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उन्होंने अर्धमागधी आगम

साहित्य को शीरसेनी में अपने ढंग से रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया और इस प्रयत्न में उन्होंने अपने मत की पुष्टि का भी प्रयास किया ।

अतः इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यापनीय आचार्यों ने भी मूल आगमों के साथ छेड़छाड़ की और अपने मत की पुष्टि हेतु उन्होंने उनमें परिवर्धन और प्रक्षेप भी किये ।

मात्र श्वेताम्बर और यापनीय ही आगमों के साथ छेड़छाड़ करने के दोषी नहीं हैं, बल्कि दिगम्बर आचार्य और पण्डित भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे हैं । यापनीय ग्रन्थों में दिगम्बर परम्परा के द्वारा जो प्रक्षेपण और परिवर्तन किये गये हैं वे तो और भी अधिक विचारणीय हैं; क्योंकि इनके कारण अनेक यापनीय ग्रन्थों का यापनीय स्वरूप ही विकृत हो गया है । हमारे दिगम्बर विद्वान् श्वेताम्बर ग्रन्थों में प्रक्षेपण की बात तो कहते हैं किन्तु वे इस बात को विस्मृत कर जाते हैं कि स्वयं उन्होंने यापनीय और अपने ग्रन्थों में भी किस प्रकार हेर-फेर किये हैं । इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर दिगम्बर विद्वानों का मत प्रस्तुत करना चाहूँगा ।

पं० कैलाशचन्द्र जी अपने द्वारा सम्पादित 'भगवती आराधना' की प्रस्तावना में लिखते हैं कि—“विजयोदया के अध्ययन से प्रकट होता है कि उनके सामने टीका लिखते समय जो मूलग्रन्थ उपस्थित था, उसमें और वर्तमान मूल (ग्रन्थ) में अन्तर है । अनेक गाथाओं में वे शब्द नहीं मिलते जो टीकाओं में हैं ।”

इससे स्पष्ट होता है कि जब दिगम्बर आचार्यों ने इस यापनीय ग्रन्थ को अपने में समाहित किया होगा तो इसकी मूल गाथाओं के शब्दों में भी हेर-फेर कर दिया होगा । यदि पं० कैलाशचन्द्र जी ने उन सभी स्थलों का जहाँ उन्हें पाठभेद प्रतीत हुआ, निर्देश किया होता तो सम्भवतः हम अधिक प्रामाणिकता से कुछ बात कह सकते थे । टीका और मूल के सारे अन्तरों को हम भी अभी तक खोज नहीं पाये हैं । अतः अभी तो उनके मत को ही विश्वसनीय मानकर संतोष करेंगे । स्वयंभू के रिट्टनेमिचरिउ (हरिवंसपुराण) में भी इसी प्रकार की छेड़-छाड़ हुई थी । इस सन्दर्भ में पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—“इसमें तो संदेह नहीं है कि इस अन्तिम अंश में मुनि जसकित्ति (यशकीर्ति) का भी हाथ है परन्तु यह

कितना है यह निर्णय करना कठिन है। बहुत कुछ सोच-विचार के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि मुनि जसकित्ति को इस ग्रन्थ की कोई ऐसी जीर्ण-शीर्ण प्रति मिली थी जिसके अन्तिम पत्र नष्ट-भ्रष्ट थे और शायद अन्य प्रतियाँ दुर्लभ थीं, इसलिए उन्होंने गोपगिरि (ग्वालियर) के समीप कुमरनगरी के जैन मन्दिर में व्याख्यान करने के लिए इसे ठोक किया अर्थात् जहाँ-जहाँ जितना अंश पड़ा नहीं गया था या नष्ट हो गया था, उसको स्वयं रचकर जोड़ दिया और जहाँ-जहाँ जोड़ा वहाँ-वहाँ अपने परिश्रम के एवज में अपना नाम भी जोड़ दिया।^१ इससे स्पष्ट है कि कुछ दिग्म्बर आचार्यों ने दूसरों की रचनाओं को भी अपने नाम पर चढ़ा लिया।

इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ति में भी पर्याप्त रूप से मिलावट हुई है। जहाँ 'तिलोयपण्णत्ति का ग्रन्थ परिमाण ८००० श्लोक बताया गया है वहाँ वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का श्लोक परिणाम ९३४० है, अर्थात् लगभग १३४० श्लोक अधिक हैं। पं० नाथूराम जी प्रेमी के शब्दों में—ये इस बात के संकेत देते हैं कि पीछे से इसमें मिलावट की गयी है। इस संदर्भ में पं० फूलचन्द्र शास्त्री के जैनसाहित्य भास्कर भाग-११, अंक प्रथम में प्रकाशित 'वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचनाकार का विचार' नामक लेख के आधार पर वे लिखते हैं कि—“उससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ अपने असल रूप में नहीं रहा है। उसमें न केवल बहुत सा—लगभग एक अष्टमांश प्रक्षिप्त है, बल्कि बहुत-सा परिवर्तन और परिशोध भी किया गया है, जो मूल ग्रन्थ कर्ता के अनुकूल नहीं है।”^२ इसी प्रकार कसाय-पाहुडसुत्त की मूल गाथाएँ १८० थीं, किन्तु आज उसमें २३३ गाथाएँ मिलती हैं—अर्थात् उसमें ५३ गाथाएँ परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रक्षिप्त हैं। यही स्थिति कुन्दकुन्द के समयसार, बटुकेरी के मूलाचार आदि की भी है। प्रकाशित संस्करणों में भी गाथाओं की संख्याओं में बहुत अधिक अन्तर है समयसार के ज्ञानपीठ के संस्करण में ४१५ गाथाएँ हैं तो अजिताश्रम संस्करण में ४३७ गाथाएँ। मूलाचार के दिग्म्बर जैन-ग्रन्थमाला के संस्करण में १२५२ गाथाएँ हैं तो फलटण के संस्करण में

१. जैनसाहित्य और इतिहास (द्वितीय संस्करण) पृ० २०२।

२. जैनसाहित्य और इतिहास (द्वि० सं०) पृ० ११-१२ और [सूचना प्रेमीजी के अनुसार तिलोयपण्णत्ति में कुछ बातें घबलादि से अन्यथा देखकर उसका संशोधन और परिवर्धन करके उसे वर्तमान रूप दे दिया हो पृ० १६]

१४१४ गाथाएँ हैं अर्थात् १६२ गाथाएँ अधिक हैं, यह सब इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने श्वेताम्बरों और यापनीयों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रक्षेप एवं परिवर्तन किया है। इन उल्लेखों के अतिरिक्त वर्तमान में भी इस प्रकार के परिवर्तनों के प्रयास हुए हैं। जैसे 'धवला' के सम्पादन के समय मूल ग्रन्थ षट्खण्डागम से 'संजद' पद को हटा देना, ताकि उस ग्रन्थ के यापनीय स्वरूप या स्त्री मुक्ति के समर्थक होने का प्रमाण नष्ट किया जा सके। इस संदर्भ में दिगम्बर-समाज में कितनी ऊहापोह मची थी और पक्ष-विपक्ष में कितने लेख लिखे गये थे, यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है। यह भी सत्य है कि अन्त में मूलप्रति में 'संजद' पद पाया गया। तथापि ताम्रपत्र वाली प्रति में वह पद नहीं लिखा गया, संभवतः भविष्य में वह एक नई समस्या उत्पन्न करेगा। इस सन्दर्भ में भी मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर दिगम्बर परम्परा के मान्य विद्वान् पं० कैलाशचन्द्र जी के शब्दों को ही उद्धृत कर रहा हूँ। पं० बालचन्द्र शास्त्री की कृति 'षट्खण्डागम-परिशीलन के अपने प्रधान सम्पादकीय में वे लिखते हैं—'समूचा ग्रन्थ प्रकाशित होने से पूर्व ही एक और विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रथम भाग के सूत्र ९३ में जो पाठ हमें उपलब्ध था, उसमें अर्थ-संगति की दृष्टि से 'संजदासंजद' के आगे 'संजद' पद जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई, किन्तु इससे फलित होने वाली सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं से कुछ विद्वानों के मन आलोडित हुए और वे 'संजद' पद को वहाँ जोड़ना एक अनधिकार चेष्टा कहने लगे। इस पर बहुत बार मौखिक शास्त्रार्थ भी हुए और उत्तर-प्रत्युत्तर रूप लेखों की श्रृंखलाएँ भी चल पड़ीं, जिनका संग्रह कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों में प्रकाशित भी हुआ। इसके मौखिक समाधान हेतु जब सम्पादकों ने ताड़पत्रीय प्रतियों के पाठ की सूक्ष्मता से जाँच करायी तब पता चला कि वहाँ की दोनों भिन्न प्रतियों में हमारा सुझाया गया संजद पद विद्यमान है। इससे दो बातें स्पष्ट हुईं—एक तो यह कि सम्पादकों ने जो पाठ-संशोधन किया है, वह गम्भीर चिन्तन और समझदारी पर आधारित है। और दूसरी यह कि मूल प्रतियों से पाठ मिलान की आवश्यकता अब भी बनी हुई है, क्योंकि जो पाठान्तर मूडबिद्री से प्राप्त हुए थे और तृतीय भाग के अन्त में समाविष्ट किये गये थे उनमें यह संशोधन नहीं मिला।''

१. (अ) षट्खण्डागम-परिशीलन-पं० बालचन्द्र शास्त्री, प्रधानसम्पादकीय
 (ब) पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन ग्रन्थ खण्ड ५ षट्खण्डागम में संजद पद पर विमर्श—पृ० १८।

मेरे उपर्युक्त लेखन का तात्पर्य किसी की भावनाओं को ठेस पहुँचाना नहीं है किन्तु मूलग्रन्थों के साथ ऐसी छेड़-छाड़ करने के लिए श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय—सभी समानरूप से दोषी हैं। जहाँ श्वेताम्बरों ने अपने ही पूर्व अविभक्त परम्परा के आगमों से ऐसी छेड़-छाड़ की, वहाँ यापनीयों ने श्वेताम्बर मान्य आगमों और आगमिक व्याख्याओं से और दिगम्बरों ने यापनीय परम्परा के ग्रन्थों से ऐसी ही छेड़-छाड़ की।

निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की छेड़-छाड़ प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक होती रही है। कोई भी परम्परा इस संदर्भ में पूर्ण निर्दोष नहीं कही जा सकती। अतः किसी भी परम्परा का अध्ययन करते समय यह आवश्यक है कि हम उन प्रक्षिप्त अथवा परिवर्धित अंशों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें, क्योंकि इस छेड़ छाड़ में कहीं कुछ ऐसा अवश्य रह जाता है, जिससे यथार्थता को समझा जा सकता है।

परिवर्धनों और परिवर्तनों के बावजूद भी श्वेताम्बरों आगमों की एक विशेषता है, वह यह कि वे सब बातें भी जिनका उनकी परम्परा से स्पष्ट विरोध है, उनमें यथावत् रूप में सुरक्षित हैं। यही कारण है कि श्वेताम्बर आगम जैन धर्म के प्राचीन स्वरूप की जानकारी देने में आज भी पूर्णतया सक्षम है। आवश्यकता है निष्पक्ष भाव से उनके अध्ययन की। क्योंकि उनमें बहुत कुछ ऐसा मिल जाता है, जिसमें जैनधर्म के विकास और उसमें आये परिवर्तनों को समझा जा सकता है। यही बात किसी सीमा तक यापनीय और दिगम्बर ग्रन्थों के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है, यद्यपि श्वेताम्बर साहित्य की अपेक्षा वह अल्प ही है। प्रक्षेप और परिष्कार के बाद भी समग्र जैन साहित्य में बहुत कुछ ऐसा है, जो सत्य को प्रस्तुत करता है, किन्तु शर्त यही है कि उसका अध्ययन ऐतिहासिक और सम्प्रदाय-निरपेक्ष दृष्टि से हो; तभी हम सत्य को समझ सकेंगे। इस सन्दर्भ में पं० नाथूराम जो प्रेमी, प्रो० एन०एन० उपाध्ये, डा० हीरालाल जी जैन, पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी, पं० दलसुखभाई मालवाणिया ने जो तटस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था वह आज भी हमारा मार्गदर्शन बन सकता है। अग्रिम पृष्ठों में हम उन्हीं विद्वानों की तटस्थ दृष्टि के आधार पर यापनीय साहित्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करेंगे।

- (स) पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ, परिशिष्ट 'संज्ञ' पाठ के सम्बन्ध में पं० आचार्य शान्तिसागर जी का अन्तिम अभिमत पृ० ५७४-५७६।

किसी ग्रन्थ को यापनीय मानने का आधार

इस चर्चा के सन्दर्भ में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि किसी कृति को यापनीय मानने का आधार क्या होना चाहिए?—डॉ० कुसुम पटोरिया ने श्वेताम्बर अथवा दिगम्बर परम्परा की प्रचलित मान्यताओं से मतभेद रखने वाले सभी ग्रन्थों को यापनीय परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उन्होंने कसायपाहुड और षट्खण्डागम जैसे यापनीय ग्रन्थ छोड़ भी दिये हैं किन्तु मेरी दृष्टि में मात्र यही आधार उचित नहीं है क्योंकि श्वेताम्बर और अचेलक—दोनों ही परम्पराओं के अवान्तर संघों, गणों या गच्छों में भी न केवल आचार के सामान्य प्रश्नों को लेकर, अपितु ज्ञान-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा, कर्म-सिद्धान्त और सृष्टि-मीमांसा की सूक्ष्म विवेचनाओं के सम्बन्ध में अनेक अवान्तर मतभेद देखे जाते हैं, मात्र यही नहीं, एक ही ग्रन्थ में दो भिन्न-भिन्न मान्यताओं के निर्देश भी प्राप्त होते हैं। अतः मात्र इसी आधार पर कि उस ग्रन्थ की मान्यताएँ प्रचलित श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा से भिन्न हैं, उसे यापनीय नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में भी अनेक अवान्तर मतभेद रहे हैं, उदाहरण के रूप में सिद्धसेन और जिनभद्र केवलज्ञान और केवलदर्शन के क्रमभाव या योगपद्य को लेकर मतभेद रखते हैं। षट्खण्डागम की धवला टीका में भी दिगम्बर परम्परा के ही अनेक अवान्तर मतभेदों की विस्तृत चर्चा है। कसायपाहुडुत्त और उसकी चूर्ण में भी ऐसे मतभेद देखे जाते हैं। अतः प्रचलित मान्यताओं से मतभेद मात्र किसी ग्रन्थ के यापनीय होने का आधार नहीं है। मेरी दृष्टि में किसी ग्रन्थ को यापनीय मानने के लिए निम्न बातों पर विचार करना आवश्यक है—

(१) क्या उस ग्रन्थ में अचेलता पर बल देते हुए भी स्त्री-मुक्ति और केवली-भुक्ति के निर्देश उपलब्ध हैं ?

(२) क्या वह ग्रन्थ स्त्री के छेदोपस्थापनीय चारित्र्य अर्थात् महाव्रतारोपण का समर्थन करता है ?

(३) क्या उस ग्रन्थ में गृहस्थ अथवा अन्य परम्परा के भिक्षु आदि के मुक्तिगमन का उल्लेख है ?

(४) क्या उस ग्रन्थ में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य अर्गादि आगमों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और अपने मत के समर्थन में उनके उद्धरण दिये गये हैं ?

(५) क्या ग्रन्थकार श्वेताम्बर आगमों में उपलब्ध महावीर के गर्भा-पहार, विवाह, आदि तथ्यों का उल्लेख करता है ?

(६) क्या ग्रन्थकार ने अपने गण अन्वयादि का उल्लेख किया है और वे गण क्या यापनीयों आदि से सम्बन्धित हैं ?

(७) क्या उस ग्रन्थ का सम्बन्ध उन आचार्यों से है, जो श्वेताम्बर और यापनीय के पूर्वज रहे हैं ?

(८) क्या ग्रन्थ में ऐसा कोई विशिष्ट उल्लेख है, जिसके आधार पर उसे यापनीय परम्परा से सम्बन्धित माना जा सके ?

(९) क्या उस ग्रन्थ में क्षुल्लक को गृहस्थ न मानकर अपवाद लिग-धारी मुनि कहा गया है ?

(१०) क्या उस ग्रन्थ में रुग्ण या वृद्ध मुनि को पात्रादि में आहार लाकर देने का उल्लेख है ?

यापनीय आचार्यों द्वारा रचित आगमिक साहित्य

यापनीयों ने न केवल परम्परागत आगम साहित्य को स्वीकार किया, अपितु स्वयं भी जैनधर्म के विविध पक्षों पर विपुल मात्रा में साहित्य का सृजन किया। आज दिगम्बर परम्परा में आगम रूप में मान्य, जो साहित्य है, उसमें अधिकांश तो यापनीय परम्परा द्वारा ही सृजित है। षट्खण्डागम, कसायपाहुड, भगवती आराधना, मूलाचार जैसे महत्त्वपूर्ण शौरसेनी आगमिक ग्रन्थ यापनीय आचार्यों की ही कृतियाँ हैं। हम अग्रिम पृष्ठों पर सर्वप्रथम यापनीय आगमिक साहित्य पर विचार करेंगे। उसके बाद यापनीय कथा-साहित्य एवं अन्य लाक्षणिक ग्रन्थों की चर्चा करेंगे।

कसायपाहुड सूक्त

अचेल परम्परा और शौरसेनी आगमिक साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में कसायपाहुड और षट्खण्डागम को रखा जा सकता है। इनमें भी कसायपाहुड अपेक्षाकृत प्राचीन और पूर्ववर्ती माना जाता है। कसायपाहुड के कर्ता कौन हैं ? इसका स्पष्ट उल्लेख कसायपाहुड में नहीं है। कसायपाहुड पर यतिवृषभ की चूर्णी उपलब्ध है किन्तु चूर्णिसूत्रों में भी उसके कर्ता का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। कसायपाहुड के कर्ता के रूप में गुणधर का और चूर्णिकार के रूप में यतिवृषभ का उल्लेख सर्वप्रथम जयधवलाकार ने किया है। आचार्य गुणधर कौन थे और किस परम्परा के थे इसकी सूचना हमें न तो प्राचीन श्वेताम्बर आगमिक स्थ-धिरावलियों से और न ही दिगम्बर पट्टावलियों से प्राप्त होती है। जय-

धवला में भी मात्र यही कहा गया है कि आचार्य परम्परा से आती हुई ये सूत्रगाथाएँ आर्य मंक्षु और नागहस्ती को प्राप्त हुई^१, पुनः उन दोनों के पाद-मूल में बैठकर गुणधर आचार्य के मुख कमल से निकली हुयी उन १८० गाथाओं के अर्थ को सम्यक् प्रकार से श्रवण कर यतिवृषभ भट्टारक ने प्रवचन वात्सल्य के लिए चूर्णिसूत्रों की रचना की।^२ इस कथन से इतना तो अवश्य फलित होता है कि गुणधर को यह कृति आर्य मंक्षु और नागहस्ती के माध्यम से ही परवर्ती आचार्यों को प्राप्त हुई है। आर्य मंक्षु और नागहस्ती का उल्लेख दिग्म्बर परम्परा की किसी भी प्राचीन पट्टावली में उपलब्ध नहीं होता जबकि श्वेताम्बर परम्परा के नन्दीसूत्र के वाचक वंश की स्थविरावली में आर्य मंक्षु को श्रुतसागर का पारंगत^३ और नागहस्ती को व्याकरण अर्थात् प्रश्नव्याकरण, करणभंगी अर्थात् पिण्डशुद्धि के ज्ञाता होने के साथ-साथ कर्मप्रकृति का प्रधान रूप से ज्ञाता भी कहा गया है।^४ इन्हें आर्य नन्दिल का परवर्ती माना जाता है। नागहस्ती आर्य मंक्षु के प्रशिष्य थे अथवा परम्परा-शिष्य थे, यह विवादास्पद है। ज्ञातव्य है कि नन्दीसूत्र एवं माथुरीवाचना की स्थविरावली^५ में आर्य मंक्षु (मंगु) आर्य नन्दिल और आर्य नागहस्ती (नागहत्थि) के उल्लेख हैं; उसके अनुसार नागहस्ती आर्य मंक्षु के प्रशिष्य प्रतीत होते हैं—क्योंकि उसमें आर्य मंक्षु के पश्चात् आर्य नन्दिल और उसके पश्चात् आर्य नागहस्ती का उल्लेख है। किन्तु अन्य पट्टावलियों के आधार पर वे आर्य मंक्षु के

१. गुणहर-व्यवण-विणिगय गाहाणत्थोऽवहारियो ।

सब्बो जेणज्जमंखुण सो सणागहत्थी वरं देऊ ।

जयधवला (मंगलाचरण) ७

२. जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स ।

सो वित्तिमुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥

वही (मंगलाचरण) ८

३. भणगं करगं झरगं पभावगं णाण-दंसण गुणाणं ।

वंदामि अज्जमंगुं मुयसागरपारंगं धीरं ॥

(नन्दीसूत्र) २८

४. वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं ।

वागरण-करणभंगिय-कम्मप्पयडीपहाणाणं ॥

वही ३०

५. देखें—पट्टावलीपरागसंग्रह (कल्याणविजय) पृ० ४६ ।

परम्परा शिष्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि दोनों के बीच सात अन्य आचार्यों का उल्लेख हुआ है।^१ कल्पसूत्र स्थविरावली मंक्षु (मंगु) का उल्लेख नहीं करती है उसमें मात्र नागहस्ती का नाम है, यह विवाद का विषय हो सकता है किन्तु इतना सुनिश्चित है कि आर्य नागहस्ती 'कर्म प्रकृति' के विशेष ज्ञाता थे और उनके माध्यम से ही 'कर्म प्रकृति' के अध्ययन की परम्परा आगे बढ़ी। आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती का समय श्वेताम्बर पट्टावलीयों तथा मथुरा के अभिलेख के अनुसार ईसा को प्रथम शताब्दी का अन्त और द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित होता है।^२ मथुरा के हुविष्ककालीन अभिलेखों में भी आर्य नन्दिल, नन्दिक और आर्यहस्ती के उल्लेख मिलते हैं।^३ इसी प्रकार मथुरा के एक अभिलेख में आर्य मंक्षु का भी उल्लेख है, इसमें इन्हें कोट्टियगण, वैरा शाखा और ठानीय कुल का बताया गया है।^४ इन सबका उल्लेख कल्पसूत्र पट्टावली में भी है। वस्तुतः उसमें कुल को बानिय कहा गया है। अतः कल्पसूत्र और नन्दिसूत्र में उल्लिखित आर्य मंक्षु और अभिलेख में उल्लेखित आर्य मंक्षु एक ही हैं। इससे सिद्ध होता है कि कसायपाहुड सुत्त का सम्बन्ध इसी परम्परा से था। कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार इस वज्री (वड्डरा) शाखा में शिवभूति और आर्यकृष्ण हुए। आर्यकृष्ण (अज्जकण्ह) का उल्लेख भी मथुरा के अभिलेखों में है। आवश्यक मूलभाष्य में इन्हीं आर्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति से बोटिक परम्परा का उद्भव बताया गया है। यही बोटिक परम्परा आगे चलकर यापनीय कहलायो। कसायपाहुड इसी बोटिक या यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है। यद्यपि यह माना जाता है कि आचार्य गुणधर आर्य मंक्षु के पूर्व हुए थे किन्तु दिगम्बर परम्परा में गुणधर नामक किसी आचार्य का अस्तित्व ही विवादास्पद है। क्योंकि उनके सम्बन्ध में दसवीं शती के जयधवला के इस उल्लेख के अतिरिक्त अन्य कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। वैसे जयधवला में जो यह कहा गया है कि गुणधर के मुखकमल से निकली ये गाथाएँ आर्य मंक्षु और नागहस्ती के द्वारा अवधारण की गईं। इससे फलित होता है कि वस्तुतः मूल में गुणधर (गणहर) ही होगा और आगे चलकर भ्रान्तिवश उसे गुणधर मान

१. देखें—पट्टावली परागसंग्रह पृ० ४७।

२. देखें—वही, पृ०

३. जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेख क्रमांक ४१

४. वही, भाग २, लेख क्रमांक ५४

लिया गया होगा। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा में खण्डिलगच्छ की पट्टावली में आर्य कालक (द्वितीय) के गुरु के रूप में गुणन्धर का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार पल्लोवालगच्छीय पट्टावली में देवद्विगणो के समकालीन सोमदेव के शिष्य गुणन्धर का उल्लेख है^१ किन्तु इस पट्टावली की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है। पुनः ये गुणन्धर पर्याप्त परवर्ती हैं। अतः यदि गुणन्धर नामक कोई आचार्य हुए हैं, तो वे उसी परम्परा के पूर्वाचार्य हैं, जिससे आर्य मंक्षु, आर्य नन्दिल, आर्य नागहस्ती और आर्य कालक हुए हैं। इन सब विवादों से भी परे यह तो निर्विवाद है कि यह सिद्धान्त ग्रन्थ आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती को प्राप्त था। आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती स्पष्ट रूप से आर्यकृष्ण और शिवभूति जिनके समय में सचेल और अचेल (बोटिक=यापनीय) परम्परा का विभाजन हुआ, के लगभग समकालिक होंगे क्योंकि मथुरा के अभिलेखों में आर्यमंक्षु, आर्यहस्ति और आर्यकृष्ण के उल्लेख हैं। अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर इतना निश्चित है कि ये सभी ईस्वी सन् की प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी में हुए हैं। श्वेताम्बर परम्परा में कोई भी शौरसेनी प्राकृत की रचना उपलब्ध नहीं है। अतः कसायपाहुड के वर्तमान स्वरूप को श्वेताम्बर परम्परा की रचना तो नहीं कहा जा सकता, जैसा कि कल्याण विजय जी ने माना है। वस्तुतः प्रस्तुत ग्रन्थ आर्य मंक्षु और नागहस्ती की उस अविभक्त परम्परा में निर्मित हुआ है, जिसका उत्तराधिकार समान रूप से यापनीयों को भी प्राप्त हुआ था। सम्भावना यही है कि आर्य मंक्षु और नागहस्ती से अध्ययन करके यतिवृषभ ने ही इसे शौरसेनी प्राकृत का वर्तमान स्वरूप प्रदान कर चूर्णसूत्र की रचना की हो।

प्राचीन परम्परा में कम्मपयडी आदि कर्म साहित्य के ग्रन्थ थे, जिनके विशिष्ट ज्ञाता नागहस्ती थे। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर कसायपाहुडसुत्त की रचना हुई। यदि कसायपाहुडसुत्त आर्य मंक्षु और नागहस्ती के माध्यम से पुनर्जीवित हुआ तो यह केवल यापनीय परम्परा को ही उत्तराधिकार में प्राप्त हो सकता है, क्योंकि आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती यापनीयों के पूर्वज हैं, दिगम्बरों के नहीं। यह भी स्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ सित्तरी चूर्ण में कसायपाहुड का स्पष्ट रूप से निर्देश मिलता है—जैसे

१. देखें—पट्टावली परागसंग्रह पृ० २४५

(अ) तं वेद्यतो वितिय किट्टीओ तइय किट्टीओ य दलियं धेत्तूणं सुहुम-
सांपराइय किट्टीओ करेइ तिसि लक्खणं जहा कसायपाहुडे ।

(ब) एत्थ अपुव्वकरण अणियट्टि अट्टासुअणगाइ वत्तव्वगाइं जहा
कसायपाहुडे, कम्मपगडि संगहणीए वा तथा वत्तव्वं ।

सित्तरी पत्र ६२।२

उक्त उद्धरणों से यह तो निश्चित ही सिद्ध हो जाता है कि सित्तरी चूर्णिकार कसायपाहुड से परिचित हैं और वे उसे अपनी ही परम्परा के ग्रन्थ के रूप में उद्धृत करते हैं। पुनः चन्द्राषि महत्तर ने पञ्चसंग्रह में निम्न पाँच ग्रन्थों का संग्रह किया है—१. शतक (सतक) २. सप्ततिका (सत्तरी) ३. कषायप्राभृत (कसायपाहुड) ४. सत्कर्म और ५. कर्मप्रकृति (कम्मपयडी)। मलयगिरि ने अपनी टीका में कषायप्राभृत को छोड़कर शेष चार का प्रमाण रूप से उल्लेख किया है। अतः श्वेताम्बर परम्परा में १२-१३ वीं शती में कसायपाहुड उपलब्ध नहीं था। आज सतक, सत्तरी और कम्मपयडी उपलब्ध है, सत्कर्म उपलब्ध नहीं है। मेरी दृष्टि में सत्कर्म भी षट्खण्डागम के सत्प्ररूपण का ही कोई प्राचीन रूप होगा, जिसके रचयिता पुष्पदंत कहे जाते हैं। इस चर्चा का निष्कर्ष यह है कि कसायपाहुड भी आगमों की तरह उस विभक्त परम्परा का ग्रन्थ है, जिसे यापनीय और श्वेताम्बर दोनों ही मान्य करते थे। हमने आगमों की चर्चा के प्रसंग में देखा था कि आगमों का शौरसेनीकरण यापनीय परम्परा का वैशिष्ट्य रहा है। इसी प्रकार कसायपाहुड का शौरसेनीकरण भी यापनीय परम्परा की ही देन है। जिस प्रकार यापनीयों के आगम—आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्पसूत्र आदि श्वेताम्बर आगमों से भिन्न तो नहीं थे, किन्तु क्वचित् पाठभेद और शौरसेनी प्राकृत के प्रभाव से युक्त थे। उसी प्रकार कसायपाहुड भी यापनीय और श्वेताम्बर दोनों में बही रहा है—मात्र क्वचित् पाठभेद और शौरसेनी प्राकृत के प्रभाव का अन्तर हो सकता है। किन्तु न तो आज यापनीय परम्परा के आगम उपलब्ध हैं और न श्वेताम्बर परम्परा का कसायपाहुड ही। अतः दोनों को समानता और अन्तर का पूरे तरह अध्ययन कर पाना सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से कषायप्राभृत (कसायपाहुड) के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, वे निम्न हैं—

(१) प्राचीन दिगम्बर पट्टावलियों में गुणधर, आर्यमंक्षु और नाग-

हस्ति का जो कि इसके कर्ता या प्रणेता माने जाते हैं, उल्लेख नहीं होने से और श्वेताम्बर पट्टावलियों में इनका उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि यह मूलतः दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं है।

२. कल्पसूत्र, नन्दीसूत्र आदि में तथा मथुरा के शिलालेखों में आर्य-मंक्षु और आर्य नागहस्ति का उल्लेख होने से एवं आर्य नागहस्ति को कर्मशास्त्र का ज्ञाता कहे जाने से यह सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ उस परंपरा में निर्मित हुआ है, जो श्वेताम्बरों और यापनीयों की पूर्वज थी।

३. यापनीयों को यह ग्रन्थ पूर्व परम्परा से उत्तराधिकार में मिला है, क्योंकि इतना निश्चित है कि आर्यमंक्षु और आर्य नागहस्ति न तो दिगम्बर आचार्य हैं और न यापनीय ही। यद्यपि इतना भी निश्चित है कि वे श्वेताम्बरों के समान यापनीयों के भी पूर्वज हैं। अतः यह ग्रन्थ यापनीय परम्परा में निर्मित न होकर भी यापनीयों को उत्तराधिकार में मिला है।

४. हो सकता है कि इस पर चूर्णिसूत्रों के रचयिता यतिवृषभ यापनीय हों, क्योंकि यापनीयों में अपने नाम के आगे यति शब्द लगाने की प्रवृत्ति रही है, जैसे—यतिग्रामाग्रणी भदन्त शाकटायन।

५. दिगम्बर परम्परा को यह ग्रंथ यापनीयों के माध्यम से प्राप्त हुआ है। जैसे उन्होंने यापनीय ग्रन्थ मूलाचार, भगवती आराधना आदि को अपना लिया, उसी तरह से इसे भी अपना लिया है।

६. श्वेताम्बर कर्म-साहित्य में इसका स्पष्ट निर्देश होने से, अपने पूर्वाचार्यों को यह कृति श्वेताम्बर परम्परा में भी मान्य रही है। हो सकता है कि यापनीय और श्वेताम्बर में मान्य इस ग्रन्थ में क्वचित् पाठ-भेद और भाषा-भेद हो।

७. 'कसायपाहुड' का प्रतिपाद्य विषय दर्शनमोह और चारित्रमोह को कर्म प्रकृतियों की स्थिति, बन्ध, उदय, क्षय आदि की चर्चा है। सामान्यतया इस चर्चा में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके आधार पर ग्रन्थ के सम्प्रदाय विशेष का निश्चय हो सके; फिर भी विभिन्न गुणस्थानों में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के बन्ध, उदय, क्षय आदि की चर्चा करते हुए उसमें स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि स्त्री वेद से श्रेणी चढ़ता हुआ जीव अपगतवेदी होकर चतुर्दश गुणस्थान तक आध्यात्मिक विकास करता है। निश्चय ही लिंग तो द्रव्यचिह्न होता है, बन्धन और मुक्ति का मूल आधार तो भाव ही होता है और वेद (काम वासना) का सम्बन्ध

भाव से है। यदि ग्रन्थकार स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद अर्थात् तत्-सम्बन्धी काम वासना की उपस्थिति में भी दसवें गुणस्थान तक आध्यात्मिक विकास सम्भव मानता है, तो उसे स्त्री मुक्ति को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। यह कहना कितना अयुक्तिसंगत और अध्यात्मवाद के विपरीत होगा कि जीव स्त्री लिंग (स्त्री शरीर) से युक्त होने पर तो पाँचवें गुणस्थान से आगे आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकता किन्तु स्त्रीवेद (स्त्री सम्बन्धी कामवासना के) होते हुए वह दसवें गुणस्थान तक आध्यात्मिक विकास कर सकता है। यदि 'कसायपाहुड' के कर्ता यह स्वीकार करते हैं कि स्त्रीवेद की उपस्थिति में दसवें गुणस्थान तक आध्यात्मिक विकास सम्भव है तो वे स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं कर सकते। मात्र यही नहीं कसायपाहुडकार यह भी मानता है कि नपुंसक, स्त्री और पुरुष अपगतवेदी होकर चतुर्दश गुणस्थान तक अपना आध्यात्मिक विकास करते हैं। कसायपाहुड की मूल गाथाओं में स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी शब्दों का प्रयोग न करके अपगतवेदी स्त्री, पुरुष, नपुंसक ऐसा प्रयोग हुआ है जबकि हिन्दी अर्थ करते हुए दिगम्बर विद्वानों ने सर्वत्र 'वेद' शब्द की योजना कर दी है। यदि ग्रन्थकार को स्त्रीमुक्ति-निषेध इष्ट होता तो वह मूल गाथाओं में भी 'वेद' शब्द की योजना करता।^१ वस्तुतः कसायपाहुड में रचना के समय तक स्त्रीमुक्ति का प्रश्न उपस्थित ही नहीं हुआ था। सातवीं शती के पूर्व इस विवाद की उपस्थिति का दोनों परम्पराओं में कोई संकेत नहीं मिला है।

८. कसायपाहुड के चूर्णिसूत्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आर्य गुणन्धर, आर्यमंक्षु और आर्य नागहस्ति ने कसायपाहुड का जिस रूप में प्रतिपादन किया था, उससे अनेक स्थानों पर चूर्णिकार यतिवृषभ और जयधवलाटीकाकार मतभेद रखते थे। उदाहरणार्थ ग्रंथ के अर्थाधिकारों का मूलग्रन्थकार का वर्गीकरण चूर्णिसूत्र के कर्ता यतिवृषभ एवं जयधवलाकार के वर्गीकरण से भिन्न है।^२ इससे यह फलित होता है कि मूल ग्रन्थकार, चूर्णिकार और टीकाकार की परम्परायें एक नहीं हैं। जहाँ मूल ग्रन्थकार श्वेताम्बर और यापनीयों के पूर्वज उत्तर भारत की अविभक्त निग्रन्थधारा के प्रतिनिधि हैं वहाँ चूर्णिकार यापनीय और टीकाकार दिगम्बर हैं। चूर्णिकार को यापनीय मानने का कारण यह है

१. देखें कसायपाहुड गाथा ८-४५, ५०, ५१, ५२ और उनके अर्थ।

२. कसायपाहुड भूमिका पृ० १४-१५।

कि यापनीय ही अविभक्त उत्तर भारतीय आगमिक साहित्य के उत्तराधिकारी रहे हैं।

९. कसायपाहुड के व्यञ्जनाधिकार में क्रोध, मान, माया और लोभ के जिन ५२ पर्यायवाची नामों का उल्लेख है, उनमें अधिकांश वे ही हैं जिनका उल्लेख भगवती सूत्र के बारहवें शतक में तथा समवायांग के ५२वें समवाय में हुआ है। भगवती में कहीं-कहीं क्रम और संख्या की दृष्टि से अन्तर अवश्य है किन्तु समवायांग में संख्या और नाम की समानता है। नामों में भी कुछ शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं है।

तुलना के लिए देखिए—

कोहो य कोव रोसो य अखम संजलण-कलह वड्डी य ।

झंझा दोस बिवादो दस कोहेयट्टिया होंति ॥८६॥

माण मदे दप्प थंभो उक्कास पगास तधसमुक्कस्सो ।

अत्तुक्करिसो परिभव उस्सिद दसलक्खणो माणो ॥८७॥

माया य सादिजोगे णियदी विय वंचणा अणुज्जुगदा ।

गहणं मणुणमग्गण कक्क कुहक गूहणच्छणो ॥८८॥

कामो राग णिदाणो छंदो य सुदो य पेज्ज दोसो य ।

णेहाणुराग आसा इच्छा मुच्छा य गिद्धो य ॥८९॥

सासद पत्थण लालस अविरदि तण्हा य विज्ज जिब्भा ।

लोभस्स णामधेज्जा बीस एगट्टिया भणिदा (५) ॥९०॥

कसायपाहुड सुत्तगाथा ८६-९०

१. मोहणिज्जस्स णं कम्मस्स बावन्नं नामधेज्जा पणत्ता, तं जहा—
कोहे कोवे रोसे दोसे अखमा संजलणे कलहे चंडिकके भंडणे विवाए ।

माणे मदे दप्पे थंभे अत्तुक्कोसे गव्वे परपरिवाए उक्कोसे अवक्कोसे
उन्नाए उन्नामे ।

माया उवही नियडी बलए गहणे णूमे कक्के कुहए दंभे कूडे जिम्हे
किब्बिसिए अणायरणया गूहणया वंचणया पलिकुंचणया सातिजोगे ।

लोभे इच्छा मुच्छा कंखा गेही तिण्हा भिज्जा अभिज्जा कामासा
भोगासा जीवियासा मरणासा नंदी रागे ॥

समवायांग, समवाय ५२

इससे यही सिद्ध होता है कि कसायपाहुड उत्तर भारत की अविभक्त
निर्ग्रन्थ परम्परा का ग्रन्थ है, जो इवेताम्बरों और यापनीयों को समान
रूप से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था ।

षट्खण्डागम

षट्खण्डागम शौरसेनी प्राकृत में रचित जैन कर्मसिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें कर्मप्रकृतियों का और उनके उदय, उदीरण, सत्ता, संक्रमण आदि का विवेचन गुणस्थान सिद्धान्त को केन्द्रीभूत मानकर किया गया है। इसके रचयिता पुष्पदन्त और भूतबलि माने जाते हैं। यह कहा जाता है कि इन्होंने आचार्य धरसेन से 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' का अध्ययन करके उसके आधार पर षट्खण्डागम की रचना की।

धरसेन, उनकी परम्परा और काल

सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि ये धरसेन किस परम्परा के थे और कब हुए? कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों से हमें धरसेन के सम्बन्ध में कोई भी सूचना प्राप्त नहीं होती। दिगम्बर परंपरा में तिलोयपण्णत्ति^१, हरिवंश पुराण^२, धवला^३ आदि में पूर्वज्ञान और अंगज्ञान के वीरनिर्वाण सं० ६८३ तक के विच्छेदक्रम को सूचित करते हुए उनमें ज्ञान के धारक आचार्यों की, जो परम्परा प्रस्तुत की गई है, उसमें धरसेन का कहीं भी उल्लेख नहीं है। किन्तु धवला में इतना अवश्य कहा गया है कि इस प्रकार श्रुतके उत्तरोत्तर क्षीण होनेपर अंगों एवं पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परा से आता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ।^४ इसका तात्पर्य यह है कि लोहार्य और धरसेनाचार्य के बीच की आचार्य-परम्परा धवलाकार को भी ज्ञात नहीं थी। सम्भवतः इन दोनों के बीच काल का अधिक अन्तराल रहा होगा अथवा उस परम्परा से धरसेन का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहा होगा। धवला के अतिरिक्त धरसेन का उल्लेख नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली^५ तथा इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार^६ में भी मिलता है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि आज अचेल परम्परा के पास

१. तिलोयपण्णत्ति ४।१४७६-१४९२

२. हरिवंशपुराण (पुन्नाटसंघीय जिनसेनकृत) सर्ग ६६।२२-२४

३. षट्खण्डागम, धवला टीका समन्वित, खण्ड १ भाग १ पुस्तक पृ० ६७-६८

४. (अ) सव्वेसिमंगपुञ्जाणमेगदेसो आहरिय परंपराए आगच्छमाणो धरसेणा-हरियं संपत्तो—वही, खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ६४

(ब) वही खण्ड ४ भाग १ पुस्तक ९ पृ० ८१-८२

५. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित, खण्ड १ भाग १ पुस्तक की प्रस्तावना (प्रो० हीरालाल जैन) पृ० २१-२२ पर उद्धृत।

६. श्रुतावतार १५१

की कोई भी प्राचीनतम पट्टावली ईसा की ८वीं-९वीं शती के पूर्व रचित नहीं है। वे वीरनिर्वाण के लगभग तेरह सौ वर्ष पश्चात् जिस आचार्य परम्परा को प्रस्तुत कर रही हैं उसमें कल्पना का कितना मिश्रण है—कह पाना कठिन है। नन्दीसंघ की यह प्राकृत पट्टावली भी कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों, जो कि ईसा पूर्वप्रथम द्वितीय शताब्दी से लेकर ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक परिवर्धित हुई हैं और मथुरा के अभिलेखों से प्रमाणित भी है, की अपेक्षा पर्याप्त परवर्ती है। इसकी मूल प्रति उपलब्ध न होने से इसकी प्रामाणिकता भी सन्देहास्पद बन जाती है। आश्चर्य है कि एक बार जैन सिद्धान्त भास्कर में छपने के बाद किसी दिगम्बर विद्वान् को भी इसकी मूलप्रति देखने को उपलब्ध नहीं हो सकी। ज्ञातव्य है कि हरिवंश^१ में वीर निर्वाण ६८३ तक हुए पूर्वज्ञान और अंग-ज्ञान के धारक आचार्यों की सख्या और वर्ष दिये गये, किन्तु आचारांग के धारक आचार्यों को छोड़ कर अन्य किसी के नाम नहीं दिये गये हैं। इस उल्लेख के पश्चात् जिनसेन ने अपनी गुरु परम्परा की पट्टावली प्रस्तुत की है। इसमें विनयधर से लेकर कीर्तिसेन तक ३१ आचार्यों के नाम हैं। इन नामों में १४वें क्रम पर नागहस्ति और १८वें क्रम पर श्री धरसेन के नाम हैं किन्तु इनका काल, प्रत्येक आचार्य का औसत काल २० वर्ष मानने पर भी, क्रमशः ६८३ + २८० = ९६३ और ६८३ + ३६० = १०४३ आता है, जो प्रामाणिक नहीं लगता है, अतः ये नागहस्ति और धरसेन अन्य ही हैं। जहाँ तक इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार का प्रश्न है वह लगभग ग्यारहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है अतः उसे भी बहुत अधिक प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यद्यपि नवीं शताब्दी के ग्रंथ धवला में धरसेन का उल्लेख तो है किन्तु वह भी उनकी परम्परा के सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं करती है। श्रुतावतार में इन्द्रनन्दि ने तो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि गुणधर (कषायपाहुड के प्रवक्ता) और धरसेन (महाकर्मप्रकृति के प्रवक्ता) के अन्वय, गुरु-परम्परा और पौर्वापर्य का कथन करने वाले आगमों (ग्रन्थों) और मुनिजनों के अभाव के कारण हमें इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।^२ श्रुतावतार का 'तदन्वयकथकागममुनिजनाभावत'—यह पद इस सम्बन्ध में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसमें इन्द्रनन्दि द्वारा 'तद्' शब्द का, जो प्रयोग किया गया है, वह स्पष्ट रूप से यह सूचित करता है कि इन्द्र-

१. हरिवंश (जिनसेन) ६६।२५-३३

२. गुणधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः ।

न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥

—श्रुतावतार १५१

नन्दि की परम्परा और गुणधर तथा धरसेन की परम्परायें एक न होकर भिन्न-भिन्न हैं। यदि इन्द्रनन्दि को मूलसंघीय परम्परा का माना जाय तो स्पष्ट है कि धरसेन की परम्परा उससे भिन्न रही। मात्र यही नहीं इस कथन से यह भी फलित होता है कि इन्द्रनन्दि के समक्ष उस परम्परा के न तो आगम ग्रन्थ ही थे और न मुनिजन ही। यह स्पष्ट है कि इन्द्रनन्दि के समय में अर्थात् ग्यारहवीं शती में यापनीय परम्परा के आगम और मुनिजन दोनों ही विलुप्तप्रायः हो रहे थे। यह भी स्पष्ट है कि उस काल तक अनेक यापनीय ग्रन्थ मूलसंघीय आचार्यों द्वारा कतिपय परिवर्धन और संशोधन कर आत्मसात् कर लिये गये थे। ऐसी स्थिति में अनुश्रुति से आर्य गुणधर, आर्य मंक्षु, आर्य नन्दि, आर्य नागहस्ति और धरसेन आदि के नाम तो दिग्म्बर परम्परा में अवशिष्ट रह गये किन्तु उनके गण-परम्परा आदि के सम्बन्ध में कोई जानकारी अवशिष्ट नहीं रह सकी। इससे इतना तो निश्चित है कि धरसेन मूलसंघीय दिग्म्बर परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के आचार्य रहे हैं। तिलोयपण्णत्ति, हरिवंश पुराण और अभिलेखीय-पट्टावली (अभिलेख क्रमांक १ और १०५) में धरसेन का नामोल्लेख न होना भी यही सूचित करता है कि या तो वे किसी भिन्न परम्परा के थे या फिर इनमें सूचित आचार्यों से पर्याप्त परवर्ती हैं।

यदि कुछ समय के लिए नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली को प्रमाण मान लें, तो उससे यह सिद्ध होता है कि धरसेन वीर निर्वाण संवत् ६३३ में दिवंगत हुए। उसमें उनका आचार्य काल १९ वर्ष माना गया है, अतः वे वीर निर्वाण संवत् ६१४ में आचार्य हुए^१। यदि वे अपना आयु के ५०वें वर्ष में आचार्य हुए हों तो यह माना जा सकता है कि लगभग उसके ३० वर्ष पूर्व वे दीक्षित हुए होंगे। अतः उनकी दीक्षा का समय वीर निर्वाण संवत् ५८४ के आस-पास हो सकता है। अतः धरसेन संघ भेद की घटना के, जो वीर निर्वाण संवत् ६०९ में घटित हुई थी, पूर्व ही दीक्षित हो चुके थे। निष्कर्ष यह है कि वे संघ भेद की घटना के पूर्व अविभक्त उत्तर भारतीय निर्ग्रन्थ परम्परा के किसी गण के आचार्य रहे होंगे। यद्यपि यह संभव हो सकता है कि वे संघ-भेद के समय अचल परम्परा के पक्षधर रहे हों, किन्तु इतना सुनिश्चित है कि वे दक्षिण भारतीय निर्ग्रन्थ

१. देखे षट्क्षण्डागम धवला टीका समन्वित खण्ड १ भाग १ पुस्तक १ की प्रस्तावना (प्रो० हीरालाल जैन) पृ० २६

संघ, जो आगे चलकर मूलसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, से सम्बद्ध नहीं थे। संभवतः इसी कारण दिगम्बर पट्टावलिवाँ उनका उल्लेख नहीं करतीं। यदि वे परवर्ती काल के हैं तो अधिक से अधिक हम उन्हें उत्तर भारत में विभाजित हुई अचेल परम्परा, जो कि आगे चलकर यापनीय नाम से विकसित हुई, से सम्बद्ध मान सकते हैं। संभावना यही है कि उन्होंने महाराष्ट्र, उत्तर कर्णाटक और आन्ध्र प्रदेश में विचरण कर रही उत्तर भारत की अचेल परम्परा, जो यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुई, के पुष्पदन्त और भूतबलि नामक मुनियों को कर्मशास्त्र का अध्ययन कराया हो। क्योंकि उसी परम्परा से उनकी निकटता थी। पुनः जिस नन्दीसंघ पट्टावली को आधार बनाकर यह चर्चा की जा रही है, वह नन्दीसंघ भी यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहा है। कणप के शक संवत् ७३५, ईस्वी सन् ८१२ के एक अभिलेख में 'श्री यापनीय नन्दिसंघ पुन्नागवृक्ष मूलगण' ऐसा स्पष्ट उल्लेख है^१। यापनीय और नन्दीसंघ की इस एकरूपता और नन्दीसंघ की पट्टावली में धरसेन के उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि धरसेन यापनीय संघ से सम्बद्ध रहे हैं।

धरसेन के सन्दर्भ में जो अन्य ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध हैं, उनमें दो का उल्लेख विद्वानों ने किया है। सर्वप्रथम आचार्य धरसेन को जोणिपाहुड (योनिप्राभृत) नामक निमित्त शास्त्र के एक अपूर्व ग्रन्थ का रचयिता माना जाता है। इस ग्रंथ की एक प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना में है। पंडित बेचरदास जो ने इस प्रति से जो नोट्स लिखे थे, उनके आधार पर यह ग्रन्थ पणसवन मुनि ने अपने शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि के लिए लिखा था।^२ वि० स० १५५६ में लिखी गयी बृहद्दृष्टिपणिका में इस ग्रंथ को वीर निर्वाण के ६०० वर्ष पश्चात् धरसेन (धरसेन) द्वारा रचित माना गया है।^३ इस ग्रंथ के उल्लेख श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में पाये जाते हैं, किन्तु दिगम्बर परम्परा में मात्र धवला की टीका में इस ग्रंथ के नाम का उल्लेख हुआ है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा के आगमिक

१. जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख क्रमांक १।

२. (अ) षट्खण्डागम परिशीलन (बालचन्द्र शास्त्री) पृ० २०

(ब) जैन साहित्य का बृहद्-इतिहास भाग ५ पृ० २००-२०२

३. योनिप्राभृत वीरात् ६०० धरसेनम्

—बृहद्दृष्टिपणिका जैन साहित्य संशोधक परिशिष्ट १, २

व्याख्याओं के काल अर्थात् ६ठीं शती से लेकर १५-१६वीं शती तक के अनेक आचार्यों ने इसका उल्लेख किया है। विशेषावश्यक भाष्य (ईस्वी सन् ६ठीं शती) की गाथा १७७५ में 'जोणीविहाण' के रूप में इस ग्रंथ का उल्लेख है।^१ निशीथचूर्णि (लगभग ७वीं शती) में आचार्य सिद्धसेन द्वारा योनिप्राभृत के आधार पर अश्व बनाने का उल्लेख है।^२ मलधार-गच्छीय आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित विशेषावश्यक भाष्य टीका में इस ग्रन्थ के आधार पर अनेक विजातीय द्रव्यों के सहयोग से सर्प, सिंह आदि प्राणी और मणि, स्वर्ण आदि पदार्थों को उत्पन्न करने का उल्लेख है^३।

कुवलयमाला भी योनिप्राभृत में उल्लिखित रासायनिक प्रक्रियाओं का उल्लेख करती है। इसके अनुसार जोणोपाहुड में स्वर्ण सिद्धि आदि विद्याओं का उल्लेख है^४। जिनेश्वरसूरि ने कथाकोष-प्रकरण के 'सुन्दरीदत्त कथानक' में जिनभाषित पूर्वगत यानि पाहुडशास्त्र का उल्लेख किया है^५। प्रभावक षरित (५११५-१२२) में इस ग्रन्थ के आधार पर मछली और सिंह बनाने के निर्देश देते हैं।

कुलमण्डनसूरि द्वारा विक्रम संवत् १४७३ में रचित विचारामृत-संग्रह (पृ० ९) में उल्लेख है कि अग्रायणीपूर्व से निर्गत यानिप्राभृत के कुछ उपदेशों की देशना को धरसेन द्वारा वजित कहा गया है। इसमें उज्जतागरि (पश्चिमो सौराष्ट्र के गिरिनगर) में इस ग्रन्थ के उद्धार

१. इति रुक्खायुग्मेदे जोणिविहाणे य विसरिसेहितो।—विशेषावश्यकभाष्य (आगमोदय समिति) गाथा १७७५।

२. जोणिपाहुडातिणा जहा सिद्धसेणायरिण्ण अस्साए कता।

—निशीथचूर्णि खण्ड २ पृ० २८१

३. विशेषावश्यकभाष्य (मलधारगच्छीय हेमचन्द्र की टीका सहित) गाथा १७७५ की टीका।

४. णमो सिद्धाणं णमो जोणीपाहुडसिद्धाणं... मगवं सव्वणू जेण एयं सव्वं जोणी-पाहुड भणियं...। कुवलयमाला (उद्योतनसूरि)—भारतीय विद्या भवन

पृ० १९६-९७

५. जिणभासियपुव्वगए जोणोपाहुडसुए समुट्ठिठं।

एयपि संघकज्जे कायव्वं धीरपुरिसेहि ॥

—जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भाग ५ पृ० २०१

का भी उल्लेख है^१। इससे धवला में उन्हें गिरिनार की चन्द्रगुफा में निवास करने वाला बताया गया है, उस कथन की पुष्टि होती है। इसी ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में अग्रायणी पूर्व के मध्य २८ हजार गाथाओं में वर्णित शास्त्र को संक्षेप में किये जाने का भी उल्लेख है^२। जहाँ दिगम्बर परम्परा में मात्र धवला में उनके इस ग्रन्थ का उल्लेख है। वहाँ श्वेताम्बर परम्परा में छठीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक अनेक ग्रन्थों में उनके इस ग्रन्थ के निरन्तर उल्लेख पाये जाते हैं। इससे यह निश्चित होता है धरसेन और उनका ग्रन्थ योनिप्राभृत (जोणिपाहुड) श्वेताम्बर परम्परा में मान्य रहा है। अतः वे उत्तर भारत की उसी निर्ग्रन्थ परंपरा से सम्बद्ध होंगे जिनके ग्रन्थों का उत्तराधिकार श्वेताम्बर और यापनीय दोनों को समान रूप से मिला है। यापनीयों के माध्यम से ही इनका और इनके ग्रन्थ जोणीपाहुड का उल्लेख धवला में हुआ है।

‘जोणीपाहुड’ में उसके कर्ता का नाम प्रज्ञाश्रमण (पन्नसवण) है। प्रज्ञाश्रमण, क्षमा-श्रमण या क्षपण-श्रमण की तरह ही एक उपाधि रही है जो उत्तर भारतीय अविभक्त निर्ग्रन्थ परम्परा में प्रचलित थी। नन्दी-सूत्र (२९) में आर्यनन्दिल को वंदन करते हुए ‘पसणमण’ शब्द आया है—उसमें वर्ण व्यत्यय हुआ है मेरी दृष्टि में उसे ‘पणसमण’ होना चाहिये। धवला में प्रज्ञाश्रमण को नमस्कार किया गया है^३। तिलोय-पण्णत्ति में प्रज्ञाश्रमणों में वज्जयश (वहरजस) को अन्तिम प्रज्ञाश्रमण कहा गया है^४। कल्पसूत्र की स्थविरावली में आर्यवज्ज और उनके शिष्य

१. अग्गेणिपुब्बनिग्गयपाहुडसत्थस्स मज्झयारम्मि ।

किञ्चि उद्देसदेसं धरसेणो वज्जियं भणइ ॥

गिरिउज्जितठिएण पच्छिमधेसे सुरट्टुगिरिनयरे ।

बुद्धंतं उद्धरियं दूसमकालप्पयावम्मि ॥

—विचारामृतसंग्रह (कुलमण्डनसूरि) सूरत, पृ० ९

२. अट्टावीससहस्सा गाहाणं जत्थ वन्निया सत्थे ।

अग्गेणिपुब्बमज्झे संखेवं वित्थरे मुत्तुं ॥

विचारामृतसंग्रह पृ० ९-१०

३. णमो पण्णासमणार्णं ॥१८॥ षट्खण्डागम धवला खण्ड ४ भाम १ पुस्तक ९ पृ० ८१-८२

४. पण्णसमणेसु चरिमो वहरजसो नाम ओहिणाणोसु ।

चरिमो सिरिणामो सुदविणयसुसीलादिसंपण्णे ॥

तिलोयपण्णत्ति ४।१४८०

आर्यवज्रसेन का तथा आर्यवज्र से वज्जी शाखा और आर्यवज्रसेन से नागली शाखा के निकलने का उल्लेख है। वज्रसेन का काल वीर निर्वाण के ६१६ से ६१९ माना गया है। ये नागहस्ति के समकालीन भी हैं। नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार धरसेन का काल भी यही है। सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना यह है कि मथुरा के हुविष्क वर्ष ४८ के एक अभिलेख में ब्रह्मदासिक कुल और उच्चनागरी शाखा के 'धर' का उल्लेख है^१। लेख के आगे के अक्षरों के घिस जाने के कारण पढ़ा नहीं जा सका, हो सकता है, पूरा नाम 'धरसेन' हो। क्योंकि कल्पसूत्र स्थविरावली में शान्तिसेन, वज्रसेन आदि सेन नामान्तक नाम मिलते हैं। अतः इसे धरसेन होने की सम्भावना को निरस्त नहीं किया जा सकता है। इस काल में हमें कल्पसूत्र स्थविरावली में एक पुसगिरि का भी उल्लेख मिलता है ही सकता है, ये पुष्पदंत हों। इसी प्रकार नन्दीसूत्र वाचकवंश स्थविरावली में भूतदिन्न का भी उल्लेख है^२। इनका समीकरण भूतबलि से किया जा सकता है।

यह महत्त्वपूर्ण है कि भूतदिन्न उसी नागिल शाखा के हैं, जो प्रज्ञाश्रमण वज्रसेन से प्रारम्भ हुई थी। यद्यपि इस सन्दर्भ में अभी अधिक प्रमाणों की खोज और गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा है फिर भी यदि धरसेन वीर निर्वाण की छठीं शताब्दी में हुए हैं और वे ही योनिप्राभृत के कर्ता हैं तो वे मथुरा के उक्त अभिलेख के आधार पर श्वेताम्बरों और यापनीयों के ही पूर्वज हैं। इस अभिलेख का काल और नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली से दिया गया धरसेन का काल समान ही है। योनिप्राभृत के श्वेताम्बर परम्परा में मान्य होने से भी उनका श्वेताम्बरों और यापनीयों की पूर्वज उत्तर भारतीय निर्ग्रन्थ धारा का होना ही सिद्ध होता है।

यदि हम नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली और मथुरा के पूर्वोत्तर अभिलेख से अलग हटकर षट्खंडागम की टीका धवला के आधार पर धरसेन के सम्बन्ध में विचार करें तो हमें उनका काल ई० सन् की दूसरी शती से नीचे उतारकर चौथी-पाँचवीं या छठीं शताब्दी तक लाना होगा,

१. महाराजस्य हुविष्कस्य स ४०८ हे ४ दि ५

बमदासिये कुल () उ (च) नामरिय शाखाया धर....।

—जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख क्रमांक ५० पृ० ३८

२. भूमहिययप्पगम्मे वंदे हं भूयदिण्णमायरिए ।

—नन्दीसूत्र ३९

योंकि धवला में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् सम्पूर्ण आचाराङ्ग के धारक लोहार्य हुए। उनके पश्चात् जो भी आचार्य हुए वे सब अंग और पूर्वों के एक देश के धारक थे अर्थात् उन्हें अंग और पूर्वों का आंशिक ज्ञान ही था। अंग और पूर्वों का यह आंशिक ज्ञान आचार्य परम्परा से आता हुआ धरसेन को प्राप्त हुआ।^१ धवला का यह कथन महत्त्वपूर्ण है। लोहार्य और धरसेन के बीच के आचार्यों के संदर्भ में धवलाकार का यह अज्ञान स्पष्ट रूप से यह बतलाता है कि कम से कम उनके बीच २०० वर्ष से अधिक का अन्तर रहा होगा। अतः धरसेन वीर निर्वाण के ६८३ + ०० = ८८३ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० सन् की चतुर्थ शताब्दी के बाद ही हुए होंगे। परन्तु प्रो० मधुसूदन ढाकी^२ के अनुसार धरसेन का काल ई० सन् की ५-६ठीं शताब्दी के आस-पास है। चाहे हम धरसेन को परवर्ती ही क्यों न स्वीकार करें किन्तु अन्य कुछ ऐसे प्रमाण हैं, जिनके आधार पर भी उन्हें दक्षिण भारतीय मूलसंघीय परम्परा से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता।

यह स्पष्ट है कि धरसेन ने षट्खंडागम की रचना नहीं की थी, उन्होंने तो मात्र पुष्पदन्त और भूतबली को महाकर्मप्रकृति प्राभूत का अध्ययन कराया था। महाकर्मप्रकृति प्राभूत भी उत्तर भारत की अविभक्त निर्ग्रन्थ परम्परा में ही निर्मित हुआ था। नन्दीसूत्र पट्टावली में आर्य नागहस्ति को कर्मप्रकृति और व्याकरण शास्त्र का ज्ञाता कहा गया है।^३ वस्तुतः यही कर्मप्रकृतिशास्त्र आगे चलकर श्वेताम्बर परम्परा में शिवशर्म द्वारा रचित कर्म प्रकृति आदि ग्रन्थों का और यापनीय परम्परा में पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा रचित षट्खंडागम का आधार बना है। चूँकि यापनीय और श्वेताम्बर दोनों ही इस परम्परा के उत्तराधिकारी थे अतः यह स्वाभाविक ही था कि दोनों परम्पराओं में इस कर्म प्रकृति शास्त्र के आधार पर ग्रन्थ रचनाएँ हुईं। अतः धरसेन उत्तर भारतीय निर्ग्रन्थ संघ के ही आचार्य सिद्ध होते हैं।

यदि हम धरसेन के विहार क्षेत्र की दृष्टि से भी विचार करें तो भी यह स्पष्ट है कि उन्होंने पुष्पदन्त और भूतबलि को महाकर्मप्रकृतिशास्त्र

१. षट्खंडागम—धवलाटीका खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृ० ६६-६८

२. प्रो० एम० ए० ढाकी के अप्रकाशित लेख

‘षट्खण्डागम का रचना काल’ पर आधारित

३. नन्दीसूत्र—स्थविरावली ३०

का अध्यापन सौराष्ट्र देश के गिरिनगर की चन्द्रगुहा में कराया था। सौराष्ट्र में प्राचीन काल से लेकर आज तक श्वेताम्बर तथा यापनीय तथा यापनीयों से निकले पुनाट और लाड़बागड़ गच्छों का प्रभुत्व रहा है। अतः क्षेत्र की दृष्टि से भी धरसेन या तो उस अविभक्त निर्ग्रन्थ परम्परा के आचार्य हैं जिससे श्वेताम्बरों और यापनीयों का प्रादुर्भाव हुआ है या फिर वे उत्तर भारतीय अचेल यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहे हैं।

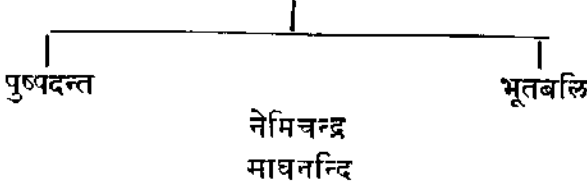
इस प्रकार साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों, आधार-भूत ग्रन्थ, क्षेत्र तथा काल सभी दृष्टियों से धरसेन मूलसंघीय परम्परा से सम्बद्ध न होकर श्वेताम्बर या यापनीय परम्परा से अथवा उनकी पूर्वज उत्तर भारत की अविभक्त निर्ग्रन्थ परम्परा से ही सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।

पुष्पदन्त और भूतबलि

पुष्पदन्त और भूतबलि षट्खण्डागम के रचियता हैं। इनके उल्लेख नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के अतिरिक्त कुछ अन्य पट्टावलियों और अभिलेखों में भी मिलते हैं। हरिवंशपुराण की सूची में इनका उल्लेख नहीं है। प्राप्त उल्लेखों में भी कालक्रम और गुरु-परम्परा की दृष्टि से इतनी विसंगतियाँ हैं कि इन दोनों को गुरु-परम्परा का और इनके काल का निर्णय करना कठिन हो जाता है। धवला और जयधवला में यद्यपि पुष्पदन्त और भूतबलि के उल्लेख हैं, किन्तु उनकी गुरु परम्परा और गण आदि के सम्बन्ध में वे स्पष्टतया मौन हैं। धरसेन तो उनके विद्यागुरु ही सिद्ध होते हैं, उनके दीक्षा गुरु कौन थे, वे किस परम्परा और अन्वय के थे, इस सम्बन्ध में हमें धवला, जयधवला और नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली से भी कोई सूचना नहीं मिलती है। भूतबलि और पुष्पदन्त को कुन्दकुन्द की परम्परा से सम्बद्ध बताने के लिए, सिद्धरवसति का ई० सन् १३९८ का, जो अभिलेख उपलब्ध होता है, वह भी इतनी अधिक विसंगतियों से भरा हुआ है कि उसकी विश्वसनीयता समाप्त हो जाती है। उपलब्ध दिगम्बर पट्टावलियों की मुख्य कमी यह है कि वे कल्पसूत्र स्थविरावली के समान अविच्छिन्न गुरु-परम्परा की सूचक नहीं हैं। उनमें गुरु परम्परा या आचार्य परम्परा के स्थान पर नन्दीसूत्र की वाचकवंश स्थविरावली के समान प्रसिद्ध-प्रसिद्ध आचार्यों के नामों का संकलन मात्र है। इस संकलन में भी विभिन्न पट्टावलियों में परस्पर असंगतियाँ पायी

जाती हैं। पुनः नामों के इस संकलन में कालक्रम और गुरु-परम्परा का कोई ध्यान नहीं रखा गया है। जहाँ अभिलेख^१ में पुष्पदन्त और भूतबलि को अर्हत्बलि का साक्षात् शिष्य दिखाया गया है वहीं नन्दीसंघ पट्टावलि में उनके बीच माघनन्दि और धरसेन का उल्लेख है।^२ इसी प्रकार उक्त अभिलेख में माघनन्दि पुष्पदन्त और भूतबलि के शिष्य नेमिचन्द्र के शिष्य हैं, वहीं नन्दीसंघ की पट्टावली में वे धरसेन के गुरु हैं। जहाँ एक अन्य पट्टावली^३ में कुन्दकुन्द को माघनन्दी का प्रशिष्य और जिनचन्द्र का शिष्य कहा गया है, वहीं उक्त अभिलेख में माघनन्दी को कुन्दकुन्द की शिष्य परम्परा में उनसे १०वें स्थान पर बताया गया है। सिद्धरवसति के १४वीं शती के अभिलेख में पुष्पदन्त और भूतबलि की जो गुरु परम्परा दी है, उसमें तो कालक्रम के विवेक का भी पूर्ण अभाव परिलक्षित होता है। उसमें आचार्यों का क्रम इस प्रकार है—

कुन्दकुन्द
उमास्वाति (गृद्धपिच्छ)
बलाकपिच्छ
समन्तभद्र
शिवकोटि
देवनन्दी
भट्टाकलक
जिनसेन
गुणभद्र
अर्हद्बलि



१. जैन शिलालेख संग्रह भाग-१, सिद्धरवसति अभिलेख, क्रमांक १०५
२. वट्खण्डागम धवला टीका समन्वित, खण्ड-१, भाग-१ पुस्तक-१, प्रस्तावना पृ० २१-२२, पर उद्धृत
३. पट्टावली पराग संग्रह पृ०-११७-११८

एक ओर दिगम्बर परम्परा यह मानती है कि षट्खण्डागम पर कुन्दकुन्द ने परिकर्म नामक प्राकृत व्याख्या लिखी थी, किन्तु दूसरी ओर उसी षट्खण्डागम के रचयिता को कुन्दकुन्द की शिष्य परम्परा में दसवें क्रम पर स्थान देना कितना विरोधाभासपूर्ण है। यदि हम नन्दोसंघ पट्टावली को प्रमाण मानते हैं तो पुष्पदन्त और भूतबलि का काल ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी के लगभग निश्चित होता है किन्तु इस अभिलेख के अनुसार तो पुष्पदन्त और भूतबलि न केवल कुन्दकुन्द के पश्चात् अपितु उमास्वति, समन्तभद्र, पूज्यपाद, देवनन्दि, भट्ट अकलंक जिनसेन, गुणभद्र आदि के भी पश्चात् हुए हैं। भट्ट अकलंक का काल दिगम्बर विद्वानों ने सातवीं शताब्दी के लगभग माना है। अतः उक्त अभिलेख के अनुसार पुष्पदन्त और भूतबलि ८वीं शती के पूर्व के सिद्ध नहीं होते हैं। इन सब विसंगतियों के कारण दिगम्बर परम्परा में उपलब्ध पट्टावलियाँ प्राचीन आचार्यों के सम्बन्ध में विश्वसनीय नहीं रह जातीं। जबकि कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की पट्टावलियों की प्रामाणिकता मथुरा के अभिलेखीय साक्ष्यों से सिद्ध हो चुकी है। जिस नन्दोसंघ की पट्टावली की प्रामाणिकता को हमारे विद्वानों ने बलपूर्वक स्थापित करने का प्रयत्न किया है।^१ उसमें गौतम से लेकर भूतबलि तक ३३ आचार्यों की सूची दी गयी है। किन्तु इनमें कहीं भी कुन्दकुन्द का नामोल्लेख नहीं है, जबकि उसी की भूमिका रूप में प्रक्षिप्त ३ श्लोकों में उसे मूलसंघ नन्दीआम्नाय, बलात्कारगण, सरस्वती गच्छ और कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली कहा गया है। यदि ये भूमिकारूप ३ श्लोक इसी पट्टावली के अंश हैं तो फिर यह पट्टावली पर्याप्त परवर्ती ही सिद्ध होगी, क्योंकि बलात्कारगण का उल्लेख सन् १०७५ ई० के पूर्व नहीं मिलता है। स्वयं कुन्दकुन्दान्वय का, जिसकी यह पट्टावली कही जाती है, उल्लेख भी ई० सन् ९३१ के पूर्व कहीं नहीं मिलता है।^२ ऐसी स्थिति में पुष्पदन्त और भूतबलि की गुरु परम्परा और काल का निर्णय दि० पट्टावलियों और अभिलेखों के आधार पर कर पाना कठिन है। यद्यपि धवला और जयधवला में आये उनके उल्लेखों से उनकी ऐतिहासिकता सुनिश्चित है। किन्तु इस आधार पर उनको

१. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित, खण्ड-१, भाग-१ पुस्तक-१, प्रस्तावना पृ० ४२

२. वही प्रस्तावना, पृ०-२३

३. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-३, प्रस्तावना, पृ० ६२

गुरु परम्परा तथा उनके काल का निर्णय नहीं किया जा सकता है। उनके काल और परम्परा का निर्णय करने का साधन हमारे पास उनके ग्रन्थ की विषयवस्तु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। यदि हम यह मानते हैं कि उनके विद्यागुरु धरसेन थे, तो उन्हें हमें ई० सन् की तृतीय शताब्दी से छठीं शताब्दी के बीच कही भी तो स्थापित करना होगा। किन्तु यह काल-निर्णय उनकी परम्परा का आधार नहीं बन सकता। यद्यपि इतना निश्चित है कि इस काल में यापनीय संघ सुस्थापित हो चुका था और इसलिए इनके यापनीय होने की संभावना को निरस्त नहीं किया जा सकता। वस्तुतः षट्खण्डागम को यापनीय ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए सबसे आवश्यक तथ्य उसमें स्थापित उन मान्यताओं को स्पष्ट करना है, जिनके आधार पर उसे यापनीय ग्रन्थ सिद्ध किया जा सके। अग्रिम पंक्तियों में हम उन तथ्यों को प्रस्तुत करेंगे जिनके आधार पर षट्खण्डागम और उनके कर्ता पुष्पदन्त और भूतबलि को यापनीय परम्परा का माना जा सकता है।

षट्खण्डागम के यापनीय परम्परा से सम्बन्धित होने का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं अन्यतम प्रमाण उसमें सत्प्ररूपणा नामक अनुयोगद्वारा का ९३वाँ सूत्र है, जिसमें पर्याप्त मनुष्यनी (स्त्री) में संयत-गुणस्थान की उपस्थिति को स्वीकार किया गया है। जो प्रकारान्तर से स्त्री-मुक्ति का सूचक है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में इस सूत्र के 'संजद' पद को लेकर काफी ऊहापोह हुआ और मूलग्रन्थ से प्रतिलिपि करते समय कागज और ताम्रपत्र पर की गई प्रतिलिपियों में इसे छोड़ दिया गया। यद्यपि अन्त में सम्पादकों के आग्रह को मानकर मुद्रित प्रति में संजद पद रखा गया और यह संजद पद भावस्त्री के सम्बन्ध में है, ऐसा मानकर सन्तोष किया गया। प्रस्तुत प्रसंग में मैं उन सभी चर्चाओं को टठाना नहीं चाहता, केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि षट्खण्डागम के सूत्र ८९ से लेकर ९३ तक में केवल पर्याप्त मनुष्य और अपर्याप्त मनुष्य, पर्याप्त मनुष्यनी और अपर्याप्त मनुष्यनी की चर्चा है, द्रव्य और भाव मनुष्य या मनुष्यनी की वहाँ कोई चर्चा नहीं है। अतः इस

१. मणुसिणीसु मिच्छाइट्टि सासण सम्माइट्टि द्वाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥९२॥

सम्मामिच्छाइट्टि असंजद सम्माइट्टि संजदासंजद संजद णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

छकखण्डागम खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृष्ठ ३३४

प्रसंग में द्रव्य स्त्री और भाव स्त्री का प्रश्न उठाना ही निरर्थक है। घबलाकार स्वयं भी इस स्थान पर शक्ति था क्योंकि इससे स्त्री-मुक्ति का समर्थन होता है अतः उसने अपनी टीका में यह प्रश्न उठाया है कि मनुष्यनी के सन्दर्भ में सप्तम गुणस्थान मानने पर उसमें १४ गुणस्थान भी मानने होंगे और फिर स्त्री-मुक्ति भी माननी होगी।^१ किन्तु जब देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि किसी के भी सम्बन्ध में मूल ग्रन्थ में द्रव्य और भाव की चर्चा का प्रसंग नहीं उठाया गया, तो टीका में मनुष्यनी के सम्बन्ध में यह प्रसंग उठाना केवल साम्प्रदायिक आग्रह का ही सूचक है। वस्तुतः प्रस्तुत ग्रन्थ यापनीय सम्प्रदाय का रहा है। चूँकि उक्त सम्प्रदाय स्त्रीमुक्ति को स्वीकारता था अतः उसे यह सूत्र रखने में कोई आपत्ति ही नहीं हो सकती थी। समस्या तो उन टीकाकार आचार्यों के सामने आई जो स्त्री-मुक्ति का निषेध करने वाली दिगम्बर परम्परा की मान्यता के आधार पर इसका अर्थ करना चाहते थे। अतः मूलग्रन्थ में 'संजद' पद की उपस्थिति से षट्खण्डागम मूलतः यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है इसमें किंचित् भी संशय का स्थान नहीं रह जाता है।

यापनीय परम्परा के सम्बन्ध में यह भी सुनिश्चित है कि वे श्वेताम्बर आगमों को मानते थे और उनकी परम्परा में उनका अध्ययन-अध्यापन भी होता था। यही कारण है कि षट्खण्डागम की विषयवस्तु बहुत कुछ रूप में श्वेताम्बर परम्परा के प्रज्ञापना सूत्र से मिलती है। यद्यपि षट्खण्डागम में चिन्तन का जो विकास है वह प्रज्ञापना में नहीं है। इस सम्बन्ध में पं० दलसुख भाई मालवणिया ने विस्तार से जो चर्चा की है^२, उसे हम अतिसंक्षेप में यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. प्रज्ञापना और षट्खण्डागम दोनों का आधार 'दृष्टिवाद' है अतः दोनों की सामग्री का स्रोत एक ही है। २. दोनों की विषयवस्तु में बहुत-कुछ समानता है किन्तु दोनों की निरूपण शैली भिन्न है—एक जीव को केन्द्र में रखकर विवेचन करता है तो दूसरा बद्ध कर्मों के क्षय के कारण निष्पन्न गुणस्थानों को दृष्टि में रखकर जीव का विवेचन करता है। ३. प्रज्ञापना के ३६ पदों में से कर्मबन्धक, कर्मवेदक, वेद बन्धक, वेदवेदक और वेदना ये छः खण्ड, षट्खण्डागम में भी इसी नाम से सूचित किए गये हैं, जिनकी समानता तुलनीय है।

१. देखें—वही खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, पृष्ठ ३३४ पर घबला टीका।

२. पणवणामुत्त द्वितीय भाग—प्रस्तावना (गुजराती) पृ० महावीर विद्यालय बम्बई

४. जहाँ प्रज्ञापना सूत्र भगवती के समान प्रश्नोत्तर शैली में लिखा गया है, वहाँ षट्खण्डागम में विवेचन शैली का अनुसरण है। यद्यपि षट्खण्डागम में कुछ प्रश्न-उत्तर भा संग्रहीत हैं।

५. प्रज्ञापना एक ही आचार्य की संग्रहकृति है उसमें कोई चूलिका नहीं है, किन्तु षट्खण्डागम की स्थिति इससे भिन्न है, उसमें अनेक चूलिकाएँ भी समाविष्ट हैं।

६. जहाँ प्रज्ञापना सूत्र-शैली का ग्रन्थ है वहाँ षट्खण्डागम अनुयोग या व्याख्या शैली का ग्रन्थ है।

७. उपर्युक्त कुछ भिन्नताओं के होते हुए भी षट्खण्डागम और प्रज्ञापना में निरूपणसाम्य और शब्दसाम्य है। प्रज्ञापना की गाथायें क्र० ९९-१००-१०१ षट्खण्डागम में सूत्र क्र० १२२-२३-२४ में पायी जाती हैं। किन्तु जहाँ इमं भणिदं कहकर इन गाथाओं को षट्खण्डागम में उद्धृत किया गया है वहाँ प्रज्ञापना में ऐसा कोई निर्देश नहीं है। इन गाथाओं के अतिरिक्त महादण्डक की चर्चा दोनों में बहुत कुछ समान रूप में मिलती है। अल्पबहुत्व को इस चर्चा को प्रज्ञापना में २६ द्वारों के द्वारा विवेचित किया गया है जबकि षट्खण्डागम में मात्र गति आदि १४ द्वारों के आधार पर इसकी चर्चा की गई है। प्रज्ञापना में जो अधिक द्वार हैं उनका कारण यह है कि उनमें जीव और अजीव दोनों की दृष्टि से विचार किया गया है जबकि षट्खण्डागम में मात्र जीव की दृष्टि से विचार किया गया है। षट्खण्डागम के १४ द्वार प्रज्ञापना में भी उसी नाम से मिलते हैं, मात्र क्रम का अन्तर है।

८. जहाँ प्रज्ञापना में महादण्डक में जीव के ९८ भेदों का उल्लेख है वहाँ षट्खण्डागम के महादण्डक में जीव के मात्र ७८ भेदों का उल्लेख है। प्रस्तुत प्रकरण में प्रज्ञापना में वैचारिक विकास देखा जाता है जबकि यहाँ षट्खण्डागम प्राचीन परम्परा का अनुसरण करता है। किन्तु अन्य प्रकरणों में प्रज्ञापना की अपेक्षा षट्खण्डागम में विकास देखा जाता है।

९. प्रज्ञापना और षट्खण्डागम दोनों में ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि पद की प्राप्ति की चर्चा है।

१०. जिस प्रकार प्रज्ञापना में नियुक्तियों की अनेक गाथाएँ हैं उसी प्रकार षट्खण्डागम में भी नियुक्तियों की अनेक गाथाएँ मिलती हैं, इससे यह ज्ञात होता है कि दोनों किसी समान परम्परा से ही विकसित हुए हैं। षट्खण्डागम पुस्तक १३ में सूत्र ४ से १६ तक की गाथाएँ आवश्यक

निर्युक्ति में गाथा क्र० ३१ से आगे और विशेषा० भाष्य में गाथा क्र० ६०४ से यथावत् मिलती है ।

षट्खण्डागम और प्रज्ञापना के मूल स्रोत की यह एकरूपता यही सूचित करती है कि षट्खण्डागम का विकास भी उसी धारा से हुआ है जिसमें प्रज्ञापना, की रचना हुई । यद्यपि षट्खण्डागम में कुछ स्थल तो ऐसे हैं जो प्रज्ञापना की अपेक्षा भी प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हैं किन्तु षट्खण्डागम में अनुयोगद्वार के माध्यम से जो व्याख्या-शैली अपनायी गयी है, उसमें नय-निक्षेप पद्धति का जो अनुसरण पाया जाता है वह प्रज्ञापना में उपलब्ध नहीं है और इस दृष्टि से प्रज्ञापना षट्खण्डागम की अपेक्षा प्राचीन प्रतीत होता है । उसी प्रकार प्रज्ञापना में गुणस्थान सिद्धान्त का कोई भी निर्देश उपलब्ध नहीं होता, जबकि षट्खण्डागम में तो गुणस्थान सिद्धान्त विवेचन का मुख्य आधार रहा है । इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रज्ञापना को अपेक्षा षट्खण्डागम परवर्ती है । जहाँ प्रज्ञापना ईसा पूर्व प्रथम शती की रचना है वहाँ षट्खण्डागम ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी के पूर्व की रचना नहीं है, फिर भी दोनों में विषयवस्तु एवं शैलीगत साम्य यही सूचित करता है कि दोनों के विकास का मूल स्रोत एक ही परम्परा है ।

प्रो० हीरालाल जैन और प्रो० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने षट्खण्डागम की धवला टीका की पुस्तक १ खण्ड भाग १ के द्वितीय संस्करण की अपनी भूमिका में पं० दलमुख भाई मालवणिया के उपर्युक्त विचारों की समीक्षा की है, किन्तु वे भी यह ता मानते ही हैं कि षट्खण्डागम और प्रज्ञापना में विषयवस्तुगत साम्य है ।^१ चाहे वे यह नहीं मानें कि षट्खण्डागम पर प्रज्ञापना का प्रभाव है, किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि इस समानता का आधार दोनों की पूर्व परम्परा एक होना है और यह सत्य है कि श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही उत्तर-भारत की निग्नन्थ परम्परा के समान रूप से उत्तराधिकारी रहे हैं और इसीलिए दोनों की आगमिक परम्परा एक ही है तथा यही उनके आगमिक ग्रन्थों की निकटता का कारण है । षट्खण्डागम में स्त्री-मुक्ति का समर्थन और श्वेताम्बर आगमिक और निर्युक्ति साहित्य में उसकी शैली और विषयवस्तुगत समानता यही सिद्ध करती है कि वह यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है ।

१ देखें—षट्खण्डागम खण्ड १, भाग १, पुस्तक १ के द्वितीय संस्करण की भूमिका पृ०

मूल षट्खण्डागम और श्वेताम्बर आगम साहित्य से किस प्रकार नितकता है उसे निम्न तुलनात्मक विवरणों से सम्यक रूप से जाना जा सकता है—

प्रज्ञापना और षट्खण्डागम

प्रज्ञापना सूत्र

समयं वक्कंताणं समयं तेसिं सरीरनिव्वत्ती ।
समयं अणुग्गहणं समयं ऊसास-नीसासे ॥ ९९ ॥

षट्खण्डागम

सूत्र १२४ समगं वक्कंताणं समगं तेसिं सरीरणिप्पत्ती ।
समगं च अणुग्गहणं समगं उस्सासणिस्सासो ॥

प्रज्ञापना सूत्र

एक्कस्स उ जं गहणं बहूण साहारणाण तं चेव ।
जं बहुयाणं गहणं समासओ तं पि एगस्स ॥१००॥

षट्खण्डागम

सूत्र १२३ एयस्स अणुग्गहणं बहूण साहारणाणमेयस्स ।
एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स ॥

प्रज्ञापना सूत्र

साहारणमाहारो साहारणमाणुपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एयं ॥१०१॥

षट्खण्डागम

सूत्र १२२ साहारणमाहारो साहारणमाणुपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भाणिदं ॥

स्थानांग और षट्खण्डागम

स्थानांग

मणसा वयसा काएण वावि जुत्तस्स विरियपरिणामो ।
जीवस्स अप्पणिज्जो स जोगसन्नो जिणक्खाओ ॥

—स्थानांग स्थान ३, पृ० १०१

षट्खण्डागम

मणसा वचसा काएण चावि जुत्तस्स विरियपरिणामो ।
जीवस्सप्पणियोओ जोगो त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठो ॥

—षट्खण्डागम खण्ड १ भाग १ पुस्तक १ पृ० १०६

आवश्यक निर्युक्ति और षट्खण्डागम

आवश्यक निर्युक्ति—

अंगुलमावलियाणं, भागमसंखिज्ज दोसु संखिज्जा ।
अंगुलमावलिअंतो, आवलिया अंगुलपुहुत्तं ॥ ३२ ॥

षट्खण्डागम—

अंगुलमावलियाए मागमसंखेज्ज दो वि संखेज्जा ।
अंगुलमावलियंतो आवलियं चांगुलपुधत्तं ॥३०४॥

आवश्यक निर्युक्ति—

भरहंमि अद्धमासो, जंबूदीवंमि साहो मासो ।
वासं च मणुअलोए, वासपुहुत्तं च ह्यगंमि ॥ ३४ ॥

षट्खण्डागम—

भरहम्मि अद्धमासं साहियमासं च जंबूदीवम्मि ।
वासं च मणुअलोए वासपुधत्तं च ह्यजगम्मि ॥३०७॥

आवश्यक निर्युक्ति—

संखिज्जंमि उ काले, दीवसमुद्दावि हुंति संखिज्जा ।
कालंमि असंखिज्जे, दीवसमुद्दा उ भइयव्वा ॥ ३५ ॥

षट्खण्डागम—

संखेज्जदिमे काले दीव-समुद्दा हवंति संखेज्जा ।
कालम्मि असंखेज्जे दीव-समुद्दा असंखेज्जा ॥३०८॥

आवश्यक निर्युक्ति—

काले चउण्ह वुड्ढी, कालो भइयव्वु खित्तबुड्ढीए ।
वुड्ढीइ दव्वपज्जव, भइयव्वा खित्तकाला उ ॥ ३६ ॥

षट्सण्डागम—

कालो चदुण्ण वुड्ढी कालो भजिदव्वो खेत्तवुड्ढीए ।
वुड्ढीए दव्व-पज्जय भजिदव्वा खेत्त-काला दु ॥ ३०९ ॥

आवश्यक निर्युक्ति—

सक्कीसाणा पढमं, दुच्चं च सणकुमारमाहिदा ।
तच्चं च बंभलंतग, सुक्कसहस्सार य चउत्थीं ॥ ४८ ॥

षट्सण्डागम—

सक्कीसाणा पढमं दोच्चं तु सणक्कुमार-माहिदा ।
तच्चं तु बम्ह-लंतय सुक्क-सहस्सारया चोत्थं ॥ ३१६ ॥

आवश्यक निर्युक्ति—

आणयपाणयकप्पे, देवा पासंति पंचमि पुढवीं ।
तं चेव आरणच्चूय, ओहीनाणेण पासंति ॥ ४९ ॥

षट्सण्डागम—

आणद-पाणदवासी तह आरण-अच्चुदा य जे देवा ।
पस्संति पंचमस्सिदिं छट्ठिमं गेवज्जया देवा ॥ ३१८ ॥

आवश्यक निर्युक्ति—

उक्कोसो मणुएसुं, मणुस्सतिरिएसु य जहण्णे य ।
उक्कोस लोमिस्सो, पडिवाइ परं अपडिवाई ॥ ५३ ॥

षट्सण्डागम—

उक्कस्स माणुसेसु य माणुस-तेरिच्छए जहण्णोही ।
उक्कस्स लोमिस्सं पडिवादी तेण परमपडिवादी ॥ ३२७ ॥

विवेचन शैलीगत समानता

प्रज्ञापना	षट्सण्डागम
१. दिशा	—
२. गति	१. गति
३. इन्द्रिय	२. इन्द्रिय
४. काय	३. काय
५. योग	४. योग
६. वेद	५. वेद
७. कषाय	६. कषाय
८. लेख्या	१०. लेख्या
९. सम्यक्त्व	१२. सम्यक्त्व
१०. ज्ञान	७. ज्ञान
११. दर्शन	९. दर्शन
१२. संयत	८. संयम
१३. उपयोग	—
१४. आहार	१४. आहारक
१५. भाषक	—
१६. परित्त	—
१७. पर्याप्त	—
१८. सूक्ष्म	—
१९. संज्ञी	१३. संज्ञी
२०. भव	११. भव्य
२१. अस्तिकाय	—
२२. घरिम	—
२३. जीव	—
१४. क्षेत्र	—
२५. बंध	—
२६. पुद्गल	—

यतिवृषभ के कसायपाहुड चूर्णिसूत्र और तिलोयपण्णत्ति

यह हम सिद्ध कर चुके हैं कि कसायपाहुड मूलतः उत्तर भारत की अविभक्त निर्गन्ध परम्परा में निर्मित हुआ था, अतः उसके उत्तराधिकारी

यापनीय और श्वेताम्बर दोनों ही रहे हैं। जहाँ तक कसायपाहुड के चूर्णिसूत्रों का प्रश्न है वे यतिवृषभ के कहे जाते हैं। यतिवृषभ का एक अन्य ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति भी उपलब्ध है किन्तु जैसा कि प्रबुद्ध दिग्म्बर विद्वान् पं० नाथूराम प्रेमी, पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री आदि का कहना है कि इस ग्रन्थ में पर्याप्त मिलावट हुई है। अतः उसके आधार पर यतिवृषभ की परम्परा का निश्चय नहीं किया जा सकता है। किन्तु यदि हम मात्र कसायपाहुड की चूर्ण पर विचार करें तो उसमें ऐसा कोई भी संकेत उपलब्ध नहीं होता जिनके आधार पर यतिवृषभ को यापनीय मानने में बाधा उत्पन्न हो। पं० हीरालालजी जैन^१ ने कसायपाहुड की प्रस्तावना में स्पष्टरूप से यह स्वीकार किया है कि यतिवृषभ के सम्मुख षट्खण्डागम, कम्मपयडी, सतक और सित्तरी, ये चार ग्रन्थ अवश्य विद्यमान थे। पुनः उन्होंने विस्तारपूर्वक उन सन्दर्भों को भी प्रस्तुत किया है, जो कसायपाहुडचूर्ण और इन ग्रन्थों में पाये जाते हैं। विस्तारभय से हम यहाँ केवल निर्देश मात्र कर रहे हैं। उन्होंने कसायपाहुडचूर्ण, कम्मपयडीचूर्ण, सतकचूर्ण और सित्तरीचूर्ण का तुलनात्मक विवरण भी प्रस्तुत किया है। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन के इच्छुक विद्वान् उनकी कसायपाहुड की भूमिका देख सकते हैं। यद्यपि कसायपाहुड की चूर्ण की कम्मपयडी चूर्ण, सतकचूर्ण और सित्तरीचूर्ण से जो शैली और विचारगत समरूपता है उसके आधार पर उन्होंने कम्मपयडीचूर्ण, सतकचूर्ण और सित्तरीचूर्ण के रचयिता भी यतिवृषभ ही हैं—ऐसा अनुमान किया है। वे लिखते हैं कि सतकचूर्ण, सित्तरीचूर्ण, कसायपाहुडचूर्ण और कम्मपयडीचूर्ण, इन चारों ही चूर्णियों के रचयिता एक ही आचार्य हैं। कसायपाहुडचूर्ण के रचयिता यतिवृषभ प्रसिद्ध ही हैं। शेष तीनों चूर्णियों के रचयिता, उपयुक्त उल्लेखों से वे ही सिद्ध होते हैं। अतः चारों चूर्णियों की रचनाएँ आचार्य यतिवृषभ की ही कृतियाँ हैं^२।

किन्तु यदि हम निष्पक्ष भाव से विचार करें, तो पं० हीरालाल जी की यह मान्यता उनके साम्प्रदायिक आग्रह का ही परिणाम है। यह सत्य है कि इन ग्रन्थों में विषयवस्तुगत और शैलीगत समानताएँ हैं किन्तु इस समानता के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना कि ये सभी यतिवृषभ की कृतियाँ हैं उचित नहीं है। क्या मूलाचार, आवश्यकनियुक्ति,

१. देखें—कसायपाहुडसुत्त, प्रस्तावना पृ० २८

२. वही, प्रस्तावना पृ० ५२

आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान आदि को शताधिक गाथाओं के समान होने के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि मूलाचार, आवश्यकनिर्युक्ति, आतुर-प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान आदि का रचयिता एक ही है ? वस्तुतः ऐसा कहना दुस्साहसपूर्ण होगा। हम मात्र यही कह सकते हैं कि इन्होंने परस्पर एक दूसरे से अथवा अपनी ही पूर्व परंपरा से ये गाथाएँ ली हैं। दिगम्बर परम्परा में मान्य पंचसंग्रह (प्राकृत) में 'सतक' और 'सित्तरी' दोनों ग्रन्थ समाहित हैं। श्वेताम्बर परम्परा के सतक और सित्तरी से जब इनकी तुलना करते हैं तो हम पाते हैं कि २-३ गाथाओं को छोड़कर दोनों की सम्पूर्ण गाथाएँ एक समान हैं, अन्तर मात्र महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृत का है।

कसायपाहुडचूर्ण के अतिरिक्त कम्मपयडी, सतक और सित्तरीचूर्ण मूलतः श्वेताम्बर भण्डारों से ही उपलब्ध हुई हैं और श्वेताम्बर परम्परा में ही प्रचलित रही हैं। यदि हम उनकी भाषा का विचार करें तो स्पष्ट रूप से यह निश्चित हो जाता है कि दोनों की परम्पराएँ भिन्न हैं। जहाँ कसायपाहुडचूर्ण शौरसेनी प्राकृत में उपलब्ध होता है वहाँ कम्मपयडी चूर्ण, सतकचूर्ण और सित्तरीचूर्ण महाराष्ट्री प्रभावित अर्धमागधी में उपलब्ध हैं। आज तक न तो श्वेताम्बर परम्परा का कोई ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जो शौरसेनी प्राकृत में रचा गया हो और न दिगम्बर तथा यापनीय परम्परा में ऐसा ग्रन्थ पाया गया है जो महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया हो। यह निर्विवाद है कि न तो श्वेताम्बरों ने शौरसेनी प्राकृत को अपने लेखन का आधार बनाया और न ही यापनीय और दिगम्बर परम्परा ने अर्धमागधी तथा महाराष्ट्री प्राकृत को कभी अपनाया। हाँ इतना अवश्य हुआ है कि जब किसी यापनीय या दिगम्बर आचार्य ने श्वेताम्बर परम्परा में मान्य अर्धमागधी अथवा महाराष्ट्री प्राकृत ग्रन्थों के आधार पर कोई रचना की तो अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आ गया। इसी प्रकार जब किसी श्वेताम्बर आचार्य ने किसी शौरसेनी प्राकृत के ग्रन्थ को आधार बनाकर कोई रचना की तो उस पर शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव आ गया है। यद्यपि शौरसेनी प्रभाव-युक्त महाराष्ट्री प्राकृत के ग्रन्थों में तीर्थोद्गालिक प्रकीर्णक को छोड़कर अन्य कोई रचना उपलब्ध नहीं है, जो अनेक प्रश्नों पर श्वेताम्बर मान्यता से भिन्न है। जबकि अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव से युक्त शौरसेनी प्राकृत के अनेकों ग्रन्थ हैं। प्रायः यापनीय और दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों पर अर्धमागधी या महाराष्ट्री का प्रभाव देखा

जाता है, जो इस तथ्य का प्रमाण है कि इनकी गाथाएँ अर्धमागधी स्रोतों से आयी है।

यह स्पष्ट है कि प्राचीन स्तर के जो ग्रन्थ अपनी विषय-वस्तु एवं शैली की दृष्टि से अर्धमागधी आगमों और आगमिक व्याख्याओं के निकट हैं और जो शौरसेनी प्राकृत में रूढान्तरित या रचित हैं, वे निश्चित रूप से यापनीय हैं और इस दृष्टि से विचार करने पर हम स्पष्टतया इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कसायपाहुडचूर्णि यापनीय परम्परा का ही ग्रंथ है और इसके लेखक यतिवृषभ भी यापनीय हैं।

जहाँ तक यतिवृषभ और उनके कसायपाहुडचूर्णिसूत्रों के रचनाकाल का प्रश्न है, जयध्वला के अनुसार यतिवृषभ आर्य मंक्षु के शिष्य और आर्य नागहस्ति के अन्तेवासी थे और उन्होंने उन्हीं से कसायपाहुड का अध्ययन कर चूर्णिसूत्रों की रचना की थी किन्तु इस कथन की विश्वसनीयता संदेहास्पद है।

अभिलेखीय और अन्य साक्ष्यों के आधार पर आर्य मंक्षु और नागहस्ती का काल ईस्वी सन् की दूसरी शती सिद्ध है। प्रथम तो चूर्ण लिखने की परम्परा जैनों के अतिरिक्त अन्यत्र प्राप्त नहीं होती है। पुनः जैन परम्परा में भी चूर्णियाँ मात्र छठी-सातवीं शताब्दी से लिखी जाने लगी हैं और वह भी मात्र श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं में ही। मूल-संघीय दिगम्बर परम्परा में कोई चूर्ण नहीं लिखा गई है। पुनः यापनीय परम्परा में भी कसायपाहुड के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ पर चूर्ण लिखी गई हो इसके संकेत प्राप्त नहीं होते। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में कर्म साहित्य और आगमिक साहित्य पर लगभग २२ से अधिक चूर्णियाँ लिखी गई हैं। कसायपाहुडचूर्ण की श्वेताम्बर परम्परा की कम्मपयडो-चूर्ण, सतकचूर्ण और सित्तरोचूर्ण से शैलीगत निकटता भी यही सूचित करती है कि कसायपाहुडचूर्ण का रचनाकाल भी लगभग छठी-सातवीं शती होगा और इसी आधार पर यतिवृषभ का काल भी यही मानना होगा। अधिकांश दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वानों ने उनका यही काल माना भी है। बाधा यही है कि इससे वे कल्पसूत्र एवं नन्दोसूत्र की स्थ-विरावलियों में उल्लिखित आर्यमंक्षु एवं नागहस्ति के शिष्य और अन्ते-वासी न होकर परम्परा-शिष्य ही सिद्ध होंगे। क्योंकि इन्होंने आर्य मंक्षु और नागहस्ति के मतों का उल्लेख किया है और आर्य मंक्षु का उपदेश विच्छिन्न और नागहस्ति के उपदेश को अविच्छिन्न माना है, इसी आधार पर ध्वलाकार ने इन्हें उनका शिष्य मान लिया है।

यतिवृषभ से आर्य मंक्षु और नागहस्ति के शिष्य मानने का आधार यतिवृषभ द्वारा मंक्षु और नागहस्ति के मतों का क्रमशः अपव्वाइजंत और पव्वाइजंत के रूप में उल्लेख करता है। पं० हीरालाल जी ने जयधवला के आधार पर इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, "जो उपदेश सर्व आचार्यों से सम्मत है, चिरकाल से अविच्छिन्न सम्प्रदाय द्वारा प्रवाहरूप से आ रहा है, और गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा प्ररूपित किया जाता है, वह प्रवाह्यमान (पव्वाइजंत) उपदेश कहलाता है। इससे भिन्न जो सर्व आचार्य-सम्मत न हो और अविच्छिन्न गुरु-शिष्य-परम्परा से नहीं आ रहा हो, ऐसे उपदेश को अप्रवाह्यमान (अपव्वाइजंत) उपदेश कहते हैं। आर्यमंक्षु आचार्य के उपदेश को अप्रवाह्यमान और नागहस्ति क्षमाश्रमण के उपदेश को प्रवाह्यमान उपदेश समझना चाहिए।" पं० हीरालालजी का कथन है कि वह (कम्मपयडो) आ० यतिवृषभ के सामने उपस्थित ही नहीं थे बल्कि उन्होंने प्रस्तुत चूर्ण में उसका भरपूर उपयोग भी किया है।^१ कम्मपयडो को शिवशर्मसूरि की रचना माना जाता है—इनका काल ५वीं शती है। अतः सम्भव यही है कि यतिवृषभ का काल इनके पश्चात् अर्थात् ईसा की छठी-सातवीं शती हो। गुणस्थान सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से यह मानना होगा कि आर्य मंक्षु और नागहस्ति कर्म प्रकृतियों के विशिष्ट ज्ञाता थे, वे कसायपाहुड के वर्तमान स्वरूप के प्रस्तोता नहीं थे, मात्र यही माना जा सकता है कि कसायपाहुड को रचना का आधार उनकी कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी अवधारणाएँ हैं क्योंकि आर्य मंक्षु और नागहस्ति का काल ई० सन् की दूसरी शताब्दी का है। यदि हम कसायपाहुड में प्रस्तुत गुणस्थान की अवधारणा पर विचार करें तो ऐसा लगता है कि कसायपाहुड की रचना गुणस्थान सिद्धान्त की अवधारणा के निर्धारित होने के बाद हुई है। अर्धमागधी आगम साहित्य में यहाँ तक कि प्रज्ञापना जैसे विकासत आगम और तत्त्वार्थसूत्र में भी गुणस्थान का सिद्धान्त सुव्यवस्थित रूप नहीं ले पाया था, जबकि कसायपाहुड में गुणस्थान-सिद्धान्त सुव्यवस्थित रूप लेने के बाद ही रचा गया है। अतः यदि तत्त्वार्थ का रचनाकाल ईसा की दूसरी-तीसरी शती है तो उसका काल ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी मानना होगा। किन्तु यदि हम प्रज्ञापना के कर्ता आर्यश्याम के बाद नन्दीसूत्र स्थविरावली में उल्लेखित स्वाति को तत्त्वार्थ

१. देखें—कसायपाहुडसुत्त पृ० टिप्पणी सहित

२. कसायपाहुडसुत्त की प्रस्तावना पृ० ३८

के कर्ता उमास्वाति माने अथवा उमास्वाति का काल कम से कम ईसा की प्रथम शताब्दी माने, तब ही कसायपाहुड के कर्ता और प्रस्तोता के रूप में गुणधर, आर्यमंक्षु और आर्य नागहस्ति को स्वीकार किया जा सकता है, तथापि यतिवृषभ को आर्यमंक्षु और आर्य नागहस्ति का साक्षात् शिष्य और अन्तेवासी मानना सम्भव नहीं है। वे उनके परम्परा शिष्य ही हैं। वर्तमान में कसायपाहुडसुत्त में चूलिका और भाष्य भी उपलब्ध होते हैं। संक्षिप्त भाष्यों की रचनाएँ नियुक्तियों के बाद और बृहद्-कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य और विशेषावश्यकभाष्य जैसे विस्तृत भाष्य ग्रन्थों की रचना के पहले होने लगी थी। इनका काल लगभग ईसा की पाँचवीं शताब्दी मानना होगा। कसायपाहुड की भाष्य गाथाएँ भी इसी काल की होंगी और छठी-सातवीं शताब्दी में उस पर यह चूर्ण लिखी गई होगी।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण में अपने विशेषावश्यक भाष्य में आदेश-कषाय के स्वरूप की चर्चा करते हुए 'केचित्' कहकर उसके यतिवृषभके चूर्णसूत्र में निर्दिष्ट स्वरूप का उल्लेख किया है और यह बताया है कि वह स्थापनाकषाय से भिन्न नहीं है, उसी में उसका अन्तर्भाव हो जाता है। इस आधार पर पं० नाथूराम प्रेमी के अनुसार यतिवृषभ वि० सं० ६६६ के पूर्व हुए यह निश्चित होता है, यह उनकी उत्तरसीमा है। यतिवृषभ वि० सं० ५१५ के पूर्व भी नहीं हुए हैं क्योंकि यतिवृषभ के द्वारा सर्वनन्दी के लोकविभाग का तिलोयपण्णत्ति में पाँच बार उल्लेख हुआ है और सर्वनन्दी का लोकविभाग वि० सं० ५१५ (ई० सं० ४५८) की रचना है। इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ति में वीरनिर्वाण के १००० वर्ष बाद तक की राज्य-परम्परा का उल्लेख है। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार वी० नि० के १००० वर्ष बाद कल्की की मृत्यु हुई और उसके बाद उसके पुत्र ने दो वर्ष तक धर्मराज्य किया। अतः तिलोयपण्णत्ति वी० नि० सं० १००२ तदनुसार वि० सं० ५३२ अर्थात् ई० सन् ४७५ के बाद ही कभी रची गयी है। अतः यह मानने में कोई बाधा नहीं आती है कि यतिवृषभ वि० सं० ५३५ से वि० सं० ६६६ के बीच हुए हैं^२ और इस आधार पर उनके चूर्णसूत्रों का रचनाकाल ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी ही सिद्ध होता है। पुनः तिलोयपण्णत्ति के अन्त में पाई जानेवाली 'चूर्णिसरूवट्ट' इत्यादि गाथा के

१. जैन साहित्य और इतिहास (पं० नाथूरामजी प्रेमी) पृ० १०

२. वही, पृ० १०

उल्लेख से सिद्ध हैं कि तिलोयपण्णत्ति की रचना के पूर्व कम्मपयडीचूर्णि की रचना हो चुकी थी। इससे यही सिद्ध होता है कि यतिवृषभ का काल ६-७ शताब्दी है, क्योंकि अन्य प्राचीनचूर्णियों का रचना काल भी यही है। पं० हीरालालजी ने कम्मपयडी शतक और सित्तरी चूर्णियों के मंगल पद्यों की शब्दावली और शैलीगत एकरूपता को स्पष्ट किया है।^१ यह सत्य है कि वे सभी मंगल पद्य नन्दीसूत्र की आदि मंगल गाथाओं से प्रभावित है और यही सिद्ध करते हैं कि ये चूर्णियाँ नन्दीसूत्र के बाद की हैं और उसी परम्परा की हैं।

भाष्य और चूर्ण लिखने की परम्परा श्वेताम्बरों में ही रही है, दिग्म्बरों ने न तो कोई भाष्य लिखा गया और न कोई चूर्ण ही। अतः सम्भावना यही है कि यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र यापनीय परम्परा के ही होंगे, क्योंकि यापनियों और श्वेताम्बरों में आगमिक ज्ञान का पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ है।

यदि यतिवृषभ, आर्यमंक्षु और नागहस्ति के परम्परा शिष्य भी हो तो सम्भावना यही है कि वे बोटिक / यापनीय होंगे। क्योंकि उत्तर भारतीय अबियल निर्गन्ध परम्परा के आर्य मंक्षु और नागहस्ति का सम्बन्ध बोटिक / यापनीयों से हो सकता है, मूलसंघीय दक्षिण भारतीय कुन्दकुन्द की दिग्म्बर परम्परा से नहीं।

प्राकृत लोक विभाग, जिसके कर्ता सर्वनन्दी हैं, का उल्लेख यतिवृषभ ने अपनी तिलोयपण्णत्ति में पाँच बार किया है। शिवार्य ने भगवती आराधना में जिननन्दी, सर्वगुप्तगणि और मित्रनन्दी का उल्लेख अपने गुरुओं के रूप में किया है। पं० नाथूराम प्रेमीजी ने यह माना है कि ये सर्वगुप्तगणि ही सर्वनन्दी हों। साथ ही उन्होंने इन्हें यापनीय होने की सम्भावना प्रकट की है।^२ अतः सम्भव यही है कि यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति में अपनी ही परम्परा के आर्य सर्वनन्दी की कृति को उद्धृत किया हो।

यतिवृषभ के आगे विशेषण के रूप में जो यति विरुद्ध है वह भी श्वेताम्बरों और यापनीयों में प्रचलित रहा है। इन्द्रनन्दी ने श्रुतावतार में उन्हें यतिपति कहा है।^३ यापनीय-शाकाटायन का यतिग्राम-अग्रणी

१. कसायपाहुडसुत्त प्रस्तावना पृ० ५२-५३

२. जैनसाहित्य और इतिहास, (पं० नाथूरामजी प्रेमी) पृ० १-३

३. यतिवृषभनामधेयो...ततो यतिपतिना । श्रुतावतार १५५-५६

कहा गया है। इसके विपरीत दक्षिण भारतीय दिगम्बर परम्परा में 'यति' विरुद्ध प्रचलित रहा हो, ऐसी हमें जानकारी नहीं है, किन्तु यापनीय परम्परा से निकले कण्ठासंघ के भट्टारक 'यति' कहे जाते रहे हैं, उदाहरणार्थ सोनागिर के भट्टारकों की गद्दी आज भी यतिजो की गद्दी कही जाती है।

यतिवृषभ के चूर्णसूत्रों में न तो स्त्रीमुक्ति का निषेध है और न केवलिमुक्ति का। अतः उन्हें यापनीय परम्परा से सम्बद्ध मानने में कोई बाधा नहीं आती।

यतिवृषभ को यापनीय मानने के लिए एक आधार यह भी है कि अपराजित ने भगवती आराधना की गाथा २०६९ (शोलापुर संस्करण) की टीका में यतिवृषभ द्वारा श्रावस्ती में शस्त्र ग्रहण करके देह त्याग करने का उल्लेख किया है। यह कथा हरिषेण के बृहद्-कथा कोष में क्रमांक १५६ पर और नेमिदत्त के आराधना कोष में क्रम ८१ पर विस्तार से वर्णित है। यद्यपि भगवती आराधना की मूल गाथा में मात्र 'गणि' शब्द का उल्लेख है किन्तु टीकाकार अपराजित तथा बृहद्कथाकोष के कर्ता हरिषेण ने उन्हें यतिवृषभ कहा है। सम्भवतः टीकाकार और बृहद्कथाकोषकार के सम्मुख कोई अनुश्रुति रही होगी। यह स्पष्ट है कि भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य, टीकाकार अपराजित यापनीय और बृहद्कथाकोषकार हरिषेण पुन्नाटसंघीय रहे हैं और इसलिए सम्भावना यही है कि उन्हें यह कथा अनुश्रुति से प्राप्त हुई हो और यतिवृषभ उन्हीं के परम्परा के प्राचीन आचार्य रहे हों।

पुनः यतिवृषभ के देहत्याग की यह घटना उत्तर भारत के श्रावस्ती नगर में घटित हुई थी। उत्तर भारत ही बोटिक या यापनीयों का केन्द्र था। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि यतिवृषभ उत्तर भारतीय अचेल परम्परा के आचार्य हैं।

यतिवृषभ को यापनीय मानने में एकमात्र बाधा यह है कि उनको तिलोपपण्णत्ति में आगमों के विच्छेद का जो क्रम दिया गया है, वह यापनीय परम्परा के अनुकूल नहीं है, क्योंकि अपराजित (९ वीं शती) अपनी विजयोदया टीका में आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, बृहद्-कल्प, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प आदि आगमों का न केवल नामो-ल्लेख कर रहे हैं, अपितु उनके अनेकों वाक्यांश या गाथायें भी उद्धृत

कर रहे हैं। किन्तु तिलोयपण्णत्ति को यापनीय कृति मानने में आगमों का विच्छेद बताने वाली गाथाएँ बहुत बाधक नहीं हैं। प्रथम तो तिलोय-पण्णत्ति में पर्याप्त मिलावट हुई है, यह तथ्य दिगम्बर विद्वान् भी स्वीकृत करते हैं। पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं कि “इस तरह पं० फूलचन्द्र-जी के लेख से और जयधवला की प्रस्तावना से मालूम होता है कि उप-लब्ध तिलोयपण्णत्ति अपने असल रूप में नहीं है। धवला टीका के बाद (अर्थात् १०वीं शताब्दी के पश्चात्) उसमें संस्कार संशोधन, परिवर्तन, मिलावट की गई है।” इसी प्रकार जयधवला की प्रस्तावना में पं० फूलचन्द्रजी लिखते हैं कि “वर्तमान तिलोयपण्णत्ति जिस रूप में पाई जाती है, उसी रूप में यतिवृषभ ने उसकी रचना की थी, इसमें सन्देह है। हमें लगता है कि यति वृषभ कृत तिलोयपण्णत्ति में कुछ अंश ऐसा भी है, जो बाद में सम्मिलित किया गया और कुछ अंश ऐसा भी है जो किसी कारण से उपलब्ध प्रतियों में लिखने से छूट गया है।” अतः इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मूल तिलोयपण्णत्ति यापनीय कृति रही हो और यतिवृषभ भी यापनीय हो।

दूसरे मुझे ऐसा लगता है कि जब यापनीय संघ में आगमों के अध्ययन-अध्यापन प्रवृत्ति शिथिल हो गई, अपनी परम्परा में निर्मित ग्रन्थों से ही उनका काम चलने लगा तभी आचार्यों द्वारा आगमों के क्रमिक उच्छेद की बात कही जाने लगी। सर्वप्रथम तिणोयपण्णत्ति, धवला और जयधवला में ही यह चर्चा आई। पुन्नाटसंघीय जिनसेन के हरिवंश के अंत में तो नाम भी नहीं दिये हैं, मात्र विच्छेद काल का उल्लेख किया है।

सभी ग्रन्थों में उपलब्ध सूचियों में सामान्यतया नाम और कालक्रम की एकरूपता भी यही बताती है कि इन सभी का मूल स्रोत एक ही रहा होगा। वैसे आगमिक ज्ञान के विच्छेद का अर्थ यह भी नहीं है कि आगम-ग्रन्थ सर्वथा विच्छेद हो गये। आगमों के एक देश ज्ञान की उपस्थिति तो सभी ने मानी ही है। मेरी दृष्टि में तो जब आगमों की विषय वस्तु एवं पदसंख्या को लेकर हमारे आचार्य उस समय के उपलब्ध ग्रन्थों की उपेक्षा करके उनकी महत्ता दिखाने के लिए कल्पना लोक में उड़ाने भरने लगे और आगमों की पद संख्या लाख और करोड़ की संख्या भी को पार करके आगे बढ़ने लगे और जब यह कहा जाने लगा कि विपाकसूत्र में एक करोड़ चौरासी लाख बत्तीस हजार पद थे अथवा १४वाँ पूर्व इतना बड़ा था कि उसे लिखने के लिए १४ हाथी डूब जाये इतनी स्याही लगती थी

और उसमें साढ़े बारह करोड़ पद थे ।^१ किन्तु वास्तविकता तो इससे भिन्न थी उन नामों से उपलब्ध ग्रन्थों का आकार उस कल्पित पद संख्या से बहुत छोटा था, अतः बचाव के लिए यह कहा जाने लगा कि आगम विच्छिन्न हो गये । जब वह श्वेताम्बर परम्परा भी जो आगमों का संरक्षण कर रही थी कहने लगी कि आगम-विच्छिन्न हो रहे हैं, तो दिगम्बर और यापनीय परम्पराओं द्वारा उनके विच्छेद की बात करना स्वाभाविक ही था । श्वेताम्बर परम्परा के आगमिक प्रकीर्णक 'तीर्थोद्गालिक' में भी आगमों के उच्छेद क्रम का उल्लेख है ।^२ जब आगमों के होते हुए भी श्वेताम्बर परम्परा उनके विच्छेद की बात कर सकती है, तो यापनीय आचार्यों द्वारा उनके विच्छेद की बात करना आश्चर्यजनक भी नहीं है । अतः आगमों के उच्छेद की बात करने मात्र से किसी ग्रन्थ के यापनीय होने को नकारा नहीं जा सकता है । तिलोपपणत्ति में आगमों के विच्छेद की बात आ जाने से भी उसका यापनीय होना नकारा नहीं जा सकता है ।

क्योंकि आगम विच्छेद की यह चर्चा न केवल दिगम्बर में उठी हो, ऐसी बात नहीं है, वह यापनीयों और श्वेताम्बरों में भी हुई है । इस सम्बन्ध में वास्तविकता क्या है, इस प्रश्न पर पं० दलसुख भाई मालवणिया ने जैन साहित्य के बृहद् इतिहास की भाग १ की प्रस्तावना में गम्भीरता से विचार किया है । हम यहाँ उन्हीं के विचारों को शब्दशः उद्धृत कर रहे हैं अतः पाठक यथार्थता को समझ सके । वे लिखते हैं कि "अब आगमविच्छेद के प्रश्न पर विचार किया जाय । आगमविच्छेद के विषय में भी दो मत हैं । एक के अनुसार 'सुत्त' विनष्ट हुआ है, तब दूसरे के अनुसार 'सुत्त' नहीं किन्तु सुत्तधर—प्रधान अनुयोगधर विनष्ट हुए हैं ।"^३ इन दोनों मान्यताओं का निर्देश नन्दी-चूणि जितना तो पुराना है ही । आश्चर्य तो इस बात का है कि दिगम्बर परम्परा के धवला (पृ० ६५) में तथा जयधवला (पृ० ८३) में दूसरे पक्ष को माना गया है अर्थात् श्रुतधरों के विच्छेद की चर्चा प्रधान रूप से की गयी है और श्रुतधरों के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद फलित माना गया है । किन्तु आज का

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० ४७, ४८ एवं ५० ।
(आधारभूत ग्रन्थ नन्दीवृत्ति, समवायाग वृत्ति और धवला आदि) ।
२. पइण्यसुत्ताई—तिष्योगाली (महावीर विद्यालय, बम्बई) गाथा
८०७-८३६, पृ० ४८२-४८४ ।
३. नन्दी-चूणि, पृ० ८ ।

दिगम्बर समाज श्रुत का ही विच्छेद मानता है। इससे भी सिद्ध है कि पुस्तक में लिखित आगमों का उतना ही महत्त्व नहीं है जितना श्रुतधरों की स्मृति में रहे हुए आगमों का।

जिस प्रकार धवला में श्रुतधरों के विच्छेद की बात कही है उसी प्रकार तित्थोगाली प्रकीर्णक में श्रुत के विच्छेद की चर्चा की गई है। वह इस प्रकार है—

प्रथम भगवान् महावीर से भद्रबाहु तक की परम्परा दी गई है और स्थूलभद्र भद्राबाहु के पास चौदहपूर्व की वाचना लेने गये इस बात का निदेश है। यह निर्दिष्ट है कि दसपूर्वधरों में अन्तिम सर्वमित्र थे। उसके बाद निर्दिष्ट है कि वीरनिर्वाण के १००० वर्ष बाद पूर्वों का विच्छेद हुआ। यहाँ पर यह ध्यान देना जरूरी है, यही कि उल्लेख भगवती सूत्र में (२.८) भी है। तित्थोगाली में उसके बाद निम्न प्रकार से क्रमशः श्रुत-विच्छेद की चर्चा की गई है—

ई० ७२३ = वीर-निर्वाण १२५० में विवाहप्रज्ञप्ति और छः अंगों का विच्छेद

ई० ७७३ = ,, १३०० में सभवायांग का विच्छेद

ई० ८२३ = ,, १३५० में ठाणांग का ,,

ई० ८७३ = ,, १४०० में कल्प-व्यवहार का ,,

ई० ९७३ = ,, १५०० में दशाश्रुत का ,,

ई० १३७३ = ,, १९०० में सूत्रकृतांग का ,,

ई० १४७३ = ,, २००० में विशाख मुनि के समय में निशीथ का ,,

ई० १७७३ = ,, २३०० में आचारांग का ,,

दुसमा के श्रुत में दुप्पसह मुनि के होने के बाद यह कहा गया है कि वे ही अन्तिम आचारधर होंगे। उसके बाद अनाचार का साम्राज्य होगा। इसके बाद निर्दिष्ट है कि—

ई० १९९७३ = वीरनि० २०५०० में उत्तराध्ययन का विच्छेद

ई० २०३७३ = ,, २०९०० में दशवैकालिक सूत्र का विच्छेद

ई० २०४७३ = ,, २१००० में दशवैकालिक के अर्थ का विच्छेद,
दुप्पसह मुनि की मृत्यु के बाद।

ई० २०४७३ = ,, २१००० पर्यन्त आवश्यक, अनुयोगद्वार और नन्दी सूत्र अव्यवच्छिन्न रहेंगे।

—तित्थोगाली गा० १९७—८६६.

तित्थोगालीय प्रकरण श्वेताम्बरों के अनुकूल ग्रन्थ है, ऐसा उसके अध्ययन से प्रतीत होता है। उसमें तीर्थकरों की माताओं के १४ स्वप्नों का उल्लेख है—गा० १००, १०२४, स्त्री-मुक्ति का समर्थन भी इसमें किया गया है—गा० ५५६; आवश्यकनिर्युक्ति की कई गाथाएँ इसमें आती हैं गा० ७० से, ३८३ से इत्यादि; अनुयोगद्वार और नन्दी का उल्लेख और उनके तीर्थपर्यन्त टिके रहने की बात, दशआश्चर्य की चर्चा गा० ८८७ से, नन्दीसूत्रगत संघस्तुतिका अवतरण गा० ८४८ से है।

आगमों के क्रमिक विच्छेद की चर्चा जिस प्रकार जैनों में है उसी प्रकार बौद्धों के अनागतवंश में भी त्रिपिटक के विच्छेद की चर्चा की गई है। इससे प्रतीत होता है कि श्रमणों की यह एक सामान्य धारणा है कि श्रुत का विच्छेद क्रमशः होता है। तित्थोगाली में अंगविच्छेद की चर्चा है। इस बात को व्यवहारभाष्य के कर्ता ने भी माना है—

“तित्थोगाली एत्थं वत्तव्वा होइ आणुपुव्वीए।

जे तस्स उ अंगस्स वुच्छेदो जहि विणिद्धिदट्ठो ॥”

—व्य० भा० १५.७०४

इससे जाना जा सकता है कि अंगविच्छेद की चर्चा प्राचीन है और यह दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में चली है। ऐसा होते हुए भी यदि श्वेताम्बरों ने अंगों के अंश को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया और वह अंश आज हमें उपलब्ध है—यह माना जाय तो इसमें क्या अनुचित है ?

एक बात का और भी स्पष्टीकरण जरूरी है कि दिगम्बरों में भी धवला के अनुसार सर्व अंगों का सम्पूर्ण रूप से विच्छेद माना नहीं गया है किन्तु यह माना गया है कि पूर्व और अंग के एकदेशधर हुए हैं और उनकी परम्परा चली है। उस परम्परा के विच्छेद का भय तो प्रदर्शित किया है किन्तु वह परम्परा विच्छिन्न हो गई, ऐसा स्पष्ट उल्लेख धवला या जयधवला में भी नहीं है। वहाँ स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष बाद भारतवर्ष में जितने भी आचार्य हुए हैं वे सभी “सख्वेसिमंगपुव्व्वाणमेकवेसधारया जादा” अर्थात् सर्व अंग-पूर्व के एकदेशधर हुए हैं—जयधवला भा० १, पृ० ८६; धवला, पृ० ६७।

तिलीयपण्णत्ति में भी श्रुतविच्छेद की चर्चा है और वहाँ भी आचारंगधारी तक का समय वीरनि० ६८३ बताया गया है। तिलीय-पण्णत्ति के अनुसार भी अंग श्रुत का सर्वथा विच्छेद मान्य नहीं है। उसे भी अंग-पूर्व के एकदेशधर के अस्तित्व में सन्देह नहीं है। उसके अनुसार

भी अंगवाह्य के विच्छेद का कोई प्रश्न नहीं उठाया गया है। वस्तुतः तिलोयपण्णत्ति के अनुसार श्रुततीर्थ का विच्छेद वीरनि० २०३१७ में होगा अर्थात् तब तक श्रुत का एकदेश विद्यमान रहेगा ही (देखिए, ४. गा० १४७५—१४९३) ।

तिलोयपण्णत्ति में प्रक्षेप की मात्रा अधिक है फिर भी उसका समय डॉ० उपाध्ये ने जो निश्चित किया है वह माना जाय तो ई० सन् ४७३ और ६०९ के बीच है। तदनुसार भी उस समय तक सर्वथा श्रुतविच्छेद की चर्चा नहीं थी। तिलोयपण्णत्ति का ही अनुसरण धवला में माना जा सकता है।^१

इन सब आधारों पर यतिवृषभ और उनके ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति को भी यापनीय मानना होगा। साथ ही यह भी मानना होगा कि उसमें जो कुछ यापनीय परम्परा के विरोध का अंश है वह प्रक्षिप्त अंश है। क्योंकि उसमें हुए प्रक्षेपों को तो पं० फूलचन्दजी और पं० नाथूरामजी प्रेमी जैसे दिग्गज विद्वान् पूर्व में ही स्वीकार कर चुके हैं।

भगवती-आराधना

‘आराधना’ या ‘भगवती आराधना’ यापनीय परम्परा का एक और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता शिवार्य हैं। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है कि “आर्यं जिननंदी गणि, आर्यं सर्वगुप्त गणि और आर्यं मित्रनंदी के चरणों के निकट सूत्रों और उनके अभिप्राय को अच्छी तरह से समझ करके पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध की हुई रचनाओं के आधार से पाणितल भोजी शिवार्य ने यह आराधना अपनी शक्ति के अनुसार रची।^२ ग्रन्थकर्ता ने अपने और अपने तीनों गुरुओं के लिए ‘आर्य’ विशेषण

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १, प्रस्तावना, पृ० ४७-४९।

२. अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं ।
 अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥
 पुब्बापरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ।
 आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥
 छहुमत्थदाए एत्थ दुज्जं बद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं ।
 सोधेंतु सुगीदत्था पवयण वच्छलदाए दु ॥
 आराधणा भगवती एवं भत्तीए वणिदा संती ।
 संबस्स सिवज्जस्स य समाधिवरमुत्तमं देव ॥
 भगवती आराधना—२१५९, २१६०, २१६१, २१६२ ।

का प्रयोग किया है। साथ ही जिगनन्दी और सर्वगुप्त को गणि भी कहा है। मथुरा एवं विदिशा के अभिलेखों एवं कल्प तथा नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों से हमें यह ज्ञात होता है कि ईसा की पाँचवीं शती तक मुनियों के नामों के आगे 'आर्य' तथा साध्वी के लिए 'आर्या' शब्द के प्रयोग का प्रचलन था तथा आचार्य को गणि शब्द से अभिसूचित किया जाता था।^१ विदिशा के अभिलेख में तो आर्यकुल का भी उल्लेख है।^२ यह आर्यकुल यापनीय था—यह बात हम पूर्व में बता चुके हैं। विदिशा के एक अभिलेख^३ में आर्यचन्द्र के लिए 'पाणितल भोजी' विशेषण का प्रयोग हुआ है। आराधना में शिवार्य ने भी अपने लिए 'पाणितल भोजी' का विशेषण प्रयोग किया है। अतः दोनों एक ही परम्परा के प्रतीत होते हैं। मुनि के नाम के साथ 'आर्य' विशेषण का प्रयोग श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं में लगभग छठी-सातवीं शती तक प्रचलित रहा है, जबकि दिगम्बर परम्परा में इसका प्रयोग नहीं देखा जाता है। शिवार्य के साथ लगे हुए 'आर्य' और 'पाणितल भोजी' विशेषण उन्हें यापनीय आर्यकुल से सम्बन्धित सिद्ध करते हैं। उनके गुरुओं के नन्दि नामान्तक नामों के आधार पर भी उनका सम्बन्ध यापनीय परम्परा के नन्दीसंघ से माना जा सकता है।

जिनसेन ने अपने आदिपुराण में इन्हें शिवकोटि कहा है।^४ यद्यपि कुछ दिगम्बर ग्रन्थों में शिवकोटि को समन्तभद्र का शिष्य बताने का प्रयास किया गया है।^५ किन्तु यह मत भ्रामक है। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने इस मत का अपने 'आराधना और उसकी टीका' नामक लेख में विस्तार-पूर्वक खण्डन किया है।^६ शाकटायन ने शिवार्य के गुरु सर्वगुप्त को बड़ा भारी व्याख्याता बताया है। चूँकि शाकटायन भी यापनीय हैं। अतः

१. देखें—जैनशिलालेखसंग्रह भाग २ (माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति), लेख क्रमांक १६, २२, २४, २६, २९, ३०, ३१, ३३, ३६, ४१, ४५, ५१, ५४, ५५, ५६, ५९।
२. देखें—वही, लेख क्रमांक ९१।
३. जर्नल आफ ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट बड़ौदा, जिल्द १८ (सन् १९६९) पृ० २४७-५१, श्री इन्स्क्रिप्शन्स आफ रामगुप्त—जी० एस० घड।
४. आदिपुराण (जिनसेन) १/४९।
५. देखें—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ७६।
६. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ७६-७७।

शिवार्य के गृह के सम्बन्ध में उनकी जानकारी प्रामाणिक है। इस आधार पर सर्वगुप्त और शिवार्य यापनीय परम्परा से ही सम्बद्ध सिद्ध होते हैं।^१

पुनः भगवतीआराधना और उसकी विजयोदया टीका के सन्दर्भ में अपना मत प्रकट करते हुए पं० कैलाशचन्द्र जी अपने प्रधान सम्पादकीय में लिखते हैं कि “भगवती आराधना ग्रन्थ जैन साधु के आचार से सम्बद्ध एक प्राचीन ग्रन्थ है और उसकी टीका विजयोदया भी इस दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है। ये दोनों एक तीसरे सम्प्रदाय के माने जाते हैं, जो न दिगम्बर था न श्वेताम्बर। दिगम्बर सम्प्रदाय आगम ग्रन्थों को मान्य नहीं करता है और श्वेताम्बर सम्प्रदाय साधुओं के वस्त्रपादवाद आदि का समर्थक ही नहीं, किन्तु पोषक है। किन्तु इस ग्रन्थ और टीका से स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ओर इनके रचयिता आगम ग्रन्थों को मान्य करते थे तो दूसरी ओर वे वस्त्रपात्रवाद के घोर विरोधी प्रतीत होते हैं। इससे यह फलित होता है कि वे ऐसे सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, जो न आगम ग्रन्थों को अमान्य ही करता है और न वस्त्रपात्रवाद को स्वीकार ही करता है। ऐसा सम्प्रदाय यापनीय ही हो सकता है।^२ इस सत्य को स्वीकार करके भी अपने सम्प्रदाय के व्यामोह में आगे पंडित जी लिखते हैं कि “इस ग्रन्थ में न तो स्त्री मुक्ति का ही समर्थन है और न केवली मुक्ति का, प्रत्युत अन्त में स्त्री से भी वस्त्र त्याग कराने की इसमें चर्चा है और यापनीय संघ की ये दोनों मान्यताएँ बतलायी जाती हैं। किन्तु हम यह नहीं मान सकते कि इस ग्रन्थ के कर्ता और टीकाकार सवस्त्र मुक्ति या स्त्री मुक्ति के समर्थक होंगे।^३ आश्चर्य यह है कि आदरणीय पंडित जी एक ओर स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि यह ग्रन्थ एक ऐसे सम्प्रदाय का ग्रन्थ है जो न दिगम्बर था और न श्वेताम्बर। वे यह भी मानते हैं कि ऐसा सम्प्रदाय यापनीय ही हो सकता है। यापनीय स्त्रीमुक्ति और केवलीमुक्ति का समर्थन करते थे—यह तथ्य भी वे स्वयं तथा अन्य विद्वान् स्वीकार करते हैं। यापनीय आचार्य शाकटायन ने तो स्वयं ही स्त्रीमुक्ति-केवलीमुक्ति प्रकरण लिखा है। किन्तु यह देखकर कि इस ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से स्त्रीमुक्ति और केवली-भुक्ति की चर्चा नहीं है, वे इस ग्रन्थ, उसके कर्ता और टीकाकार को सवस्त्र

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ७७।

२. भगवती आराधना (शोलापुर), प्रधान सम्पादकीय, पृ० १।

३. वही, पृ० १।

मुक्ति या स्त्री मुक्ति के समर्थक अर्थात् यापनीय होने में सन्देह प्रकट करते हैं। वे लिखते हैं कि हमें वे (अपराजितसूरि) सबसत्र मुक्ति या स्त्री मुक्ति के समर्थक प्रतीत नहीं हुए।^१ सम्भवतः पंडित जी इस ऐतिहासिक तथ्य पर ध्यान नहीं दे पाये कि स्त्री मुक्ति और केवली मुक्ति के प्रश्न ही ६-७वीं सदी के पूर्व किसी भी श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थ में चर्चित नहीं हैं। दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम कुन्दकुन्द ने सुत्तपाहुड में स्त्री मुक्ति का निषेध किया है, किन्तु विद्वानों ने प्रथम तो सुत्तपाहुड के कुन्दकुन्दकृत होने में ही सन्देह प्रकट किया दूसरे वे कुन्दकुन्द को छठी शती पूर्व का नहीं मानते हैं। यापनीय मान्यताओं की चर्चा करते हुए अग्रिम अध्याय में हमने इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की है।

अतः भगवती आराधना में स्त्री मुक्ति और केवली भुक्ति का उल्लेख न देखकर उसे एक तीसरी परम्परा का ग्रन्थ कहते हुए भी उसे यापनीय परम्परा का नहीं मानना, आदरणीय पंडित जी के साम्प्रदायिक अभिनिवेश का ही सूचक है। जब मूलग्रन्थ में यह चर्चा ही नहीं थी तो टीकाकार अपराजित ने भी उसे नहीं उठाया, किन्तु इससे वे स्त्री मुक्ति के विरोधी नहीं कहे जा सकते हैं। यापनीयों के अतिरिक्त ऐसा कोई भी जैन-सम्प्रदाय नहीं था, जो अचेलता का समर्थक होते हुए भी आगमों को मान्य कर रहा था। यदि स्त्री मुक्ति और केवली भुक्ति का स्पष्ट समर्थन या निषेध ही उस ग्रन्थ के किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित होने का आधार हो तो फिर अनेक ग्रन्थ जिन्हें आज दिगम्बर परम्परा अपना ग्रन्थ मान रही है, उन्हें दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं मानना होगा। कुन्दकुन्द के ही समयसार, नियमसार पंचास्तिकाय में स्त्री-मुक्ति और केवली-भुक्ति का खण्डन नहीं मिलता है। क्या इसके अभाव में इनके दिगम्बर आचार्य द्वारा रचित होने में कोई संदेह किया जाना चाहिए ?

श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परम्परा के प्राचीन अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें इन दोनों अवधारणाओं के समर्थन या निषेध के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। मात्र स्त्री-मुक्ति और केवली-भुक्ति की समर्थक गायत्रियों के अभाव के कारण उसे यापनीय मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता। पंडित नाथूराम प्रेमी ने अपने लेख 'यापनीयों का साहित्य' में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि भगवती आराधना के कर्ता शिवाय और टीकाकार अपराजित सूरि यापनीय थे। इस सम्बन्ध में हम

उनके तर्कों को उनके ही शब्दों में यथावत रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। वे लिखते हैं कि—

अपराजित के विषय में विचार करते समय मूल भगवती आराधना में भी कुछ बातें ऐसी मिली हैं जिनसे उसके कर्ता शिवार्य भी यापनीय संघ के मालूम होते हैं। देखिए—

१. इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है कि आर्य जिननन्दि गणि, आर्य सर्वगुप्त गणि और आर्य मित्रनन्दि गणि के चरणों में अच्छी तरह सूत्र और उनका अर्थ समझकर और पूर्वाचार्यों की रचना को उपजीव्य बनाकर 'पाणितलभोजी' शिवार्य ने यह आराधना रची।^१ हम लोगों के लिए प्रायः ये सभी नाम अपरिचित हैं।^२ अपराजित की परम्परा के समान यह परम्परा भी दिगम्बर सम्प्रदाय की किसी पट्टावली या गुर्वावली में नहीं मिलती। इस धारणा के सही होने का भी कोई पुष्ट और निभ्रन्ति प्रमाण अभी तक नहीं मिला कि वे शिवकोटि और शिवार्य एक ही हैं, जो समन्तभद्र के शिष्य थे। जो कुछ प्रमाण इस सम्बन्ध में दिये जाते हैं, वे बहुत पीछे के गढ़े हुए मालूम होते हैं।^३ और तो और, स्वयं शिवार्य ही यह स्वीकार नहीं करते कि मैं समन्तभद्र का शिष्य हूँ।

२. अपराजितसूरि यदि यापनीय संघ के थे तो अधिक संभव यही है कि उन्होंने अपने ही सम्प्रदाय के ग्रन्थ की टीका की है।

३. आराधना की गाथायें काफी तादाद में श्वेताम्बर सूत्रों में मिलती हैं^४, इससे शिवार्य के इस कथन की पुष्टि होती है कि पूर्वाचार्यों की रची

१. अज्जजिणणादिगणिअज्जमित्तणदीणां ।

अवगमियपायमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥२१६१

पुब्बायरियणिवद्धा उपजीविता इमा ससत्तीए ।

आराहणा सिवज्जेण पाणितलभोइणा रहदा ॥ २१६२

२. यापनीय संघ के मुनियों में कीर्तिनामान्त अधिकता से है—जैसे पाल्यकीर्ति, रविकीर्ति, विजयकीर्ति, धर्मकीर्ति, आदि। नन्दि, गुप्त, चन्द्र, नामान्त भी काफी हैं जैसे—जिननन्दि, मित्रनन्दि, सर्वगुप्त, नागचन्द्र, नेमिचन्द्र।

३. देखो आगे के पृष्ठों में 'आराधना और उसकी टीकायें'।

४. अनन्तकीर्ति-ग्रन्थमाला में प्रकाशित 'भगवती आराधना वचनिका' के अन्त में उन गाथाओं की एक सूची दी है जो मूलाचार और आराधना में एक-सी हैं और पं० सुखलालजीद्वारा सम्पादित 'पंच प्रतिक्रमण सूत्र' में मूलान् चार की सूची दी है जो भद्रबाहुकृत 'आवश्यकनियुक्ति' में भी है।

हुई गाथायें उनकी उपजीव्य हैं।

४. जिन तीन गुरुओं के चरणों में बैठकर उन्होंने आराधना रची है, उनमें से 'सर्वगुप्त गणि' शायद वही हैं, जिनके विषय में शाकटायन की अमोघवृत्ति में लिखा है कि "उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः।" १-३-१०४। अर्थात् सारे व्याख्याता या टीकाकार सर्वगुप्त से पीछे हैं। चूँकि शाकटायन यापनीय संघ के थे इसलिए सम्भव यही है कि सर्वगुप्त यापनीय संघ के ही सूत्रों या आगमों के व्याख्याता हों।

५. शिवायं ने अपने को 'पाणितलभोजी' अर्थात् हथेलियों पर भोजन करनेवाला कहा है। यह विशेषण उन्होंने अपने को श्वेताम्बर सम्प्रदाय से अलग प्रकट करने के लिए दिया है। यापनीय साधु हाथ पर ही भोजन करते थे।

६. आराधना की ११३२ वीं गाथा में 'मिदस्स मुण्णिस्स अक्खाणं' (मेतार्यमुनेराख्यानम्) अर्थात् मेतार्य मुनि की कथा का उल्लेख किया गया है। पं० सदासुखजी ने अपनी वचनिका में इस पद का अर्थ ही नहीं किया है। यही हाल नई हिन्दी टीका के कर्त्ता पं० जिनदास शास्त्री का है। संस्कृत टीकाकार पं० आशाधर ने तो इस गाथा की विशेष टीका इसलिए नहीं की कि वह सुगम है परन्तु अमितगति ने इसका संस्कृतानुवाद करना क्यों छोड़ दिया? वे मेतार्य के आख्यान से परिचित नहीं थे, शायद इसी कारण।

मेतार्यमुनि की कथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में बहुत प्रसिद्ध है। वे एक चाण्डालिनी के लड़के थे परन्तु किसी सेठ के घर पले थे। अत्यन्त दयाशील थे। एक दिन वे एक सुनार के यहाँ भिक्षा के लिए गये। उसने अपनी दूकान में उसी समय सोने के जौ बनाकर रक्खे थे। वह भिक्षा लाने के लिए भीतर गया और मुनि वहीं दूकान में खड़े रहे जहाँ जौ रक्खे थे। इतने में एक कौच (सारस) पक्षी ने आकर वे जौ चुग लिये। सुनार को सन्देह हुआ कि मुनि ने ही जौ चुरा लिये हैं। मुनि ने पक्षी को चुगते तो देख लिया परन्तु इस भय से नहीं कहा कि यदि सच बात मालूम हो जायगी तो सुनार सारस को मार डालेगा और उसके पेट में से अपने जौ निकाल लेगा। पर इससे सुनार को सन्देह हो गया कि यह काम मुनि का ही है, इसने ही जौ चुराये हैं। तब उसने उन्हें बहुत कष्ट दिया और अन्त में भीगे चमड़े में कस दिया। इससे उनका शरीरान्त

१. देखो आवश्यक-नियुक्ति गाथा ८६७-७०।

हो गया और उन्होंने केवल-ज्ञान प्राप्त किया। हरिषेणकृत कथाकोश में भैतार्य मुनि की कथा है, परन्तु उसमें श्वेताम्बर कथा से बहुत भिन्नता है।

गाथा ६ की विजयोदया टीका में लिखा है—“संस्कारिताभ्यन्तरत-पसा इति वा असम्बद्धं। अन्तरेणापि बाह्यतपोऽनुष्ठानं अन्तर्मुहूर्तमात्रे-णाधिगतरत्नत्रयाणां भद्रणराजप्रभृतीनां पुरुदेवस्य भगवतः शिष्याणां निर्वाणगमनमागमे प्रतीतमेव।” यह भद्रणराज आदि की अन्तर्मुहूर्त में निर्वाण-प्राप्ति की कथा भी दिगम्बर साहित्य में अज्ञात है। इसी तरह गाथा १७ की टीका में भी है—भद्रणादयो राजपुत्रास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्ताः अतएवानादिमिथ्यादृष्टयः प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः।

७. दश स्थितिकल्पों के नामवाली गाथा जिसकी टीका पर अपराजित को यापनीय सिद्ध किया गया है, जीतकल्प-भाष्य की १९७२ नं० की गाथा है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अन्य टीकाओं और नियुक्तियों में भी यह मिलती है और प्रभाचन्द्र ने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड के स्त्री-मुक्ति-विचार (नया एडिशन पृ० १३१) प्रकरण में इसका उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धान्त के रूप में ही किया है—

“नाचालेक्यं नेष्यते (आप ईष्यतेव) ‘आचेलककुद्देसिय-सेज्जाहर-रायपिडकियिकम्मे’ इत्यादेः पुरुषं प्रति दशविधस्य स्थितिकल्पस्य मध्ये तदुपदेशात्।”

आराधना की ६६२ और ६६३ नवम्बर की गाथायें^१ भी दिगम्बर सम्प्रदाय के साथ मेल नहीं खाती हैं। उनका अभिप्राय यह है कि लब्धियुक्त और मायाचाररहित चार मुनि ग्लानिरहित होकर क्षपक के योग्य निर्दोष भोजन और पानक (पेय) लावें। इस पर पं० सदासुखजी ने आपत्ति की है और लिखा है कि “यह भोजन लाने की बात प्रमाण रूप नहीं।” इसी तरह ‘सेज्जागासणिसेज्जा^२’ आदि गाथा पर (जो मूलाचार में भी

१. चत्तारिजणा भसं उवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं ।

छंडियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६२॥

चत्तारिजणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं ।

छंडियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६३॥

२. सेज्जागासणिसेज्जा उवहीपडिलेहणा उवग्गहिदे ।

आहारोसयवायणविकिचणुव्वत्तणादीसु ॥३०५

३९१ नं० पर है) कविवर वृन्दावनदासजी को शंका हुई थी और उसका समाधान करने के लिए दीवान अमरचन्द जी को पत्र लिखा था। दीवान जी ने उत्तर दिया था कि "इसमें वैयावृत्ति करने वाला मुनि आहार आदि से मुनि का उपकार करे; परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया है कि आहार स्वयं हाथ से बनाकर दे। मुनि को ऐसी चर्चा आचारांग में नहीं बतलाई है।"

८. गाथा ११२३ नं० की 'देसामिसिय सुत्' में 'तालपलंबसुत्तम्मि' पद में जिस सूत्र का उल्लेख किया है वह कल्पसूत्र (बृहत्कल्प) का है जिसका प्रारम्भ है 'तालपलंबं ण कप्पदि'। इसकी विजयोदया टीका में, 'तथा चोक्तं' कहकर कल्प की दो गाथायें और दी हैं और वे ही आशाधर ने 'कल्पे' कहकर उद्धृत की हैं।

९. गाथा ७९-८३ में मुनि के उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का विधान है जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है—“वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखंडादिकं शोधनीयं महत्। इतरस्य पिच्छादिमात्रं।”

१०. गाथा ७९-८०-८१ में शिवार्य ने भक्त प्रत्याख्यान के प्रसंग में कहा है कि उत्सर्गलिंग वाले (वस्त्रहीन) को तो जो कि भक्त प्रत्याख्यान करना चाहता है उत्सर्गलिंग ही चाहिए परन्तु जो अपवादलिंगी (सवस्त्र) है, उसे भी उत्सर्गलिंग ही प्रशस्त कहा है, अर्थात् उसे भी नग्न हो जाना चाहिए और जिसके लिंगसम्बन्धी तीन दोष दुर्निवार हों उसे वसति में संस्तरारूढ होने पर उत्सर्गलिंग धारण करना चाहिए। बृहत्कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, भगवती आराधना की अनेक गाथायें एक सी हैं। साधु के मृतक संस्कार की गाथायें खास तौर से उल्लेखनीय हैं।

११. आराधना का चालीसवाँ 'विजहना' नाम का अधिकार भी विलक्षण और अभूतपूर्व है, जिसमें मुनि के मृत शरीर को रात्रि-भर जागरण करके रखने की और दूसरे दिन किसी अच्छे स्थान में वैसे ही (बिना जलाये) छोड़ आने की विधि वर्णित है^२। यह पारसी लोगों जैसी विधि अन्य किसी दिग्म्बर ग्रन्थ में अभी तक देखने में नहीं आई।

१२. नम्बर १५४४ की गाथा में कहा है कि घोर अवमोदर्य या अल्प

१. देखो, 'आराधना और उसकी टीकायें'।

२. भगवती आराधनावचनिकाकी भूमिका, पृ० १२-१३।

भोजन के कष्ट से बिना संक्लेश बुद्धि के भद्रबाहु मुनि उत्तम स्थान को प्राप्त हुए^१। परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय की किसी भी कथा में भद्रबाहु का इस ऊनोदर-कष्ट से समाधिमरण का उल्लेख नहीं है।

१३. नं० ४२८ की गाथा^२ में आधारवत्व गुण के धारक आचार्य को 'कप्पववहारधारी' विशेषण दिया है और कल्प-व्यवहार, निशीथसूत्र, श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इसी तरह ४०७ नम्बर की गाथा^३ में निर्यापक गुह की खोज के लिए परसंध में जाने वाले मुनि की 'आयार-जीद-कप्पगुणदीवणा' होती है^४। विजयोदया टीका में इस पद का अर्थ किया है, 'आचारस्य जीतसंज्ञितस्य कल्पस्य गुणप्रकाशना।' और आशा-धर की टीका में लिखा है, 'आचारस्य जीदस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना। एतानि हि शास्त्राणि रत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति।' पं० जिनदास शास्त्री ने हिन्दी अर्थ में लिखा है कि आचारशास्त्र, जीतशास्त्र और कल्पशास्त्र इनके गुणों का प्रकाशन होता है।' अर्थात् तीनों के मत से इन नामों के शास्त्र हैं और यह कहने की जरूरत नहीं कि आचारांग और जीतकल्प श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हैं।

१. ओमोदरिए घोराए भद्रबाहु असंकिल्दठमदी।

घोराए तिगिंछाए पडि वण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५४४

२. चोद्दस-दस-णव-पुब्बो मतामदी सायरोव्व गंभीरो।

कप्पववहारधारी होदि हु आघारवं णाम ॥

३. आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिनिज्झंझा।

अज्जव-मद्दव-लाघव-तुट्ठी पल्हादणं च गुणा ॥

यही गाथा जरासे पाठान्तर के साथ १३० वें नम्बर पर भी है। उसमें 'तुट्ठी पल्हादणं च गुणा' की जगह 'भत्ती पल्हादकरणं च' पाठ है।

४. १३० वीं गाथा (पृ० ३०४) में भी 'आयारजीदकप्पगुणदीवणा' पद है।

इसका अर्थ विजयोदया में किया है—“प्रथममंगमाचारशब्देनोच्यते। आचार-शास्त्रनिर्दिष्टक्रमः आचारजीदशब्देन उच्यते। कल्प्यते अभिधीयते येन अप-राधानुपरो दण्डः संकल्पस्तस्य गुणः उपकारस्तेन निर्वर्त्यत्वात्। अनयोः प्रकाशनं आयारजीदकप्पगुणदीवणा।” ५९वीं गाथा (पृ० ७९७) में—

णवमम्मिय जं पुब्बे भणिदे कप्पे तहेव ववहारो। अंगसु सेसएसु च पइण्णए चाकि तं दिण्णं। ६२३वीं गाथा (पृ० ८३४) में 'छेदसुदजाणगगणी से छेदसूत्रज्ञः।’

तीसरी गाथा की विजयोदया टीका—‘अनुयोगद्वारादीनां बहूनामुपन्यासमकृत्वा दिङ्मात्रोपन्यासः’ आदि में अनुयोगद्वारसूत्र का उल्लेख किया है।

भगवती आराधना में (गाथा ११६ पृ० २७७) ‘पंचवदाणि जदीणं’ आदि आवश्यक सूत्र की गाथा उद्धृत की है।

४९९ वीं गाथा की विजयोदया में “अंगबाह्येवा बहुविधविभक्ते सामायिकं चतुर्विंशतीस्तवो, वंदना, प्रतिक्रमणं, वैनयिकं, कृतिकर्म, दशवैकालिकं, उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहारः कल्पं महाकल्पं, पुण्डरीकं महापुण्डरीक इत्यादीनां विचित्रभेदेन विभक्तो।” ११२३ वीं गाथा की टीका—“तथा चोक्तं कल्पे—हरित तणो सहिगुच्छा” आदि।

इन सब बातों से सिद्ध है कि शिवाय भी यापनीय संघ के हैं। इस तरह की और भी अनेक बातें मूल ग्रन्थ में हैं जो दिगम्बर सम्प्रदाय के साथ मेल नहीं खातीं।”

भगवती आराधना के यापनीय परम्परा का ग्रन्थ होने के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा के मूर्धन्य विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमी के उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण आधार यह भी है कि उसमें श्वेताम्बर परम्परा में मान्य प्रकीर्णकों से अनेक गाथायें हैं। पं० कैलाश चन्द्र जी ने भगवती आराधना की अपनी भूमिका में इसका उल्लेख किया है। जिन प्रकीर्णकों की गाथायें भगवती आराधना में मिलती हैं उनमें आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिणय संथारग, मरणसमाही प्रमुख हैं। यद्यपि पण्डितजी गाथाओं की इस समानता को तो सूचित करते हैं—फिर भी वे स्पष्ट रूप से यह नहीं कहते हैं कि इन ग्रन्थों से ये गाथायें ली गई हैं। वस्तुतः इन गाथाओं के आदान-प्रदान के सम्बन्ध में तीन विकल्प हो सकते हैं। या तो ये गाथायें भगवती आराधना से इन ग्रन्थों में गई हों या फिर भगवती आराधनाकार ने इन ग्रन्थों से ये गाथायें ली हों अथवा ये गाथायें दोनों की एक ही पूर्व परम्परा से चली आ रही हों, जिन्हें दोनों ने लिया हो। इसमें प्रथम विकल्प है कि भगवती आराधना से इन ग्रन्थकारों ने ये गाथायें ली हों, यह इसलिये सम्भव नहीं है कि ये ग्रन्थ भगवती आराधना की अपेक्षा प्राचीन हैं। नन्दी, मूलाचार आदि में इनमें से कुछ ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं—पुनः इन ग्रन्थों में गुणस्थान जैसे विकसित

१. भगवती आराधना (पं० कैलाशचंद्र जी), भूमिका पृ०

सिद्धान्त का भी निर्देश नहीं है। जबकि भगवती आराधना में वह सिद्धांत उपस्थित है। तीसरे यह स्पष्ट है कि ये ग्रन्थ आकार में लघु हैं जबकि आराधना एक विशालकाय ग्रन्थ है। यह सुनिश्चित है कि प्राचीन स्तर के ग्रन्थ प्रायः आकार में लघु होते हैं, क्योंकि उन्हें मौखिक रूप से याद रखना होता था, अतः वे आराधना की अपेक्षा पूर्ववर्ती हैं।

भगवती आराधना में विजहना (मृतक के शरीर को जंगल में रख देने) की जो चर्चा है वह प्रकीर्णकों में तो नहीं है किन्तु भाष्य और चूर्ण में है। अतः प्रस्तुत आराधना भाष्य चूर्णियों के काल की रचना रही होगी। अतः यह प्रश्न तो उठता ही नहीं है कि गाथायें आराधना से इन प्रकीर्णकों में गई हैं।

यदि हम यह स्वीकार न भी करें कि ये गाथायें श्वेताम्बर साहित्य से आराधना में ली गई हैं तो यह तो मानना ही होगा कि दोनों की कोई सामान्य पूर्व परम्परा थी, जहाँ से दोनों ने ये गाथायें ली हैं और सामान्य पूर्व परम्परा श्वेताम्बर और यापनीय (बोटिक) की थी, क्योंकि दोनों आगम, प्रकीर्णक और निर्युक्ति साहित्य के समान रूप से उत्तराधिकारी रहे हैं। अतः भगवती आराधना में आउरपञ्चक्खाण, भक्त-परिण्णा, संथारग, मरणसमाहि एवं निर्युक्ति आदि की अनेकों गाथाओं की उपस्थिति यह सिद्ध करती है कि वह यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है। यह बात तो अनेक दिग्म्बर विद्वान् भी मान रहे हैं कि मूलाचार और आराधना में अनेकों गाथायें समान हैं और मूलाचार में गाथायें आउर-पञ्चक्खाण, महापञ्चक्खाण, निर्युक्ति आदि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य ग्रन्थों से ही उद्धृत हैं।

मूलाचार और उसकी परम्परा

मूलाचार को वर्तमान दिग्म्बर जैन परम्परा में आगम स्थानीय ग्रन्थ के रूप में मान्य किया जाता है। यह ग्रन्थ मुख्यतः अचेल परम्परा के साधु-साध्वियों के आचार से सम्बन्धित है। यह भी निर्विवाद सत्य है कि दिग्म्बर परम्परा में इस ग्रन्थ का उतना ही महत्व है जितना कि श्वेताम्बर परम्परा में आचारांग का। यही कारण है कि धवला और जयधवला (दशवीं शताब्दी) में इसकी गाथाओं को आचारांग की गाथा कहकर उद्धृत किया गया है। यह स्पष्ट है कि दिग्म्बर परम्परा में जब आचारांग को लुप्त मान लिया गया तो उसके स्थान पर मूलाचार को ही आचारांग के रूप में देखा जाने लगा। वस्तुतः आचारांग के प्राचीनतम

अंश प्रथम श्रुतस्कंध में अचेलता का प्रतिपादन होते हुए भी मुनि के वस्त्र ग्रहण सम्बन्धी कुछ उल्लेख, फिर चाहे वे आपवादिक स्थिति के क्यों न हों, पाये हो जाते हैं। यही कारण था कि अचेलकत्व पर अत्यधिक बल देने वाली दिग्म्बर परम्परा अपने सम्प्रदाय में मान्य न रख सकी और उसके स्थान पर मूलाचार को ही अपनी परम्परा का मुनि आचार सम्बन्धी ग्रन्थ मान लिया। आर्यिका ज्ञानमती जी ने भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित मूलाचार की भूमिका में यह लिखा है कि आचारांग के आधार पर चौदह सौ गाथाओं में ग्रन्थकर्ता ने इस ग्रन्थ की रचना की;^१ किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह ग्रन्थ आचारांग और विशेष रूप से उसके प्राचीनतम अंश प्रथम श्रुतस्कंध के आधार पर तो बिलकुल ही नहीं लिखा है। जिन ग्रन्थों के आधार पर मूलाचार की रचना हुई है वे श्वेताम्बर परम्परा के मान्य बृहत्प्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान, आवश्यकनिर्युक्ति, जीवसमास आदि हैं जिनकी सैकड़ों गाथाएँ शौरसेनी रूपान्तरण के साथ इसमें गृहीत की गई हैं। वस्तुतः मूलाचार श्वेताम्बर परम्परा में मान्य निर्युक्तियों एवं प्रकीर्णकों की विषयवस्तु एवं सामग्री से निर्मित है।

यद्यपि हमें स्पष्ट रूप से इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं माना जाना चाहिए। क्योंकि इसमें मुनि के अचेलकत्व पर जितना अधिक बल दिया गया है उतना श्वेताम्बर परम्परा के आचारांग को छोड़कर किसी भी आचारपरक ग्रन्थ में नहीं मिलता। इसे श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ मानने में दूसरी कठिनाई यह है कि इसकी भाषा न तो अर्धमागधी है और न महाराष्ट्री प्राकृत ही; वस्तुतः इसमें अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में रचित श्वेताम्बर मान्य आगम ग्रन्थों की सैकड़ों गाथाएँ शौरसेनी रूपान्तरण में मिलती हैं। किन्तु इस आधार पर इसे श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं कह सकते क्योंकि अभी तक श्वेताम्बर परम्परा का कोई भी ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में लिखा गया ज्ञात नहीं होता।

यह स्पष्ट सत्य है कि शौरसेनी प्राकृत में लेखन कार्य मुख्यतः अचेल परम्परा में ही हुआ है, किन्तु कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनके आधार पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह दिग्म्बर परम्परा का ग्रन्थ है। सर्वप्रथम तो इसमें आर्यिका को श्रमण के समकक्ष मानकर उसकी मुक्ति का जो विधान

१. मूलाचार (स० ज्ञानमती माताजी—भारतीय ज्ञानपीठ), भूमिका, पृ०।

किया गया है वह इसे दिगम्बर ग्रन्थ मानने में बाधा उत्पन्न करता है । दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान् पं० नाथूराम प्रेमी ने अनेक तर्कों के आधार पर कहा है कि यह दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं है । अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि यदि मूलाचार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों में से किसी परम्परा का ग्रन्थ नहीं है तो फिर किस परम्परा का ग्रन्थ है ? यह स्पष्टतः सत्य है कि यह ग्रन्थ अचेलकता आदि के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा के निकट है किन्तु स्त्री-दीक्षा, स्त्री-मुक्ति, आगमों को मान्य करने आदि कुछ बातों में श्वेताम्बर परम्परा से भी समानता रखता है । इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ एक ऐसी परम्परा का ग्रन्थ है जो कुछ रूप में श्वेताम्बरों और कुछ रूप में दिगम्बरों से समानता रखती थी । डॉ० उपाध्ये, पं० नाथूराम प्रेमी के लेखों एवं प्राचीन भारतीय अभिलेखीय तथा साहित्यिक साध्यों के अध्ययन से अब यह स्पष्ट हो गया है कि श्वेताम्बर और दिगम्बरों के बीच एक योजक सेतु का काम करने वाली 'यापनीय' नाम की एक तीसरी परम्परा भी थी । हम पूर्व में यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि यापनीय परम्परा जहाँ अचेलकत्व पर बल देने के कारण दिगम्बर परम्परा के निकट थी वहीं स्त्रीमुक्ति, केवलीमुक्ति और आगमों की उपस्थिति, आपवादिक रूप में वस्त्र एवं पात्र का उपयोग आदि बातों में श्वेताम्बर परम्परा के निकट थी । मूलाचार की रचना इसी परम्परा में हुई है, इस सम्बन्ध में कुछ अधिक विस्तार से चर्चा करें—

बहुश्रुत दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी 'प्रेमी' ने इसे यापनीय परम्परा का ग्रन्थ माना है, इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि—

“मुझे ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द का तो नहीं ही है, उनकी विचार परम्परा का भी नहीं है, बल्कि यह उस परम्परा का जान पड़ता है, जिसमें शिवार्य और अपराजित हुए हैं । कुछ बारीकी से अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

१—मूलाचार और भगवतीआराधना की पचासों गाथायें एक-सी और समान अभिप्राय प्रकट करने वाली हैं ।

२—मूलाचार 'आचेलककुद्वेसिय' आदि ९०९वीं गाथा भगवती-आराधना का ४२१वीं गाथा है । इसमें दस स्थिति कल्पों के नाम हैं । जीतकल्पभाष्य की १९७२वीं गाथा भी यही है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्य टीकाग्रन्थों और निर्युक्तियों में भी यह है । प्रमेयकमलमार्तण्ड 'स्त्री-

मुक्तिविचार' में प्रभाचन्द ने इसका उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धान्त के रूप में किया है।

३—मूलाचार की 'सेज्जोगासणिसेज्जा' आदि ३९१वीं गाथा और आराधना की ३०५वीं गाथा एक ही है। इसमें कहा है कि वैयावृत्ति करने वाला मुनि रूग्ण मुनि का आहार औषधि आदि से उपकार करे। इसी गाथा के विषय में कवि वृन्दावनदास को शंका हुई थी और उसका निवारण करने के लिए उन्होंने दीवान अमरचन्दजी को पत्र लिखा था। समाचार अधिकारी 'गच्छे वेज्जावच्चं' आदि १७४वीं गाथा की टीका में भी वैयावृत्ति का अर्थ शारीरिक प्रवृत्ति और आहारादि से उपकार करना लिखा है—'वेज्जावच्चं वैयावृत्यं कायिकव्यापाराहारादिभिरूप ग्रहणम्।'

४—भगवती आराधना की ४१२वीं गाथा के समान इसकी भी ३८७ वीं गाथा^१ में आचार-जीत-कल्प ग्रन्थों का उल्लेख है जो यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा के हैं और उपलब्ध भी हैं।

५—गाथा २७७-७८-७९ में कहा है कि संयमी मुनि और आर्थिकाओं को चार प्रकार के सूत्र कालशुद्धि आदि के बिना न पढ़ना चाहिए। इनसे अन्य आराधना, निर्युक्ति, मरणविभक्ति, संग्रह, स्तुति, प्रत्याख्यान, आवश्यक और धर्मकथा आदि पढ़ना चाहिए।^२ ये सब ग्रन्थ मूलाचार के कर्ता के समक्ष थे, परन्तु कुन्दकुन्द की परम्परा के साहित्य में इन नामों के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

६—मूलाचार की 'बावीसं तित्थपरा'^३ और सपडिक्कमणो धम्मो'^४ इन दो गाथाओं में जो कुछ कहा गया है, वह कुन्दकुन्द की परम्परा में अन्यत्र कहीं नहीं कहा गया है। ये ही दो गाथाएँ भद्रबाहुकृत आवश्यकनिर्युक्ति में हैं और वह श्वेताम्बर ग्रन्थ है।

१. आयारजीदकप्पगुणदीवणा अप्पसोधि णिज्जंझा ।
अज्जव-मद्दव-लाघव-वुट्ठी पल्हादणं च गुणा ॥ ३८७
२. आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ ।
पच्चक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरसिओ ॥ २७९
३. बावीसं तित्थपरा सामाइयसंयमं उवदिसंति ।
छेओवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो उसहो य वीरो य ॥७-३६
४. सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स जिणत्स ।
अवराहपडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ ७-१९.

७—आवश्यकनिर्युक्ति की लगभग ८० गाथायें मूलाचार में मिलती हैं^१ और मूलाचार में प्रत्येक आवश्यक का कथन करते समय बट्टकेरि का यह कहना कि मैं प्रस्तुत आवश्यक पर समास से—संक्षेप से—निर्युक्ति कहूँगा^२, अवश्य ही अर्थसूचक है। क्योंकि सम्पूर्ण मूलाचार में 'षडावश्यक अधिकार' को छोड़कर अन्य प्रकरणों में 'निर्युक्ति' शब्द शायद ही कहीं आया हो। षडावश्यक के अन्त में भी इस अध्याय को 'निर्युक्ति' नाम से ही निर्दिष्ट किया गया है।^३

८—मूलाचार में मुनियों के लिए 'विरत' और आर्यिकाओं के लिए 'विरती' शब्द का उपयोग किया गया है। (गाथा १८०)। मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका मिलकर चतुर्विध संघ होता है। चौथे समाचार अधिकार में (गाथा १८७) कहा है कि अभी तक कहा हुआ यह यथाख्यातपूर्व समाचार आर्यिकाओं के लिए भी यथायोग्य जानना।^४ इसका अर्थ यह हुआ कि ग्रन्थकर्ता मुनियों और आर्यिकाओं को एक ही श्रेणी में रखते हैं (जब कि आ० कुन्दकुन्द स्त्री प्रवज्या निषेध करते हैं।^५) फिर १६६वीं गाथा में कहा है कि इस प्रकार की चर्या जो मुनि और आर्यिकायें करती हैं वे जगत्पूजा, कीर्ति और सुख प्राप्त करके 'सिद्ध' होती हैं।^६ १८४वीं गाथा में कहा है कि आर्यिकाओं का गणधर गम्भीर दुर्धर्म अल्पकौतूहल, चिरप्रव्रजित और गृहीतार्थ होना चाहिए। इससे जान पड़ता है कि आर्यिका मुनि संघ के ही अन्तर्गत हैं और उनका गणधर मुनि ही होता है। 'गणधरो मर्यादोपदेशकः प्रतिक्रमणाद्याचार्यः' (टीका)।

इन सब बातों से मूलाचार कुन्दकुन्द परम्परा का ग्रन्थ नहीं मालूम

१. देखिए, पं० सुखलाल संघवीकृत 'पंचप्रतिक्रमणसूत्र'।
२. 'आवासयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेणा।' 'समाडयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण।' 'वउवीसयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण'—आदि।
३. आवासयणिज्जुत्ती एवं कविदा समासओ विहिणा।
४. एसो अजजाणपि अ समाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जषाजोग्गं ॥ १८७
५. देखिए, कुन्दकुन्द अमृतसंग्रह, गा० २४-२७, पृ० सं० १३५
सं० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री—१३६.
६. एवं विघाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
जगपुज्जं ते किंति सुहं च लद्धूण सिज्जंति ॥—मूलाचार

होता। अतः मूलाचार यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है, यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलाचार को यापनीय परम्परा का ग्रन्थ मानने के अनेक प्रमाण हैं। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने उपरोक्त विवेचन में उन सभी तथ्यों का संक्षेप में उल्लेख कर दिया है जिनके आधार पर मूलाचार को कुन्दकुन्द की अचेल परम्परा के स्थान पर यापनीयों को अचेल परम्परा का ग्रन्थ माना जाना चाहिए। मैं पं० नाथूराम जी प्रेमी द्वारा उठाये गये इन्हीं मुद्दों पर विस्तार से चर्चा करना चाहूँगा।

सर्वप्रथम मूलाचार और भगवतीआराधना की अनेक गाथायें समान और समान अभिप्राय को प्रकट करने वाली होने के कारण 'प्रेमी जी' ने इसे भगवतीआराधना की परम्परा का ग्रन्थ माना है। उन्होंने इस तथ्य का भी संकेत किया है कि मूलाचार के समान ही भगवतीआराधना के भी कुछ ऐसे मन्तव्य हैं जो अचेल दिगम्बर परम्परा से मेल नहीं खाते और यदि भगवतीआराधना दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ न होकर यापनीय परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध होता है तो फिर मूलाचार को भी हमें यापनीय परम्परा का ही ग्रन्थ मानना होगा।

वैसे तो प्रेमी जी ने मात्र भगवती आराधना से इसकी गाथाओं की समरूपता की चर्चा की है, परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं होती। मूलाचार में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य अनेक ग्रन्थों की गाथायें समान रूप से उपलब्ध होती हैं। उनमें शौरसेनी और अर्धमागधी अथवा महाराष्ट्री के अन्तर के अतिरिक्त कहीं किसी प्रकार का अन्तर भी नहीं है। मूलाचार के बृहत्प्रत्याख्यान नामक द्वितीय अधिकार में अधिकांश गाथायें महापञ्च-खाण और आउरपञ्चखाण से मिलती हैं। मूलाचार के बृहत् प्रत्याख्यान और संक्षिप्त प्रत्याख्यान इन दोनों अधिकारों में क्रमशः ७१ और १४ गाथायें अर्थात् कुल ८५ गाथाएँ हैं। इनमें से ७० गाथायें तो आतुर—प्रत्याख्यान नामक श्वेताम्बर परम्परा के प्रकीर्णक से मिलती हैं। शेष १५ गाथाओं में भी कुछ महापञ्चखाण एवं चन्द्रावेध्यक में मिल जाती हैं। ये ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में प्रकीर्णकों के रूप में आज भी स्वीकार्य हैं। पुनः अध्याय का नामकरण भी उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर है। इसी प्रकार मूलाचार के षड्भावश्यक अधिकार की १९२ गाथाओं में से ८० गाथायें आवश्यकनिर्युक्ति से समान रूप से उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त इसी

अधिकार में पाठभेद के साथ उत्तराध्ययन, अनुयोगद्वार और दशवैकालिक से अनेक गाथायें मिलती हैं। पंचाचार-अधिकार में सबसे अधिक २२२ गाथायें हैं। इसकी ५० से अधिक गाथायें उत्तराध्ययन और जीवसमास नामक श्वेताम्बर ग्रन्थ में समान रूप से पायी जाती हैं। इसमें जो षड्जीव निकाय का विवेचन है उसकी अधिकांश गाथायें उत्तराध्ययन के ३६वें अध्याय प्रज्ञापना, आवश्यकनिर्युक्ति और जीवसमास में हैं। इसी प्रकार ५ समिति गुप्ति आदि का जो विवेचन उपलब्ध होता है वह भी उत्तराध्ययन के और दशवैकालिक में किंचित भेद के साथ उपलब्ध होता है। इसी प्रकार मूलाचार के पिण्डशुद्धि अधिकार की ८३ गाथायें हैं। इनमें भी कुछ गाथायें श्वेताम्बर परम्परा की पिण्डनिर्युक्ति नामक ग्रन्थ में यथावत् उपलब्ध होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलाचार को अधिकांश सामग्री श्वेताम्बर परम्परा के उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण, आवश्यकनिर्युक्ति, चन्द्रावेध्यक आदि श्वेताम्बर परम्परा के मान्य उपयुक्त ग्रन्थों से संकलित है। आश्चर्य तो यह लगता है कि हमारी दिग्म्बर परम्परा के विद्वान् मूलाचार में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से मात्र २१ गाथायें समान रूप से उपलब्ध होने पर इसे कुन्दकुन्द की कृति सिद्ध करने का साहस करते हैं और जिस परम्परा के ग्रन्थों से इसकी आधी से अधिक गाथायें समान रूप से मिलती हैं उसके साथ इसकी निकटता को भी दृष्टि से ओझल कर देते हैं। मूलाचार की रचना उसी परम्परा में सम्भव हो सकती है जिस परम्परा में उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, महापच्चक्खाण, आउर-पच्चक्खाण आदि ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा रही है। नवीन की खोजों से यह स्पष्ट हो चुका है कि यापनीय परम्परा में इन ग्रन्थों का अध्ययन होता था। यापनीय परम्परा के अपराजितसूरि द्वारा उत्तराध्ययन और दशवैकालिक पर लिखी गई टीकाएँ इसी बात की पुष्टि करती हैं। इनका अध्ययन और अध्यापन उनकी परम्परा में प्रचलित था। जो परम्परा आगम ग्रन्थों का सर्वथा लोप मानती हो, उस परम्परा में मूलाचार जैसे ग्रन्थ की रचना सम्भव प्रतीत नहीं होती। यह स्पष्ट है कि जहाँ दक्षिण भारत में विकसित दिग्म्बर अचेल परम्परा आगमों के विच्छेद की बात कर रही थी, वहीं उत्तर भारत में विकसित होकर दक्षिण की ओर जाने वाली इस यापनीय परम्परा में आगमों का

अध्ययन बराबर चल रहा था। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि मूलाचार की रचना कुन्दकुन्द की दिगम्बर परम्परा में न होकर यापनीयों की अचेल परम्परा में हुई है।

स्वर्य मूलाचार^१ के पाँचवें पंचाचार नामक अधिकार की ७९वीं गाथा में और ३८७^२ न० गाथा में आचारकल्प, जीतकल्प, आवश्यकनियुक्ति, आराधना, मरणविभक्ति, पञ्चक्खाण, आवश्यक, धर्मकथा (ज्ञाताधर्मकथा) आदि ग्रन्थों के अध्ययन के स्पष्ट निर्देश हैं। उक्त गाथाओं में निम्न ग्रन्थों का निर्देश प्राप्त होता है—१. आराधना, २. नियुक्ति, ३. मरणविभक्ति, ४. संग्रह (पंचसंग्रह), ५. स्तुति (देविन्दत्थुई), ६. प्रत्याख्यान, ७. आवश्यक और ८. धर्मकथा।

सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि इन ग्रन्थों में कौन-कौन ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में मान्य एवं उपलब्ध हैं और कौन-कौन दिगम्बर परम्परा में मान्य एवं उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थों में सर्वप्रथम आराधना का नाम है। आराधना के नाम से सुपरिचित ग्रन्थ शिवार्य का भगवती-आराधना या मूलाराधना है। यह सुस्पष्ट है कि भगवती आराधना मूलतः दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ न होकर यापनीय संघ का ग्रन्थ है। मूलाचार में जिस आराधना का निर्देश किया गया है, वह सम्भवतः भगवतीआराधना हो, क्योंकि मूलाचार भी उसी यापनीय परम्परा का ग्रन्थ प्रतीत होता है और मूलाचार के रचनाकार ने सर्वप्रथम उसी ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है। दिगम्बर परम्परा में आराधना नाम का कोई ग्रन्थ नहीं है। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा में मरणविभक्ति नामका जो ग्रन्थ है उसकी रचना भी जिन आठ प्राचीन श्रुत ग्रन्थों के आधार पर मानी जाती है उनमें मरणविभक्ति, मरणविशोधि, मरणसमाधि, संलेखनाश्रुत, भक्तपरिज्ञा, आतुर प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और आराधना हैं। प्रस्तुत गाथा में मरणविभक्ति, प्रत्याख्यान और आराधना ऐसे तीन स्वतंत्र ग्रन्थों के उल्लेख हैं। यह भी सम्भव है कि मूलाचार का आराधना से तात्पर्य इसी प्राचीन 'आराधना' से रहा होगा। यह 'आराधना' भगवती-आराधना की रचना का भी आधार रही है। यदि हम आराधना का तात्पर्य भगवतीआराधना लेते हैं तो हमें इतना निश्चित रूप से स्वीकार

१. आराहणा निज्जुति मरणविभक्तियं संगहल्युदिओ ।

पञ्चक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसओ ॥—५/७९

२. आयार जीदकप्प गुण दीवणा””” ।—५/३८७

करना होगा कि मूलाचार का रचनाकाल भगवतीआराधना की रचना के बाद का है और दोनों ग्रन्थों के आन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर यह निर्णय करना होगा कि इनमें से कौन प्राचीन है। चूँकि यह एक स्वतंत्र निबन्ध का विषय होगा इसलिए इसकी अधिक गहराई में नहीं जाना चाहता किन्तु इतना अवश्य उल्लेख करूँगा कि यदि भगवतीआराधना की रचना मूलाचार से परवर्ती है, तो मूलाचार में लिखित यह आराधना, मरणविभक्ति में अंगीभूत आराधना ही है। दोनों का नाम साम्य भी इस धारणा को पुष्ट करता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि किसी समय आराधना स्वतंत्र ग्रन्थ था, जो आज मरणविभक्ति में समाहित हो गया है।

श्वेताम्बर परम्परा में आगम ग्रन्थों की प्राचीनतम व्याख्याओं के रूप में नियुक्तियाँ लिखी गईं। श्वेताम्बर परम्परा में दस नियुक्तियाँ सुप्रसिद्ध हैं। नियुक्ति सम्भवतः द्वितीय भद्रबाहु की रचना मानी जाती है, किन्तु कुछ नियुक्तियाँ उससे भी प्राचीन हैं। यह भी सुस्पष्ट है कि मूलाचार के षडावश्यक अधिकार में आवश्यक नियुक्ति की ८० से अधिक गाथाएँ स्पष्टतः मिलती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत गाथा में नियुक्ति का जो उल्लेख है वह श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध नियुक्तियों से ही है। यह भी स्पष्ट है कि अधिकांश नियुक्तियाँ भद्रबाहु द्वितीय के द्वारा रचित हैं और इन भद्रबाहु का समय विक्रम की पाँचवीं शताब्दी है। इससे एक बात अवश्य स्पष्ट होती है कि मूलाचार विक्रम की छठीं शताब्दी के पूर्व की रचना नहीं है।

मूलाचारकार यह कहकर कि 'अब मैं आचार्य परम्परा से यथागत आवश्यकनियुक्ति को संक्षेप में कहूँगा', इस तथ्य की स्वयं पुष्टि करता है कि उसके समक्ष आवश्यकनियुक्ति नामक ग्रन्थ रहा है और जो उसे आचार्य परम्परा से प्राप्त था। दूसरे अस्वाध्याय काल में पढ़ने योग्य ग्रन्थों की में सूची नियुक्ति का उल्लेख भी इसी तथ्य को सूचित करता है। दिग्म्बर परम्परा में नियुक्तियाँ लिखी गईं, ऐसा कोई भी संकेत उपलब्ध नहीं है, अतः मूलाचार में नियुक्ति से तात्पर्य श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित नियुक्तियों से ही है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बर और यापनीय आगमिक ग्रन्थ एक ही थे—उनमें मात्र शौरसेनी और महाराष्ट्री का भाषा भेद था। मूलाचार में जिस तीसरे ग्रन्थ मरण-विभक्ति का उल्लेख हुआ है, वह भी श्वेताम्बर परम्परा के दस प्रकीर्णकों में एक है। यह मरणविभक्ति और मरणसमाधि इन दो नामों से उल्लि-

खित है। स्वयं ग्रन्थकार ने भी इसे मरणविभक्ति कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि मूलाचार द्वारा निर्दिष्ट मरणविभक्ति श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध मरणविभक्ति ही है। दिगम्बर परम्परा में मरणविभक्ति नाम का कोई ग्रन्थ रहा हो, ऐसा उल्लेख मुझे देखने को नहीं मिला है। यद्यपि मूलाचार में उल्लेखित मरणविभक्ति वर्तमान मरणविभक्ति के एक भाग मात्र थी—क्योंकि वर्तमान मरणविभक्ति में उसके सहित आठ प्राचीन ग्रन्थों का संकलन है। प्राचीन 'मरणविभक्ति' एक संक्षिप्त ग्रन्थ था।

जिस चौथे ग्रन्थ का उल्लेख मूलाचार में मिलता है, वह संग्रह है। संग्रह से ग्रन्थकार का क्या तात्पर्य है, यह विचारणीय है। पंच-संग्रह के नाम से कर्मसाहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा में पंचास्तिकाय को भी 'पंचस्तिकाय-संग्रहसुत' कहा गया है। स्वयं इस ग्रन्थ के कर्ता ने भी इस ग्रन्थ को संग्रह कहा है अतः एक विकल्प तो यह हो सकता है कि संग्रह से तात्पर्य 'पंचस्तिकाय संग्रह' से हो—किन्तु यही एकमात्र विकल्प हो—हम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनेक आधारों पर मूलाचार पंचस्तिकाय की अपेक्षा प्राचीन है। दूसरे यदि मूलाचार को कुन्दकुन्द के ग्रंथों का उल्लेख इष्ट होता तो वे समयसार का भी उल्लेख करते हैं। पुनः कुन्दकुन्द द्वारा 'समय' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया है—मूलाचार के समयसाराधिकार में 'समय' शब्द उससे भिन्न अर्थ में ग्रहण हुआ है। श्वेताम्बर परम्परा में संग्रहणी सूत्र का उल्लेख उपलब्ध होता है। पंचकल्प महाभाष्य के अनुसार संग्रहणियों की रचना आचार्य कालक ने की थी। पाक्षिकसूत्र में नियुक्ति और संग्रहणी दोनों का उल्लेख है। संग्रहणी आगमिक ग्रंथों का संक्षेप में परिचय देने वाली रचना है। चूंकि आगमों का अस्वाध्याय काल में पढ़ना वर्जित था, अतः यह हो सकता है कि आचार्य कालक आदि की जो संग्रहणी थी, उन्हीं से ग्रन्थकार का तात्पर्य रहा हो। संग्रह से 'पंचसंग्रह' का अर्थ ग्रहण करने पर कुछ समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। श्वेताम्बर पंचसंग्रह जो चन्द्रशेखर की रचना मानी जाती है वह किसी भी स्थिति में ७वीं शताब्दी से पूर्व की नहीं है। दिगम्बर परम्परा का पंचसंग्रह तो और भी परवर्ती ही सिद्ध होता है। उसमें उपलब्ध धवला आदि का कुछ अंश उसे १०वीं-११वीं शती तक ले जाता है। अतः मूलाचार में संग्रह के रूप में जिस ग्रन्थ का

उल्लेख है वह ग्रन्थ वर्तमान श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा का उपलब्ध पंचसंग्रह तो नहीं हो सकता। अन्यथा हमें मूलाचार की तिथि को काफी नीचे ले जाना होगा। गाथा के सन्दर्भ स्थल को देखते हुए उसे प्रक्षिप्त भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह बात निश्चित ही सत्य है कि पंचसंग्रह में जिन ग्रन्थों का संग्रह किया गया है, उनमें कुछ ग्रंथ शिवशर्मसूरि की रचनाएँ हैं और इस दृष्टि से प्राचीन भी हैं। सम्भव, यही लगता है कि उपलब्ध पंचसंग्रह के पूर्व भी कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित कसायपाहुड़ सतक, सित्तरी आदि कुछ ग्रंथों का एक संग्रह रहा था और जो संग्रह नाम से प्रसिद्ध था। हो सकता है कि मूलाचारकार ने उसी का उल्लेख किया हो। थुदि या स्तुति से मूलाचार का तात्पर्य किस ग्रन्थ से है, यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है। टीकाकार वसुनन्दी ने इसका तात्पर्य समन्तभद्र के देवागम नामक स्तुति रचना से लिया है, किन्तु मेरी दृष्टि में वसुनन्दी की यह मान्यता उचित नहीं है। प्रथम तो समन्तभद्र का काल ही विवादास्पद है। दूसरे वस्तुतः 'थुदि' कोई प्राकृत रचना ही रहनी चाहिए। श्वेताम्बर परम्परा में 'थुई' के नाम से वीरत्थुई और 'देविदत्थुओ' इन दो का उल्लेख मिलता है वीरत्थुई-सूत्रकृतांग का ही एक अध्याय है, किन्तु उसका स्वतन्त्र रूप से स्वाध्याय करने की परम्परा प्राचीनकाल से आज तक रही है। देविदत्थुओ की गणना दस प्रकीर्णकों में की जाती है। वैसे प्रकीर्णकों में ही 'वीरत्थुओ' (वीर-स्तव) एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी है, किन्तु इसकी विषयवस्तु सूत्रकृतांग के छठे अध्याय वीरत्थुई से भिन्न है, मेरी दृष्टि में यह परवर्ती भी लगता है। मूलाचार की प्रस्तुत गाथाओं में जिन ग्रन्थों के नामों का उल्लेख है, उनमें अधिकतर श्वेताम्बर परम्परा के प्रकीर्णकों के नामों से मिलते हैं। अतः प्रस्तुत गाथा में 'थुदि' नामक ग्रंथ से तात्पर्य प्रकीर्णकों में समाविष्ट 'देविदत्थुओ' से ही होना चर्चिए। अतः 'थुदि' से मूलाचार का तात्पर्य या तो सूत्रकृतांग के छठे अध्याय में अन्तर्निहित 'वीरत्थुई' से रहा होगा या फिर देविदत्थुओ नामक प्रकीर्णक से होगा क्योंकि यह भी ईसा पूर्व प्रथम शती में रचित एक प्राचीन प्रकीर्णक है। (इस सम्बन्ध में मेरे द्वारा सम्पादित एवं आगम संस्थान द्वारा प्रकाशित 'देविदत्थुओ' की भूमिका देखें) प्रकीर्णकों में समाहित वीरत्थुओ मुझे मूलाचार की अपेक्षा परवर्ती रचना लगती है।

पञ्चवखाण नामक ग्रन्थ से मूलाचार का मन्तव्य क्या है, यह भी विचारणीय है। दिगम्बर परम्परा में पञ्चवखाण नामक कोई ग्रन्थ रहा

है—ऐसा ज्ञात नहीं होता है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में प्रकीर्णकों के अन्तर्गत ही आउरपच्चक्खाण और महापच्चक्खाण नामक दो ग्रन्थ हैं। अतः स्पष्ट है कि पच्चक्खाण से मूलाचार का तात्पर्य आउरपच्चक्खाण तथा महापच्चक्खाण नामक ग्रन्थों से ही है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दी ने इसे स्पष्ट नहीं किया है। केवल इतना ही कहकर छोड़ दिया है कि त्रिविध एवं चतुर्विध परित्याग का प्रतिपादक ग्रन्थ—किन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ श्वेताम्बर या दिगम्बर परम्परा में रहा है—ऐसा ध्यान में नहीं आता। जब मूलाचार में आउरपच्चक्खाण की ही ७० गाथायें मिल रही हैं इसके अतिरिक्त महापच्चक्खाण की भी गाथायें थीं उसमें है ही—इससे यह सिद्ध होता है कि पच्चक्खाण से मूलाचारकार का तात्पर्य आउरपच्चक्खाण और महापच्चक्खाण से ही है।

आवस्य या आवश्यक से मूलाचारकार का तात्पर्य किस ग्रन्थ से है—यह भी विचारणीय है। टीकाकार वसुनन्दी ने केवल इतना निर्देश दिया है कि आवश्यक से तात्पर्य सामायिक आदि षड्-आवश्यक कार्यों का प्रतिपादक ग्रन्थ। दिगम्बर परम्परा में इस नाम का भी कोई ग्रन्थ नहीं रहा है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में आवश्यक नामक स्वतन्त्र ग्रंथ प्राचीन काल से उपलब्ध है और उसकी गणना आगम ग्रन्थ के रूप में की गई है। अतः स्पष्ट है कि मूलाचारकार का आवश्यक से तात्पर्य श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आवश्यकसूत्र से ही है।

अन्तिम ग्रन्थ जिसका इस गाथा में उल्लेख है, वह धर्मकथा है। यह बात निश्चय ही विचारणीय है कि धर्मकथा से ग्रन्थकार का तात्पर्य किस ग्रन्थ से है। दिगम्बर परम्परा में धर्मकथानुयोग से जो पुराण आदि साहित्य उपलब्ध हैं, वे किसी भी स्थिति में मूलाचार के पूर्ववर्ती नहीं हैं। टीकाकार वसुनन्दी ने धर्मकथा से त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि का जो तात्पर्य लिया है, वह तब तक ग्राह्य नहीं बन सकता जब तक कि त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र का विवेचन करने वाले मूलाचार से पूर्व के कोई ग्रंथ हों। जब हम त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र से सम्बन्धित ग्रंथों को देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी ग्रन्थ मूलाचार के परवर्ती ही हैं। अतः यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है कि धर्मकथा से मूलाचार का क्या तात्पर्य है? इसके उत्तर के रूप में हमारे सामने दो विकल्प हैं—या तो हम यह मानें कि मूलाचार की रचना के पूर्व भी कुछ चरित ग्रन्थ रहे होंगे जो धर्मकथा के नाम से जाने जाते होंगे, किन्तु यह कल्पना

अधिक सन्तोषजनक नहीं लगती। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि धर्मकथा से तात्पर्य 'नायधम्मकहा' से तो नहीं है? यह सर्वमान्य है कि 'नायधम्मकहा' की विषय-वस्तु धर्मकथानुयोग से सम्बन्धित है, इस विकल्प को स्वीकार करने में केवल एक ही कठिनाई है कि कुछ अंग-आगम भी अस्वाध्याय काल में पढ़े जा सकते हैं—यह मानना होगा। एक और विकल्प हो सकता है धर्मकथा से तात्पर्य कहीं पउमचरियं आदि ग्रन्थ से तो नहीं है, लेकिन यह कल्पना ही है। भेरी दृष्टि में तो 'धम्मकहा' से मूलाचार का तात्पर्य 'नायधम्मकहा' से होगा। मूलाचार में उपयुक्त ग्रंथों के अतिरिक्त 'आयारकप्प' और 'जीदकप्प' ऐसे दो ग्रंथों की और सूचना मिलती है अतः इनके सम्बन्ध में भी विचार कर लेना आवश्यक है। श्वे० परम्परा में मान्य आगमों में छेद सूत्रों के अन्तर्गत आचारकल्प (दशाश्रुत-स्कन्ध = आचारदशा) और जीतकल्प का उल्लेख उपलब्ध होता है। यापनीय परम्परा के एक अन्य ग्रंथ छेदशास्त्र में भी प्रायश्चित्त के सन्दर्भ में आचारकल्प और जीतकल्प का उल्लेख उपलब्ध होता है, यह स्पष्ट है कि आचारकल्प और जीतकल्प मुनि जीवन के आचार-नियमों तथा उनसे सम्बन्धित प्रायश्चित्तों का वर्णन करते हैं। पंचाचाराधिकार में तपाचार के सन्दर्भ में जो इन दो ग्रंथों का उल्लेख है वे वस्तुतः श्वे० परम्परा में मान्य आचारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध) और जीतकल्प ही हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दिगम्बर आचार्यों ने यापनीय परम्परा के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा है कि वे 'कल्पसूत्र' का वाञ्छन करते हैं। स्मरण रहे कि आचारकल्प का आठवाँ अध्यायन पर्यूषण-कल्प के नाम से प्रसिद्ध है और आज भी पर्यूषण पर्व के अवसर पर श्वे० परम्परा में उसका वाञ्छन होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलाचार में जिन ग्रंथों का निर्देश किया गया है, लगभग वे सभी ग्रंथ आज भी श्वे० परम्परा में मान्य और प्रचलित हैं, उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आगमिक ग्रन्थों के सन्दर्भ में मूलाचार की परम्परा श्वे० परम्परा के निकट है। यापनियों के सन्दर्भ में यह स्पष्ट है कि वे श्वे० परम्परा में मान्य आगम साहित्य को मान्य करते थे। यह हम पूर्व में भी सूचित कर चुके हैं कि उत्तर भारत के निग्रंथ संघ में जिन ग्रन्थों का निर्माण ई० सत् की दूसरी शती तक हुआ था उसके उत्तराधिकारी श्वे० और यापनीय दोनों ही रहे हैं अतः मूलाचार में श्वे० परम्परा में मान्य ग्रंथों का उल्लेख यही सिद्ध करता है कि वह यापनीय परम्परा का ग्रंथ है।

पिण्डछेदशास्त्र

अचेल परम्परा में छेद पिण्ड नामक एक प्रायश्चित्त ग्रन्थ रहा है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन माणिकचन्द दिगम्बर ग्रन्थमाला के १८वें ग्रन्थ के रूप में 'प्रायश्चित्तसंग्रह' के अन्तर्गत हुआ है। ग्रन्थ के प्रारम्भ की मूल गाथाओं में तो कर्ता का नाम नहीं दिया गया है किन्तु ग्रन्थ के अन्तिम गाथा में यह कहा गया है कि जो व्यक्ति इन्द्रनन्दि द्वारा रचित इस छेद-पिण्ड से भावित होता है, वह लोक और लोकोत्तर व्यवहार में कुशल होता है। इस अन्तिम समापन गाथा के बाद सम्भवतः लिपिकार ने अपनी ओर से एक गाथा जोड़ी है और उसमें कहा है कि सज्जनों के मल का हरण करने वाला इन्द्रनन्दि के द्वारा विरचित यह ग्रन्थ उनके प्रति भक्तिपूर्वक सम्यक् प्रसन्नचित्त से लिखा गया है। ग्रन्थ मूलतः शौरसेनी प्राकृत में है और उसमें मूलतः आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय (आलोचना और प्रतिक्रमण) विवेक, व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) तप, छेद, मूल, परिहार एवं पारंशिक—इन दस प्रकार के प्रायश्चित्तों का और उन प्रायश्चित्तों से सम्बन्धित अपराधों का अर्थात् पंचमहाव्रतों, रात्रिभोजन-निषेध, पञ्चसमिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, केशलोच, षडावश्यक आचेल्य (नग्नता), अस्नान, अदंत धावन, भूमि-शयन, स्थित-भोजन—एक समय भोजन—इन अठ्ठावीस मूलगुणों और अनेक उत्तर-गुणों के उल्लंघन संबंधी दोषों का विस्तृत विवेचन है। ग्रन्थ की कुल गाथाएँ ३६१ और श्लोक परिमाण ४२० हैं। ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट गाथाओं की संख्या ३३३ हैं, किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ में ३६१ गाथाएँ दी गई हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ग्रन्थ में बाद में लगभग २८ गाथाएँ जोड़ दी गई हैं। अचेल परम्परा के प्रायश्चित्त विषयक ग्रन्थों में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः श्वेताम्बर परम्परा में जो स्थान छेदसूत्रों का है वही स्थान अचेल परम्परा में इस छेद-पिण्ड का है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में अरहंत को नमस्कार करके छेदपिण्ड प्रायश्चित्त को मैं कहूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा के द्वारा ग्रन्थ का पूरा नाम 'छेदपिण्ड प्रायश्चित्त'^२ ऐसा होगा, यह माना जा सकता है। यद्यपि ग्रन्थ की अन्तिम गाथा में ग्रन्थकर्ता के रूप में इन्द्रनन्दि

१. चउरसयाई बीसुत्तराई गंथस्स परिमाणं ।

तेतीसुत्तरतिसयपमाणं गाहा णिवद्धस्स ॥ —छेदपिण्डं, ३६०

२. विच्छिन्नं कम्मबंधे, णिच्छयणयस्सिऊण अरहंते ।

वोच्छामि छेदपिण्डं पायच्छित्तं पणमिऊणं ॥—छेदपिण्ड १

का उल्लेख हुआ है,^१ किन्तु मूलग्रन्थ के कर्ता ये इन्द्रनन्दि कौन थे यह विचारणीय है। दिगम्बर परम्परा में नीतिसार नामक ग्रन्थ के कर्ता के रूप में इन्द्रनन्दि का उल्लेख मिलता है, लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या ये इन्द्रनन्दि वही हैं जो कि नीतिसार के रचयिता हैं। इन्द्रनन्दि ने अपने नीतिसार में पंच जैनाभासों की चर्चा की है, जिसमें श्वेताम्बर, यापनीय, द्रविड़ संघ, काष्ठासंघ और माथुरसंघ का समावेश है। इससे स्पष्ट है कि ये इन्द्रनन्दि इन पाँचों परम्पराओं से भिन्न मूल संघ से सम्बद्ध होना चाहिए, किन्तु ग्रन्थ के स्वरूप को देखते हुए यह स्पष्ट लगता है कि यह ग्रन्थ मूल संघ का नहीं है। क्योंकि इसमें कल्प-व्यवहार आदि श्वेताम्बर आगमों का न केवल उल्लेख है अपितु प्रायश्चित्त के सन्दर्भ में उन्हें प्रमाण भी माना गया है^२। ग्रन्थ 'श्रमणी' का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख करता है और कहता है कि श्रमणियों के लिए वे ही प्रायश्चित्त हैं जो श्रमणों के लिए हैं^३। श्रमणियों के लिए मात्र पर्याय-छेद, मूल, परिहार, दिनप्रतिमा और त्रिकाल योग नामक प्रायश्चित्तों का निषेध है। इससे यह फलित होता है कि इस ग्रन्थ के कर्ता यापनीयों को जैनाभास कहने वाले इन्द्रनन्दि नहीं माने जा सकते; इसके विपरीत अन्य संभावना हो सकती है कि इस ग्रन्थ के कर्ता इन्द्रनन्दी, यापनीय नन्दीसंघ के कोई इन्द्रनन्दी रहे हों और बाद में भ्रान्ति से नीतिसार और छेदपिण्ड प्रायश्चित्त के कर्ता को एक मान लिया गया हो क्योंकि जो परम्परा मूलसंघ को छोड़कर अन्य सभी को जैनाभास कह रही हो वह अपने ग्रन्थों में उनके विचारों का संग्रह कैसे करती? नीतिसार और श्रुतावतार के कर्ता इन्द्रनन्दि का समय दसवीं शताब्दी है, जबकि प्रस्तुत ग्रन्थ भाषा और विषय दोनों की दृष्टि से दसवीं शताब्दी के पूर्व का तो निश्चित ही है। यह संभव है कि जब ग्रन्थकार स्वयं ग्रंथ की ३३३ गाथाओं का उल्लेख कर रहा है, तो ३६१ गाथाओं की उपस्थिति, इस बात की सूचक है कि कुछ गाथाएँ बाद में जोड़ी गयी हैं और इस जोड़नेवाले ने कर्ता के रूप में अपना नाम दे दिया है। यद्यपि अभी तक ग्रन्थ को जितना कुछ देखा है उससे स्पष्ट

१. भावेद् छेदपिण्डं जो एदं इंदणंदिगणिरचिदं।—छेदपिण्ड ३६१

२. एवं दसविधपायच्छित्तं भणियं तु कप्पववहारे।

जोदम्मि पुरिसमेदं णाउं दायव्वमिदि भणियं ॥—छेदपिण्ड ३८८

३. जं समणार्णं वुत्तं पायच्छित्तं तहज्जमाचरणं।

तेसिं चेव पउत्तं तं समणीणपि णायव्वं ॥—छेदपिण्ड ८९

लगता है कि ग्रन्थ यापनीय परम्परा का होना चाहिए और इस ग्रन्थ के कर्ता यदि इन्द्रनन्दी ही हैं तो वे यापनीय नन्दीसंघ के कोई इन्द्रनन्दी रहे होंगे। श्रीमती (डॉ०) कुसुम पटोरिया^१ ने जटासिंह नन्दी के वरांगचरित्र के यापनीय कृति होने की सम्भावना की चर्चा करते हुए कन्नड़ कवि जन्न (ई० १२१९) के अनन्तनाथ पुराण का एक श्लोक उद्धृत किया है—वंधर जटासिंह ण्ढाचार्यादीर्द्रण्ढाचार्यादि मुनि काणूर्ण पंचपृथिवियोलगेल्लं (१/१७)। इसमें जटासिंह नन्दी और इन्द्रनन्दी को काणूर-गण का बताया गया है और यह काणूरगण यापनीय संघ का है यह हम द्वितीय अध्याय में बता चुके हैं। अतः छेदशास्त्र के प्रणेता इन्द्रनन्दी यापनीय संघ के काणूर गण के हैं और ये लगभग ईसा की ७-८वीं शताब्दी में हुए हैं। सम्भवतः ये जटासिंह नन्दी के शिष्य रहे हों। इतना निश्चित है कि ये श्रुतावतार के कर्ता इन्द्रनन्दी के भी पूर्व हुए हैं। इन्द्र (नन्दी) का उल्लेख हमें रविषेण के पद्मचरित और गोम्मटसार में भी मिलता है। रविषेण ने पद्मचरित में अपनी गुरु परम्परा में इन्द्र, दिवाकर यति, अर्हन्मुनि और लक्ष्मणसेन के नामों का उल्लेख किया है।^२ श्रीमती (डॉ०) कुसुम पटोरिया लिखती हैं कि आचार्य रविषेण कई कारणों से यापनीय प्रतीत होते हैं।^३ यदि रविषेण यापनीय हैं तो गुरु के प्रगुरु भी यापनीय होंगे, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता है। रविषेण के पद्मचरित के लेखन का समय ईस्वी सन् ६७८ है। अतः उनके प्रगुरु के गुरु कम से कम उनसे एक सौ वर्ष पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् ५७८ के पूर्व ही हुए होंगे। पुनः गोम्मटसार में 'इन्द्र' का उल्लेख सांशयिक के रूप में हुआ है।^४ गोम्मटसार के टीकाकार ने उन्हें श्वेताम्बर कहा है।^५ किन्तु वास्तविकता तो यह है कि ये इन्द्र (नन्दी) यापनीय हैं। क्योंकि दिगम्बरों की दृष्टि में यापनीय ही सांशयिक हो सकते हैं। पं० नाथूरामजी प्रेमी^६ लिखते हैं कि "शाकटायन सूत्रपाठ में इन्द्र, सिद्धनन्दि और आर्यवज्र—इन तीन का मत दिया है—सम्भवतः ये भी यापनीय सम्प्रदाय के होंगे। इन्द्र को गोम्मटसार के टीकाकार ने श्वेताम्बर गुरु बतलाया है।

१. यापनीय सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० १५८।
२. पद्मचरितम् (रविषेण), भूमिका पृ० २।
३. यापनीय सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० १४६।
४. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १६।
५. वही (टीका)।
६. जैन साहित्य और इतिहास (पं० नाथूराम जी प्रेमी) पृ० १६७।

किन्तु इन्द्र नाम के श्वेताम्बर आचार्य का अभी तक कोई उल्लेख नहीं मिला है, बहुत सम्भव है कि ये यापनीय हों और श्वेताम्बर तुल्य होने से श्वेताम्बर कह दिये गये हों। द्विकोटिगत ज्ञान को संशय कहते हैं, जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में घटित नहीं हो सकता परन्तु यापनीयों को कुछ श्वेताम्बर और कुछ दिगम्बर होने के कारण शायद संशय मिथ्या-दृष्टि कह दिया गया हो। बहुत सम्भव है कि शाकटायन सूत्रकार ने इन्हीं इन्द्र गुरु का उल्लेख किया हो।^१ शाकटायन यापनीय थे, यह सुस्पष्ट है अतः उन्होंने जिस इन्द्रगुरु का उल्लेख किया है वे भी यापनीय होंगे इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

प्रायश्चित्त संग्रह की भूमिका में पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भी गोम्मतसार में सांशयिक के रूप में उल्लिखित और शाकटायन द्वारा इन्द्र गुरु के रूप में उल्लिखित इन्द्रनन्दि के अतिरिक्त भी चार अन्य इन्द्रनन्दि नामक आचार्यों का उल्लेख किया है और इस प्रश्न पर विचार किया है कि इनमें कौन से इन्द्रनन्दि छेद पिण्डशास्त्र के कर्ता हैं? यद्यपि इस सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण आदरणीय पण्डितजी के दृष्टिकोण से भिन्न है— (१) अथ्यपार्यं ने जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय (ई० सन् १३१९) में किसी इन्द्रनन्दि के पूजाक्रम का उल्लेख किया है^२। इससे फलित होता है कि ई० सन् १३१९ के पूर्व कोई पूजा विषयक ग्रन्थ इन्द्रनन्दि द्वारा लिखा गया था जिस क्रम से इसमें आचार्यों का उल्लेख हुआ है यदि उसे ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य मानें तो ये इन्द्रनन्दि वसुनन्दी के पश्चात् और आशाधर के पूर्व हुए होंगे अतः इनका समय लगभग ईसा की १३वीं शती होगा। किन्तु मेरी दृष्टि में ये इन्द्रनन्दी पर्याप्त परवर्ती हैं और ये उस छेदपिण्ड के कर्ता नहीं हो सकते, जिसमें जीत, कल्प एवं व्यवहार के अध्ययन के स्पष्ट निर्देश हैं। उस काल तक यापनीय परम्परा विलुप्त-सी हो गई थी और श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित इन ग्रन्थों से दिगम्बर परम्परा अपरिचित थी।

(२) दूसरे इन्द्रनन्दि वर्तमान में उपलब्ध इन्द्रनन्दि-संहिता के रचयिता

१. जैनसाहित्य और इतिहास (पं० नाथूराम प्रेमी) पृ० १६७।
२. वीराचार्य सु पूज्यपाद जिनसेनाचार्य संभाषितो,
यः पूर्वं गुणभद्रसूरि वसुनन्दीन्द्रादिनन्द्युजितः।
यश्चाशाधर हस्तिमल्लकथितो यश्चैक संघिस्ततः,
तेभ्य स्वाहृतसारमध्यरचितः स्याज्जैनपूजाक्रम-

—उद्धृत प्रायश्चित्त संग्रह भूमिका पृ० ४।

इन्द्रनन्दि हैं किन्तु ये इन्द्रनन्दि वही हैं, जिनका उल्लेख अथ्यपायं ने पूजा-क्रम के रचयिता के रूप में किया है। क्योंकि इन्होंने भी उन्हीं आचार्यों का उसी क्रम से उल्लेख किया है, जिस क्रम से अथ्यपायं ने किया है^१। यह सम्भव है कि श्रुतावतार के कर्ता इन्द्रनन्दि और इन्द्रनन्दि संहिता तथा पूजाक्रम के रचयिता एक ही हों। फिर भी इन्हें छेदपिण्डशास्त्र का रचयिता नहीं माना जा सकता। क्योंकि स्वयं इन्द्रनन्दि-संहिताकार इन इन्द्रनन्दि ने दायभाग प्रकरण की अन्तिम गथाओं में किसी अन्य प्राचीन इन्द्रनन्दि नामक आचार्य की इन्द्रनन्दि-संहिता का उल्लेख किया है और उसे प्रमाण मानने के लिए कहा है^२।

(३) अतः ये तीसरे कोई प्राचीन इन्द्रनन्दि हैं जिनकी संहिता अर्थात् आचारसम्बन्धी कोई ग्रन्थ प्रमाण माना जाता था। इस सम्बन्ध में पं० नाथूरामजी प्रेमी का यह कथन द्रष्टव्य है—

“ऐसा प्रतीत होता है कि इस इन्द्रनन्दि संहिता से भी पहले कोई इन्द्रनन्दि संहिता थी, जिसे इस संहिता के कर्ता प्रमाण मानने को कहते हैं।^३”

मेरी दृष्टि में इस प्राचीन इन्द्रनन्दि-संहिता के कर्ता इन्द्रनन्दि ही छेदपिण्डशास्त्र के कर्ता हैं और वह इन्द्रनन्दि संहिता अन्य कुछ नहीं, स्वयं छेद-पिण्डशास्त्र ही होगा।

(४) इन्द्रनन्दि का उल्लेख गोम्मटसार कर्मकाण्ड की ३९६वीं गाथा में भी है, इनसे कनकनन्दि मुनि ने सिद्धान्तग्रन्थों (सम्भवतः कषायपाहूड और षट्खण्डागम) का अध्ययन करके सत्त्वस्थान की रचना की थी।^४

१. पुष्वं पुज्जविहाणे जिणसेणाइ वीरसेण गुरुजुत्तइ ।
पुज्जस्सयाय (?) गुणभद्दसूरिहि जह तद्दुद्दिट्ठा ॥
वसुणंदि इंदणंदि य तह य मुणी एयसंघिगणिनाहं (हिं)
रचियां पुज्जविही या पुष्वक्कमदो विणिद्दिट्ठा ॥

इन्द्रनन्दि-संहिता ६४, ६६

२. गोयम समंतभद्द य अयलंक सु माहणंदि मुणिणाहि ।
वसुणंदि इंदणंदिहि रचिया सा संहिता पमाणाहु ॥ वही ६५

उद्धृत प्रायश्चित्त संग्रह, भूमिका पृ० ४

३. प्रायश्चित्त संग्रह, भूमिका, पृ० ५ ।
४. वरइंदणंदि गुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धन्त ।
सिरि कणयणंदिगुरुणा सत्तठाणं समुद्दिट्ठं ॥

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड, ३९६ ।

सम्भव है कि शाकटायन पाल्यकीर्ति ने जिस इन्द्रगुरु का उल्लेख किया है वे ही इस गाथा में उल्लिखित इन्द्रनन्दि गुरु हों, जिनसे कनकनन्दि ने अध्ययन किया था। साथ ही यह भी सम्भव है कि ये इन्द्रनन्दि, प्राचीन इन्द्रनन्दि-संहिता के कर्ता इन्द्रनन्दि और छेदपिण्डशास्त्र के कर्ता इन्द्रनन्दि एक ही व्यक्ति हों।

इन्द्रनन्दि नामक उपरोक्त आचार्यों के अतिरिक्त श्रुतावतार के कर्ता इन्द्रनन्दि और नीतिसार के कर्ता इन्द्रनन्दि के उल्लेख मिलते हैं। श्रुतावतार कर्ता इन्द्रनन्दि छेदपिण्ड के कर्ता नहीं हो सकते क्योंकि व्यवहार कल्प और जीत-कल्प जैसे श्वेताम्बर आगमों को प्रमाण मानने वाले यापनीयों को वे जैनाभास कहते हैं। नीतिसार के कर्ता इन्द्रनन्दि भी छेदपिण्ड के कर्ता नहीं हो सकते, क्योंकि वे उन इन्द्रनन्दि से भिन्न हैं, जो प्राचीन इन्द्रनन्दि संहिता के कर्ता हैं और शाकटायन तथा गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र द्वारा इन्द्रगुरु के रूप में उल्लिखित हैं, क्योंकि नीतिसार के कर्ता इन्द्रनन्दि तो स्वयं ही नीतिसार के ७०वें श्लोक में नेमिचन्द्र और प्रभाचन्द्र का उल्लेख करते हैं।^१ इस प्रकार ये भी एक परवर्ती आचार्य ही सिद्ध होते हैं और इन्हें भी छेदपिण्ड का कर्ता मानना सम्भव नहीं है, यद्यपि पं० नाथूराम जी प्रेमी ने इन्हें छेदपिण्ड के कर्ता होने की सम्भावना प्रकट की है। किन्तु छेदपिण्ड किसी भी स्थिति में दसवीं शती से पूर्व का है।

मेरी दृष्टि में छेदपिण्ड के कर्ता इन्द्रनन्दि गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र से पूर्ववर्ती हैं। नेमिचन्द्र ने स्वयं गोम्मटसार के कर्मकाण्ड में इन्हें प्रणाम भी किया है^२ और उन्हें सकल श्रुतसागर का पारगामी माना है। इन्हीं इन्द्रनन्दि से कनकनन्दि ने कर्मशास्त्र का अध्ययन करके सत्त्व स्थान का विवेचन किया था।^३ उसी सत्त्व स्थान के आधार पर नेमिचन्द्र

१. प्रभाचन्द्रोनेमिचन्द्र इत्यादिमुनिसत्तमैः ।

—नीतिसार ७० ।

२. णमिऊण अभयनंदि सुदसागर पारगिदणंदि गुहं ।
वीरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ७८५ ।

३. वर इंदणंदि गुरुणो पासे सोऊण सयल सिद्धं तं ।
सिरिकणयणंदि गुरुणा सत्तठणं समुद्धिं ॥

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३९५ ।

ने गोम्मटसार में सत्त्व स्थान का विवेचन किया है। इसी प्रसंग में गाथा ३९१ से ३९५ तक में मान्यता भेद का उल्लेख किया गया है। गोम्मटसार में नेमिचन्द्र के गुरु वीरनन्दि का एवं कनकनन्दि के गुरु इन्द्रनन्दि और इन्द्रनन्दि के गुरु अभयनन्दि का उल्लेख मिलता है। यदि ये सब साक्षात् गुरु थे या परम्परा गुरु थे, यह बता पाना कठिन है। किन्तु इससे यह स्पष्ट होता है कि गोम्मटसार में उल्लिखित इन्द्रनन्दि, जो कि सकल श्रुत के पारगामी और कर्मप्रकृति के ज्ञाता थे, ही छेदपिण्ड के कर्ता हों। ये नेमिचन्द्र से लगभग सौ वर्ष पूर्व तो हुए होंगे अतः इनका काल लगभग ई० सन् की नवीं शती होगा। पुनः कर्मसिद्धान्त और कल्प, व्यवहार, आदि छेदसूत्रों के अध्ययन की परम्परा यापनीय परम्परा में ही रही है अतः ये इन्द्रनन्दि यापनीय ही होंगे।

११वीं एवं १२वीं शती के कुछ शिलालेखों में द्राविड़ संघ के नन्दिसंघ के अहंगल अन्वय के इन्द्रनन्दि का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है नन्दिसंघ जो बाद में द्राविडसंघ में अन्तर्भूक्त हुआ मूलतः यापनीय था इसकी चर्चा हम द्वितीय अध्याय में कर चुके हैं। इन शिलालेखों में समन्तभद्र, अकलंक, पुष्पसेन और विमलचन्द्र के पश्चात् इन्द्रनन्दि का उल्लेख है।^१ इससे यह फलित होता है कि ये इन्द्रनन्दि अकलंक के बाद नेमिचन्द्र के पूर्व हुए हैं अतः इनका समय ९वीं शती मानना उचित है। शिलालेख में इन्हें प्रतिष्ठाकल्प, ज्वलिनी कल्प का कर्ता कहा गया है। जैन साहित्य के बृहद् इतिहास, भाग ५ के अनुसार इन्द्रनन्दि ने ज्वालिनो कल्प की रचना शक-संवत् ८६१ में मानखेड़ के राजा कृष्णराज के राज्यकाल में की थी। इनके गुरु बप्पनन्दी थे। स्मरण रहे कि इसी काल में बप्पभट्टि नामक एक प्रसिद्ध जैनाचार्य उत्तर भारत में हुए हैं—ग्वालियर से उनके अभिलेख भी मिले हैं—यद्यपि उन्हें श्वेताम्बर माना जाता है। पर्याप्त प्रयास के पश्चात् हमें इन्द्रनन्दि के सम्बन्ध में एक अन्य अभिलेख भी प्राप्त हुआ है—यह अभिलेख रामनगर (अतिछत्रा) का है इसमें 'महाचार्य इन्द्रनन्दि शिष्य महाहरि पार्श्वपतिस्य कोत्तरि' ऐसा उल्लेख है। कनिंघम के अनुसार इसका काल गुप्तकाल की अवन्ति से पूर्व का है। सम्भवतः ये इन्द्रनन्दि सातवीं-आठवीं शती के हों।^२

शिलालेखों में इन्द्रनन्दि नामक अनेक आचार्यों के उल्लेख होने से

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, पृ० २०५-२०६, लेख क्रमांक ४१०।

२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, पृ० ५९२, लेख क्रमांक ८४३।

किसी निश्चय पर पहुँचना कठिन अवश्य है किन्तु ग्रन्थ की विषयवस्तु एवं उसमें उपलब्ध उल्लेखों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है— छेदपिण्ड सातवीं से नवीं शती के मध्य हुए यापनीय या यापनीय संघ से निकले हुए किसी अन्य गण के इन्द्रनन्दि की रचना है और ये इन्द्रनन्दि वही हैं जिनका उल्लेख शाकटायन और नेमिचन्द्र इन्द्रनन्दि गुरु के रूप में करते हैं और जो कर्मशास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता थे ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता को और ग्रन्थ को यापनीय परम्परा से सम्बन्धित क्यों माना जाय, इस सम्बन्ध में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

भगवती आराधना, मूलाचार और उनकी विजयोदया टीका से यह स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य छेद ग्रन्थ यापनीय परम्परा में प्रमाणरूप में स्वीकार किये जाते थे । विजयोदया टीका में अनेक स्थलों पर इन ग्रन्थों के सन्दर्भों का प्रमाण के रूप में उल्लेख किया गया है । छेद-पिण्ड प्रायश्चित्त ग्रन्थ की २२८वीं गाथा में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि कल्प-व्यवहार में ये जो दस प्रकार के प्रायश्चित्त कहे गये हैं, उन्हें जीतकल्प में कहे गये पुरुषभेद को जानकर देना चाहिए ।^१ इससे स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि ग्रन्थकार न केवल कल्प, व्यवहार और जीतकल्प का निर्देश करता है अपितु उन्हें प्रमाण-रूप स्वीकार कर उन्हीं के अनुरूप प्रायश्चित्त देने का विधान भी करता है ।

२. ग्रन्थ की गाथा ३०३ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'देशयति को संयती के प्रायश्चित्त का आघा देना चाहिए'^२ इससे यह प्रतीत है कि यह परम्परा ऐलक, क्षुल्लक आदि को उत्कृष्ट श्रावक न मानकर श्रमण वर्ग के अन्तर्गत ही रखती थी । जबकि मूलसंघीय परम्परा परिग्रह रखनेवाले व्यक्ति को श्रावक की अवस्था से ऊपर नहीं मानती है । यापनीय परम्परा में आचारांग का सन्दर्भ देकर श्रमणों के दो विभाग किये गये हैं—सर्व श्रमण और नो सर्व श्रमण । नोसर्वश्रमण को ही शब्द भेद से इस ग्रन्थ में देशयति माना गया है । दिग्म्बर परम्परा में प्रचलित

१. एवं दसविध पायच्छित्तं भणियं तु कल्पव्यवहारे ।

जीदम्मि पुरिसभेदं गाउं दायव्वमिदि भणियं ॥

—छेदपिण्डम्, २८८

२. देसजदीणं छेदो विरदाणं अद्वयपरिमाणं ।—छेदपिण्डम्, ३०३ ।

क्षुल्लक शब्द भी इसी का वाचक है। क्षुल्लक या देशयति को श्रावक कहना मात्र आग्रह बुद्धि का परिचायक है।

(३) यह स्पष्ट है कि यापनीय संघ और उससे विकसित काष्ठा-संघ, स्त्री की पुनः दीक्षा और रात्रि भोजन को छठें व्रत के रूप में स्वीकार करते थे। श्वेताम्बर परम्परा में दशवैकालिक आदि में छठें व्रत के रूप में ही रात्रि भोजन का निषेध किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी रात्रि भोजन निषेध का छठें व्रत के रूप में उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि जो रात्रि में भिक्षाचार्या के लिए प्रवेश करता है उसे और उसके सम्भोगी को मूल-प्रायश्चित्त देना चाहिए। इसी प्रकार ग्रन्थ की गाथा ३०७ और ३४२ में भी श्रावक के प्रायश्चित्तों के सन्दर्भ में रात्रि भोजन-निषेध को छठा अणुव्रत कहा गया है। रात्रि भोजन-निषेध को छठा व्रत मानना यह यापनियों और श्वेताम्बरों की मान्यता है, दिगम्बर परम्परा की नहीं। दिगम्बर परम्परा उसका अन्तर्भाव अहिंसाव्रत में करती है।

(४) प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रायश्चित्त की चर्चा करते हुए छेदपिण्ड-प्रायश्चित्त की गाथा १७४ और मूलाचार (ज्ञानमती द्वारा सम्पादित) की गाथा ३६२ में विचारगत ही नहीं शब्दगत समानता भी है। ये दोनों ही ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा के पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के स्थान पर श्रद्धान का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार छेदपिण्ड और मूलाचार दोनों की परम्परा समान प्रतीत होती है। तत्त्वार्थ का अनुसरण करनेवाली मूलसंघीय दिगम्बर परम्परा में नौ प्रायश्चित्तों का ही उल्लेख पाया जाता है उनमें पाराञ्चिक का उल्लेख नहीं है। यद्यपि यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तत्त्वार्थ की परम्परा में मूल के स्थान पर उपस्थापन शब्द का प्रयोग हुआ है। चूँकि मूलाचार यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है, यह सिद्ध ही है, अतः इसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह छेदपिण्ड-प्रायश्चित्त ग्रन्थ भी यापनीय परम्परा का रहा होगा।

(५) छेदपिण्ड में अनेक स्थलों पर कल्प और व्यवहार का निर्देश दिया गया है। गाथा २०८ में कहा गया है कि जो श्रमण विकृति, तृण,

१. (अ) छट्ठ अणुव्यघादे गुणवयसिक्खावय तु उववासो ।

—छेदपिण्डम्, ३०७ ।

(ब) छट्ठमणुव्यघादे गुणवयसिक्खावए हि उववासो ।

—छेदपिण्डम्, ३४२ ।

काष्ठादि को दिन अथवा रात्रि में बिना प्रतिलेखना किये ग्रहण करता है अथवा उनका चालन करता है उसके लिए कल्प व्यवहार में प्रायश्चित्त पञ्चक कहे गये हैं^१। इसी प्रकार गाथा २११ में कहा गया है कि दिये गये प्रायश्चित्त को लेते हुए यदि रोग के कारण कोई अन्तराल आता है तो वह भी कल्प-व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त पञ्चक के योग्य होता है।^२ पुनः गाथा २१३ में कहा गया है कि यदि पूर्व में दिये गये प्रायश्चित्त को कोई बीच में छोड़ देता है तो कल्प-व्यवहार में यह कहा गया है कि उसे भी गुरु के द्वारा प्रायश्चित्त पञ्चक दिया जाना चाहिए।^३ पुनः गाथा २२५ में कहा गया है कि वर्द्धमान के तीर्थ में कल्प और व्यवहार में छः माह से अधिक तप, प्रायश्चित्त नहीं कहा गया है इसलिए उनको छः माह का प्रायश्चित्त ही देना चाहिए।^४ इस तथ्य को जीतकल्प में भी प्रतिपादित किया गया है।^५ पिण्डछेद शास्त्र में व्यवहार, बृहत्कल्प, निशोथ और जीतकल्प का पद-पद पर यह अनुसरण यही सूचित करता है कि यह यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है। क्योंकि दिगम्बर परम्परा में इन ग्रन्थों को कभी मान्यता प्रदान नहीं की गई और न कोई भी दिगम्बर आचार्य इनकी प्रमाणता का ही कोई उल्लेख ही करता है।

(६) छेदपिण्ड में मास गुरु, मास लघु, अचाम्ल (आयम्बिल), निर्विकृति, क्षमा-श्रमण (खमासना) आदि प्रायश्चित्तों के जो प्रकार वर्णित हैं, वे श्वेताम्बर आगम साहित्य में ही उपलब्ध होते हैं, दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इनका उल्लेख मुझे देखने को नहीं मिला। क्योंकि यापनीय कल्प, व्यवहार आदि श्वेताम्बर आगमों को मान्य करते थे अतः छेदपिण्ड यापनीय ग्रन्थ ही सिद्ध होता है।

१. वियडि तिण कट्ठं वा रादो व द्दिया व अण्णडिलिहिता ।
गेण्हंतो चालंतो पणयरिहो कप्प ववहारे ॥—छेदपिण्डम्, २०८।
२. पायच्छित्तं दिण्णं कुब्बंतो जदा अंतरिज्ज रोगेण ।
तो णीरोगो संतो पणयरिहो कप्पववहारे ॥—छेदपिण्डम्, २११।
३. पुब्बपदिण्णं पायच्छित्तं छंहाविऊण पणयंतु ।
दायव्वमेव गुरुणा इय भणियं कप्पववहारे ॥—छेदपिण्डम्, २१३।
४. कप्पववहारे पुण छम्मासेहि परं तु णत्थित्तवो ।
इह वड्ढमाणत्थि तेण य छम्मासियं दिण्णं ॥
—छेदपिण्डम्, २२५।
५. जीतकल्प, १९३२।

(७) प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें श्रमण और श्रमणी के अतिरिक्त देशयति, गृहस्थ और श्राविका के लिये भी प्रायश्चित्तों का विधान है और इस प्रकार यह कल्प, व्यवहार, जीतकल्प आदि की अपेक्षा विकसित ग्रन्थ है। यह कल्प, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प आदि को मान्य करके भी अनेक ऐसे प्रायश्चित्तों का उल्लेख करता है, जिनका उल्लेख इन ग्रन्थों में नहीं है। विशेष रूप से रजस्वला श्रमणी के स्नान, ऋतु-काल में अन्य श्रमणियों से स्पर्श, विभिन्न वर्णों की रजस्वला श्राविकाओं के परस्पर स्पर्श सम्बन्धी प्रायश्चित्त आदि ऐसे नियम हैं, जो ब्राह्मण परम्परा से जैन परम्परा में आये हैं।^१ किन्तु दूसरी ओर इसमें हरित तृण, अंकुर आदि के पादस्पर्श, उन पर मल-मूत्र विसर्जन को भी प्रायश्चित्त का विषय माना गया है, जो इसमें प्राचीन अवधारणा की उपस्थिति का संकेत करता है। वस्तुतः यह कल्प, व्यवहार आदि प्राचीन प्रायश्चित्त ग्रन्थों के आधार पर विकसित ग्रन्थ है और इसलिए इसका यापनीय होना सुनिश्चित है।

(८) पुनः इस ग्रन्थ की गाथा २८ में भागवतों, कापालिकों आदि के साथ-साथ श्वेतपट श्रमणों का भी पाषण्ड के रूप में उल्लेख है अतः यह भी निश्चित है कि यह श्वेताम्बर कृति नहीं है।

(९) इसमें मूल गुणों और भोजन के अन्तरायों के जो उल्लेख उपलब्ध हैं वे इसे मूलाचार और भगवती आराधना की परम्परा का ग्रन्थ ही सिद्ध करते हैं। अतः इसका यापनीय कृति होना सुनिश्चित है।

छेदशास्त्र

प्रायश्चित्त संग्रह के अन्तर्गत छेदशास्त्र नामक प्रायश्चित्त सम्बन्धी प्राकृत भाषा का एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ की 'प्रतिज्ञागाथा' में छेदशास्त्र (छेदसत्थं) ही नाम मिलता है,^२ किन्तु इसमें नब्बे गाथाएँ होने के कारण इसे 'छेदनवति' भी कहा गया है। इस ग्रन्थ में लेखक के नाम का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है। अतः इसके लेखक के सम्बन्ध में विचार करना सम्भव नहीं है। जहाँ तक ग्रन्थ की विषय-वस्तु का प्रश्न है, वह मुख्यतः 'छेदपिण्ड' पर ही आधारित प्रतीत होती है। इसमें भी २८ मूलगुणों के भंग को आधार बनाकर प्रायश्चित्तों का

१. छेदपिण्डम् गाथा, २९८-३०२, ३४३-३५१।

२. पणमिऊण य पच्चगुरुं गणहरदेवाण रिद्धिवंताणं।

बुष्कामि छेदसत्थं साहूणं सोहणट्ठाणं।।—छेदशास्त्रम्, १

विधान किया गया है। प्रायश्चित्तों का स्वरूप और उनके नाम वही हैं, जो हमें छेदपिण्ड में मिलते हैं। इसकी अनेक गाथाएँ भी छेदपिण्ड में मिलती हैं।^१ यदि इसे छेदपिण्ड का ही एक संक्षिप्त रूप कहा जाये, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसमें मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध है। इस ग्रन्थ की परम्परा का निश्चय करना कठिन है क्योंकि इसमें ऐसा कोई भी स्पष्ट संकेत उपलब्ध नहीं है, जिससे इसे यापनीय परम्परा का ग्रन्थ कहा जा सके। किन्तु यदि छेदपिण्ड यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है और उसी के आधार पर इस छेदशास्त्र की रचना हुई है, तो यह कहा जा सकता है कि यह भी यापनीय परम्परा का ग्रन्थ रहा होगा। पुनः ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार का यह कथन कि पूर्व आचार्यों द्वारा निमित्त ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन करके यह ग्रन्थ बनाया गया है फिर भी इसमें जो आगम विरुद्ध हो, छेदज्ञ अर्थात् छेदशास्त्र के ज्ञाता उसे निकाल दें या आगमानुसार उसकी पूर्ति करें।^२ ग्रन्थकार के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि छेदसूत्र आदि आगमों का प्रामाण्य उसे स्वीकार्य है। यह इसके यापनीय होने का आधार कहा जा सकता है। पुनः इसमें रात्रि-भोजन सम्बन्धी प्रायश्चित्त का पंचमव्रत के प्रायश्चित्त के बाद उल्लेख, आर्यिकाओं के प्रायश्चित्तों का अलग से उल्लेख आदि कुछ ऐसे संकेत हैं जो इसे यापनीय कृति सिद्ध करते हैं।

अपराजितसूरि की विजयोदयाटीका

अपराजितसूरि की 'भगवती-आराधना' की 'विजयोदयाटीका' भी यापनीय परम्परा की है। पूर्व में हम इस तथ्य को बहुत ही स्पष्टता के साथ सिद्ध कर चुके हैं कि भगवतीआराधना यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है। यद्यपि यापनीय परम्परा के कुछ ग्रन्थ, जैसे षट्स्रगण्डामम, कषायपाहुड, पर धवला, जयधवला आदि दिगम्बर परम्परा के विद्वानों ने भी टोकाएँ लिखी हैं, किन्तु भगवतीआराधना की अपराजितसूरि की यह विजयो-

१. प्रायश्चित्तं छेदो मलहरणं पावणासणं सोही ।

पुण्ण पविसां पावणाभिदि प्रायश्चित्तनामाइ ॥—छेदपिण्डम्, ३

तुलनीय—

प्रायश्चित्तं सोही मलहरणं पावणासणं छेदो ।

पञ्जाया मूलगुणं मासिय संठाण पंचकल्लाणं ॥—छेदशास्त्रम्, २

२. पुञ्जायरियकयाणि य आलोचिसा मया समुविट्ठा ।

जं आगमे विरुद्धं अकणिय पुरं तु छेदसू ॥—छेदशास्त्रम्, १२

दयाटीका तो अनेक कारणों से यापनीय ही सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध में पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपने ग्रन्थ 'जैन साहित्य और इतिहास' में तथा श्रीमती (डा.) कुसुम पटोरिया ने 'यापनीय और उनका साहित्य' में विस्तार से चर्चा की है। हम उसी आधार पर यहाँ संक्षेप में चर्चा करेंगे। अपराजितसूरि और उनकी मूलाराधना की विजयोदयाटीका को निम्न आधारों पर यापनीय माना जा सकता है—

(१) भगवतीआराधना की टीका की अन्तिम प्रशस्ति में अपराजित सूरि ने अपने को चन्द्रनन्दि का प्रशिष्य और बलदेवसूरि का शिष्य कहा है।^१ गंगवंश के पृथुवीकोङ्गणि महाराज के ईस्वी सन् ७७६ के एक दान-पत्र में—श्रीमूलगण नन्दिसंघ के चन्द्रनन्दी नामक आचार्य का उल्लेख है।^२ यदि अपराजित इन्हीं चन्द्रनन्दी के प्रशिष्य हैं तो इस आधार पर इन्हें यापनीय मानने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि श्रीमूल मूलगण और नन्दिसंघ यापनीय हैं। इस अभिलेख के आधार पर इनका काल लगभग आठवीं का उत्तरार्ध और नवीं का पूर्वार्ध सिद्ध होता है।

(२) भगवतीआराधना की टीका में अपराजित ने अपने द्वारा दशवैकालिक पर भी टीका लिखे जाने का निर्देश किया है।^३ साथ ही उन्होंने भगवतीआराधना को इस टीका में आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, व्यवहार, कल्प आदि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगम ग्रन्थों को प्रमाण रूप स्वीकार करके उनके अनेक उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं। इससे यह फलित होता है कि उन्हें ये सब आगम ग्रन्थ न केवल ज्ञात थे, अपितु प्रमाण रूप में स्वीकार भी थे। यह सुस्पष्ट है कि अचेल परम्परा में यापनीय सम्प्रदाय ही ऐसा सम्प्रदाय था, जो इन आगम ग्रन्थों के प्रामाण्य को स्वीकार करता है। इस आधार पर भी अपराजित-सूरि और उनकी विजयोदयाटीका का यापनीय होना सुनिश्चित है।

(३) आराधना की विजयोदयाटीका में इस प्रश्न पर भी पर्याप्त

१. चन्द्रनन्दिमहाकर्मप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दि-गणिपादपद्मोपसेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेण अपराजितसूरिणा श्रीनन्दिगणिनावचोदिनेन रचिता आराधनाटीका श्रीविजयोदयानाम्ना समाप्ता ।

—भगवतीआराधना (विजयोदयाटीका) अन्तिम प्रशस्ति

२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग दो, लेख क्रमांक १२१ ।

३. दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपञ्चिता उद्गमविधेया इति नेह प्रतम्यते ।—भगवतीआराधना (विजयोदयाटीका), भाग २, पृ० ६०४ ।

गहराई से चिन्तन किया गया है कि आगमों में वस्त्र-पात्र के उल्लेख हैं—उनकी अचेलता की अवधारणा से कैसे संगति बिठाई जा सकती है ? टीकाकार अपराजित सूरि के अनुसार आगमों में जो वस्त्र-पात्र सम्बन्धी निर्देश हैं, वे आपवादिक हैं। आगमों में कारण विशेष में वस्त्र ग्रहण करने की अनुज्ञा है। आगमों को प्रमाण मानकर उनके वस्त्र-पात्र सम्बन्धी निर्देशों को आपवादिक रूप में व्याख्यायित करना यह टीकाकार के यापनीय होने का प्रमाण है। क्योंकि जो दिगम्बर परम्परा आगमों को प्रमाण नहीं मानती थी—उसके लिए यह समस्या ही नहीं थी, समस्या तो उन यापनीय आचार्यों के समक्ष थी, जो एक ओर अचेलता के समर्थक थे और दूसरी ओर आगमों को प्रमाण भी मान रहे थे। इससे यही सिद्ध होता है कि अपराजित और उनकी विजयोदयाटीका यापनीय है।

(४) भगवतीआराधना की- विजयोदया टीका में आगमों में महावीर के वस्त्र सहित दीक्षित होने और बाद में उस वस्त्र के परित्याग के सम्बन्ध में जो विविध प्रवाद प्रचलित थे—उनकी विस्तृत समीक्षा उपलब्ध होती है।^२ अपराजित लिखते हैं कि जो भावना (आचारांग

१. संवच्छरं साह्रियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं ।

अचेलए ततो चार्हं, तं वोसज्ज वत्थमणगारे ॥

—आचारांग प्र० श्रु०, अ० ९, सूत्र ४

२. “यच्च भावनायामुक्तं-वरिसं वीवरधारी तेण परमेच्चल्लगो जिणोत्ति :— तदुक्तं विप्रतिपत्तिद्वबलत्वात् । कथं ? केचिद्वदन्ति’ तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति’ । अन्ये ‘वण्णमासाच्छिन्नं तत्कण्टक-शास्त्रादिभिरिति ।’ ‘साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खंडलकब्राह्मणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति । केचिद्वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेति । अपरे वदन्ति ‘विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति ।’ एवं विप्रतिपत्तिबाहु-ल्यान्न दृश्यते तत्त्वं । सचेर्लागप्रकटनार्थं यदि चेलग्रहणं जिनस्य कथं तद्विनाश इष्टः । सदा तद्वारयितव्यम् । किं च यदि नश्यतीति ज्ञातं निरर्थकं तस्य ग्रहणं । यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति । अपि च चेलप्रज्ञापना वाञ्छिता चेत् “आचेलकको धम्मो पुरिमणरिमाणं” इति वचो मिथ्या भवेत् ।” तथा नवस्थाने यदुक्तं “यथाहमच्छेली तथा ह्योउ पच्छिमो इवि होक्खदित्ति” तेनापि विरोधः । किं च जिनानामितरेषां वस्त्रत्यागकालः वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, यदि वस्त्रं तेषामपि भवेत् । एवं तु युक्तं वक्तुं ‘सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिदसं’ वस्त्रं निक्षिप्तं उपसःगंस इति ।

—भगवती आराधना, विजयोदयाटीका पृ० ३२५-२६ ।

के भावना नामक अध्ययन) में कहा है कि जिन एक वर्षतक वस्त्रधारी रहे उसके बाद अचेलक रहे।' उसमें बहुत विवाद है। कोई कहते हैं कि उसी दिन वह वस्त्र वीर भगवान् के किसी व्यक्ति ने ले लिया था। दूसरों का कहना है कि वह वस्त्र छह मास में कांटे, शाखा आदि से छिन्न हो गया। कोई कहते हैं कि एक वर्ष से कुछ अधिक होने पर उस वस्त्र को खंडलक नाम के ब्राह्मण ने ले लिया था। कुछ कहते हैं कि हवा से वह वस्त्र गिर गया और जिनदेव ने उसकी उपेक्षा कर दी। अन्य कहते हैं कि उस पुरुष ने उस वस्त्र को वीर भगवान् के कन्धे पर रख दिया। इस प्रकार बहुत विवाद होने से इसमें कुछ तत्त्व दिखाई नहीं देता। यदि वीर भगवान् ने सबस्त्र वेष प्रकट करने के लिए वस्त्र ग्रहण किया था तो उसका विनाश इष्ट कैसे हुआ। सदा उस वस्त्र को धारण करना चाहिये था तथा यह वस्त्र विनष्ट होने वाला है ऐसा उन्हें ज्ञात था तो उसका ग्रहण निरर्थक था। यदि उन्हें यह ज्ञात नहीं था तो वीर भगवान् अज्ञानी ठहरते हैं तथा यदि चेलप्रज्ञापना इष्ट थी तो 'प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म अचेल था' यह वचन मिथ्या ठहरता है। तथा नव स्थान में कहा है—'जैसे मैं अचेल हुआ वैसे ही अन्तिम तीर्थंकर अचेल होंगे।' उससे भी विरोध आता है। अन्य तीर्थंकरों ने भी वस्त्र धारण किया था तो वीर भगवान् की तरह उनका भी वस्त्र त्यागने के काल का निर्देश क्यों नहीं है? इसलिए ऐसा कहना युक्त है कि जब वीर भगवान् सर्वस्व त्याग कर ध्यान में लीन हुए तो किसी ने उनके कन्धे पर वस्त्र रख दिया। यह तो उपसर्ग हुआ।' यह सब उहापोह टीकाकार अपराजित को यापनीय ही सिद्ध करता है। क्योंकि यह समस्या भी यापनीयों द्वारा आगमों को मान्य करने से उत्पन्न हुई थी। जो परम्परा आगमों का पूर्ण विच्छेद और उपलब्ध आगमों को अप्रमाण मान रही थी, उसके लिये यह समस्या ही नहीं थी। इससे आराधना का यापनीय होना सुनिश्चित है।

(५) विजयोदयाटोका में जटासिहनन्दी के 'वरांगचरित्र' से कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। जटासिहनन्दी को कन्नड कवि जन्न ने क्राणूरगण का बताया है और यह क्राणूरगण यापनीय है। पुनः जन्न ने जटासिह नन्दी के अतिरिक्त इन्द्रनन्दि का भी उल्लेख किया है और पूर्व में हम बता चुके हैं कि ये इन्द्रनन्दी और उनके द्वारा निर्मित छेदपिंड नामक ग्रन्थ यापनीय है।

(६) भगवती आराधना मूल गाथा ७६ से ८६ तक में और उसकी

अपराजित की विजयोदया टीका में मुनि के उत्सर्ग और अपवादलिंग की विस्तृत चर्चा है। इसमें वस्त्रधारण को अपवाद लिंग माना गया है। हमारे दिग्म्बर आचार्य वस्त्रधारी को श्रावक की कोटि में वर्गीकृत करते हैं उसे किसी भी स्थिति में मुनि नहीं मानते हैं, जबकि अपराजित उन्हें मुनि की कोटि में ही वर्गीकृत करते हैं, कहीं भी उन्हें उत्कृष्ट श्रावक नहीं कहते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि अपवादलिंग की यह चर्चा मुनि के सन्दर्भ में ही है। गृहस्थ के सन्दर्भ में नहीं है। गृहस्थ तो सदैव ही वस्त्रयुक्त होता है। जो वस्त्रधारी ही है, उसके लिये वस्त्रधारण अपवाद कैसे हो सकता है? किन्तु हमारे कुछ मूर्खन्य दिग्म्बर विद्वान् शब्दों को तोड़-मरोड़ कर अपवाद लिंग को गृहस्थ लिंग बताने का प्रयास करते हैं—पं० कैलाशचन्द्रजी भगवती आराधना की भूमिका में लिखते हैं कि “इस टीका में अपराजितसूरि ने औत्सर्गिक का अर्थ सकल परिग्रह के त्याग से उत्पन्न हुआ किया है तथा आपवादिक लिंग का अर्थ परिग्रह सहित किया है, क्योंकि यतियों के अपवाद का कारण होने से परिग्रह को अपवाद कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि आपवादिक लिंग का धारी गृहस्थ ही होता है। मुनि तो औत्सर्गिक लिंग का ही धारी होता है” किन्तु अपवाद की उनकी यह व्याख्या भ्रान्त है। मूल ग्रन्थ और टीका में अपवाद लिंग का तात्पर्य लिंग, अण्डकोष आदि में दोष होने पर या सम्भ्रान्त कुल का एवं लज्जालु होने पर वस्त्र युक्त रहकर भी मुनि चर्या करना है। अपवादलिंगी मुनि ही होता है, गृहस्थ नहीं। इस सम्बन्ध में डॉ० कुसुम पटोरिया का दृष्टिकोण यथार्थ है। वे लिखती हैं कि “अपवाद उत्सर्ग सापेक्ष होता है। परिग्रह त्याग मुनि का उत्सर्ग लिंग है अतः परिग्रह धारण भी यति का ही अपवाद लिंग होता होगा। गृहस्थ तो परिग्रही होता ही है। अतः अपवादलिंग मुनि का ही होता है।” यह बात इसी तथ्य को प्रमाणित करती है कि अपराजित की विजयोदयाटीका यापनीय कृति है।

(७) दिग्म्बर परम्परा में पूज्यपाद, अकलंक आदि रात्रिभोजन-त्याग को आलोकित पान-भोजन नामक अहिंसा महाव्रत की भावना में समाहित करते हैं, वहाँ श्वेताम्बर मान्य दशवैकालिक आदि आगम^२ और

१. देखें जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय—ले० डा० सागरमल जैन, पृ० ४३-४४
२. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० १२०।

यापनीय परम्पराएँ इसे छठें व्रत के रूप में मान्य करती हैं। विजयोदया-टीका में रात्रि-भोजन त्याग को छठा व्रत कहा जाना यही प्रमाणित करता है कि वह यापनीय कृति है।

(८) दिगम्बर परम्परा अरहंत के अवर्णवाद के उदाहरण के रूप में केवलि के क्वलाहार को प्रस्तुत करती है किन्तु भगवती आराधना की विजयोदया टीका में अरहंत के अवर्ण वाद की चर्चा के प्रसंग में केवलि क्वलाहार का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया गया है।^३ इस आधार पर श्रीमती कुमुम पटोरिया ने अपराजित और उनकी विजयोदया टीका को यापनीय माना है, जो उचित ही है।^४

(९) विजयोदयाटीका में जिनकल्प, परिहार संयम, आलन्द, विजहना आदि के आचार की जिन विशिष्ट विधियों का वर्णन है, उनका वर्णन दिगम्बर साहित्य में नहीं है, जबकि श्वेताम्बर मान्य साहित्य में मिलता है।^५ इससे भी अपराजित के यापनीय होने की सम्भावना पुष्ट होती है।

(१०) विजयोदयाटीका में भिक्षु की ग्यारह प्रतिमाओं का विवरण उपलब्ध होता है।^६ यह विवरण श्वेताम्बर आगम साहित्य में तो उपलब्ध होता है, किन्तु दिगम्बर परम्परा में कहीं भी भिक्षु प्रतिमाओं का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इससे यही सिद्ध होता है कि अपराजित श्वेताम्बर आगमों का ही अनुसरण कर रहे हैं। अतः यह भी उनके यापनीय होने का ही एक प्रमाण है।

(११) मूलाचार, भगवती आराधना और विजयोदयाटीका में वृत्ति-परिसंख्यान तप के विवेचन के प्रसंग में सात घरों से भिक्षा लेने का उल्लेख पाया जाता है, वह दिगम्बर परम्परा के अनुकूल नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि यापनीयों में श्वेताम्बरों के अनुरूप पात्र में

२. (अ) दशवैकालिक और उसकी अगस्त्यचूर्ण, पृ० ८६।
- (ब) भगवती आराधना (टीका सहित) भाग १, पृ० ३३०।
- (स) सवार्थसिद्धि ६।१९।
३. भगवती आराधना भाग १, पृ० ९१।
४. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० १३४।
५. वही, पृ० १३५।
६. (अ) भगवती आराधना (टीका सहित) भाग १, पृ० ३७१।
- (ब) यापनीय और उनका साहित्य, पृ० १३५।

आहार लाकर आपवादिक स्थिति में उपाश्रय में आहार ग्रहण करने की परम्परा रही होगी। यह परम्परा यापनीयों की ही हो सकती है, दिगम्बरों की नहीं, क्योंकि यापनीय अपवादमार्ग में पात्र में भिक्षा ग्रहण करना मान्य करते थे।

(१२) विजयोदयाटीका में सद्बुद्ध, सम्यक्त्व, हास्य, पुरुषवेद, शुभनाम, शुभगोत्र, शुभआयु को पुण्यप्रकृति कहा गया है। इस कथन का समर्थन दिगम्बर परम्परा में कहीं भी नहीं देखा जाता है। जबकि तत्त्वार्थभाष्य में यह मान्यता उपस्थित है और उसकी आलोचना भी सिद्धसेनगणि ने की है। इससे यही फलित होता है कि अपराजित यापनीय रहे होंगे।^१

यदि गहराई से विजयोदयाटीका का अध्ययन किया जाय तो और भी ऐसे अनेक तथ्य मिल जायेंगे, जिनके आधार पर उसे यापनीय कहा जा सकता है।

आवश्यक (प्रतिक्रमणसूत्र)

जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था द्वारा, पं० मोतीचन्द गोतमचन्द कोठारी द्वारा सम्पादित 'प्रतिक्रमण-ग्रन्थ त्रयी' का प्रकाशन हुआ है वस्तुतः यह अचेल परम्परा में प्रचलित आवश्यक सूत्र ही है^१। इस ग्रन्थ के कर्ता गौतम स्वामी और टीकाकार प्रभाचन्द्र पण्डित हैं। मूलग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में है और टीका संस्कृत भाषा में है।

जहाँ तक ग्रन्थ के कर्ता का प्रश्न है यद्यपि टीकाकार ने गौतम स्वामी का उल्लेख किया है किन्तु यह अनुश्रुति ही हो सकती है क्योंकि ग्रन्थ में शय्यम्भव के दशवैकालिक की प्रथम गाथा भी है। वस्तुतः यह किसी प्राचीन आचार्य की कृति है, जो अर्धमागधी के आवश्यक सूत्र के ही आधार पर बनी है। मुझे निम्न कारणों से यह ग्रन्थ भी यापनीय परम्परा का प्रतीत होता है—

(१) सर्वप्रथम इस ग्रन्थ की विषय वस्तु का लगभग बस्सी प्रतिशत भाग शौरसेनी या अर्धमागधी भाषा के अथवा क्रम सम्बन्धी अन्तर को छोड़कर वही है, जो श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित आवश्यक सूत्र में

१. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० १३५।

२. समदा धवो वंदण पांडिककर्मणं तद्देव णादम्बं।

पञ्चस्वाण

विसग्गो

करणीयावासाछप्पि ॥

—प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी पृ० १४

है। हम पूर्व में ही यह सिद्ध कर चुके हैं कि यापनीय ग्रन्थों की श्वेताम्बर आगम साहित्य से बहुत निकटता है। इस आधार पर यह यापनीय परम्परा की कृति प्रतीत होती है।

(२) इसके कर्ता के रूप में गोतम स्वामी का उल्लेख होने से इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि कृति का आधार अविभक्त प्राचीन परम्परा ही है। श्वेताम्बर मान्य आगमों में महावीर को सप्रतिक्रमण धर्म का प्रतिपादक होने सम्बन्धी पाठ अति प्राचीन है और श्वेताम्बर एवं यापनीयों में समान रूप से प्रचलित रहे हैं। पुनः इसके टीकाकार प्रभाचन्द्र बताये हैं। इन्होंने चन्द्रप्रभदेव के सान्निध्य में यह टीका लिखी थी। हमें स्मरण रखना होगा कि ये प्रभाचन्द्र प्रज्ञेयकमल मार्तण्ड एवं न्याय कुमुद चन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से भिन्न है। ई० सन् ९८० के चालुक्य वंश-के सौदत्ति अभिलेख में यापनीय संघ के कण्डूर (क्राणूर) गण के प्रभाचन्द्र का उल्लेख है। अभिलेख में इन्हें शब्दविद्यागमकमल एवं षट्कर्ताकलङ्क कहा गया है।^१ इन्होंने अपनी परम्परा के शाकटायन के व्याकरण-ग्रन्थ शब्दानुशासन पर न्यास लिखा था, अतः सम्भव यही है कि इन्होंने अपनी परम्परा में प्रचलित प्रतिक्रमण पर टीका भी लिखी होगी। टीकाकार का यापनीय होना यही सिद्ध करता है कि यह ग्रन्थ यापनीय परम्परा का है।

(३) इस प्रतिक्रमण सूत्र के यापनीय होने का एक अन्य प्रमाण यह भी है कि इसमें 'रात्रि भोजन विरमण' को सर्वत्र छठें व्रत या अणुव्रत के रूप में उल्लेखित किया गया है।^२ पं० नाथूरामजी प्रेमी, श्रीमती कुसुम-पटोरिया आदि अनेक विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि रात्रि भोजन विरमण को छठें व्रत के रूप में मान्य करने की प्रवृत्ति यापनीय एवं श्वेताम्बर है। क्योंकि दशवैकालिक आदि प्राचीन आगमों, भगवती आराधना और उसकी विजयोदयाटीका में सर्वत्र इसे छठें व्रत के रूप में उल्लेखित किया गया है जबकि दिगम्बर परम्परा इसका समावेश

१. देखें—जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख क्रमांक १६०

२. (अ) महावरे छट्ठे अणुवदे सब्ब भंते राइभोयण पच्चक्खामी ।

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी—पृ० १३०

(ब) रायभोयणवेरमणछट्ठाणि ।—वही पृ० १०० ।

आलोकित पान-भोजन नामक प्रथम व्रत की भावना में करती है। यहाँ विशेष रूप से यह भी ज्ञातव्य है कि इस सूत्र में प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाओं में मनगुप्ति, वचनगुप्ति, कायसंयम, ईर्या तथा एषणा समिति का उल्लेख हुआ है—उसमें आलोकित पान-भोजन का उल्लेख नहीं है। (देखें, पृ० १३१-३२)

(४) इसमें 'एऊणविसाए णाहाज्जयणेषु' कहकर दो गाथाओं में ज्ञातासूत्र के १९ अध्ययनों का विवरण दिया गया है। ये दोनों गाथायें एवं इनमें उल्लेखित ज्ञाता के उन्नीस अध्ययन आज भी श्वेताम्बर परम्परा में मान्य ज्ञाताधर्मकथा में मिलते हैं। मात्र दो-तीननामों में अन्तर है, वह भेद भी लिपिदोष से हुआ होगा—

प्रस्तुत ग्रन्थ का उल्लेख—

उवकोडणाग-कुम्मंडय-रोहिणी-सिस्स-तुव-संघादे ।

मादंगिमल्लि चंदिम तावद्देवय तिक तजाय किण्णे य ॥ १ ॥

सुसुकेय-अवरकके-णंदीफलमुदग णाह मंडूके ।

एत्तो य पुण्डरीगो णाहज्जाणाणि उगुवीसं ॥ २ ॥

—प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयो पृ० ५१

भाषा की दृष्टि से यह पाठ अशुद्ध है।

ज्ञातासूत्र का उल्लेख इस प्रकार है—

उक्खित्तणाए संघाडे अंडे कुम्मे य सेल्लो ।

तुम्बे य रोहिणी मल्ली माइंदी चंदिमाइ य ॥ १ ॥

दावद्देवे उदग णाए, मंडुक्के तेयली वि य ।

णंदिफले अमरकका आहण्णे सुसमाई य ॥ २ ॥

अवरे य पुण्डरीए णामा एगूणवीसइमे—ज्ञाताधर्मकथा १।१

ज्ञातव्य है कि ज्ञाताधर्मकथा के मल्लि अध्ययन में मल्लितीर्थकर का स्त्री रूप में उल्लेख है। अतः यह अध्ययन उसी परम्परा को मान्य हो सकता था, जो स्त्री-तीर्थकर और स्त्री-मुक्ति की अवधारणा को मान्य करती हो। यह स्पष्ट है कि यापनीय हो एक ऐसा सम्प्रदाय रहा है जो आगमों को और स्त्रीमुक्ति को मान्य करते थे, अतः सिद्ध है कि यह प्रतिक्रमणसूत्र यापनीय परम्परा का है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि टीकाकार के काल तक ज्ञाताधर्मकथा के अध्ययन अध्यापन की प्रवृत्ति यापनीय परम्परा में विलुप्त हो चुकी थी, अतः कुछ कथाओं के सन्दर्भ में उनकी व्याख्याएँ भ्रान्त हैं। साथ ही उन्होंने ज्ञाता के उन्नीस अध्यायों के सन्दर्भ में अन्य दो वैकल्पिक मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। इसका तात्पर्य

है कि यह ग्रन्थ यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहा है क्योंकि यापनीयों में श्वेताम्बर मान्य आगमों के अध्ययन और उन्हें मान्य करने की प्रवृत्ति रही है।

(५) इस प्रतिक्रमण सूत्र में तेवोसाए सद्व्यङ्गजाणेसु कह कर सूत्रकृतांग के तेवीस अध्ययनों का उल्लेख तीन गाथाओं में हुआ है। यहाँ भी लिपि-दोष के कारण कुछ अध्यायों के नामों में परिवर्तन हुआ है, किन्तु अधिकांश नाम वही है जो वर्तमान में सूत्रकृतांग में उपलब्ध होते हैं तुलना के लिए दोनों के मूल पाठ नीचे दिये जा रहे हैं प्रतिक्रमण ग्रन्थ-त्रयी में सूत्रकृतांग के अध्यायों की नाम सूचक गाथायें निम्न हैं—

समए वेदालिङ्गे एत्तो उवसग्ग इत्थिपरिणामे ।

णिरयंतरवीरथुवी कुसीलपरिभासिए विरिए ॥१॥

धम्मो य अग्गमग्गे समोवसरणं तिकालगंथहिदे ।

आदा तदित्थगाथा पुंडरिको किरियठाणे य ॥२॥

आहारयपरिणामे पच्चक्खाणाणगारगुणकित्ति ।

सुद अत्था णालंदे सुद्व्यङ्गजाणाणि तेवीसं ॥३॥

समवायांग में उल्लेखित सूत्रकृतांग के अध्यायों की नाम सूची इस प्रकार है—

तेवीसं सूयगडङ्गयणा पण्णत्ता, तं जहा—समए १. वेतालिए २. उव-सग्गपरिणणा ३. थीपरिणणा ४. नरयविभत्ती ५. महावीरथुई ६. कुसील-परिभासिए ७. विरिए ८. धम्मे ९. समाही १०. मग्गे ११. समोसरणे १२. आहत्तहिए १३. गंथे १४. जमईए १५. गाथा १६. पुंडरीए १७. किरिया-ठाणा १८. आहारपरिणणा १९. अपच्चक्खाणकिरिआ २०. अणगारसुदं २१. अद्वइज्जं २२. णालंदइज्जं २३ ।

[सूत्रकृताङ्ग के तेईस अध्ययन कहे गये हैं—जैसे—१. समय, २. वैतालिक, ३. उपसर्गपरिज्ञा, ४. स्त्रीपरिज्ञा, ५. नरकविभक्ति, ६. महा-वीरस्तुति, ७. कुशीलपरिभाषित, ८. वीर्य, ९. धर्म, १०. समाधि, ११. मार्ग, १२. समवसरण, १३. याथातथ्य (आख्यातहित) १४. ग्रन्थ, १२. यमतीत, १६. गाथा, १७. पुण्डरीक, १८. क्रियास्थान, १९. आहारपरिज्ञा, २०. अप्रत्याख्यानक्रिया, २१. अनगारश्रुत, २२. आर्दीय, २३ नालन्दीय]

दोनों उल्लेखों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि समवायांग में जहाँ दसवाँ अध्ययन 'समाधि' कहा गया है, वहीं प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी की इस गाथा में उसे 'अग्र' कहा गया है। इसी प्रकार तेरहवें अध्याय का नाम जहाँ समवायांग में आख्यात-हित है वहाँ इस प्रतिक्रमण सूत्र में उसे 'त्रिकाल' कहा गया है। इसी प्रकार समवायांग में पंद्रहवाँ अध्याय यमतीत के नाम से उल्लेखित है कि इसमें 'आत्मा' के नाम से उल्लेखित किया गया है। यद्यपि मुझे ऐसा लगता है कि मूल गाथा के 'गंथहिदे आदा' यही 'ग्रन्थ' नामक अध्याय का पूरा नाम होना चाहिए, जिसका तात्पर्य है 'आत्मा की हृदय ग्रन्थि' जिसे समवायांग सूत्र में 'ग्रन्थ' कह कर ही उल्लेखित किया गया है। प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी में 'तदित्थ' का जो उल्लेख है वह मुझे 'यमतीत' का ही विकृत रूप प्रतीत होता है। समवायांग में २१वें अध्याय को 'अनगारश्रुत' कहा गया है, जबकि इस गाथा में उसे अणगार कीर्ति श्रुत के नाम से उल्लेखित किया गया है किन्तु दोनों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। श्वेताम्बर मान्य समवायांगसूत्र के अनुसार इसके २२ वें अध्याय का नाम 'आर्दीय' है, जबकि प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी की इन गाथाओं में उसे 'अत्था' कहा गया है। वस्तुतः मूल शब्द अद्दइज्जं रहा है जिसका अर्थ परवर्ती यापनीय आचार्यों को स्पष्ट न होने से उन्होंने उसे 'अत्था' कर दिया और उसका तात्पर्य अर्थाधिकार बताया।

यदि हम इन गाथाओं की प्रभाचन्द्र टीका देखते हैं, तो ज्ञात होता है कि उनके काल तक यापनीय परम्परा में सूत्रकृतांग के अध्ययन की प्रवृत्ति समाप्त हो गई थी, वे मूल ग्रन्थ से परिचित भी नहीं थे। यही कारण है कि उन्होंने अनेक अध्ययनों के नामों की जो व्याख्यायें की हैं वे अत्यन्त भ्रान्त हैं। उदाहरण के रूप में 'समय' नामक प्रथम अध्याय की विषय वस्तु को 'अध्ययन-काल' के रूप में प्रतिपादित किया है, जो कि बिलकुल भ्रान्त है। उपलब्ध सूत्रकृतांग में समय नामक प्रथम अध्याय विविध दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है और समय को यह सिद्धान्त परक व्याख्या दूसरे टीकाकारों ने की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ दोनों में अध्यायों के मूलनामों में समानता है वहाँ प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी के टीकाकार के विचार अलग हैं, उसका मूल कारण यही है उस काल में यापनीय आचार्यों के समक्ष सूत्रकृतांग नहीं था। अन्यथा वे इनकी भ्रान्त व्याख्या नहीं करते। प्रतिक्रमणसूत्र के इस निर्देश के अतिरिक्त सूत्रकृतांग के अध्यायों का नामपूर्वक उल्लेख अन्य किसी भी दिग्म्बर ग्रन्थ

में नहीं मिलता है। प्रतिक्रमण सूत्र में सूत्रकृतांग के इन अध्यायों का उल्लेख स्पष्ट रूप से इस तथ्य का सूचक है कि जिस परम्परा में यह प्रतिक्रमण बना, उसमें सूत्रकृतांग के अध्ययन की परम्परा रही होगी, अन्यथा तत्सम्बन्धो प्रतिक्रमण का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। इस आधार पर भी यही फलित होता है कि उपरोक्त प्रतिक्रमण सूत्र यापनीय परम्परा का रहा है।

(६) इस प्रतिक्रमण सूत्र में मंगल के रूप में दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्याय की प्रथम गाथा उल्लेखित है यह स्पष्ट है कि दशवैकालिक सूत्र श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही परम्पराओं में ९वीं शताब्दी तक मान्य रहा है। यापनीय आचार्य अपराजित सूरि ने तो भगवती आराधना की टीका के साथ ही दशवैकालिक की टीका भी लिखी थी। दुर्भाग्यसे यह टीका आज अनुपलब्ध है।

जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि इस प्रतिक्रमणसूत्र में अनेक पाठ यथावत् रूप में या वाचनाभेद आदि के साथ श्वेताम्बर मान्य आवश्यकसूत्र में पाये जाते हैं। आवश्यकसूत्र को भी श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही मान्य करते थे। अतः फलित यही होता है कि यह प्रतिक्रमण रूप मूलतः यापनीय परम्परा रहा होगा, जिसे बाद में दिगम्बर आचार्यों ने अपना लिया होगा।

बृहत्कथाकोश (आराधनाकथाकोश)

बृहत्कथाकोश (आराधनाकथाकोश) यापनीय परम्परा का एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में रचित है। इसमें १५७ कथाएँ हैं, जो मूलतः भगवती-आराधना में उल्लिखित हैं, किन्तु यहाँ वे कथाएँ विस्तार से वर्णित हैं। इसका रचनाकाल ई० सन् ९३२ है। इसकी श्लोक संख्या १२५०० है। यह ग्रन्थ निम्न आधारों पर यापनीय प्रतीत होता है—

(१) इस बृहत्कथाकोशकी कथाओं का आधार भगवती-आराधना है। स्वयं कथाकोश कर्ता हरिषेण ने भी इसे आराधनोद्धृत कहा है—

आराधनोद्धृत पथो भव्यानां भावितात्मनाम् ।

हरिषेणकृतो भाति कथाकोशो महीतले ॥

—आराधनाकथाकोश प्रशस्ति ८

ज्ञातव्य है कि भगवती आराधना यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है। उस

पर अपने ग्रन्थ को आधारित करना यह सिद्ध करता है कि ग्रन्थकार भी उसी परम्परा से सम्बद्ध रहा होगा। डा० श्रीमती कुसुम पटोरिया ने भी इसी आधार पर इसे यापनीय ग्रन्थ माना है। वे लिखती हैं कि 'यापनीय ग्रन्थ के आधार पर इसकी निर्मिति भी इसकी यापनीयता की ओर संकेत करती है'^१।

(२) इस ग्रन्थ के लेखक हरिवेण ने स्वयं अपने आपको पुन्नाटसंघो बताया है। यह पुन्नाटसंघ यापनीय परम्परा के पुन्नागवृक्षमूलगण से ही विकसित हुआ है, इस तथ्य को हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं। स्वयं डा० श्रीमती कुसुम पटोरिया लिखती हैं कि 'पुन्नाटसंघ ही यापनीय संघ अथवा उसकी कोई शाखा होगी यह मानने के लिए प्रमाण है—स्त्रीमुक्ति तथा गृहस्थमुक्ति जैसे सिद्धान्तों का समर्थन तो पुन्नाटसंघ के यापनीय होने का सबल प्रमाण है'^२।

पुन्नाट संघ यापनीय परम्परा से स्पष्टतया सम्बन्धित है, इस तथ्य को चर्चा हम पूर्व में ही कर चुके हैं। किन्तु कुछ नये तथ्यों के आधार पर पुनः इस प्रश्न पर एक बार विचार कर लेना आवश्यक है। एक अभिलेख में 'श्रीयापनीय नन्दीसंघ पुन्नागवृक्षमूलगणे श्री कित्याचार्यान्वये' ऐसा स्पष्ट उल्लेख है^३। इनके अतिरिक्त रड्डवग, हासूर, हुलि, कोल्हापुर आदि के अभिलेखों में भी पुन्नागवृक्षमूलगण का उल्लेख है^४। प्रश्न यह उठता है कि क्या पुन्नाट संघ और 'पुन्नागवृक्षमूलगण' एक हैं? इस सम्बन्ध में हमें सर्वप्रथम पुन्नाट और पुन्नाग शब्द पर विचार कर लेना चाहिये। हरिवंशपुराण की भूमिका में डा० दरबारीलाल कोठिया स्पष्ट रूप से यह लिखते हैं कि पुन्नाग और पुन्नाट शब्द पर्यायवाची हैं^५। आप्टे ने अपने संस्कृत हिन्दी कोश में पुन्नाट और पुन्नाग दोनों शब्दों को एक वृक्ष का नाम बताया है^६। यद्यपि जैन पुराणों एवं अभिलेखों में पुन्नाट शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से कर्नाटक देश के लिए हुआ है,

१. यापनीय और उनका साहित्य पृ० १५३।
२. वही पृ० १४९ एवं पृ० १५३।
३. जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेखक्रमांक १२४।
४. जैन शिलालेखसंग्रह भाग २ देखें शब्दसूची।
५. हरिवंशपुराण भूमिका (पं० दरबारीलाल कोठिया) पृ० २३।
६. संस्कृत हिन्दी कोश (आप्टे) पृ० ६१८।

किन्तु पुन्नाट या पुन्नाग शब्द का मूल अर्थ नागकेसर का वृक्ष है। कर्नाटक प्रांत में नागकेसर बहुतायत से होती है, अतः नागकेसर की बहुलता के कारण ही उस देश को पुन्नाट कहा गया है। पुन्नाट या पोन्नाट कन्नड भाषा का शब्द रूप है और पुन्नाग संस्कृत भाषा का। किन्तु इस भिन्नता के कारण इनके मूल अर्थ में कहीं भेद नहीं है। पुन्नाट संघ और पुन्नाग-वृक्ष मूलगण एक ही है। जैसे नन्दीगण आगे चलकर नन्दीसंघ बन गया उसी प्रकार पुन्नागगण पुन्नाटसंघ बन गया और उसमें वृक्ष सूचक 'पुन्नाग' शब्द देश सूचक 'पुन्नाट' बन गया। पुनः यापनीय पुन्नागवृक्ष मूलगण के एक अभिलेख में कित्याचार्यान्वय का भी उल्लेख हुआ है किन्तूर कर्नाटक प्रदेश की राजधानी रही है। कित्याचार्यान्वय संभवतः किन्तूर से ही सम्बन्धित रही होगी। पुन्नाट संघ और पुन्नागवृक्षमूलगण एक ही थे इसका एक प्रमाण यह भी है कि एक ही काल के और एक ही आचार्य विजयकीर्ति से सम्बन्धित दो भिन्न अभिलेखों में से एक में उन्हें पुन्नाटसंघ^१ का और दूसरे में उन्हें पुन्नागवृक्षमूलगण^२ का कहा गया है। अतः पुन्नाट संघ पुन्नागवृक्षमूलगण का ही परवर्ती रूप है और इसका यापनीय होना सुनिश्चित है।

(३) हरिषेण के इस कथाकोश में स्त्रीमुक्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है। रोहिणी की ५७वीं कथा में स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि इस भूतलपर जो पुरुष या स्त्री भक्तिपूर्वक ऐसा करते हैं, वे क्रमशः केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त होते हैं^३। (ज्ञातव्य है कि यहाँ 'रामा' शब्द स्त्री के लिए प्रयुक्त हुआ है) इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थकार को स्त्रीमुक्ति मान्य है और यह उसके यापनीय होने का सबसे बड़ा प्रमाण है।

(४) प्रस्तुत कृति में स्त्री के द्वारा तीर्थंकर नाम एवं गोत्र के बन्ध का भी संकेत है। १०८ वीं कथा में रुक्मिणी के द्वारा तीर्थंकर गोत्र बाँधने

१. जैन शिलालेख संग्रह भाग ५ लेख क्रमांक ९८।

(सन् ११५४ मुलतानपुर)

२. जैन शिलालेख संग्रह भाग ४ लेख क्रमांक २५९।

(सन् ११६५ एकसम्बि)

३. एवं करोति यो भक्त्या नरो रामा महीतले।

लभते केवलज्ञानं मोक्षं च क्रमतः स्वयम् ॥ बृहत्कथाकोश ५७/२३५।

का स्पष्ट उल्लेख है। इस कथानक के अनुसार रुक्मिणी ने संयमश्री नामक आर्यिका के पास शुद्ध तप करके तीर्थंकर गोत्र का बन्धन किया^१। दिगम्बर परम्परा में स्त्री के द्वारा तीर्थंकर नामकर्म के बन्धन का भी उल्लेख नहीं मिलता है, जबकि श्वेताम्बर मान्य आगम और यापनीय परम्परा में अनेक स्त्रियों द्वारा तीर्थंकर गोत्र अर्जित करने के उल्लेख हैं। अतः स्त्री के द्वारा तीर्थंकर नामकर्म के बन्धन का उल्लेख होने से यह कृति यापनीय ही सिद्ध होती है।

(५) कथाकोश की ५७ वीं कथा में गृहस्थ-मुक्ति का भी उल्लेख मिलता है। उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत से युक्त तथा मौनव्रत से समन्वित सिद्धिभक्ति से कोई अणुव्रत धारी सिद्धि को प्राप्त होता है^२। इस प्रकार यहाँ गृहस्थ मुक्ति का भी समर्थन देखा जाता है, जो वस्तुतः श्वेताम्बर या यापनीय मान्यता ही हो सकती है।

(६) प्रस्तुत कृति में स्त्री के द्वारा सर्वपरिग्रहत्याग का उल्लेख भी हुआ है। कथाकोश की ५७ वीं कथा में ही रोहिणी और महादेवी के द्वारा सर्व परिग्रह के त्याग का उल्लेख है^३। दिगम्बर परम्परा के अनुसार स्त्री वस्त्र रूप परिग्रह का त्याग नहीं कर सकती और यदि वह वस्त्र का त्याग नहीं कर सकती है तो फिर सर्वपरिग्रह की त्यागी भी नहीं मानी जा सकती। अनेक दिगम्बर आचार्यों ने उसे उपचार से ही महाव्रती माना है, यथार्थ में नहीं। जबकि श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा में स्त्री को वस्त्र होते हुए भी सर्वपरिग्रह का त्यागी कहा गया है। महाव्रतारोपण करते समय उसे अपरिग्रह महाव्रत ही ग्रहण करवाया जाता है, परिग्रहपरिमाण व्रत नहीं। वस्त्र होते हुए भी सर्वपरिग्रह का त्याग सम्भव है, यह श्वेताम्बर और यापनीय मान्यता है। अतः बृहत्कथाकोश यापनीय है।

(७) इसमें एक स्थान पर आर्यिकादि के वस्त्रदान को भी चर्चा है

१. बद्ध्वा तीर्थंङ्करं गोत्रं तपः शुद्धं विधाय च ।

रुक्मिणी स्त्रीत्वमादाय दिवि जातो सुरो महान् ॥ बृहत्कथाकोश १०८/१२५ ॥

२. अणुव्रतधरः कश्चित् गुणशिक्षाव्रतान्वितः ।

सिद्धिभक्तो व्रजेत् सिद्धिं मौनव्रत समन्वितः ॥ वही (५७/५६७)

३. रोहिणी च महादेवी हित्वा सर्व परिग्रहम् ।

वासुपुण्यं जिनं नत्वा सुमत्यन्ते तपोऽग्रहीत् ॥ वही ५७/५८२ ॥

किन्तु अन्यत्र यह भी कहा गया है कि भक्ति तत्पर व्यक्तियों को कर्मक्षय के निमित्त समस्त संघ को वस्त्रादि का दान देना चाहिये^१। (५७।५५४) संघ को वस्त्रदान का गौरवगान करने वाली परम्परा किसी भी स्थिति में दिगम्बर नहीं हो सकती है।

(८) आराधना कथाकोश (बृहत्कथाकोश) में अन्निकापुत्र, मेतार्य आदि कुछ कथायें दिगम्बर परम्परा में अप्रचलित रही हैं, यापनीय ग्रन्थों के अतिरिक्त किसी भी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ में ये कथायें नहीं पायी जाती हैं। जबकि श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा में आवश्यक नियुक्ति आदि में ये कथायें पायी जाती हैं^२। इसलिए भी आराधना कथाकोश और उसके कर्ता हरिषेण यापनीय प्रतीत होते हैं।

बृहत्कथाकोश के यापनीयत्व में बाधकतथ्य और उनके प्रामाण्य का प्रश्न—

डा० श्रीमती कुसुम पटोरिया के अनुसार बृहत्कथाकोश का भद्रबाहु कथानक इस ग्रन्थ को यापनीय मानने में बाधक प्रतीत होता है^३। अतः इस सम्बन्ध में गम्भीर पुनर्विचार की आवश्यकता है क्योंकि इसमें अर्धस्फालक सम्प्रदाय से श्वेताम्बर और उससे यापनीय संघ की उत्पत्ति बताया गया है। किन्तु इस कथानक का भी दिगम्बर परम्परा से तीन बातों में विरोध आता है। प्रथम तो यह कि भद्रबाहु मुनि दक्षिण नहीं गये, जबकि दिगम्बर परम्परा में उनका दक्षिण जाना सुनिश्चित है। पुनः दिगम्बर परम्परा में स्थूलभद्र, रामिल्ल और भद्राचार्य नामक आचार्यों का कोई उल्लेख नहीं है, जबकि इस कथानक में उनका उल्लेख है और उनके द्वारा पुनः अचेलकत्व के ग्रहण का भी निर्देश है^४। इसमें चन्द्रगुप्त मुनि

१. ततः समस्तसंघस्य देहिभिर्भक्तितत्परैः।

देयं वस्त्रादिदानं च कर्मक्षयनिमित्ततः ॥ बृहत्कथाकोश ५७।५५४ ॥

२. देखें (अ)—बृहत्कथाकोश-कथा क्रमांक १३० एवं १०५

(ब) (i) अण्णियापुत्त, आवश्यक नियुक्ति ११९०-९१

(ii) मेतेज्ज वही ८८६-८७०

३. देखें—प्राप्य भाद्रपदं देशं श्रीमदुज्जयिनीभवम्।

चकारानशनं धीरः स दिनानि बहून्यलम् ॥ १३१/४३ ॥

४. रामिल्लः स्थविरः स्थूलभद्राचार्यस्त्रयोऽप्यमी।

महावैराग्यसपन्ना विशाखाचार्यमाययुः ॥ १३१/६५ ॥

का नाम विशाखाचार्य होने का उल्लेख है। साथ ही यह भी उल्लेख है कि सुकाल होने पर वे दक्षिण से पुनः मध्यदेश आये^१। जबकि दिगम्बर परम्परा में चन्द्रगुप्त का मुनि दीक्षा का नाम प्रभाचन्द्र बताया गया है और वह चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु दोनों का दक्षिण में ही देहान्त होने की बात कहती है।

इस प्रकार यह कथानक भी दिगम्बर परम्परा की मान्यताओं से थोड़ा हटकर है, अतः इसे यापनीय होना चाहिए। श्रीमती डा० कुसुम पटोरिया यह स्वीकार करती हैं कि भद्रबाहु कथा का यह मतभेद भी बृहत्कथाकोशकार के यापनीय होने का संकेत करता है। यद्यपि इसमें अर्धस्फालक से श्वेताम्बर काम्बल तीर्थ की और उस काम्बलतीर्थ से यापनीय संघ की उत्पत्ति की कथा जिस रूप में प्रस्तुत हैं—उससे ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ यापनीय संघ का नहीं हो। किन्तु डा० श्रीमती कुसुम पटोरिया की स्पष्ट मान्यता है कि इसमें यापनीयों की उत्पत्ति सम्बन्धी कथाभाग प्रक्षिप्त है।

वे लिखती हैं कि “इस अंश को पढ़ने से प्रतीत होता है कि अर्द्धस्फालक सम्प्रदाय से काम्बलतीर्थ की उत्पत्ति बताकर यह कथा समाप्त हो गई है। समाप्त कथा में एक श्लोक जोड़कर यापनीयों की उत्पत्ति का कथन प्रक्षिप्त लगता है। क्योंकि जब हरिषेण ने काम्बलतीर्थ की उत्पत्ति की कथा अनेक पद्यों में विस्तार से दी है, तो यापनीयों की उत्पत्ति की कथा भी विस्तार से दी जानी चाहिए थी। अन्तिम श्लोक यापनीय विरोधी व्यक्ति द्वारा जोड़ा हुआ प्रतीत होता है, अपने कथन को वजन देने के लिए ‘नून’ शब्द जोड़ा गया है। हरिषेण को यापनीय मानने के लिए स्त्रीमुक्ति तथा गृहस्थमुक्ति के उल्लेख प्रबल प्रमाण हैं”^२।

हरिषेण और जिनसेन रचित हरिवंश पुराण

हरिषेण और जिनसेन रचित हरिवंश पुराण को भी विद्वानों ने निम्न कारणों से यापनीय ग्रन्थ माना है—

त्यक्त्वाऽर्धकपर्दं सद्यः संसारात् त्रस्तमानसाः।

नैर्ग्रन्थ्यं हि तपः कृत्वा मुनिरूपं दधुस्त्रयः ॥ १३१/६६।

१. भद्रबाहुगुरोः शिष्यो विशाखाचार्यनामकः।

मध्यदशं स संप्राप दक्षिणापथदेशतः ॥ १३१/४६ ॥

२. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० १५३

१. हरिवंश पुराणकार हरिषेण और जिनसेन पुन्नाटसंघी हैं। यह हम पूर्व में ही बता चुके हैं कि पुन्नाटसंघ यापनीय पुन्नागवृक्षमूलगण का ही परवर्ती रूप है। वह यापनीय परंपरा से ही विकसित हुआ है। अतः इस संघ के आचार्यों को अनेक यापनीय मान्यताएँ स्वीकृत भी रही हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं कि हरिषेण ने अपने बृहत्कथाकोश में स्पष्ट रूप से स्त्रीमुक्ति और गृहस्थमुक्ति का समर्थन किया है, इससे उनका यापनीय होना स्वयंसिद्ध है। डा० श्रीमती कुसुम पटोरिया लिखती हैं कि—कथाकोशकार हरिषेण ने स्त्रीमुक्ति और गृहस्थमुक्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है, अतः उन्हें यापनीय होना चाहिए। हरिवंशपुराणकार भी उसी पुन्नाटसंघ के हैं। अतः उन्हें भी यापनीय ही होना चाहिए।^१

२. श्वेताम्बरों और यापनीयों में आचारांग, कल्पसूत्र आदि के आगमिक उल्लेखों के आधार पर महावीर के यशोदा से विवाह का कथानक प्रचलित रहा है।^२ हरिवंशपुराण में भी हरिषेण ने महावीर के यशोदा से विवाह-प्रसंग को उठाया है।^३ इससे भी उनका यापनीय होना सिद्ध होता है।

३. श्वेताम्बर परंपरा में मान्य आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन के सातवें उद्देशक में वृद्ध या ग्लान मुनियों के परस्पर आहारादि से सेवा सम्बन्धी निम्न चार विकल्पों का उल्लेख है—

(अ) मैं अन्य मुनियों को आहारादि लाकर दूँगा और उनके द्वारा लाये गये आहारादि को स्वीकार भी करूँगा।

(ब) मैं अन्य मुनियों को आहारादि लाकर दूँगा, किन्तु उनके द्वारा लाया गया आहारादि स्वीकार नहीं करूँगा।

(स) मैं अन्य मुनियों द्वारा आहारादि से की जाने वाली सेवा को स्वीकार तो करूँगा, किन्तु स्वयं उनकी सेवा नहीं करूँगा।

(द) मैं आहारादि से न तो अन्य मुनियों की सेवा करूँगा और न उनके द्वारा की जाने वाली सेवा को स्वीकार करूँगा।^४

१. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० १४९।

२. आचारांग, द्वितीयश्रुतस्कन्ध अध्ययन।

३. यशोदयां सुतया यशोदया पवित्रया वीर विवाह मंगलम्।

—हरिवंश ६६।८.

४. आचारांग, १।८।७।२२२. (सं० घेवरचंद जी बाँठिया, बीकानेर)।

उपरोक्त चार विकल्पों में से दिगम्बर परंपरा में मात्र चतुर्थ विकल्प ही प्रचलित एवं मान्य रहा। क्योंकि पात्र आदि नहीं रखने से वे इस प्रकार सेवा करने में समर्थ नहीं होते हैं। इसके विपरीत श्वेताम्बर परंपरा में पात्रादि का अपरिहार्य ग्रहण होने से प्रथम विकल्प प्रचलित रहा है और चतुर्थ विकल्प को जिन-कल्प कहा गया। किन्तु यापनीय परंपरा में उत्सर्ग मात्र में चतुर्थ और अपवाद मार्ग में प्रथम, द्वितीय और तृतीय विकल्प भी मान्य रहे हैं। उसके ग्रन्थ भगवती आराधना आदि में हर्षण एवं ग्लान साधु को आहार-पानक लाकर देने और इस प्रकार उनकी सेवा करने का उल्लेख है। भगवती-आराधना में कहा गया है कि चार मुनि क्षपक के लिये आहार लाते हैं और चार मुनि पानी। अन्य चार उस लाये हुए आहार को रक्षा करते हैं।^१

श्वेतांबर परंपरा में ग्लान एवं रोगी मुनि को आहार-औषधि आदि से सेवा करने सम्बन्धी यह आदर्श नन्दीषेण मुनि के कथानक में पर्याप्त रूप से विकसित हुआ है।

श्वेताम्बर साहित्य में नन्दीषेण का यह कथानक आवश्यकचूर्णि,^२ दश-वैकालिक चूर्णि,^३ जीतकल्पभाष्य,^४ स्थानांग अभयदेव वृत्ति^५ में उल्लेखित है। यही नन्दीषेण का कथानक भगवती आराधना के अतिरिक्त जिनसेन एवं हरिषेण के हरिवंश पुराण में भी वर्णित है।^६ जिसमें कहा गया है कि नन्दीषेण मुनि अपनी लब्धि (सिद्धि) के बल पर रोगी मुनि के हाथों में अपेक्षित आहार-औषधि आदि प्रकट कर देते हैं।^७ यापनीय परंपरा में पाणीतल भोजन की परंपरा रही है, अतः उसी के अनुसार यहाँ लाकर देने के स्थान पर सम्भवतः हाथों में प्रकट कर देने की बात कही गयी हो। किन्तु इसी कथा में आगे चलकर नन्दीषेण मुनि द्वारा स्वयं गोचरी बेला में जाकर रोगी को अपेक्षित पथ्य-आहार लाकर देने का भी स्पष्ट उल्लेख

१. भगवती आराधना, गाथा ६६१।

—६६२, ६६३

२. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृ० ९४।

३. दशवैकालिकचूर्णि, पृ० ५९।

४. जीतकल्पभाष्य, गाथा ८२५-८४६।

५. स्थानांग अभयदेव वृत्ति, पृ० ४७४।

६. हरिवंशपुराण—सर्ग १८।१२६-१६६।

७. हस्ते भेषजद्याशु जायते।—वही १८।१३८।

है।^१ इस कथा में यह भी उल्लेख है कि नन्दिषेण ने दूसरों की वैयावृत्य तो की थी, किन्तु सल्लेखना के अवसर पर वे अपनी वैयावृत्य न तो स्वयं करते थे और न अन्य से करवाते थे। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वे आचारांग में वर्णित द्वितीय विकल्प को लेकर साधना करते थे। इस सम्बन्ध में हरिवंश की श्वेतांबर मान्य आगमिक परम्परा से निकटता उसके यापनीय होने का सबसे बड़ा प्रमाण है।

४. जिनसेन और हरिषेण के हरिवंशपुराण के यापनीय मानने का एक आधार यह भी है कि उसमें ग्यारह अंग, दृष्टिवादतथाश्वौदह पूर्व का उल्लेख तो है ही, किन्तु उसमें षडावश्यक ग्रन्थों, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प, व्यवहार, कल्पाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक और निशीथ का भी दो स्थलों पर स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है^२। यह स्पष्ट है कि तीनको छोड़कर ये ग्रन्थ आज भी श्वेतांबर परंपरा में उपलब्ध हैं। यापनीय परंपरा में भी

१. गत्वागोचरीवेलायामानीय सहसाददौ ।—हरिवंशपुराण १८।१६४।

२. अङ्गप्रविष्टतत्त्वार्थं प्रतिपाद्य जिनेश्वरः ।

अङ्गबाह्यमवोचत्तत्प्रतिपाद्यार्थरूपतः ॥१०१॥

सामायिकं यथार्थाख्यं सचतुर्विंशतिस्तवम् ।

वन्दनां च ततः पूर्तां प्रतिक्रमणमेव च ॥१०२॥

वैनयिकं विनेयेभ्यः कृतिकर्म ततोऽवदत् ।

दशवैकालिकां पृथ्वीमुत्तराध्ययनं तथा ॥१०३॥

तं कल्पः व्यवहारं च कल्पाकल्पं तथा महा—

कल्पं च पुण्डरीकं च मुमहापुण्डरीककम् ॥१०४॥

तथा निषदाकां प्रायः प्रायश्चित्तोपवर्णनम् ।

जगत्त्रयगुरुः प्राह प्रतिपाद्यं हितोद्यतः ॥१०५॥

—हरिवंशपुराण १।१०१-१०५.

जिनस्तवविधानाख्यः स चतुर्विंशतिस्तवः ।

वर्णको वन्दना वन्द्यवन्दनाविधिवादिनी ॥

द्रव्ये क्षेत्रे च कालादौ कृतावद्यस्य शोधनम् ।

प्रतिक्रमणमाख्याति प्रतिक्रमणनामकम् ॥

दर्शनज्ञानचारित्र्यतपोवीर्यौपचारिकम् ।

परुचधाः विनयं वक्ति तद् वैनयिकनामकम् ॥

चतुःशिरस्त्रिद्विनतं द्वादशावर्तमेव च ।

कृतिकर्मस्थिमाचष्टे कृतिकर्मविधिं परम् ॥

उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार, निशोथ आदि से अनेक स्थलों पर गाथायें उद्धृत की गई हैं। भगवती-आराधना की विजयोदया टीका में इनकी अनेक गाथायें निर्दिष्ट हैं और छेदपिण्डशास्त्र, छेदनवन्ति आदि में इन ग्रन्थों की प्रमाणिकता का उल्लेख है^१। यद्यपि जिनसेन और हरिषेण ने इन सभी ग्रन्थों को भगवान द्वारा उपदिष्ट बता दिया है, यह सम्भवतः इसलिए किया गया होगा कि इन ग्रन्थों की प्रमाणिकता बनी रहे। किन्तु इस उल्लेख से इतना तो स्पष्ट है कि जिनसेन को ये ग्रन्थ प्रमाण रूप में मान्य थे। इससे उनका यापनीय परंपरा से संबंधित होना सिद्ध हो जाता है। क्योंकि मात्र यापनीय परंपरा में ही नवीं शती तक इन ग्रन्थों का प्रचलन रहा है और इन ग्रन्थों के विच्छेद की बात भी हरिवंश पुराण में नहीं कही गई है।

५. समन्तभद्र, देवनन्दी आदि दिग्म्बर आचार्यों के साथ सिद्धसेन आदि श्वेताम्बर तथा इन्द्र (नन्दी), वज्रसूरि, रविषेण, वराङ्ग आदि यापनीय आचार्यों का ग्रन्थ के प्रारम्भ में आदर पूर्वक उल्लेख यही सिद्ध करता है कि वे उदार यापनीय परंपरा से सम्बद्ध रहे होंगे^२।

(६) हरिवंश पुराण में हमें सग्रन्थमुक्ति और अन्य लिङ्गमुक्ति के भी निर्देश प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार श्वेतांबर परंपरा में मान्य उत्तराध्ययन-सूत्र में मुक्ति के सन्दर्भ में विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है उसी

दशवैकालिकं वक्ति गोचरग्रहणादिकम् ।
 उत्तराध्ययनं वीरनिर्वाणगमनं तथा ॥
 तत्कल्पव्यवहाराख्यं प्राह कल्पं तपस्विनाम् ।
 अकल्पसेवनायां च प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥
 यत्कल्पाकल्पसंज्ञं स्यात् कल्पाकल्पद्वयं पुनः ।
 महाकल्पं पुनर्द्रव्यक्षेत्रकालोचितं यतेः ॥
 देवोपपादमाचष्टे पुण्डरीकाख्यमप्यतः ।
 देवीनामुपपादं तु पुण्डरीकं महादिकम् ॥
 निषद्यकाख्यमाख्याति प्रायश्चित्तविधिं परम् ।
 अङ्गवाह्यश्रुतस्यायं व्यापारः प्रतिपादितः ॥

—हरिवंश १०।१३०-१३८

१. देखें—इस अध्याय में भगवती आराधना, उसकी विजयोदया टीका तथा छेदपिण्ड शास्त्र सम्बन्धी विवरण।
२. हरिवंशपुराण १।२९-३६।

प्रकार हरिवंश पुराण के चौंसठवें सर्ग में भी उस पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है, उसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि लिङ्ग (वेश) की दृष्टि से निर्ग्रन्थ लिङ्ग (अचेल लिङ्ग) अथवा सग्रन्थ लिङ्ग (सचेल लिङ्ग) से मुक्ति होती है। उसमें 'न वा' पद जोड़कर यह अर्थ किया गया है कि सग्रन्थ अवस्था में विकल्प से मुक्ति होती है अर्थात् हीती भी है और नहीं भी होती है। किन्तु क्या निर्ग्रन्थ मुक्त होता ही है? ऐसा नियम भी नहीं है, अतः विकल्प निरर्थक है। इसका अर्थ करते हुए पंडित पन्नालाल जी साहित्याचार्य लिखते हैं कि प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा से निर्ग्रन्थ लिङ्ग से ही सिद्धि होती है और भूतार्थ ग्राही नय की अपेक्षा से सग्रन्थ लिङ्ग से होती भी है और नहीं भी होती है। किन्तु यह विकल्प तो निर्ग्रन्थ एवं सग्रन्थ दोनों के सम्बन्ध में मानना होगा। यद्यपि मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ मूल-पाठ के साथ भी कोई छेड़छाड़ की गई है।

मूल श्लोक का तात्पर्य मात्र यह है कि लिङ्ग (वेश) की अपेक्षा से निर्ग्रन्थ लिङ्ग और सग्रन्थ लिङ्ग दोनों से ही मुक्ति होती भी है और नहीं भी होती है। किन्तु जब एक बार सग्रन्थ-मुक्ति स्वीकार कर ली जाती है तो फिर स्त्री मुक्ति, श्रावक-मुक्ति और अन्यतैथिक की मुक्ति स्वतः सिद्ध हो जाती है। दुर्भाग्य से हमारे दिगंबर परंपरा के मूर्धन्य विद्वान भी परंपरा विरुद्ध सत्य को स्वीकार करने से हिचकिचाते हैं और मूलार्थ को और आवश्यक होने पर पाठ को भी अपनी ओर से जोड़तोड़ कर व्याख्यायित करते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में भी पं० पन्नालाल जी ने प्रत्युत्पन्न नय और भूतार्थ नय के आधार पर व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, किन्तु जिस प्रकार इसके पूर्व के पद्यों में इन नयों का स्पष्ट शब्दों में अध्याहार किया गया है, वैसा इस पद्य में नहीं है। यदि लेखक को इन नयों के आधार पर विवेचन करना होता तो वह स्वयं उसका मूल पद्य में उल्लेख करता। पुनः भूतार्थ नय का अर्थ भूतकालिक पर्याय नहीं है—अपितु यथार्थ दृष्टि या निश्चय दृष्टि है, कुन्दकुन्द ने भूतार्थ का अर्थ निश्चय दृष्टि या सत्यदृष्टि किया है। अतः नयों के आधार पर भी व्याख्या करने पर इस पद्य का अर्थ दिगंबर मान्यता के बिल्कुल विपरीत होगा। वस्तुतः द्रव्य लिङ्ग से निर्ग्रन्थ और सग्रन्थ दोनों ही मुक्त हो सकते हैं। किन्तु 'भाव' से निर्ग्रन्थ ही मुक्त होता है। वासना का भाव ही मोक्ष में बाधक है। शरीर संरचना या वेश विशेष नहीं। वासना का भाव अर्थात् वेद तो १०वें गुण स्थान में समाप्त हो जाता है। अतः मुक्ति में बाधक वेद है, लिङ्ग नहीं। अतः मूल श्लोक का यह अर्थ करना कि लिङ्ग से अवेद

अवस्था में और भाव से तीनों वेदों से मुक्ति होती है, पूरी तरह अयुक्ति-संगत है। तीनों वेद (वासना भावों) की उपस्थिति में मुक्ति सम्भव नहीं है। यहाँ भी श्लोकों के मूल पाठ के साथ छोड़छाड़ की प्रतीत गई होती है।

(७) हरिवंश पुराण में आर्यिकाओं का स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है। उन्हें 'एक वसनावृता' कहा गया है। यह स्पष्ट बताया जा चुका है कि आर्यिका संघ की व्यवस्था यापनीय है। जो परंपरा स्त्री में महाव्रत के आरोपण को ही सम्भव नहीं मानती हो, उसमें आर्यिका संघ की व्यवस्था संभव ही नहीं बनती। यह सत्य है कि यापनीय और उनसे विकसित द्वाविड़ संघ और माथुर संघ भी स्त्री का महाव्रतारोपण करते हुए उसे पुनर्दीक्षा (श्वेताम्बरों की बड़ी दीक्षा) देते थे।

हरिवंश के ६०वें सर्ग में कृष्ण की आठों पटरानियों सहित अनेक स्त्रियों के दीक्षित होने का उल्लेख है^१ जो उसके यापनीय होने की सम्भावना को पुष्ट करती है। कृष्ण की आठ रानियों के दीक्षित होने के ये उल्लेख श्वेतांबर मान्य अन्तकृतदशा में हैं।^२ इसी प्रकार इसमें द्रोपदी का जो कथानक मिलता है, वह भी ज्ञाताधर्मकथा के अनुरूप है।^३ इसका गज-सुकुमाल का कथानक भी अन्तकृतदशा में यथावत रूप में मिलता है।^४ हरिवंश पुराण की श्वेतांबर आगमों से यही निकटता उसके यापनीय होने की मान्यता को पुष्ट करती है।

(८) हरिवंश पुराण के यापनीय होने का एक प्रमाण यह भी मिलता है कि उसमें 'नारद' को दो स्थानों पर चरमशरीरी कहा गया है^५ जबकि तिलोयपण्णत्ति और त्रिलोकसार नारद को नरकगामी मानते हैं।^६ श्वेतांबर परंपरा में ऋषिभाषित में नारद को अर्हत् ऋषि कहा गया है।^७ पुनः उन्हें प्रत्येक-बुद्ध कह कर उनके चरमशरीरी होने की पुष्टि की गई है।^८

१. हरिवंशपुराण ६० ।

२. अन्तकृतदशांग—पाँचवा वर्ग ।

३. ज्ञाताधर्मकथा वर्ग १ अध्याय १६ ।

४. अन्तकृतदशांग वर्ग ३ अध्याय ८ ।

५. हरिवंश पुराण ४२/२२, ६५/२४, १७/१६३ ।

६. त्रिलोकसार ८३५ ।

७. ऋषिभाषित १ ।

८. ऋषिभाषित—संग्रहणी गाथा ।

पुनः समवायांग में उन्हें स्वर्गगामी और भावी तीर्थंकर कहा गया है।^१ नारद को चरमशरीरी अथवा स्वर्गगामी मानना, यह आगमिक परंपरा है। चूँकि यापनीय आगमों को स्वीकार करते थे, अतः उनके ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख होना स्वाभाविक ही था। इस आधार पर भी जिनसेन और उनके हरिवंश पुराण का यापनीयत्व ही सिद्ध होता है।

यह स्पष्ट है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में जम्बू के पश्चात् आचार्य परम्परा में भेद हो जाता है। दिगम्बर परम्परा जम्बू के पश्चात् विष्णु का उल्लेख करती है जबकि श्वेताम्बर परम्परा प्रभव का। रविषेण के द्वारा सुधर्मा के पश्चात् आचार्य परम्परा में प्रभव को स्थान देना इस बात को पुष्ट करता है कि वे उस परम्परा से भिन्न थे जो कि आचार्य विष्णु को जम्बू का उत्तराधिकारी मानती थी। यापनीय उत्तर भारत की उस निर्ग्रन्थ धारा से अलग हुये थे जो कि आर्य प्रभव को आर्य जम्बू का उत्तराधिकारी मानती थी। 'कल्पसूत्र' में उल्लिखित यह आचार्य परम्परा यापनीयों को ही मान्य हो सकती है, दिगम्बरों को नहीं। क्योंकि यापनीय 'कल्पसूत्र' को न केवल मान्य करते थे, अपितु पर्युषण के अवसर पर उसका वाचन भी करते थे। अपने कथा स्रोत में आर्य प्रभव का यह उल्लेख यही सिद्ध करता है कि रविषेण यापनीय परम्परा के रहे होंगे।

(२) जैनों में रामकथा की दो परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं—एक परम्परा का अनुसरण कूर्चि भट्टारक (सम्भवतः ये पूर्व उल्लिखित कूर्चक संघ के प्रथम पुरुष होंगे), नन्दी मुनीश्वर, कवि परमेश्वर, जिनसेन (आदि-पुराण के कर्त्ता), गुणभद्र और चामुण्डराय के द्वारा लिखित रामकथाओं में किया गया। जबकि दूसरी धारा का अनुसरण विमलसूरि के पउचरियं, रविषेण के पद्मचरित और स्वयंभू के पउमचरिउ में देखा जाता है। विमलसूरि की यह कथा परम्परा श्वेताम्बर आचार्य शीलांक के चउपन्नमहा-पुरिसचरियं और हेमचन्द्र के 'त्रिषष्टिशालाकापुरुषचरित'में भी पाई जाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि रामकथा की एक परम्परा दक्षिण के दिगम्बर आचार्यों में प्रचलित रही और दूसरी परम्परा उत्तर भारत के

१. समवायांग—प्रकीर्णक समवाय ६६८/८१।

२. वर्द्धमानजिनेन्द्रोक्तः सोऽयमर्थो गणेश्वरं । इन्द्रभूति परिप्राप्तः सुधर्मं धारिणीभवम् ॥ प्रभवं क्रमतः कीर्तिं ततोऽनुत्तरवाग्मिनं । लिखितं तस्य संप्राप्य रवेर्यत्नोय मुद्गतः—पद्मचरित १/४१-४२, १२३/१६।

निर्ग्रन्थ संघ से विकसित हुए श्वेताम्बरों और यापनीयों में प्रचलित रही। रविषेण के 'पद्मचरित' और स्वयंभू के 'पउमचरित' की रामकथा में विमलसूरि द्वारा प्रवर्तित रामकथा की धारा का अनुसरण इसी तथ्य का सूचक है कि वे यापनीय परम्परा के रहे होंगे, क्योंकि यापनीय ही श्वेताम्बर धारा के निकट थे। 'रविषेण का पद्मचरित तो पउमचरियं का संस्कृत छायानुवाद ही है'—पंडित नाथूराम जी प्रेमी का यह कथन इसी तथ्य को संपुष्ट करता है। उनके शब्दों में "रविषेण के द्वारा दिग्म्बर परम्परा में प्रचलित गुणभद्र वाली कथा को न अपनाकर विमलसूरि की कथा को अपनाना, उन्हें दिग्म्बर भिन्न परम्परा का द्योतित करता है" और हमारी दृष्टि में यह परम्परा यापनीय ही हो सकती है क्योंकि इस कथा में अनेक स्थलों पर अचेलकत्व पर बल दिया गया है।^१

(३) आचार्य रविषेण ने अपनी गुरु परम्परा में इन्द्र, दिवाकर यति, अर्हन् मुनि, लक्ष्मणसेन और रविषेण का उल्लेख किया है। 'गोम्मटसार' की टीका में इन्द्र को श्वेताम्बर बताया गया है, किन्तु इस सम्बन्ध में प्रेमी जी का यह कथन अधिक उपयुक्त लगता है कि इन्द्र नाम के श्वेताम्बर आचार्य का अभी तक कोई उल्लेख नहीं मिला है। बहुत सम्भव है कि वे यापनीय ही हों और श्वेताम्बर तुल्य होने से श्वेताम्बर कह दिए गये हों।^२ पाल्यकीर्ति शाकटायन ने इन्द्र गुरु का उल्लेख किया है। यह मुनिश्चित है कि पाल्यकीर्ति शाकटायन यापनीय परम्परा के आचार्य रहे हैं। उनके द्वारा लिखित 'स्त्रीमुक्ति' और 'किवलीभुक्ति प्रकरण' भी इसी तथ्य के सूचक हैं कि वे यापनीय थे। पुनः हमने छेदपिण्ड शास्त्र की चर्चा के प्रसंग में इस तथ्य को सुस्पष्ट किया है कि उसके कर्ता इन्द्र वही हैं जिनका उल्लेख शाकटायन ने इन्द्र गुरु के रूप में किया है। छेदपिण्डशास्त्र की रचना और उसमें उपलब्ध अनेक तथ्य इन्द्र को यापनीय ही सिद्ध करते हैं। यदि इन्द्र यापनीय है तो रविषेण के द्वारा अपने को उसी गुरु परम्परा का सूचित करना इसी तथ्य को सूचित करता है कि वे भी यापनीय हैं। डॉ० कुसुम पटोरिया के शब्दों में 'इन्द्र और दिवाकर यति यापनीय हों तो रविषेण भी यापनीय होने चाहिए। मुनि के लिये 'यति' विरुद्ध का प्रयोग करना यापनीयों की विशेषता है। स्वयं शाकटायन भी यतिग्राम-अग्रणी कहलाते थे।

१. जैन साहित्य और इतिहास—पद्मचरित और पउमचरियं, पृ० ८७-१०२।

२. वही, पृ० १६७।

(४) श्वे० आचार्य उद्योतनसूरि द्वारा विमल के पउमचरियं के साथ रविषेण की पद्मचरित की प्रशंसा और पुन्नाटसंघीय जिनसेन द्वारा रविषेण के पद्मचरित की प्रशंसा यही सूचित करती है कि रविषेण उस परम्परा से रहे हैं जो एक ओर श्वेताम्बरों के तथा दूसरी ओर पुन्नाट संघ के निकट हो। श्वेताम्बर और यापनीय एक ही धारा से विकसित हुए, अतः दोनों में पग-पग पर निकटता देखी जाती है। पुनः पुन्नाटसंघ भी यापनीय परम्परा से विकसित है, अतः इनके द्वारा यापनीय रविषेण की प्रशंसा स्वाभाविक है।

इस प्रकार पद्मचरित में उल्लिखित कथा स्रोत में प्रभव स्वामी का उल्लेख और गुरु परम्परा में इन्द्र का उल्लेख, कथा लेखन में विमलसूरि के पउमचरियं का अनुसरण तथा बाद में स्वयंभू के द्वारा भी प्रभव स्वामी के उल्लेखपूर्वक रविषेण की कथा को अपनाना, ये सब तथ्य इस बात को सूचित करते हैं कि वे यापनीय परम्परा के रहे होंगे।

इसके अतिरिक्त डॉ० कुसुम पटोरिया^१ ने रविषेण के कई ऐसे उल्लेखों की भी चर्चा की है, जो दिगम्बर परम्परा के विपरीत है। उनके अनुसार निम्न उल्लेख रविषेण को दिगम्बर परम्परा और गुणभद्र की राम-कथा परम्परा से भिन्न सिद्ध करते हैं :—

(i) गन्धर्व देवों को मद्यपी मानना ।

(ii) यक्ष-राक्षसों को कवलाहारी मानना ।

(iii) सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र के रूप में जन्मे सीता के जीव का रावण को सम्बोधित करने के लिए नरकानरक में जाना (ज्ञातव्य है कि दिगम्बर परम्परा के अनुसार बारहवें से सोलहवें स्वर्ग तक के देव प्रथम नरक के चित्रा भाग से आगे नहीं जाते हैं) ।

(iv) भरत चक्रवर्ती के द्वारा मुनियों के लिए बनाये गए औद्देशिक आहार को लेकर समवसरण में पहुँचना और ऋषभ द्वारा यह कहा जाना कि मुनि उद्दिष्ट भोजन नहीं करता (यापनीय ग्रन्थों में मुनि के लिए औद्देशिक आहार का निषेध है), किन्तु दिगम्बरों में यह परम्परा प्रचलित नहीं रही है, आज सामान्यतया दिगम्बर मुनि औद्देशिक आहार ग्रहण करते हैं ।

(v) सगर चक्रवर्ती के पूर्वभव तथा उनके पुत्रों का नागकुमार देव के कोप से भस्म होना ।

१. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० १४८-१४९ ।

- (vi) हरिषेण चक्रवर्ती की मोक्ष गति ।
- (vii) मधवा चक्रवर्ती को सौधर्म स्वर्ग की प्राप्ति ।
- (viii) सनतकुमार चक्रवर्ती को तीसरे स्वर्ग की प्राप्ति ।

(ix) भगवान महावीर के द्वारा सौधर्मेन्द्र की शंका निवारणार्थ पादांगुष्ठ से मेरु को कंपित करना (ज्ञातव्य है कि महावीर द्वारा पाँव के अँगूठे से मेरु को कंपित करने की यह कथा श्वेताम्बरों में प्रचलित है ।)

(x) राम और कृष्ण के बीच चौंसठ हजार वर्ष का अन्तर (ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ इनके बीच लाखों वर्ष का अन्तर मानती हैं) ।

इन आधारों पर डॉ० कुसुम पटोरिया का यह निष्कर्ष है—“ये अनेक कारण रविषेण को दिगम्बर आचार्य होने में शंका उपस्थित करते हैं फलतः यह कहा जा सकता है कि रविषेण की कुछ बातों में श्वेताम्बरों से समानता कुछ बातों में दिगम्बरों से समानता और कुछ बातों में दोनों से ही भिन्नता—इस तथ्य की सूचक हैं कि वे इन दोनों से भिन्न किसी तीसरी परम्परा अर्थात् यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहे होंगे ।”^१

महाकवि स्वयंभू और उनका पउमचरित्र

अपभ्रंश भाषा में रचित स्वयंभू का यह रामकथा का ग्रन्थ भी अनेक कारणों से यापनीय परम्परा से सम्बद्ध प्रतीत होता है । उसके यापनीय होने के सम्बन्ध में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

१. स्वयंभू ने भी अपने रामकथा के स्रोत की चर्चा करते हुए रविषेण की परम्परा का अनुसरण किया है । मात्र उसमें रविषेण का एक नाम अधिक जोड़ दिया गया है । वे भी इस कथा को महावीर, इन्द्रभूति, सुधर्मा, प्रभव, कीर्ति तथा रविषेण से प्राप्त बताते हैं । अपने कथा स्रोत में प्रभव का उल्लेख यही सिद्ध करता है कि वे यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहे होंगे ।

२. उनकी रामकथा में भी विमलसूरि के ‘पउमचरियं’ तथा रविषेण के ‘पद्मचरित’ का अनुसरण हुआ है । उन्होंने भी गुणभद्र की रामकथा का अनुसरण नहीं किया है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि उनकी कथा-धारा दिगम्बर परम्परा की कथा-धारा से भिन्न है । यदि रविषेण याप-

१. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० १४९ ।

नीय हैं तो उनकी कथा-धारा का अनुसरण करने वाले स्वयंभू भी यापनीय ही सिद्ध होते हैं।^१

३. यद्यपि स्वयंभू ने स्पष्ट रूप से अपने सम्प्रदाय का उल्लेख कहीं नहीं किया है किन्तु पुष्पदन्त के महापुराण के टिप्पण में उन्हें आपुली-संघीय बताया गया है^२। पंडित नाथूरामजी प्रेमी ने भी इन्हें यापनीय माना है^३।

४. स्वयम्भू द्वारा दिवायर (दिवाकर), गुणहर (गुणधर), विमल- (विमलसूरि) आदि अन्य परम्परा के कवियों का आदरपूर्वक उल्लेख भी उनके यापनीय परम्परा से सम्बद्ध होने का प्रमाण इसीलिये माना जाना चाहिये कि ऐसी उदारता यापनीय परम्परा में देखी जाती है^४ दिगम्बर परम्परा में नहीं।

५. स्वयंभू के ग्रन्थों में अन्यतैथिक की मुक्ति की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। अन्यतैथिक की मुक्ति की अवधारणा आगमिक है और आगमों को मान्य करने के कारण यह अवधारणा श्वेताम्बर और यापनीय दोनों में स्वीकृत रही है। उत्तराध्ययन, जिसमें स्पष्ट रूप से अन्यलिग सिद्ध का उल्लेख है, यापनीयों को भी मान्य रहा है। जिनसेन ने 'हरिवंश' में स्पष्ट रूप से उसका उल्लेख किया है। प्रोफेसर एच० सी० भायाणी का मन्तव्य भी उन्हें यापनीय मानने के पक्ष में है। वे लिखते हैं कि यद्यपि इस सन्दर्भ में हमें स्वयंभू की ओर से प्रत्यक्ष या परोक्ष दक्तव्य नहीं मिलता है, परन्तु यापनीय सग्रन्थ अवस्था तथा परशासन से भी मुक्ति स्वीकार करते थे और स्वयंभू अपेक्षाकृत अधिक उदारचेता थे, अतः उन्हें यापनीय माना जा सकता है।

एक ओर अचेलकत्व पर बल और दूसरी ओर श्वेताम्बर मान्य आगमों में उल्लिखित अनेक तथ्यों की स्वीकृति उन्हें यापनीय परम्परा से

१. एह रामकह-सरि सोहन्ती । गणहरदेवाह दिट्ठ वहन्ती ।

पच्छइ इन्दभूइ आयरिएं । पुणु धम्मणेण गुणालंकरिएं ॥

पुणु पह्वे संसाराराएं । कित्तिहरेणं अणुत्तरवाएं ।

पुणु रविसेणायरियपसाएँ । बुद्धिए अवगाहियि कइराएँ ॥

—पउमचरिउ १/६-९ ।

२. स्वयंभु पद्धडीबद्धकर्ता आपुलीसंघीय ।—महापुराण (टिप्पणयुक्त) पृ० ९ ।

३. जैन साहित्य और इतिहास (पं० नाथूराम प्रेमी), पृ० १९७ ।

ही सम्बद्ध करती है। श्रीमती कुसुम पटोरिया भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचती हैं। वे लिखती हैं कि हमारी दृष्टि से महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण के टीकाकार ने जिस परम्परा के आधार पर इन्हें आपलोसंघीय कहा है वह परम्परा वास्तविक होनी चाहिए। साथ ही अनेक तथ्यों से इनके यापनीय होने का समर्थन होता है।

इनके अतिरिक्त भी डॉ० कुसुम पटोरिया ने स्वयम्भू के ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर अन्य कुछ ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिससे वे कुछ मान्यताओं के सन्दर्भ में दिगम्बर परम्परा से भिन्न एवं यापनीय प्रतीत होते हैं—

१. दिगम्बर परम्परा के तिलोयपण्णत्ती, त्रिलोकसार और उत्तरपुराण में राम (बलराम) को आठवाँ और पद्म (रामचन्द्र) को नवाँ बलदेव बताया गया है। जबकि श्वेताम्बर ग्रन्थों यथा समवायांग, पउमचरियं, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, अभिधानचिन्तामणि, विचारसारप्रकरण आदि में पद्म (राम) को आठवाँ और बलराम को नवाँ बलदेव कहा गया है। राम का पद्म नाम दिगम्बर परम्परानुसारी नहीं है, राम का पद्म नाम मानने के कारण रविषेण और स्वयम्भू दोनों यापनीय प्रतीत होते हैं।

२. देवकी के तीन युगलों के रूप में छह पुत्र कृष्ण के जन्मके पूर्व हुए थे, जिन्हें हरिणगेमसी देव ने सुलसा गाथापत्नी के पास स्थानान्तरित कर दिया था। स्वयम्भू के रिट्ठनेमिचरिउ का यह कथानक श्वेताम्बर आगम अंतकृतदशा में यथावत् उपलब्ध होता है। स्वयम्भू द्वारा आगम का यह अनुसरण उन्हें यापनीय सिद्ध करता है।

३. स्वयम्भू ने पउमचरिउ में देवों की भोजनचर्या में उल्लेख लिखा है कि गन्धर्व पूर्वाह्न में, देव मध्याह्न में, पिता-पितामह (पितृलोक के देव) अपराह्न में और राक्षस, भूत, पिशाच एवं ग्रह रात्रि में खाते हैं, जबकि दिगम्बर परम्परा के अनुसार देवता कवलाहारी नहीं है उनके अनुसार देवताओं का मानसिक आहार होता है (देवेसु मणाहारो)

४. इन्होंने कथास्रोत का उल्लेख करते हुए क्रम से महावीर, गौतम, सुधर्म, प्रभव, कीर्ति और रविषेण का उल्लेख किया है। प्रभव को स्थान देना उन्हें दिगम्बर परम्परा से पृथक् करता है क्योंकि दिगम्बर परम्परा में इनके स्थान पर विष्णु का उल्लेख मिलता है। यद्यपि इनके रिट्ठनेमि-

चरिउ के अन्त में जम्बू के बाद विष्णु नाम आया है, किन्तु यह अंश जस-
किति द्वारा प्रक्षिप्त है।

५. स्वयम्भू ने सीता के जीव का रावण एवं लक्ष्मण को प्रतिबोध देने
सोलहवें स्वर्ग से तीसरी पृथ्वी में जाना बताया है। जबकि धवला टीका
के अनुसार १२ वें से १६ वें स्वर्ग तक के देवता प्रथम पृथ्वी के चित्रा
भाग से आगे नहीं जाते हैं।

६. पउमचरिउ में अजितनाथ के वैराग्य का कारण म्लानकमल
बताया गया है, जबकि त्रिलोकप्रज्ञप्ति में तारा टूटना बताया गया है।

७. रविषेण के समान इन्होंने भी महावीर के चरणांगुष्ठ से मेरु के
कम्पन का उल्लेख किया है। यह श्वेताम्बर मान्यता है।

८. भगवान् के चलने पर देवनिर्मित कमलों का रखा जाना—भगवान्
का एक अतिशय माना गया है। यह भी श्वेताम्बर मान्यता है।

९. तीर्थंकर का मागधी भाषा में उपदेश देना। ज्ञातव्य है कि श्वेता-
म्बर मान्य आगम समवायांग में यह मान्यता है। दिगम्बर परम्परा
के अनुसार तो तीर्थंकर की दिव्यध्वनि खिरती है, जो सर्व भाषा रूप
होती है।

१०. दिगम्बर उत्तरपुराण में सगरपुत्रों का मोक्षगमन वर्णित है
जबकि विमलसूरि के पउमचरियं के आधार पर रविषेण और स्वयम्भू ने
भीम एवं भगीरथ को छोड़कर शेष का नागकुमार देव के कोप से भस्म
होना बताया।

सुश्री कुसुम पटोरिया के अनुसार इन वर्णनों के आधार पर स्वयम्भू
यापनीय सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार इन सभी उल्लेखों में स्वयम्भू को श्वेताम्बर मान्यता से
निकटता और दिगम्बर मान्यताओं से भिन्नता यही सिद्ध करती है कि
वे यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहे होंगे।

पुनः स्वयम्भू मुनि नहीं, अपितु गृहस्थ ही थे, उनकी कृति 'पउम-
चरिउ' से जो अन्य सूचनाएँ हमें उपलब्ध होती है, उनके आधार भी
पर उन्हें यापनीय परम्परा से सम्बन्धित माना जा सकता है।

स्वयम्भू का निवास स्थल सम्भवतः पश्चिमोत्तर कर्नाटक रहा

है।^१ अभिलेखीय साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि उस क्षेत्र पर यापनीयों का सर्वाधिक प्रभाव था। अतः स्वयम्भू के यापनीय संघ से सम्बन्धित होने की पुष्टि क्षेत्रीय दृष्टि से भी हो जाती है।

काल की दृष्टि से स्वयम्भू ७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और ८वीं शती के पूर्वार्ध के कवि है^२। यह स्पष्ट है कि इस काल में यापनीय संघ दक्षिण में न केवल प्रवेश कर चुका था, अपितु वहाँ प्रभावशाली भी बन गया था। अतः काल की दृष्टि से भी स्वयम्भू को यापनीय परम्परा से सम्बन्धित मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

साहित्यिक प्रमाण की दृष्टि से पुष्पदन्त के महापुराण की टीका में स्वयम्भू को स्पष्ट रूप से यापनीय (आपुली) बताया गया है। उसमें लिखा है—‘स्वयंभू पत्यङ्गिबद्ध कर्ता आपुलीसंधीयः’ इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे यापनीय संघ से सम्बन्धित थे।^३

स्वयम्भू के यापनीय संघ से सम्बन्ध होने के लिए प्रो० हरि-वल्लभयाणी ने एक और महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह दिया है कि यापनीय संघ वैचारिक दृष्टि से उदार और समन्वयवादी था। यह धार्मिक उदारता और समन्वयशीलता स्वयम्भू के ग्रन्थों में विभिन्न स्थलों पर पाई जाती है, ‘रिट्ठनेमि चरिउ’ संधि ५५/३० और ‘पउमचरिउ’ संधि ४३/१९ में उनकी यह उदारता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उनकी उदारता को सूचित करने के लिए हम यहाँ केवल एक ही गाथा दे रहे हैं—

‘अरहन्तु बुद्ध तुहँ हरिहरन व, तुहँ अण्णाण तमोहरिउ ।
तुहँ सुहँमु णिरन्जणु परमपउ, तुहँ रविदम्भु सयम्भु सिउ ॥’

दिगम्बर परम्परा धार्मिक दृष्टि से श्वेताम्बरों और यापनीयों की अपेक्षा अनुदार रही है, क्योंकि वह अन्यतैथिक मुक्ति को अस्वीकार करती है; जबकि श्वेताम्बर और यापनीय अन्यतैथिकों की मुक्ति को

१. पउमचरिउ, सं० डॉ० हरिवल्लभयाणी, सिंधी जैनग्रथमाला ग्रन्थांक ३४, भूमिका (अंग्रेजी) पृ० १३

२. वही, पृ० ९

३. स्वयंभू पावंडीबद्ध रामायण कर्ता आपुलीसंधीयः ।

स्वीकार करते हैं। स्वयम्भू को धार्मिक उदारता की विस्तृत चर्चा प्रो० भयाणी जी ने पउमचरिउ की भूमिका में की है। पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं।^१

जटासिहनन्दि का वराङ्गचरित और उसकी परम्परा

जटासिहनन्दि और उनके वराङ्गचरित के दिगम्बर परम्परा से भिन्न यापनीय अथवा कूर्चक संघ से सम्बन्धित होने के कुछ प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यद्यपि श्रीमती कुसुम पटोरिया^२ के अनुसार वराङ्गचरित में ऐसा कोई भी अन्तरंग साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, जिससे जटासिहनन्दि और उनके ग्रन्थ को यापनीय कहा जा सके, किन्तु मेरी दृष्टि में श्रीमती कुसुम पटोरिया का यह कथन समुचित नहीं है। सम्भवतः उन्होंने मूल ग्रन्थ को देखने का प्रयत्न ही नहीं किया और द्वितीयक स्रोतों से उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर ऐसा मानस बना लिया। मैंने यथासम्भव मूल ग्रन्थ को देखने का प्रयास किया है और उसमें मुझे ऐसे अनेक तत्त्व मिले हैं, जिनके आधार पर वराङ्गचरित और उसके कर्ता जटिलमुनि या जटासिहनन्दि को दिगम्बर परम्परा से भिन्न यापनीय अथवा कूर्चक परम्परा से सम्बद्ध माना जा सकता है। इस विवेचन में सर्वप्रथम तो मैं श्रीमती कुसुम पटोरिया के द्वारा प्रस्तुत उन बाह्य साक्ष्यों की चर्चा करूँगा, जिनके आधार पर जटासिहनन्दि के यापनीय होने की सम्भावना को पुष्ट किया जाता है। उसके पश्चात् मूल ग्रन्थ में मुझे दिगम्बर मान्यताओं से भिन्न, जो तथ्य उपलब्ध हुए हैं, उनकी चर्चा करके यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि जटासिहनन्दि यापनीय अथवा कूर्चक परम्परा में से किसी एक से सम्बद्ध रहे होंगे।

जटासिहनन्दि यापनीय संघ से सम्बन्धित थे या कूर्चक संघ से सम्बन्धित थे, इस सम्बन्ध में तो अभी और भी सूक्ष्म अध्यायन की आवश्यकता है। किन्तु इतना निश्चित है कि वे दिगम्बर परम्परा से भिन्न अन्य किसी परम्परा से सम्बन्धित हैं, क्योंकि उनकी अनेक मान्यताएँ वर्तमान दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाती हैं। आर्ये इन तथ्यों की समीक्षा करें—

१. पउमचरिउ, सं० डॉ० हरिवल्लभ भयाणी, सिंधी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थांक ३४ भारतीय विद्याभवन बम्बई, भूमिका (अंग्रेजी) पृ० १३-१५.
२. यापनीय और उनका साहित्य, डॉ० कुसुम पटोरिया, पृ० १५७-१५८।

१. जिनसेन प्रथम (पुन्नाटसंधीय) ने अपने हरिवंशपुराण (ई० सन् ७८३) में,^१ जिनसेन द्वितीय (पंचस्तूपान्वयी) ने अपने आदिपुराण में,^२ उद्योतनसूरि (श्वे० आचार्य) ने अपनी कुवलयमाला (ई० सन् ७७८) में,^३ रात्रमल्ल ने अपने कन्नड़ गद्य ग्रन्थ त्रिषष्टिशलाकापुरुष (ई० सन् ९७४-८४) में,^४ धवल कवि ने अपभ्रंश भाषा में रचित अपने हरिवंश में^५ जटिलमुनि अथवा उनके वरांगचरित का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त भी पम्प ने अपने आदिपुराण (ई० सन् ९४१)^६ में, नयनसेन ने अपने धर्माभूत (ई० सन् १११२)^७ में और पार्श्वपंडित ने अपने पार्श्वपुराण (ई० सन् १२०५) में^८, जन्न ने अपने अनन्तनाथपुराण (ई०

१. वरांगनेव सर्वाङ्गैर्वराङ्गचरितार्थवाक् ।
कस्य नोत्पादयेद्गाढमनुरागं स्वगोचरम् ॥
—हरिवंशपुराण (जिनसेन), १/३४-३५.
२. काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रचलवृत्तयः ।
अर्थान्स्मानुवदन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात् ॥
—आदिपुराण (जिनसेन), १/५०
३. जेहि कए रमणिज्जे वरंग-पउमाण चरियविस्थारे ।
कह व ण सलाहणिज्जे ते कहणो जडिय-रविसेणे ॥—कुवलयमाला, पृ० ४
४. ऐदनेय श्रोतृधैवो जटासिहनद्याचार्यर वृत्तं
—उद्धृत, वरांगचरित, भूमिका पृ० ११ ।
५. मुणिमहसेणु सुखोयगु जेण पउमचरित मुणिरविसेणेण ।
जिनसेणेण हरिवंसु पवित्तु जडिलमुणिणा वरंगचरित्तु ॥
हरिवंश, उद्धृत वरांगचरित, भूमिका पृ० १०
६. आर्यनुत-गृध्रपिच्छाचार्य
जटाचार्य—विश्रुतश्रुतकीर्त्याचार्य—
पुरस्सरमपाचार्य परंपरैयें कुडुगं भव्योत्सवम् ॥ आदिपुराण, १/१२
७. वर्यलोकौत्तमर्भावि सुवोडनधरत्युन्नतकौडकुंदाचार्यचारित्ररत्नाकररधिकगुणसं-
ज्जटासिहनंद्याचार्यं श्रीकूचिभट्टारकरुदितयशामिवकपेपिगं लोकाश्चर्यनिष्कर्म-
रंमं पौरमडिसुगं संसारकांतारदिदं ॥—धर्माभूत, १/१३
८. बिदिरपोदर तौल्येनं तू—गिदांडाबिदिजिनमुनिप—जटाचार्यर धैर्यद
पैपु गॅलुदु पसर्गदलुकैयेनंनिसि नॅगेंदुमिगं सोगयिसिदं ॥
—पार्श्वपुराण, १/१४

सन् १२०९) में,^१ गुणवर्म द्वितीय ने अपने पुष्पदन्तपुराण (ई० सन् (१२३०)^२ में, कमलभवन ने अपने शांतिनाथपुराण (ई० सन् १२३३)^३ में, महाबल कवि ने अपने नेमिनाथपुराण (ई० सन् १२५४) में^४ जटासिंह-नन्दि का उल्लेख किया है। इन सभी उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि जटासिंहनन्दि यापनीय, श्वेताम्बर और दिगम्बर तीनों ही परम्पराओं में मान्य रहे हैं। फिर भी सर्वप्रथम पुन्नाटसंघीय जिनसेन के द्वारा जटासिंह-नन्दि का आदरपूर्वक उल्लेख यह बताता है कि वे सम्भवतः यापनीय परम्परा से सम्बन्धित रहे हों^५ क्योंकि पुन्नाटसंघ का विकास यापनीय पुन्नागवृक्षमूलगण से ही हुआ है^६। पुनः श्वेताम्बर आचार्य उद्योतनसूरि ने यापनीय रविषेण और उनके ग्रन्थ पद्मचरित के साथ-साथ जटासिंह-नन्दि के वरांगचरित का उल्लेख किया है। इससे ऐसी कल्पना की जा सकती है कि दोनों एक ही परम्परा के और समकालिक रहे होंगे। पुनः श्वेताम्बर और यापनीयों में एक-दूसरे के ग्रन्थों के अध्ययन की परम्परा रही है। यापनीय आचार्य प्राचीन श्वेताम्बर आचार्यों के ग्रन्थों को पढ़ते थे। जटासिंहनन्दि के द्वारा प्रकीर्णकों, आवश्यकनियुक्ति तथा सिद्धसेन के सन्मतितर्क और विमलसूरि के पउमचरिय का अनुसरण यही बताता है कि वे यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहे होंगे। क्योंकि यापनीयों द्वारा इन ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसरण किया जाता था, इसके अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। यह हो सकता है कि जटासिंह-नन्दि यापनीय न होकर कूर्चक सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहे हों और यह कूर्चक सम्प्रदाय भी यापनीयों की भाँति श्वेताम्बरों के अति निकट रहा हो। यद्यपि इस सम्बन्ध में विस्तृत गवेषणा अभी अपेक्षित है।

१. वंशर् जटासिंहणाद्याचार्यादीन्द्रणद्याचार्यादिमुनिपराकाणूर्णगंधर्पथिवियाँळो गॅल्लं ॥—अनन्तनाथपुराण, १/१६।
२. नडँवळियोळु तन्नं समं बडँदारूँ नडँदरिल्ल गडमँतेदँषु । नुडियुं नडेदुव पडुळ्ळिके यँडँगँ जटासिंहणदि मुनिपुंगवना ॥ पुष्पदंतपुराण, १/२९
३. कार्यविदहँदल्याचार्य-जटासिंहनँदि नामोद्दामाचार्यवरगुध्रपिछाचार्यर चरणा-रविदवृदस्तोत्रं ॥—शांतिनाथपुराण, १/१९
४. धैर्यपरगुध्रपिछाचार्यर जटासिंहनँदि जगतीक्ष्याताचार्यर प्रभावमत्याश्चर्यमदं पाँगळु वडडजंगमसाध्यं ॥—नेमिनाथपुराण, १/१४
५. हरिवंश (जिनसेन), १/३५
६. देखें—जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, प्रो० सागरमल्लजैन पृ० ३६-३७

(२) जटासिंहनन्दि यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहे हैं, इस सम्बन्ध में जो बाह्य साक्ष्य उपलब्ध हैं उनमें प्रथम यह है कि कन्नड़ कवि जन्न ने जटासिंहनन्दि को 'काणूरगण' का बताया है। अनेक अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि यह काणूरगण प्रारम्भ में यापनीय परम्परा का एक गण था। इस गण का सर्वप्रथम उल्लेख सौदत्ती के ई० सन् दसवीं शती (९८०) के एक अभिलेख से मिलता है। इस अभिलेख में गण के साथ यापनीय संघ का भी स्पष्ट निर्देश है।^१ यह सम्भव है कि इस गण का अस्तित्व इसके पूर्व सातवीं-आठवीं शती में भी रहा हो। डा० उपाध्ये जन्न के इस अभिलेख को शंका की दृष्टि से देखते हैं। उनकी इस शंका के दो कारण हैं—एक तो यह कि गणों की उत्पत्ति और इतिहास के विषय में पर्याप्त जानकारी का अभाव है, दूसरे जटासिंहनन्दि जन्न के समकालीन भी नहीं हैं।^२ यह सत्य है कि दोनों में लगभग पाँच सौ वर्ष का अन्तराल है किन्तु मात्र कालभेद के कारण जन्न का कथन भ्रान्त हो, हम डा० उपाध्ये के इस मन्तव्य से सहमत नहीं हैं। यह ठीक है कि यापनीय परम्परा के काणूर आदि कुछ गणों का उल्लेख आगे चलकर मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय के साथ भी हुआ है^३ किन्तु इससे उनका मूल में यापनीय होना अप्रमाणित नहीं हो जाता। काणूरगण के ही १२वीं शताब्दी तक के अभिलेखों में यापनीय संघ के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। (देखें जैन शिलालेख संग्रह भाग ५ लेख क्रमांक ११७) इसके अतिरिक्त स्वयं डा० उपाध्ये ने १२वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के कुछ शिलालेखों में काणूरगण के सिंहनन्दि के उल्लेख को स्वीकार किया है।^४ यद्यपि इन लेखों में काणूरगण के इन सिंहनन्दि को कहीं मूलसंघ और कहीं कुन्दकुन्दान्वय का बताया गया है। लेकिन स्मरण रखना होगा कि यह लेख उस समय का है जब यापनीय सहित सभी अपने को मूलसंघ से जोड़ने लगे थे। पुनः इन लेखों में सिंहनन्दि का काणूरगण

१. ""यापनीयसंघप्रतीतकण्डूगणाब्धि""। जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख क्रमांक १६० ।

२. देखें—वराणचरित, भूमिका (अंग्रेजी), पृ० १६ ।

३. देखें—जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख क्रमांक २६७, २७७, २९९ ।

४. वही—भाग २ लेख क्रमांक २६७, २७७, २९९ ।

ज्ञातव्य है कि काणूरगण को मूल संघ, कुन्दकुन्दान्वय और मेघपाषाण गच्छ से जोड़ने वाले ये लेख न केवल परवर्ती हैं अपितु इनमें एकरूपता भी नहीं है।

के आद्याचार्य के रूप में उल्लेख है। उनकी परम्परा में प्रभाचन्द्र, गुण-चन्द्र, माघनन्दि, प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, मुनिचन्द्र, प्रभाचन्द्र आदि का उल्लेख है—यह लेख तो बहुत समय पश्चात् लिखा गया है। पुनः इन लेखों में भी प्रारम्भ में जटासिहनन्दि आचार्य का उल्लेख है, वहाँ न तो मूलसंघ का उल्लेख है और न कुन्दकुन्दान्वय का, वहाँ मात्र काणूरगण का उल्लेख है। यह काणूरगण प्रारम्भ में यापनीय गण था। अतः सिद्ध है कि जटासिहनन्दि काणूरगण के आद्याचार्य रहे होंगे। इन शिष्यालेखों में सिहनन्दि को गंग वंश का समुद्धारक कहा गया है। यदि गंग वंश का प्रारम्भ ई० सन् चतुर्थ शती माना जाता है तो गंग वंश के संस्थापक सिहनन्दि जटासिहनन्दि से भिन्न होने चाहिए। पुनः काणूरगण का अस्तित्व भी ई० सन् की ७वीं-८वीं शती के पूर्व ज्ञात नहीं होता है। सम्भावना यही है कि जटासिहनन्दि काणूरगण के आद्याचार्य रहे होंगे और उनका गंग वंश पर अधिक प्रभाव रहा हो। अतः आगे चलकर उन्हें गंग वंश का उद्धारक मान लिया गया हो तथा गंग वंश के उद्धार की कथा उनसे जोड़ दी गई हो।

(३) जन्न ने अनन्तनाथ पुराण में न केवल जटासिहनन्दि का उल्लेख किया है अपितु उनके साथ-साथ ही काणूरगण के इन्द्रनन्दी आचार्य का भी उल्लेख किया है।^१ हम छेदपिण्ड शास्त्र की परम्परा की चर्चा करते समय अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध कर चुके हैं कि जटासिहनन्दि के समकालीन या उनसे किञ्चित् परवर्ती ये इन्द्रनन्दी रहे हैं^२। जिनका उल्लेख शाकटायन आदि अनेक यापनीय आचार्यों ने किया है। जन्न ने जटासिहनन्दि और इन्द्रनन्दी दोनों को काणूरगण का बताया है।

(४) कोप्पल में पुरानी कन्नड़ में एक लेख भी उपलब्ध होता है जिसके अनुसार जटासिहनन्दि के चरण-चिह्नों को चाव्वय ने बताया था।^३ इससे यह सिद्ध होता है कि जटासिहनन्दि का समाधिमरण सम्भवतः कोप्पल में हुआ हो। पुनः डा० उपाध्ये ने गणभेद नामक

१. वरांगचरित, सं० ए० एन० उपाध्ये, भूमिका (अंग्रेजी), पृ० १६ पर उद्धृत—

वंचर् जटासिहणंवाचार्यदीर्घणंवाचार्यादि मुनि परा काणूरगणं।

—अनन्तनाथ पुराण १।१७

२. देखें—जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय—प्रो० सागरमल जैन, पृ० १४५-१४६

३. देखें—वरांगचरित, सं० ए० एन० उपाध्ये, भूमिका (अंग्रेजी), पृ० १७

अप्रकाशित कन्नड़ ग्रन्थ के आधार पर यह भी मान लिया है कि कोप्पल या कोपन यापनीयों का मुख्य पीठ था^१। अतः कोप्पल/कोपन से सम्बन्धित होने के कारण जटासिहनन्दि के यापनीय होने की सम्भावना अधिक प्रबल प्रतीत होती है।

(५) यापनीय परम्परा में मुनि के लिए 'यति' का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा है। यापनीय आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन को 'यति-ग्रामाग्रणी' कहा गया है। हम देखते हैं कि जटासिहनन्दि के इस वरांगचरित में भी मुनि के लिए यति शब्द का प्रयोग बहुतायत से हुआ है^२। ग्रन्थकार की यह प्रवृत्ति उसके यापनीय होने का संकेत करती है।

(६) वरांगचरित में सिद्धसेन के सन्मति तर्क का बहुत अधिक अनुसरण देखा जाता है। अनेक आधारों से यह सिद्ध होता है कि सन्मति तर्क के कर्ता सिद्धसेन किसी भी स्थिति में दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध नहीं रहे हैं। यदि वे ५वीं शती के पश्चात् हुए हैं तो निश्चित ही श्वेताम्बर हैं और यदि उसके पूर्व हुए हैं तो अधिक से अधिक श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा की पूर्वज उत्तर भारतीय निर्ग्रन्थ धारा से सम्बद्ध रहे हैं। उनके सन्मति तर्क में क्रमवाद के साथ-साथ युगपदवाद की समीक्षा, आगमिक परम्परा का अनुसरण, कृति का महाराष्ट्री प्राकृत में होना आदि तथ्य इसी संभावना को पुष्ट करते हैं। वरांगचरित के २६वें सर्ग के अनेक श्लोक सन्मतितर्क के प्रथम और तृतीय काण्ड को गाथाओं का संस्कृत रूपान्तरण मात्र लगते हैं।

वरांगचरित	सन्मति तर्क	वरांगचरित	सन्मति तर्क
२६/५२	१/६	२६/६५	१/५२
२६/५३	१/९	२६/६९	३/४७
२६/५४	१/११	२६/७०	३/५४
२६/५५	१/१२	२६/७१	३/५५
२६/५७	१/१७	२६/७२	३/५३
२६/५८	१/१८	२६/७८	३/६९

१. देखें—यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश, ए० एन० उपाध्ये, अनेकांत, वीर निर्वाण विशेषांक १९७५

२. यतीनां (३/७), यतीन्द्र (३/४३), यतिपतिना (५/११३), यति (५/११४), यतिना (८/६८), वीरचर्या यतयोबभूवुः (३०/६१), यतिपति (३०/९९), यतिः (३१/२१)।

वरांगचरित	सन्मति तर्क	वरांगचरित	सन्मति तर्क
२६/६०	१/२१	२६/९०	३/६९
२६/६१	१/२२	२६/९९	३/६७
२६/६२	१/२३-२४	२६/१००	३/६८
२६/६३	१/२५		
२६/६४	१/५१		

वरांगचरितकार जटासिंहनन्दि द्वारा सिद्धसेन का यह अनुसरण इस बात का सूचक है कि वे सिद्धसेन से निकट रूप से जुड़े हुए हैं। सिद्धसेन का प्रभाव श्वेताम्बरों के साथ-साथ यापनीयों और यापनीयों के कारण पुन्नाटसंघीय आचार्यों एवं पंचस्तूपान्वय के आचार्यों पर भी देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जटासिंहनन्दि उस यापनीय अथवा कूर्चक परम्परा से सम्बन्धित रहे होंगे जो अनेक बातों में श्वेताम्बरों की आगमिक परम्परा के निकट थी। यदि सिद्धसेन श्वेताम्बर और यापनीयों के पूर्वज आचार्य हैं तो यापनीय आचार्यों के द्वारा उनका अनुसरण संभव है।

यद्यपि वरांगचरित के इसी सर्ग की दो गाथाओं पर समन्तभद्र का भी प्रभाव देखा जाता है, किन्तु सिद्धसेन की अपेक्षा यह प्रभाव अल्प मात्रा में है।^१

(७) वरांगचरित में अनेक संदर्भों में आगमों, प्रकीर्णकों एवं नियुक्तियों का अनुसरण भी किया गया है। सर्वप्रथम तो उसमें कहा गया है—“उन वरांगमुनि ने अल्पकाल में ही आचारांग और अनेक प्रकीर्णकों का सम्यक् अध्ययन करके क्रमपूर्वक अंगों एवं पूर्वों का अध्ययन किया^२।” इस प्रसंग में प्रकीर्णकों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। विषयवस्तु को दृष्टि से तो इसके अनेक सर्गों में आगमों का अनुसरण देखा जाता है। विशेष रूप से स्वर्ग, नरक, कर्म-सिद्धान्त आदि सम्बन्धी विवरण में उत्तराध्ययनसूत्र का अनुसरण हुआ है। जटासिंहनन्दि ने चतुर्थ सर्ग में जो कर्म सिद्धान्त का विवरण दिया है उसके अनेक श्लोक अपने प्राकृत रूप में उत्तराध्ययन के तीसरे कर्मप्रकृति नामक अध्ययन में यथावत् मिलते हैं—

१. देखें—वरांगचरित २६।८२-८३ तुलनीय स्वयम्भूस्तोत्र (समंतभद्र),

१०२-१०३

२. आचारमादौ समधीत्य धीमान्प्रकीर्णकाध्यायमनेकभेदम् ।

अङ्गानि पूर्वाश्च यथानुपूर्व्यामल्पैरहोभिः सममध्यगीष्ट ॥

—वरांगचरित, ३१/१८

उत्तराध्ययन

३०/२-३
३०/४-६
३०/८-९
३०/१०-११
३०/१२
३०/१३
३०/१५

वरांगचरित

४/२-३
४/२४-२५
४/२५-२६-२७
४/२८-२९
४/३३ (आंशिक)
४/३५ (आंशिक)
४/३७

यद्यपि सम्पूर्ण विवरण की दृष्टि से वरांगचरित का कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी विवरण उत्तराध्ययन की अपेक्षा विकसित प्रतीत होता है। इसी प्रकार की समानता स्वर्ग-नरक के विवरण में भी देखी जाती है। उत्तराध्ययन में ३६वें अध्ययन की गाथा क्रमांक २८४ से २९६ तक वरांगचरित के नवें सर्ग के श्लोक १ से १२ तक किंचित् शाब्दिक परिवर्तन के साथ संस्कृत रूप में पायी जाती हैं। आश्चर्य की बात यह है कि जटासिंहनन्दि भी आगमों के अनुरूप बारह देवलोकों की चर्चा करते हैं।

इसी प्रकार प्रकीर्णक साहित्य की भी अनेक गाथाएँ वरांगचरित में अपने संस्कृत रूपान्तर के साथ पायी जाती हैं, देखें—

दंसणभट्टो भट्टो, न हु भट्टो होइ चरणपठभट्टो ।
दंसणमणुपत्तस्स उ परियडणं नत्थि संसारे ॥ ६५ ॥
दंसणभट्टो भट्टो, दंसणभट्टस्स नत्थि निव्वाणं ।
सिज्जंति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्जंति ॥ ६६ ॥

—भक्तपरिज्ञा

तुलनीय—

दर्शनाद्भ्रष्ट एवानुभ्रष्ट इत्यभिधीयते ।
न हि चारित्रविभ्रष्टो भ्रष्ट इत्युच्यते बुधैः ॥ ९६ ॥
महता तपसा युक्तो मिथ्यादृष्टिरसंयतः ।
तस्य सर्वज्ञसंदृष्ट्या संसारोऽनन्त उच्यते ॥ ९७ ॥

—वरांगचरित सर्ग २६

इसी प्रकार वरांगचरित के निम्न श्लोक आतुर प्रत्याख्यान में पाये जाते हैं—

एकस्तु मे शाश्वतिकः स आत्मा सद्दृष्टिसज्जानगुणैरुपेतः ।
शेषाश्च मे बाह्यतमाश्च भावाः संयोगसल्लक्षणलक्षितास्ते ॥१०१॥

संयोगतो दोषमवाप जीवः परस्परं नैकविधानुबन्धि ।
 तस्माद्विसंयोगमतो दुरन्तमाजीवितान्तादेहमुत्सृजामि ॥१०२॥
 सर्वेषु भूतेषु मनःसमं मे वैरं न मे केनचिदस्ति किञ्चित् ।
 आशां पुनः क्लेशसहस्रमूलां हित्वा समाधिं लघु संप्रपद्ये ॥१०३॥
 —वरांगचरित सर्ग ३१

तुलनीय—

एगो मे सासओ अप्पा नाण-दंसणसंजुओ ।
 सेसा मे बहिरा भावा सब्बे संजोगलक्खणा ॥ २७ ॥
 संजोगमूला जीवेणं पत्ता दुक्खपरंपरा ।
 तम्हा संजोगसंबंधं सब्बं भावेण वोसिरे ॥ २८ ॥
 सम्मं मे सब्बभूएमु वैरं मज्झं न केणई ।
 आसाओ वोसिरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ॥ २२ ॥

—आतुरप्रत्याख्यान

ये तीनों गाथायें आतुरप्रत्याख्यान से सीधे वरांगचरित में गईं या मूलाचार के माध्यम से वरांगचरित में गईं यह एक अलग प्रश्न है। मूलाचार यापनीय ग्रन्थ है, अतः यदि ये गाथायें मूलाचार से भी ली गईं हों तो भी जटासिंहनन्दि और उनके ग्रन्थ वरांगचरित के यापनीय होने की ही पुष्टि होती है। यद्यपि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी ये गाथायें पायी जाती हैं, किंतु इतना निश्चित है कि कुन्दकुन्द ने भी ये गाथायें मूलाचार से ही ली होंगीं। पुनः मूलाचार में आतुरप्रत्याख्यान की लगभग सभी गाथायें समाहित कर ली गई हैं, अतः अन्ततोगत्वा तो ये गाथायें आतुर-प्रत्याख्यान से ही ली गई हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति की भी निम्न दो गाथाएँ वरांगचरित में मिलती हैं—

हयं नाणं क्रियाहीणं, हया अन्नाणओ क्रिया ।
 पासंतो पंगुलो दड्ढो धावमाणो अ अंधओ ॥ १०१ ॥
 संजोगसिद्धीइ फलं वर्यति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
 अंधो य पंगू य वणे समिच्चो ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥ १०२ ॥

तुलनीय—

क्रियाहीनं च यज्ज्ञानं न तु सिद्धिं प्रयच्छति ।
 परिपश्यन्त्यथा पङ्गुमुग्धो दग्धो दवाग्निना ॥ ९९ ॥

तौ यथा संप्रयुक्तौ तु द्वाग्निमधिगच्छतः ।

तथा ज्ञानचारित्र्याभ्यां संसारान्मुच्यते पुमान् ॥ १०१ ॥

—वरांगचरित सर्ग २६

आगम, प्रकीर्णक और नियुक्ति साहित्य का यह अनुसरण जटासिंह-नन्दि और उनके ग्रन्थ को दिगम्बरेतर यापनीय या कूर्चक सम्प्रदाय का सिद्ध करता है ।

(८) जटासिहनन्दि ने न केवल सिद्धसेन का अनुसरण किया है, अपितु उन्होंने विमलसूरि के पउमचरियं का भी अनुसरण किया है । चाहे यह अनुसरण उन्होंने सीधे रूप से किया हो या रविषेण के पद्मचरित के माध्यम से किया हो, किन्तु इतना सत्य है कि उन पर यह प्रभाव आया है । वरांगचरित में श्रावक के व्रतों को जो विवेचना उपलब्ध होती है वह न तो पूर्णतः श्वेताम्बर परम्परा के उपासकदशा के निकट है और न पूर्णतः दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य तत्त्वार्थ के पूज्यपाद देवनन्दी के सर्वार्थसिद्धि के मूलपाठ के निकट है । अपितु वह विमलसूरि के पउमचरियं के निकट है । पउमचरियं के समान ही इसमें भी देशावकासिक व्रत का अन्तर्भाव दिग्ब्रत में मानकर उस रिक्त स्थान को पूर्ति के लिए संलेखना को बारहवाँ शिक्षाव्रत माना गया है^१ । कुन्दकुन्द ने भी इस परम्परा का

१. स्थूलामहिंसामपि सत्यवाक्यमचरेतादाररतिव्रतं च ।

भोगोपभोगार्थपरिप्रमाणमनर्थदिग्देशनिवृत्तितं च ॥

सामायिकं प्रोषधपात्रदानं सन्लेखनां जीवितसंशये च ।

गृहस्थधर्मस्य हि सार एषः संक्षेपतस्तेऽभिनिगद्यते स्म ॥

देखिए—वरांगचरित, २२/२९-३०, वरांगचरित, १५ / १११-१२५ ।

तुज्जनीय—पञ्च य अणुव्वयाइं, तिण्णेव गुणव्वयाइं भणियाइं ।

सिक्खावयाणि एत्ते, चत्तारि जिणोवइट्ठाणि ॥ ११२ ॥

थूलयरं पाणिव्हं, मूसावार्यं अदत्तदारणं च ।

परजुवईण निवित्ती, संतोसवयं च पञ्चमयं ॥ ११३ ॥

दिसिविदिसाण य नियमो, अणत्थदण्डस्थ वज्जणं चैव ।

उवभोगपरिमाणं, तिण्णेव गुणव्वया ऐए ॥ ११४ ॥

सामाइयं च उववासपोसहो अतिहित्विभागो य ।

अन्तेसमाहिमरणं, सिक्खासु वयाइं चत्तारि ॥ ११५ ॥

—पउमचरियं उद्देशक १४

अनुसरण किया है^१। कुन्दकुन्द विमलसूरि से तो निश्चित ही परवर्ती हैं और सम्भवतः जटासिहनन्दि से भी। अतः उनके द्वारा किया गया यह अनुसरण अस्वाभाविक भी नहीं है। स्मरण रहे कि कुन्दकुन्द ने त्रस-स्थावर के वर्गीकरण, चतुर्विध भोक्षमार्ग आदि के सम्बन्ध में भी आगमिक परम्परा का अनुसरण किया है और उनके ग्रन्थों में प्रकीर्णकों की अनेक गाथायें मिलती हैं। विमलसूरि के पउमचरियं का अनुसरण, रविषेण, स्वयम्भू आदि अनेक यापनीय आचार्यों ने किया है, अतः जटासिहनन्दि के यापनीय होने की संभावना प्रबल प्रतीत होती है।

(९) जटासिहनन्दि ने बरांगचरित के नवें सर्ग में कल्पवासी देवों के प्रकारों का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह दिगम्बर परम्परा से भिन्न है। वैमानिक देवों के भेद को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में स्पष्ट रूप से मतभेद है। जहाँ श्वेताम्बर परम्परा वैमानिक देवों के १२ विभाग मानती है वहाँ दिगम्बर, परम्परा उनके १६ विभाग मानती है। इस सन्दर्भ में जटासिहनन्दि स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर या आगमिक परम्परा के निकट हैं। वे नवें सर्ग के द्वितीय श्लोक में स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि कल्पवासी देवों के बारह भेद हैं^२। पुनः इसी सर्ग के सातवें श्लोक से नवें श्लोक तक उत्तराध्ययन सूत्र के समान उन १२ देवलोकों के नाम भी गिनाते हैं^३। यहाँ वे स्पष्ट रूप से न केवल दिगम्बर परम्परा से भिन्न होते

१. पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं ह्वंति तह तिण्णि ।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥
थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य ।
परिहरो परमहिला परिग्गहारंभ परिमाणं ॥
दिसिविदिसिमाणं पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं ।
भोगोपभोगपरिमाण इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥
सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥

—चरितपाहुड, गाथा २३-२६

२. दशप्रकारा भवनाधिपानां कृते व्यन्तरास्त्वष्टविधा भवन्ति ।
ज्योतिर्गणाश्चापि दशार्धभेदा द्विषट्प्रकाराः खलु कल्पवासाः ॥

—बरांगचरित, ९/२

३. सौधर्मकल्पः प्रथमोपदिष्ट ऐशानकल्पश्च पुनर्द्वितीयः ।
सनत्कुमारो द्युतिमांस्तृतीयो माहेन्द्रकल्पश्च चतुर्थ उक्तः ॥

हैं, बल्कि किसी सीमा तक यापनीयों से भी भिन्न प्रतीत होते हैं। यद्यपि यह सम्भावना है कि यापनीयों में प्रारम्भ में आगमों का अनुसरण करते हुए १२ भेद मानने की प्रवृत्ति रही होगी, किंतु बाद में दिगम्बर परम्परा या अन्य किसी प्रभाव से उनमें १६ भेद मानने की परम्परा विकसित हुई होगी। तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में तथा तिलोयपण्णत्ति में इन दोनों ही परम्पराओं के बीज देखे जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र का सर्वार्थसिद्धि मान्य यापनीय पाठ जहाँ देवों के प्रकारों की चर्चा करता है, वहाँ वह १२ का निर्देश करता है, किन्तु जहाँ वह उनके नामों का विवरण प्रस्तुत करता है तो वहाँ १६ नाम प्रस्तुत करता है^१। यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में भी १२ और १६ दोनों प्रकार की मान्यतायें होने का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है^२। इससे स्पष्ट लगता है कि प्रारम्भ में आगमिक मान्यता का अनुसरण करते हुए यापनीयों में और यदि जटासिंहनन्दि कूर्चक हैं तो कूर्चकों में भी कल्पवासी देवों के १२ प्रकार मानने की परम्परा रही होगी। आगे यापनीयों में १६ देवलोकों की मान्यता किसी अन्य परम्परा के प्रभाव से आयी होगी।

(१०) वरांगचरित में वरांगकुमार की दोक्षा का विवरण देते हुए लिखा गया है कि—‘श्रमण और आर्थिकाओं के समीप जाकर तथा उनका वनयोपचार (वन्दन) करके वैराग्ययुक्त वरांगकुमार ने एकान्त में जा सिन्दर आभूषणों का त्याग किया तथा गुण, शील, तप एवं प्रबुद्ध तत्त्व रूपी सम्यक् श्रेष्ठ आभूषण तथा श्वेत शुभ्र वस्त्रों को ग्रहण करके वे

ब्राह्म्यं पुनः पञ्चममाहुरार्यास्ति लान्तवं षष्ठमुदाहरन्ति ।
स सप्तमः शुक्र इति प्रहृष्टः कल्पः सहस्रार इतोऽष्टमस्तु ॥
यमानतं तन्नवमं वदन्ति स प्राणतो यो दशमस्तु वर्ण्यः ।
एकादशं त्वारणमामनन्ति तमारणं द्वादशमच्युतान्तम् ॥

—वरांगचरित, ९/७-८-९

१. दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ।

—तत्त्वार्थसूत्र (विवेचक—पं० फूलचन्द्र शास्त्री) ४/३, पृ० ११८

देखें—४।१९ में १६ कल्पों का निर्देश है ।

२. वारस कप्पा केई केई सोलस वदंति आइरिया ॥११५॥

सोहम्मीसाणसणवकुमारमाहिदबम्हल्लंतवया ।

महसुक्कसहस्सारा आणदपाणदयआरणच्चुदया ॥१२०॥

—तिलोयपण्णत्ती आठवां अधिका

जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित मार्ग में अग्रसर हुए^१। दीक्षित होते समय मात्र आभूषणों का त्याग करना तथा श्वेत शुभ्र वस्त्रों को ग्रहण करना दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाता है। इससे ऐसा लगता है कि जटासिंहनन्दि दिगम्बर परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा का अनुसरण करने वाले थे। यापनीयों में अपवाद मार्ग में दीक्षित होते समय राजा आदि का नग्न होना आवश्यक नहीं माना गया था। चूँकि वरांगकुमार राजा थे अतः सम्भव है कि उन्हें सवस्त्र ही दीक्षित होते दिखाया गया हो। यापनीय ग्रन्थ भगवतोआराधना एवं उसकी अपराजिता टीका में हमें ऐसे निर्देश मिलते हैं कि राजा आदि कुलीन पुरुष दीक्षित होते समय या संथारा ग्रहण करते समय अपवाद लिंग (सवस्त्र) रख सकते हैं^२। पुनः वरांगचरित में हमें मुनि की चर्चा के प्रसंग में हेमन्त काल में शीत-परिषह सहते समय मुनि के लिए मात्र एक बार दिगम्बर शब्द का प्रयोग मिला है^३। सामान्यतया 'विशीर्णवस्त्रा' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक स्थल पर अवश्य मुनियों को 'निरस्त्रभूषा' कहा गया है^४ किन्तु निरस्त्रभूषा का अर्थ साज-सज्जा से रहित होता है, नग्न नहीं। ये कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनपर वरांग-चरित की परम्परा का निर्धारण, करते समय गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। मैं चाहूँगा कि आगे आने वाले विद्वान् सम्पूर्ण ग्रन्थ का गम्भीरतापूर्वक आलोचन करके इस समस्या पर विचार करें।

साध्वियों के प्रसंग में चर्चा करते समय उन्हें जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को धारण करने वाली अथवा विशीर्ण वस्त्रों से आवृत्त देह वाली कहा गया

१. ततो हि गत्वा श्रमणाजिकानां समीपमम्येत्य कृतोपचाराः।

विविक्तदेशे विगतानुरागा जह्वंराङ्गयो वर भूषणानि ॥९३॥

गुणाश्च शीलानि तपांसि चैव प्रबुद्धतत्त्वाः सितशुभ्रवस्त्राः।

संगृह्य सम्यग्बरभूषणानि जिनेन्द्रमार्गाभिरता बभूवुः ॥९४॥

—वरांगचरित २९/९३-९४

२. आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महद्दिओ हिरिमं।

सिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ॥७८॥

आगे इसकी टीका देखें—'अपवादिकलिंगं सत्चेरलिंगं'

—भगवती आराधना, भाग १ अपराजित टीका पृ० ११४

३. हेमन्तकाले धृतिबद्धकक्षा दिगम्बरा ह्यध्रवकाशयोगाः।

—वरांगचरित, ३०/३२

४. २११. . . . कृतवेशलीचः।—वही ३०२

है^१। इससे भी यह सिद्ध होता है कि वरांगचरितकार जटासिहनन्दि को स्त्री दीक्षा और वस्त्र दीक्षा मान्य थी। जबकि कुन्दकुन्द स्त्री दीक्षा का स्पष्ट निषेध करते हैं^२।

(११) वरांगचरित में स्त्रियों के दीक्षा का स्पष्ट उल्लेख है^३ उसमें कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि स्त्री को उपचार से महाव्रत होते हैं, जैसा कि दिगम्बर परम्परा मानती है। इस ग्रन्थ में उन्हें तपोधना, अमितप्रभावी, गगाग्रणी, संयमनायिका जैसे सम्मानित पदों से अभिहित किया गया है^४। साध्वी वर्ग के प्रति ऐसा आदरभाव कोई श्वेताम्बर या यापनीय आचार्य ही प्रस्तुत कर सकता है। अतः इतना निश्चित है कि जटासिहनन्दि का वरांगचरित कुन्दकुन्द की उस दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं हो सकता, जो स्त्रियों की दीक्षा निषेध करती हो या उनको उपचार से ही महाव्रत कहे गये हैं, ऐसा मानती हो। कुन्दकुन्द ने सूत्र-प्राभृत गाथाक्रमांक २५ में एवं लिङ्गप्राभृत गाथाक्रमांक २० में स्त्री दीक्षा का स्पष्ट निषेध किया है, यह हम पूर्व में दिखा चुके हैं।

(१२) वरांगचरित में श्रमणों और आर्यिकाओं को वस्त्र दान की चर्चा है। यह तथ्य दिगम्बर परम्परा के विपरीत है। उसमें लिखा है कि “वह नृपति मुनि पुङ्गवों को आहारदान, श्रमणों और आर्यिकाओं को वस्त्र और अन्नदान तथा दरिद्रों को याचित दान (किमिच्छदानं) देकर कृतार्थ

१. विशीर्णवस्त्रावृतगात्रयष्ट्यस्ताः काष्ठमात्रप्रतिमा बभूवुः ।

—वरांगचरित, ३१/१३

२. (अ) इत्थीसु ण पावया भणिया ।

—सूत्रप्राभृत २५

(ब) दंसणणचरित्ते महिल्लावग्गम्मि देहि वीसट्ठो ।

पासत्थ वि ह्ठु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥

—लिंगपाहुड २०

३. (अ) नरेन्द्रपत्न्यः श्रुतिशीलभूषा...प्रतिपन्नदीक्षास्तदा बभूवुः

परिपूर्णकामाः ॥३१/१॥ दीक्षाधिराज्यश्रियमभ्युपेता... ॥३१/२॥

(ब) नरवरवनिता विमुच्य साध्वीशमुपययुः स्वपुराणि भूमिपालाः ॥२९/९९॥

(स) व्रतानि शीलान्यमृतोपमानि... ॥३१/४॥

(द) महेंद्रपत्न्यः श्रमणत्वमाप्य... ॥३१/११३॥—वरांगचरित

४. तपोवनानाममितप्रभावा गगाग्रणी संयमनायका सा ।

—वरांगचरित, ३१/६

हुआ^१।” यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि मूल श्लोक में जहाँ मुनि पुङ्गवों के लिए आहारदान का उल्लेख किया गया है, वहाँ श्रमण और आर्थिकाओं के लिए वस्त्र और अन्न (आहार) के दान का प्रयोग हुआ है। संभवतः यहाँ अचेल मुनियों के लिए ही ‘मुनिपुङ्गव’ शब्द का प्रयोग हुआ है और सचेल मुनि के लिए ‘श्रमण’। भगवती आराधना एवं उसकी अपराजित की टीका से यह स्पष्ट हो जाता है कि यापनीय परम्परा में अपवाद मार्ग में मुनि के लिए वस्त्र-पात्र ग्रहण करने का निर्देश है^२।

वस्त्रादि के संदर्भ में उपरोक्त सभी तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जटासिहनन्दि और उनका वरांगचरित भी यापनीय/कूर्चक परम्परा से सम्बद्ध रहा है।

(१३) वर्ण-व्यवस्था के संदर्भ में भी वरांगचरित के कर्ता जटासिहनन्दि का दृष्टिकोण आगमिक धारा के अनुरूप एवं अति उदार है। उन्होंने वरांगचरित के पञ्चीसवें सर्ग में जन्मना आधार पर वर्ण व्यवस्था का स्पष्ट निषेध किया है। वे कहते हैं कि वर्ण व्यवस्था कर्म-विशेष के आधार पर ही निश्चित होती है इससे अन्य रूप में नहीं^३। जातिमात्र से कोई विभ्र नहीं होता, अपितु ज्ञान, शील आदि से ब्राह्मण होता है। ज्ञान से रहित ब्राह्मण भी निकृष्ट है किन्तु ज्ञानी शूद्र भी वेदाध्ययन कर सकता है। व्यास, वसिष्ठ, कमठ, कण्ठ, द्रोण, पराशर आदि ने अपनी साधना

१. “आहारदानं मुनि पुङ्गवेभ्यो, वस्त्रान्नदानं *श्रमणाधिकाम्यः।

किमिच्छदानं खलु दुर्गतेभ्यो दत्त्वाकृतार्थो नृपतिर्बभूव ॥

—वरांगचरित, २३/९२

* (ज्ञातव्य है कि मूल में प्रूफ की अशुद्धि से श्रमण के स्थान पर श्रवण छप गया है।)

२. (अ) आपवादिक लिंगं सचेल्लिंगं.....।

—भगवती आराधना टीका, पृ० ११४

(ब) चत्तारि जणा भसं उवकप्पेति.....।

चत्तारिजणा रक्खन्ति दच्चियमुवकप्पियं तयं तेहि ।

—भगवती आराधना ६६१ एवं ६६३

३. क्रियाविशेषाद्व्यवहारमात्राह्याभिरक्षाक्वषिशिल्पभेदात् ।

शिष्टाश्च वर्णश्चित्तुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ॥

—वरांगचरित, २५/११

और सदाचार से ही ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया था^१। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्ण-व्यवस्था के सन्दर्भ में वरांगचरितकार का दृष्टिकोण उत्तराध्ययन आदि की आगमिक धारा के निकट है। पुनः इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जटासिंहनन्दि उस दिगम्बर परम्परा के नहीं हैं जो शूद्र-जलग्रहण और शूद्र-भुक्ति का निषेध करती है। इससे जटासिंहनन्दि और उनके ग्रन्थ वरांगचरित के यापनीय अथवा कूर्चक होने की पुष्टि होती है।

पाल्यकीर्ति शाकटायन और उनका शाकटायन व्याकरण

जैन परम्परा में ईसा की ९वीं में रचित शाकटायन का व्याकरण अति प्रसिद्ध है। स्वयं ग्रन्थकर्ता और टीकाकारों ने इसे 'शब्दानुशासन' नाम दिया है। इस शब्दानुशासन पर शाकटायन ने स्वयं ही अमोघवृत्ति नामक टीका लिखी है। शाकटायन का मूल नाम पाल्यकीर्ति है। शाकटायन पाल्यकीर्ति के सम्प्रदाय के सम्बन्ध में विद्वानों में पूर्व में काफी मतभेद रहा। चूँकि शाकटायन के शब्दानुशासन के अध्ययन अध्यापन की प्रवृत्ति दक्षिण में दिगम्बर परम्परा में काफी प्रचलित थी और उस पर मुनि दयापाल आदि दिगम्बर विद्वानों ने टीका ग्रन्थ भी लिखे थे, अतः दिगम्बर विद्वान् उन्हें अपनी सम्प्रदाय का मानते थे।^२ इसके विपरीत डॉ० के० पी० पाठक आदि ने शाकटायन की अमोघवृत्ति में आवश्यकनियुक्ति, छेदसूत्र और श्वेताम्बर परम्परा में मान्य कालिक ग्रन्थों का आदरपूर्वक उल्लेख देखकर उन्हें श्वेताम्बर मान लिया था।^३ किन्तु ये दोनों धारणाएँ बाद में गलत सिद्ध हुईं। अब शाकटायन पाल्यकीर्ति के द्वारा रचित स्त्री-भुक्ति प्रकरण तथा केवलभुक्ति प्रकरण के उपलब्ध हो जाने से इतना तो सुनिश्चित हो गया, कि वे दिगम्बर परम्परा के नहीं हैं। क्योंकि स्त्री

१. ज्ञानं च न ब्रह्म यतो निकृष्टः शूद्रोऽपि वेदाध्ययनं करोति ॥४२॥

विद्याक्रियाचासृणुः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत्स विप्रः ।

ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्तं तं ब्राह्मणं ब्रह्मविदो वदन्ति ॥४३॥

व्यासो वसिष्ठः कमठश्च कण्ठः शक्त्युग्दमी द्रोणपराशरौ च ।

आचारवन्तस्तपसाभियुक्ता ब्रह्मत्वमायुः प्रतिसंपदाभिः ॥४४॥

—वरांगचरित सर्ग, ५२

२. जैनसाहित्य और इतिहास, पं० नाथुराम प्रेमी पृ० १५७ ।

३. शाकटायन व्याकरणम्, सं० पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी—

की तद्भवभुक्ति और केवलिभुक्ति की मान्यताओं का दिगम्बर परम्परा स्पष्ट रूप से विरोध करती है। यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के विभाजक रेखा के रूप में यही दो सिद्धान्त प्रमुख रहे हैं। प्रसिद्ध तार्किक आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'प्रमेय-कमलमार्तण्ड' और 'न्याय कुमुदचन्द्र' में स्त्रीभुक्ति और केवलिभुक्ति का खण्डन शाकटायन के इन्हीं दो प्रकरणों को पूर्व पक्ष के रूप में रखकर किया है।^१ अतः वे दिगम्बर परम्परा के नहीं हो सकते। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा के वादि वेताल शान्तिसूरि ने अपनी उत्तराध्ययन की टीका^२ में, रत्नप्रभ ने 'रत्नाकरावतारिका'^३ में और यशोविजय के 'अध्यात्ममत-परीक्षा'^४ तथा 'शास्त्रवार्तासमुच्चय'^५ की टीका में स्त्रीभुक्ति और केवलिभुक्ति के समर्थन में इन्हीं प्रकरणों की कारिकाएँ उद्धृत की हैं, किन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि वे श्वेताम्बर थे, हाँ हम इतना अवश्य कह सकते हैं श्वेताम्बर आचार्यों ने भी स्त्रीभुक्ति और केवलिभुक्ति के अपने पक्ष के समर्थन के लिए उनकी कारिकाएँ उद्धृत करके उन्हें अपने पक्ष का समर्थक बताते हुए उनके प्रति सम्मान व्यक्त किया है। शाकटायन द्वारा स्त्रीभुक्ति और केवलिभुक्ति का समर्थन उनके यापनीय होने का सबसे बड़ा प्रमाण है।

शाकटायन पाल्यकीर्ति यापनीय थे। इस सम्बन्ध में पण्डित नाथूरामजी प्रेमी ने अपने ग्रन्थ जैनसाहित्य और इतिहास (पृ० १५७-५९) में निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं—

(१) श्वेताम्बर आचार्य मलयगिरि (लगभग ईसा की १२वीं शती) ने अपनी नन्दीसूत्र की टीका में उन्हें 'यापनीय यतिग्रामाग्रणी' बताया है।^६ मलयगिरि के इस उल्लेख से उनका यापनीय होना सिद्ध हो जाता

१. (अ) प्रमेयकमल मार्तण्ड अनु० (जिनमति) (ब) न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भाग पृ० १७७-१९९ एवं २५७-२७२ (सं० महेन्द्रकुमार त्र्यायाचार्य) पृ० ८५१-७८७
२. श्रीमन्नुत्तराध्ययनानि (देवचन्द्र लालभाई), टीका शान्तिसूरी अध्याय २६
३. रत्नाकरावतारिका ७/५७ भाग ३ पृ० ९३-१०१।
४. अध्यात्ममतपरीक्षा, यशोविजय।
५. शास्त्रवार्ता समुच्चय, टीका यशोविजय।
६. शाकटायनोऽपि यापनीय यतिग्रामाग्रणी स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तादादौ भगवतः स्तुतिमेवमाह श्री वीरमृतं ज्योतिनर्त्वाऽऽदि सर्ववैदसाम्।

—नन्दीसूत्र, मलयगिरि टीका, पृ० २३

है। पुनः उनकी कृति शाकटायन-व्याकरण से भी इसकी पुष्टि होती है, क्योंकि उसमें भी उन्हें 'यतिग्राम अग्रणी' यह विरुद (विशेषण) दिया गया है।

(२) शाकटायन पाल्यकीर्ति द्वारा रचित स्त्री-भुक्ति और केवलि-भुक्ति—ये दोनों प्रकरण शाकटायन व्याकरण के साथ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित भी हो चुके हैं। प्रथम प्रकरण में ४५ श्लोकों में स्त्री मुक्ति का समर्थन है और दूसरे प्रकरण में ३४ श्लोकों में केवली के द्वारा भोजन करने (कवलाहार) का समर्थन है। ज्ञातव्य है कि यापनीय सम्प्रदाय श्वेताम्बरों के समान ही स्त्री मुक्ति और केवलिभुक्ति को स्वीकार करता था। स्वयं हरिभद्र ने ललितविस्तरा में इन दोनों बातों के समर्थन में 'यापनीयतंत्र' को उद्धृत किया है।^१ अब यापनीयतंत्र अनुपलब्ध है। इन दोनों प्रकरणों में स्त्रीभुक्ति और केवलिभुक्ति के समर्थन के साथ-साथ अचेलकत्व का भी समर्थन पाया जाता है। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि पाल्यकीर्ति शाकटायन यापनीय थे। क्योंकि यापनीय ही एकमात्र ऐसा सम्प्रदाय था, जो एक ओर अचेलकत्व का समर्थन करता है, तो दूसरी ओर स्त्रीभुक्ति और केवलिभुक्ति का।

(३) शाकटायन ने अपने शब्दानुशासन की स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति में कालिक सूत्रों के साथ आवश्यक, छेदसूत्र, नियुक्ति आदि के अध्ययन का भी उल्लेख किया है।^२ पण्डित नाथूराम जी प्रेमी^३ के अनुसार "इन ग्रन्थों का जिस प्रकार से उल्लेख किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके सम्प्रदाय में इन ग्रन्थों के पठन-पाठन का प्रचार था। ये ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय को मान्य नहीं थे, जबकि यापनीय संघ इन ग्रन्थों को मान्य करता था। हम पूर्व में भी इस तथ्य को स्पष्ट कर चुके हैं कि इन नामों से प्रचलित वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगम ग्रन्थ यापनीय संघ में मान्य रहे हैं। वट्टकेर, इंद्रनन्दी, अपराजितसूरि आदि अनेक यापनीय आचार्यों ने इनको उद्धृत भी किया गया है।

१. देखें—ललितविस्तरा (हरिभद्र), प्रकाशक ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, पृ० ५७।

ज्ञातव्य है कि यापनीयतंत्र नामक मूलग्रंथ प्राकृत भाषा में निबद्ध था, वर्तमान में यह ग्रंथ अनुपलब्ध है।

२. देखें—सूत्राण्यधीते, नियुक्तिरधीते भाष्याण्यधीते....। शाकटायनव्याकरणम्, अमोघवृत्ति ४।४।१४० और भी देखें १।२।२०३-२०४।

३. जैन साहित्य और इतिहास, पं० नाथूराम जी प्रेमी पृ० १५८।

शाकटायन के द्वारा इन ग्रन्थों का अपनी परम्परा के ग्रन्थों के रूप में उल्लेख यही सूचित करता है कि वे दिगम्बर न होकर यापनीय परम्परा के थे ।

(४) अमोघवृत्ति में शाकटायन ने सर्वगुप्त को सबसे बड़ा व्याख्याता बतलाया है,^१ ये सर्वगुप्त वही जान पड़ते हैं जिनके चरणों में बैठकर आराधना के कर्ता शिवार्य ने सूत्र और अर्थ को अच्छी तरह से समझा था । यह हम पूर्व में ही सिद्ध कर चुके हैं कि शिवार्य और उनकी भगवती आराधना यापनीय परम्परा से संबद्ध है । शाकटायन द्वारा शिवार्य के गुरु का श्रेष्ठ व्याख्याता के रूप में उल्लेख भी यही सूचित करता है कि वे भी यापनीय थे ।

(५) शाकटायन को 'श्रुतकेवलिदेशीयाचार्य' कहा गया है ।^२ इस सम्पूर्ण पद का अर्थ है श्रुतकेवली तुल्य आचार्य । पाणिनि (५/३/६७) के अनुसार देशीय शब्द तुल्यता का बोधक है । श्रुतकेवली का विरुद्ध दिगम्बर परम्परा के अनुसार उन्हें प्रदान नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब श्रुत ही समाप्त हो गया तो कोई श्रुतकेवली कैसे हो सकता है ? श्वेताम्बर और यापनियों में ऐसी पदवियाँ दी जाती थीं, जैसे हेमचन्द्र को कलिकालसर्वज्ञ कहा जाता था । इसी प्रकार उन्हें यतिग्रामअग्रणी भी कहा गया है यह विरुद्ध भी सामान्यतया श्वेताम्बर और यापनियों में ही प्रचलित था । दिगम्बर परम्परा में यापनियों के प्रभाव के कारण ही मुनि के लिए यति (प्राकृत—जदि) विरुद्ध प्रचलित हुआ है । हम यह पूर्व में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि 'यति' विरुद्ध भी उनके यापनीय होने का प्रमाण है । मलयगिरि द्वारा नन्दीसूत्र टीका में उन्हें यापनीय यतिग्राम-अग्रणी कहना इसकी पुष्टि करता है ।^३

शाकटायन के शब्दानुशासन की यापनीय टीकाएँ :

शाकटायन के शब्दानुशासन पर सात टीकाएँ उपलब्ध होती हैं उनमें अमोघवृत्त और शाकटायन-न्यास महत्त्वपूर्ण है । अमोघवृत्ति के लेखक स्वयं शाकटायन ही है, अतः यह शब्दानुशासन की स्वोपज्ञ टीका

१. उपसर्वगुप्त व्याख्यातारः—शाकटायन व्याकरणम्, अमोघवृत्ति १।३।१०४ ।

२. देखे—शाकटायन व्याकरणम् (सं० पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी) Introduction Page. 17. एवं जैनसाहित्य और इतिहास पृ० १५९ ।

३. नन्दीसूत्र मलयगिरि टीका पृ० २३ ।

कही जा सकती है। यह ई० सन् ८१४ ई० से सन् ८६७ के बीच कभी लिखी गई थी।

पण्डित नाथूराम जी प्रेमी ने इस सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की है।^१ यह अमोघवृत्ति अमोघवर्ष नामक शासक के सम्मान में लिखी गई है। कडब के दानपत्र शक सं० ७३५ अर्थात् ई० सन् ८१३ में यापनीय नन्दिसंघपुण्णागवृक्षमूलगुण के अर्ककीर्ति नामक आचार्य का उल्लेख है।^२ अर्ककीर्ति के गुरु का नाम विजयकीर्ति और प्रगुरु का नाम श्री कीर्ति बताया गया है। पं० नाथूरामजी प्रेमी ने यह सम्भावना प्रकट की है कि शाकटायन पाल्यकीर्ति इसी परम्परा के थे और आश्चर्य नहीं कि वे अर्ककीर्ति के शिष्य या उनके सधर्मा हों।^३

आन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर अमोघवृत्ति के यापनीय होने के सन्दर्भ में हम पूर्व में ही सूचित कर चुके हैं।^४ अमोघवृत्ति पर प्रभाचन्द्र का न्यास है। यद्यपि यह ग्रंथ आज पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है, फिर भी इतना सुस्पष्ट है कि इसके कर्ता प्रभाचन्द्र हैं और वे प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से भिन्न हैं। हमने आगे यह बताने का प्रयास किया है कि ये प्रभाचन्द्र सोदत्ति के लगभग ई० सन् ९८० के अभिलेख में उल्लेखित यापनीय संघ और कण्डूरगण के प्रभाचन्द्र ही हैं। न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र को न्यास का कर्ता मानना भ्रातिपूर्ण है। इस अभिलेख में यापनीय कण्डूरगण का स्पष्ट उल्लेख है।^५ अतः इनका यापनीय होना निर्विवाद है। इस प्रकार शाकटायन के शब्दानुशासन पर लिखी गई स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति और न्यास दोनों ही यापनीय परम्परा के ग्रन्थ सिद्ध होते हैं। यह स्वाभाविक भी है कि यापनीय प्रभाचन्द्र अपनी ही परम्परा के शाकटायन की कृति पर टीका लिखे। इन्हीं यापनीय प्रभाचन्द्र का एक ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र भी है उसमें इन्होंने बृहत्प्रभाचन्द्र (लगभग ई० सन् ९८०) कहा गया है, क्योंकि ये न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र (ई० सन् १०००) से पूर्ववर्ती एवं ज्येष्ठ थे।

१. जैनसाहित्य और इतिहास, पं० नाथूराम जी प्रेमी पृ० १६१
२. जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेख क्रमांक १२४।
३. जैन साहित्य और इतिहास, पं० नाथूराम जी प्रेमी पृ० १६७।
४. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, डॉ० सागरमल्ल जैन पृ० २०७
५. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ लेख क्रमांक १६०।

शाकटायन के स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति प्रकरण^१

शाकटायन के इन दोनों ग्रन्थों के संदर्भ में हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं। स्त्रीमुक्ति प्रकरण में स्त्रीमुक्ति का समर्थन ४६ श्लोकों में और केवलिभुक्ति प्रकरण में केवलिभुक्ति का समर्थन ३७ श्लोकों में किया गया है। यह स्पष्ट है कि ये दोनों मान्यताएँ दिगम्बर परम्परा से भिन्न हैं तथा श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा को हैं। यापनीय अचेलता के साथ-साथ स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति को भी स्वीकार करते थे। इन ग्रन्थों में एक ओर अचेलता का समर्थन किया गया है तो दूसरी ओर स्त्री-मुक्ति और केवलिभुक्ति का भी समर्थन किया है। अतः इनको यापनीय मानने से कोई आपत्ति नहीं आती है।

शाकटायन स्त्रीमुक्ति प्रकरण में मुनि के लिये अपवाद मार्ग में और स्त्री के लिये उत्सर्ग मार्ग में वस्त्र ग्रहण को स्वीकार करते हैं और यह बताते हैं ऐसी स्थिति में सवस्त्र स्त्री को स्थविर आदि के समान मुक्ति सम्भव है। वे लिखते हैं कि जिन शासन में स्त्रियों की चर्चा वस्त्र के बिना नहीं कही गई है और पुरुष की चर्चा बिना वस्त्र के कही गई है। वे आगे कहते हैं कि स्थविर (सवस्त्र मुनि) के समान सवस्त्र स्त्री की भी मुक्ति सम्भव है। यदि सवस्त्र होने के कारण स्त्री की मुक्ति स्वीकार नहीं करेंगे तो फिर अर्श, भगन्दर आदि रोगों में और उपसर्ग की अवस्था में सर्वत्र मुनि की भी मुक्ति सम्भव नहीं होगी।^२

इस चर्चा से स्पष्ट रूप से दो मुख्य बातें सिद्ध होती हैं। प्रथम तो यह कि मुनि के लिये उत्सर्ग में अचेलता और अपवाद मार्ग में सचेलता तथा स्त्री के लिये उत्सर्ग मार्ग में भी सचेलता उन्हें मान्य है। इससे ही वे सवस्त्र की मुक्ति भी स्वीकार करते हैं। अतः शाकटायन का यापनीय होना निर्विवाद है क्योंकि यह मान्यता मात्र यापनीयों की है।

१. ये दोनों ग्रंथ शाकटायन व्याकरणम्, सम्पादक—पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ (मूर्तिदेवी ग्रंथमाला ग्रंथांक ३९) के अन्तर्गत परिशिष्ट के रूप में ग्रन्थ की भूमिका के पश्चात् छपे हैं।

२. वस्त्र विना न चरणं स्त्रीणामित्यर्हतीच्यत, विनाऽपि ।
पुंसांमिति न्यवार्थत, तत्र स्थविरादिवद् मुक्तिः ॥
अर्शाभगन्दरादिषु गृहीतचीरो यतिर्न मुच्यते ।
उपसर्गो वा चीरेग्गदादिः संन्यस्यते चात्ते ॥

—स्त्रीमुक्ति प्रकरण, कारिका, १६-१७ ४

प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र

आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र से तो हम सभी परिचित हैं किन्तु आचार्य प्रभाचन्द्र का एक अन्य तत्त्वार्थसूत्र भी है, इसे बहुत कम लोग जानते हैं। इसे प्रारम्भ में 'दस सूत्र' और अन्त में 'जिनकल्पीसूत्र'^२—ऐसा नाम दिया गया है, किन्तु प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में सामान्यतया बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र ऐसा नाम मिलता है।^३ दसवें अध्याय के अन्त में तत्त्वार्थसारसूत्र ऐसा नाम-निर्देश भी हुआ।^४ ग्रन्थ की विषय-वस्तु का विभाजन और अध्याय का क्रम वही है जो तत्त्वार्थसूत्र का है। यह सुनिश्चित है कि इसकी रचना तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर हुई है कुछ सूत्रों की तो तत्त्वार्थसूत्र से समरूपता भी है। इसका एक नाम तत्त्वार्थ-सारसूत्र है जो अधिक सार्थक जान पड़ता है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र की विषय-वस्तु को ही इसमें अति संक्षेप में निरूपित करने का प्रयत्न किया गया है। तत्त्वार्थ की अपेक्षा इसकी सूत्र-संख्या बहुत ही कम है, इसमें मात्र १०७ सूत्र हैं जबकि तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य पाठ में ३५७ सूत्र और श्वेताम्बर मान्य पाठ में ३४४ सूत्र हैं। दससूत्र—यह नाम इसके दस अध्ययनों के आधार पर दिया गया प्रतीत होता है। दिगम्बर परम्परा में उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र को भी दससूत्र कहा जाता है। इसका अन्तिम नाम जिनकल्पीसूत्र विशेष महत्त्वपूर्ण है। ऐसा स्वयं जुगल किशोर जी मुख्तार ने इसकी भूमिका में माना है। मेरी दृष्टि में भी यह नाम इसके सम्प्रदाय के निर्धारण में बहुत उपयोगी है।

इसके रचयिता प्रभाचन्द्र हैं, किन्तु उनके नाम के साथ बृहत् विशेषण लगा हुआ है। यह विचारणीय है कि ये प्रभाचन्द्र कौन हैं, कब हुए और किस परम्परा के हैं? यहाँ बृहत् शब्द का अर्थ बड़ा, प्राचीन या पूर्ववर्ती ही अभिप्रेत है। अब यह प्रमाणित हो चुका है कि प्रमेयकमल-भार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र (लगभग १०२० ई०) के पूर्व

१. "ॐ नमः सिद्धं । अथ दशसूत्रं लिख्यते"—तत्त्वार्थसूत्र, सम्पादक जुगल-किशोर मुख्तार, प्रकाशन वीर सेवा मन्दिर, सहारनपुर, पृ० १२ ।
२. "इति जिनकल्पिसूत्रं समाप्तम्"—वही, पृ० १६ ।
३. "इति श्री बृहत्प्रभाचन्द्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे प्रथमोऽध्यायः"—वही, पृ० २३ ।
४. "इति श्री बृहत्प्रभाचन्द्रविरचिते तत्त्वार्थसारे सूत्रे दशमोऽध्यायः"—वही, पृ० ५२ ।

यापनीय सम्प्रदाय के कण्डूरगण के एक अन्य प्रभाचन्द्र (लगभग ९८० ई०) का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ये प्रभाचन्द्र आगम और व्याकरण के विशिष्ट विद्वान् थे इनका समय ईसा की दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है।^१ पुनः यापनीय कण्डूरगण के इन प्रभाचन्द्र का काल शक सम्वत् ९०२ या ईस्वी सन् ९८० है, जबकि न्याय कुमुदचन्द्र के कर्ता का काल आदरणीय महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने लगभग ईस्वी सन् १०२० माना है।^२ इससे यापनीय संघ के कण्डूरगण के ये प्रभाचन्द्र उनसे पूर्ववर्ती या वयोवृद्ध-समकालीन सिद्ध होंगे, अतः उनके साथ लगा यह बृहद् विशेषण भी सम्भक् है। ये शाकटायन न्यास एवं प्रतिक्रमण के टीकाकार भी हैं पूज्यपाद ने भी प्रभाचन्द्र के एक सूत्र को अपने जैनेन्द्र व्याकरण में उद्धृत किया है। उससे ऐसा लगता है कि पूज्यपाद के पूर्व भी एक प्रभाचन्द्र हुए हैं, जो व्याकरण के विद्वान् थे। इनका समय पूज्यपाद के पूर्व ही रहा होगा। किन्तु अभिलेख में उल्लेखित यापनीय कण्डूरगण के प्रभाचन्द्र और ये प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति नहीं हो सकते हैं। पूज्यपाद छठीं शती पूर्व हुए हैं ऐसी स्थिति में तो दोनों प्रभाचन्द्र भिन्न काल के होंगे और भिन्न व्यक्ति होंगे। मेरी दृष्टि में यह तत्त्वार्थसूत्र यापनीय प्रभाचन्द्र का ही होना चाहिए। इसमें षोडश स्वर्गों का उल्लेख एवं 'सत्त्वं द्रव्य लक्षणम्' सूत्र होने के कारण यह प्रति श्वेताम्बर परम्परा से तो निश्चित ही भिन्न परम्परा की है, किन्तु इसकी विषय-वस्तु में ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे इसे यापनीय परम्परा का मानने में कोई बाधा उत्पन्न हो। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र के सम्बन्ध में मैंने सिद्ध किया है कि दिगम्बर परम्परा में गृहीत मूलपाठ यापनीय परम्परा से लिया गया है और प्रभाचन्द्र का यह तत्त्वार्थसूत्र भी सामान्यतया दिगम्बर परम्परा में मान्य उसी यापनीय पाठ का अनुसरण कर रहा है। इसके अन्त में दिया गया जिनकल्पिसूत्र विशेषण इसके यापनीय होने का प्रमाण दे देता है। क्योंकि यापनीय श्वेताम्बरों के समान स्थविरकल्प और जिनकल्प दोनों को मान्य करके भी जिनकल्प पर विशेष बल देते हैं। यापनीय ग्रन्थ भगवती आराधना एवं मूलाचार में जिनकल्प और स्थविरकल्प के उल्लेख पाये जाते हैं,^३ इससे यही सिद्ध होता है कि इस तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता प्रभाचन्द्र यापनीय

१. जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेखक्रमांक १६०।

२. न्यायकुमुदचन्द्रः प्रथमोभागः (पण्डित महेन्द्र कुमार, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला, बम्बई) भूमिका, पृ० १२३।

३. भगवती आराधना १५७

सम्प्रदाय के रहे होंगे। क्योंकि दिगम्बर परम्परा के आचार्य तो जिनकल्प और स्थविर कल्प ऐसी मान्यता को ही स्वीकार नहीं करते हैं। इससे तत्त्वार्थसूत्र का यापनीय प्रभाचन्द्र की कृति होना मुनिश्चित होता है। इनके साथ लगा हुआ बृहद् विशेषण भी इन्हें न्याय मुकुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से पूर्ववर्ती सिद्ध करता है इसकी पुष्टि अभिलेखनीय साक्ष्य से हो जाती है।

विमलसूरि और उनका पउमचरियं

क्या विमलसूरि का पउमचरियं यापनीय है ?

विमलसूरि और उनके ग्रन्थ पउमचरियं के सम्प्रदाय सम्बन्धी प्रश्न को लेकर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। जहाँ श्वेताम्बर^१ और विदेशी विद्वान्^२ पउमचरियं में उपलब्ध अन्तः साक्ष्यों के आधार पर उसे श्वेताम्बर परम्परा का बताते हैं, वहीं पउमचरियं के श्वेताम्बर परम्परा के विरोध में जानेवाले कुछ तथ्यों को उभार कर कुछ दिगम्बर विद्वान् उसे दिगम्बर या यापनीय सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।^३ वास्तविकता यह है कि विमलसूरि के पउमचरियं में सम्प्रदायगत मान्यताओं की दृष्टि से यद्यपि कुछ तथ्य दिगम्बर परम्परा के पक्ष में जाते हैं, किन्तु अधिकांश तथ्य श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में ही जाते हैं। जहाँ हमें सर्वप्रथम इन तथ्यों की समीक्षा कर लेनी होगी। प्रो० बी० एम० कुलकर्णी ने जिन तथ्यों का संकेत प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी से प्रकाशित 'पउमचरियं' की भूमिका में किया है, उन्हीं के आधार पर यहाँ हम यह चर्चा प्रस्तुत करने जा रहे हैं।^४

पउमचरियं की दिगम्बर परम्परा से निकटता सम्बन्धी कुछ तथ्य—

(१) कुछ दिगम्बर विद्वानों का कथन है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सामान्यतया किसी ग्रन्थ का प्रारम्भ—'जम्बू स्वामी के पूछने पर सुधर्मा स्वामी ने कहा',—इस प्रकार से होता है, आगमों के साथ-साथ कथा ग्रन्थों में यह पद्धति मिलती है, इसका उदाहरण संघदासगणि की बदेवसु हिण्डी है। किन्तु वसुदेवहिण्डी में जम्बू ने प्रभव को कहा—ऐसा भी

१. पउमचरियं भाग-१, इण्ट्रोडक्शन पेज १८, फुटनोट न० २।

२. वही,

३. देखें, पद्यपुराण (रविषेण), भूमिका, डॉ० पन्नालाल जैन, पृ० २२-२३।

४. पउमचरियं, इण्ट्रोडक्शन (बी० एम० कुलकर्णी), पेज १८-२२।

उल्लेख है।^१ जबकि दिगम्बर परम्परा के कथा ग्रन्थों में सामान्यतया श्रेणिक के पूछने पर गौतम गौतम गणधर ने कहा—ऐसी पद्धति उपलब्ध होती है। जहाँ तक पउमचरियं का प्रश्न है उसमें निश्चित ही श्रेणिक के पूछने पर गौतम ने रामकथा कही ऐसी ही पद्धति उपलब्ध होती है।^२ किन्तु मेरी दृष्टि में इस तथ्य को पउमचरियं के दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि पउमचरियं में स्त्री-मुक्ति आदि ऐसे अनेक ठोस तथ्य हैं, जो श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में ही जाते हैं। यह संभव है कि संघभेद के पूर्व उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ परम्परा में दोनों ही प्रकार की पद्धतियाँ समान रूप से प्रचलित रही हों और बाद में एक पद्धति का अनुसरण श्वेताम्बर आचार्यों ने किया हो और दूसरी का दिगम्बर एवं यापनीय आचार्यों ने किया हो। यह तथ्य विमलसूरी की परम्परा के निर्धारण में बहुत अधिक सहायक इसीलिए भी नहीं होता है, कि प्राचीन काल में, श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों में, ग्रन्थ प्रारंभ करने की अनेक शैलियाँ प्रचलित रही हैं। दिगम्बर परम्परा में विशेष रूप से यापनियों में जम्बू और प्रभव से भी कथा परम्परा के चलने का उल्लेख तो स्वयं पद्मचरित में ही मिलता है। वही क्रम श्वेताम्बर ग्रन्थ वसुदेव-हिण्डी में भी है।^३ श्वेताम्बर परम्परा में भी कुछ ऐसे भी आगम ग्रन्थ हैं, जिनमें किसी श्राविका के पूछने पर श्रावक ने कहा—इससे ग्रन्थ का प्रारम्भ किया गया है। देविन्दत्थव नामक प्रकीर्णक में श्रावक-श्राविका के संवाद के रूप में ही उस ग्रन्थ का समस्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।^४ आचारांग में शिष्य की जिज्ञासा समाधान हेतु गुरु के कथन से ही ग्रन्थ का प्रारम्भ हुआ है।^५ उसमें जम्बू और सुधर्मा के संवाद का कोई

१. ति तस्सेव पभवो कहेयव्वो, तप्पभवस्स य पभवस्स त्ति । वसुदेवहिण्डी (संघदासगणि), गुजरात साहित्य अकादमी, गाँधीनगर, पृ० २।

२. तह इन्दभूदकहियं, सेणियरणस्स नीसेसं ।—पउमचरियं १, ३३

३. वद्धमानजिनेन्द्रोवतः सोऽयमर्थो गणेश्वरं ।

इन्द्रभूर्ति परिप्राप्तः सुधर्मं धारिणीभवम् ॥

प्रभवं क्रमतः कीर्ति ततोनुत्तरवाग्मिनं ।

लिखितं तस्य संप्राप्य रवेर्यत्नोयमुद्गतः ॥

—पद्मचरित १/४१-४२ पर्व १२३/१६६

४. देविदत्थओ (दवेन्द्रस्त्व, सम्पादक—प्रो० सागरमल जैन, आगम-अहिंसा-समता-प्राकृत संस्थान, उदयपुर) गाथा क्रमांक—३, ७, ११, १३, १४ ।

५. सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खार्यं ।—आचारांग (सं० मधुकर मुनि), १।१।१।१

संकेत भी नहीं है। इससे यही फलित होता है कि प्राचीनकाल में ग्रन्थ का प्रारम्भ करने की कोई एक निश्चित पद्धति नहीं थी। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवयांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दो, अनुयोगद्वार, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प आदि अनेक ग्रन्थों में भी जम्बू और सुधर्मा के संवाद वाली पद्धति नहीं पायी जाती है। पद्धतियों की एकरूपता और विशेष सम्प्रदाय द्वारा विशेष पद्धति का अनुसरण यह एक परवर्ती घटना है। जबकि पउमचरियं अपेक्षाकृत एक प्राचीन रचना है।

२—दिगम्बर विद्वानों ने पउमचरियं में महावीर के विवाह के अनुल्लेख (पउमचरियं २।२८-२९ एवं ३।५७-५८) के आधार पर उसे अपनी परम्परा के निकट बताने का प्रयास किया है। किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्रथम तो पउमचरियं में महावीर का जीवन-प्रसंग अति संक्षिप्त रूप से वर्णित है अतः महावीर के विवाह का उल्लेख न होने से उसे दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं माना जा सकता है। स्वयं श्वेताम्बर परम्परा के कई प्राचीन ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें महावीर के विवाह के उल्लेख नहीं है। पं० दलसुखभाई मालवर्णिष्या ने स्थानांग एवं समवायांग के टिप्पण में लिखा है^१ कि भगवती सूत्र के विवरण में महावीर के विवाह का उल्लेख नहीं मिलता है। विवाह का अनुल्लेख एक अभावात्मक प्रमाण है, जो अकेला निर्णायक नहीं माना जा सकता, जबतक कि अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं हो जावे कि पउमचरियं दिगम्बर या यापनीय ग्रन्थ है।

३—पुनः पउमचरियं में महावीर के गर्भ-परिवर्तन का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु मेरी दृष्टि से इसका कारण भी उसमें महावीर की कथा को अत्यंत संक्षेप में प्रस्तुत करना है। पुनः यहाँ भी किसी अभावात्मक तथ्य के आधार पर ही कोई निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न होगा, जो कि तार्किक दृष्टि से समुचित नहीं है।

४—पउमचरियं में पाँच स्थावरकार्यों^२ के उल्लेख के आधार पर भी उसे दिगम्बर परम्परा के निकट बताने का प्रयास किया गया है, किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि स्थावरों की संख्या तीन मानी गई है अथवा पाँच, इस आधार पर ग्रन्थ के श्वेताम्बर या दिगम्बर परम्परा का होने का निर्णय करना संभव नहीं है, क्योंकि दिगम्बर परम्परा में जहाँ कुन्दकुन्द ने

१. पउमचरियं, इण्ड्रोडक्सन, पृष्ठ १९ का फुटनोट क्र० १।

२. पउमचरियं, २/६५ एवं २/९३।

पंचास्तिकाय (१११) में तीन स्थावरों की चर्चा की है, वहीं अन्य आचार्यों ने पाँच की चर्चा की है। इसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में भी, तीन स्थावरों को तथा पाँच स्थावरों की—दोनों मान्यताएँ उपलब्ध होती हैं। अतः ये तथ्य विमलसूरि और उनके ग्रन्थ की परम्परा के निर्णय का आधार नहीं बन सकते। इस तथ्य की विशेष चर्चा हमने तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के प्रसंग में की है, साथ ही एक स्वतन्त्र लेख भी श्रमण अप्रैल-जून ९३ में प्रकाशित किया है, पाठक इसे वहाँ देखें।

५—कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पउमचरियं में १४ कुलकरो की अवधारणा पायी जाती है।^१ दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य ग्रन्थ तिलोपपणत्ति में भी १४ कुलकरो की अवधारणा का समर्थन देखा जाता है^२ जबकि श्वेताम्बर मान्य जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति १५ कुलकरो की चर्चा करती है^३ अतः यह ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा का होना चाहिये। किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिये कि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में अन्तिम कुलकर के रूप में ऋषभ का उल्लेख है। ऋषभ के पूर्व नाभिराय तक १४ कुलकरो की अवधारणा ती दोनों परम्पराओं में समान है। अतः यह अन्तर ग्रन्थ के सम्प्रदाय के निर्धारण में महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता है। पुनः जो कुलकरो के नाम पउमचरियं में दिये गये है उनका जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और तिलोपपणत्ति दोनों से ही कुछ अंतर है।

६—पउमचरियं के १४ वें अधिकार की गाथा ११५ में समाधिमरण को चार शिक्षाव्रतों के अन्तर्गत परिगणित किया गया है,^४ किन्तु

१. पउमचरियं ३/५५-५६
२. तिलोपपणत्ति, महाधिकार गाथा-४२१ (जोवराज ग्रन्थमाला शोलापुर) ।
३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २ ।
४. पंच य अणुव्वयाइं तिण्णेव गुणव्वयाइं भणियाइं ।
सिक्खाव्वयाणि एतो चत्तारि जिणोवइद्दाणि ॥
थूलयरं पाणिवहं मूसावार्यं अदत्तदाणं च ।
परजुवईण निवित्ती संतोसवयं च पंचमयं ॥
दिसिविदिसाण य नियमो अणत्थदंडस्स वज्जणं चव ।
उपभोगपरीमाणं तिण्णेव गुणव्वया एए ॥
सामाइयं च उववास-पोसहो अतिहिसंविभागो य ।
अंते समाहिमरणं सिक्खासुवयाइ चत्तारि ॥

—पउमचरियं १४/११२-११५

श्वेताम्बर आगम उपासकदशा में समाधिमरण का उल्लेख शिक्षाव्रतों के रूप में नहीं हुआ है। जबकि दिगम्बर परम्परा के कुन्दकुन्द आदि कुछ आचार्य समाधिमरण को १२ वें शिक्षाव्रत के रूप में अंगीकृत करते हैं।^१ अतः पउमचरियं दिगम्बर परंपरा से सम्बद्ध होना चाहिये। इस सन्दर्भ में मेरी मान्यता यह है कि गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों के नाम एवं उनके क्रम के सन्दर्भ में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में एकरूपता का अभाव पाया जाता है^२ दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ का अनुसरण करने वाले दिगम्बर आचार्य भी समाधिमरण को शिक्षाव्रतों में परिग्रहित नहीं करते हैं। जबकि कुन्दकुन्द ने उसे शिक्षाव्रतों में परिग्रहित किया है। जब दिगम्बर परम्परा ही इस प्रश्न पर एकमत नहीं है तो फिर इस आधार पर पउमचरियं की परम्परा का निर्धारण कैसे किया जा सकता है? साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्थिरीकरण के पूर्व निर्ग्रन्थ परम्परा में विभिन्न धारणाओं की उपस्थिति एक सामान्य बात है थी। अतः इस ग्रन्थ के सम्प्रदाय का निर्धारण करने में व्रतों के नाम एवं क्रम सम्बन्धी मतभेद सहायक नहीं हो सकते।

७—पउमचरियं में अनुदिक् का उल्लेख हुआ है।^३ श्वेताम्बर आगमों में अनुदिक् का उल्लेख नहीं है, जबकि दिगम्बर ग्रन्थ (यापनीय ग्रन्थ)

१. पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि ।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥
थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य ।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभ परिमाणं ॥
दिसविदिसमाणपहमं अणत्थदण्डस्स वज्जणं बिदियं ।
भोगोपभोगपरिमाण इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥
सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
तीइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥

—चारित्तपाहुड २२-२६

ज्ञातव्य है कि जटासिंह नन्दी ने भी वराङ्गचरित सर्ग २२ में विमलसूरि का अनुसरण किया है।

२. देखिए, जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (ले० डॉ० सागरमल जैन) भाग-२, पृ० सं० २७४
३. पउमचरियं, १०२/१४५

षट्खण्डागम एवं तिलोपपण्णत्ती में इसका उल्लेख पाया जाता है।^१ किन्तु मेरी दृष्टि में प्रथम तो यह भी पउमचरियं के सम्प्रदाय निर्णय के लिए महत्वपूर्ण साक्ष्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अनुदिक् को अवधारणा से श्वेताम्बरों का भी कोई विरोध नहीं है। दूसरे जब अनुदिक् शब्द स्वयं आचारांग में उपलब्ध है^२ तो फिर हमारे दिगम्बर विद्वान् यह कैसे कह देते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में अनुदिक् की अवधारणा नहीं है।

८—पउमचरियं में दीक्षा के अवसर पर ऋषभ द्वारा वस्त्रों के त्याग का उल्लेख मिलता है।^३ इसी प्रकार से भरत द्वारा भी दीक्षा ग्रहण करते समय वस्त्रों के त्याग का उल्लेख है।^४ किन्तु यह दोनों सन्दर्भ भी पउमचरियं के दिगम्बर या यापनीय होने के प्रमाण नहीं कहे जा सकते। क्योंकि श्वेताम्बर मान्य ग्रन्थों में भी दीक्षा के अवसर पर वस्त्राभूषण त्याग का उल्लेख तो मिलता ही है।^५ यह भिन्न बात है कि श्वेताम्बर ग्रन्थों में उस वस्त्र त्याग के बाद कहीं देवदुष्य का ग्रहण भी दिखाया जाता है।^६ ऋषभ, भरत, महावीर आदि अचेलकता तो स्वयं श्वेताम्बरों को भी मान्य है। अतः पं० परमानन्द शास्त्री का यह तर्क ग्रन्थ के दिगम्बरत्व का प्रमाण नहीं माना जा सकता है।^७

(९) पं० परमानन्द शास्त्री के अनुसार पउमचरियं में नरकों की संख्या का जो उल्लेख मिलता है वह आचार्य पूज्यपाद के सर्वार्थसिद्धिमान्य तत्त्वार्थ के पाठ के निकट है, जबकि श्वेताम्बर भाष्य-मान्य तत्त्वार्थ के मूलपाठ में यह उल्लेख नहीं है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्य एवं अन्य श्वेताम्बर

१. पउमचरियं, इण्ट्रोडक्शन पेज १९; पद्मपुराण, भूमिका (पं० पन्नालाल), पृ० ३०।

२. जो इमाओ (दिमाओ) अणुदिमाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणु-दिसाओ, सोऽहं ।—आचारांग १।१।१।१, शीलांकटोका, पृ० १९।

(ज्ञातव्य है कि मूल पउमचरियं में केवल 'अनुदिमाइ' शब्द है जो कि आचारांग में उसी रूप में है। उससे नौ अनुदिशाओं की कल्पना दिखाकर उसे श्वेताम्बर आगमों में अनुपस्थित कहना उचित नहीं है।)

३. देखिए, पउमचरियं ३/१३५-३६;

४. पउमचरियं, ८३/५

५. मुक्कं वासोजुयलं****।—चउपन्नमहापुरिसचरियं, पृ० २७३।

६. एगं देवदूसमादाय*****पव्वइए ।—कल्पसूत्र ११४

७. पउमचरियं भाग-१ (इण्ट्रोडक्शन पेज १९, फुटनोट ५)

आगमों में इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होने से इसे भी निर्णायक तथ्य नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार नदियों का विवरण तथा भरत और ऐरावत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का विभाग आदि तथ्यों को भी ग्रंथ के दिगम्बरत्व के प्रमाण हेतु प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु ये सभी तथ्य श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी उल्लेखित हैं^१ अतः ये तथ्य ग्रन्थ के दिगम्बरत्व या श्वेताम्बरत्व के निर्णायक नहीं कहे जा सकते। मूल परम्परा के एक होने से अनेक बातों में एकरूपता का होना तो स्वाभाविक ही है। पुनः षट्खण्डागम, तिलोयपण्णति तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बर टीकायें पउमचरियं से परवर्ती है अतः उनमें विमलसूरि के पउमचरियं का अनुसरण देखा जाना आश्चर्यजनक नहीं है किन्तु इनके आधार पर उसकी परम्परा को निश्चित नहीं किया जा सकता है। पूर्ववर्ती ग्रन्थ के आधार पर परवर्ती ग्रन्थ की परम्परा का निर्धारण तो सम्भव है किन्तु परवर्ती ग्रन्थ के आधार पर पूर्ववर्ती ग्रन्थ को परम्परा को निश्चित नहीं को जा सकती है। पुनः पउमचरियं में तीर्थकर माता के १४ स्वप्न, तीर्थकर नाम कर्मबन्ध के बीस कारण, चक्रवर्ती की रानियों की ६४००० संख्या, महावीर के द्वारा मेरुकम्पन, स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट उल्लेख आदि अनेक ऐसे तथ्य हैं जो स्त्री मुक्ति निषेधक दिगम्बर परम्परा के विपक्ष में जाते हैं। विमलसूरि के सम्पूर्ण ग्रन्थ में दिगम्बर शब्द का अनुल्लेख और सियम्बर शब्द का एकाधिक बार उल्लेख होने से उसे किसी भी स्थिति में दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

आयें अब इसी प्रश्न पर श्वेताम्बर विद्वानों के मन्तव्य पर भी विचार करें और देखें कि क्या वह श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ हो सकता है ?

पउमचरियं के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं—

१—विमलसूरि ने लिखा है कि 'जिन' के मुख से निर्गत अर्थरूप वचनों को गणधरों ने धारण करके उन्हें ग्रन्थरूप दिया—इस तथ्य को मुनि कल्याणविजय जी ने श्वेताम्बर परम्परा सम्मत बताया है। क्योंकि श्वे० परम्परा की निर्युक्ति में इसका उल्लेख मिलता है।^१

२—पउमचरियं (२/२६) में महावीर के द्वारा अँगूठे से मेरु र्वत को

१, 'जिणवरमुहायो अत्थो सो गणहेरहि धरिउं । आवश्यक निर्युक्ति १/१०

२. देखें—पद्मपुराण (आचार्य रविशेख), प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सम्पादकीय, पृ० ७ ।

कम्पित करने की घटना का भी उल्लेख हुआ है, यह अवधारणा भी श्वेताम्बर परम्परा में बहु प्रचलित है।

३—पउमचरियं (२/३६-३७) में यह भी उल्लेख है कि महावीर केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भव्य जीवों को उपदेश देते हुए विपुलाचल पर्वत पर आये, जबकि दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर ने ६६ दिनों तक मौन रखकर विपुलाचल पर्वत पर अपना प्रथम उपदेश दिया। डा० हीरालाल जैन एवं डा० उपाध्ये ने भी इस कथन को श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में माना है।^१

४—पउमचरियं (२/३३) में महावीर का एक अतिशय यह पाना गया है कि वे देवों के द्वारा निर्मित कमलों पर पैर रखते हुए यात्रा करते थे। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में प्रमाण माना है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह कोई महत्त्वपूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यापनीय आचार्य हरिषेण एवं स्वयम्भू आदि ने भी इस अतिशय का उल्लेख किया है।

५—पउमचरियं (२/८२) में तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति के बन्ध के बीस कारण माने हैं। यह मान्यता आवश्यकनियुक्ति और ज्ञाताधर्मकथा के समान ही है। दिगम्बर एवं यापनीय दोनों ही परम्पराओं में इसके १६ ही कारण माने जाते रहते हैं; अतः इस उल्लेख को श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में एक साक्ष्य कहा जा सकता है।

६—पउमचरियं में मरुदेवी और पद्मावती—इन तीर्थंकर माताओं के द्वारा १४ स्वप्न देखने का उल्लेख है।^२ यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा १६ स्वप्न मानती है। इस प्रकार इसे भी ग्रन्थ के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के सम्बन्ध में प्रबल साक्ष्य माना जा सकता है। पं० नाथूराम जो प्रेमी ने यहाँ स्वप्नों की संख्या १५ बतायी है।^३ भवन और विमान को उन्होंने दो अलग-अलग स्वप्न माना है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि जो तीर्थंकर नरक से आते हैं, उनकी माताएँ भवन और जो तीर्थंकर देवलोक से आते हैं उनकी माताएँ विमान देखती हैं।

१. पउमचरियं, ३/६२; २१/१३।

(यहाँ मरुदेवी और पद्मावती के स्वप्नों में समानता है, मात्र मरुदेवी के सन्दर्भ में 'वरसिरिदाम' शब्द आया है, जबकि पद्मावती के स्वप्नों में 'अभिसेकदाम' शब्द आया है—किन्तु दोनों का अर्थ लक्ष्मी ही है।)

२. जैन साहित्य और इतिहास (नाथूराम प्रेमी), पृष्ठ ९९।

अतः भवन और विमान वैकल्पिक स्वप्न माने गये हैं, इस प्रकार माता द्वारा देखे जाने वाले स्वप्न की संख्या तो १४ ही रहती है (आवश्यक हरिभद्रोद्य वृत्ति पृ० १०८)। स्मरण रहे कि यापनीय रविषेण ने पउमचरियं के ध्वज के स्थान पर मीन-युगल को माना है। साथ ही सागर के बाद उन्होंने सिंहासन का उल्लेख किया है और विमान तथा भवन को अलग-अलग स्वप्न माना है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्वप्न सम्बन्धी पउमचरियं की यह गाथा श्वेताम्बर मान्य 'नायधम्मकहा' से बिल्कुल समान है।^१ अतः यह अवधारणा भी ग्रन्थ के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के सम्बन्ध में प्रबल साक्ष्य है।

७—पउमचरियं में भरत और सगर चक्रवर्ती की ६४ हजार रानियों का उल्लेख मिलता है^२, जब कि दिगम्बर परम्परा में चक्रवर्तियों की रानियों की संख्या ९६ हजार ही बतायी है।^३ अतः यह साक्ष्य भी दिगम्बर और यापनीय परम्परा के विरुद्ध है और मात्र श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में जाता है।

८—अजित और मुनिमुव्रत के वैराग्य के कारणों को तथा उनके संघस्थ साधुओं की संख्या को लेकर पउमचरियं और तिलोयपण्णत्ति में मत वैभिन्न्य है।^४ किन्तु ऐसा मतवैभिन्न्य एक ही परम्परा में भी देखा जाता है अतः इसे ग्रन्थ के श्वेताम्बर होने का सबल साक्ष्य नहीं कहा जा सकता है।

९—पउमचरियं और तिलोयपण्णत्ति में बलदेवों के नाम एवं क्रम को लेकर मतभेद देखा जाता है जब कि पउमचरियं में दिये गये नाम एवं क्रम श्वेताम्बर परम्परा में यथावत् मिलते हैं।^५ अतः इसे भी ग्रन्थ के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के पक्ष में एक साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि यह स्मरण रखना होना कि पउमचरियं में भी राम को बलदेव भी जहा गया है।

१०—पउमचरियं में १२ देवलोकों का उल्लेख है जो कि श्वेताम्बर

१. नायधम्मकहा (मधुकर मुनि) प्रथम श्रुतस्कंध, अध्याय ८, २६।
२. पउमचरियं ४/५८; ५/९८।
३. पद्मपुराण (रविषेण), ४/६६, २४७।
४. देखें पउमचरियं २१/२२; पउमचरियं, इण्ड्रोडक्सन पेज २२ फुटनोट—३. तुलनीय—तिलोयपण्णत्ती, ४/६०८।
५. पउमचरियं, इण्ड्रोडक्सन, पेज २१।

परम्परा की मान्यतानुरूप है।^१ जबकि यापनीय रविवर्षेण और दिगम्बर परम्परा के अन्य आचार्य देवलोकों की संख्या १६ मानते हैं अतः इसे भी ग्रन्थ के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने का प्रमाण माना जा सकता है।

११—पउमचरियं में सम्यक्दर्शन को पारिभाषित करते हुए यह कहा गया है कि जो नव पदार्थों को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है।^२ पउमचरियं में कहीं भी ७ तत्त्वों का उल्लेख नहीं हुआ है। पं० फूलचन्द जी के अनुसार यह साक्ष्य ग्रन्थ के श्वेताम्बर होने के पक्ष में जाता है।^३ किन्तु मेरी दृष्टि में नव पदार्थों का उल्लेख दिगम्बर परम्परा में भी पाया जाता है अतः इसे ग्रन्थ के श्वेताम्बर होने का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य तो नहीं कहा जा सकता। दोनों ही परम्परा में प्राचीन काल में नव पदार्थ ही माने जाते थे, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् दोनों में सात तत्त्वों की मान्यता भी प्रकृष्ट हो गई। चूंकि श्वेताम्बर प्राचीन स्तर के आगमों का अनुसरण करते थे अतः उनमें ९ तत्त्वों की मान्यता की प्रधानता बनी रही। जब कि दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ के अनुसरण के कारण सात तत्त्वों की प्रधानता स्थापित हो गई।

१२—पउमचरियं में उसके श्वेताम्बर होने के सन्दर्भ में जो सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध है वह यह कि उसमें कैकयी को मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है,^४ इस प्रकार पउमचरियं स्त्री मुक्ति का समर्थक माना जा सकता है। यह तथ्य दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाता है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यापनीय भी स्त्रीमुक्ति तो स्वीकार करते थे अतः इस दृष्टि से यह ग्रन्थ श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं से सम्बद्ध माना जा सकता है।

१३—इसी प्रकार पउमचरियं में मुनि की आशीर्वाद के रूप में धर्मलाभ कहते हुए दिखाया गया है,^५ जबकि दिगम्बर परम्परा में मुनि आशिर्वाचन के रूप में धर्मवृद्धि कहता है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना

१. पउमचरियं, ७५/३५-३६ और १०२/४२-५४।

२. पउमचरियं, १०२/१८१।

३. अनेकान्त वर्ष ५, किरण १-२ तत्त्वार्थ सूत्र का अन्तःपरीक्षण, पं० फूलचन्द, जी, पृ० ५१।

४. सिद्धिपयं उत्तमं पत्ता—पउमचरियं ८३/१२।

५. देखें, पउमचरियं, इण्ट्रोडक्सन पेज २१।

चाहिए कि धर्मलाभ कहने की परम्परा न केवल श्वेताम्बर है, अपितु यापनीय भी है। यापनीय मुनि भी श्वेताम्बर मुनियों के समान धर्मलाभ ही कहते थे।^१

ग्रन्थ के श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के इन अन्तःसाक्ष्यों के परीक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य मुख्य रूप से उसके श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के पक्ष में अधिक हैं। विशेष रूप से स्त्री मुक्ति का उल्लेख यह सिद्ध कर देता है कि यह ग्रन्थ स्त्री मुक्ति निषेधक दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध नहीं हो सकता है।

१४—विमलसूरि ने पउमचरियं के अन्त में अपने को नाइल (नागेन्द्र) वंशानन्दीकर आचार्य राहू का प्रशिष्य और आचार्य विजय का शिष्य बनाया है।^२ साथ ही पउमचरियं का रचनाकाल बी० नि० सं० ५३० कहा है।^३ ये दोनों तथ्य भी विमलसूरि एवं उनके ग्रन्थ के सम्प्रदाय-निर्धारण हेतु महत्त्वपूर्ण आधार मान जा सकते हैं। यह स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में नागेन्द्रकुल का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है, जबकि श्वेताम्बर मान्य कल्पसूत्र स्थविरावली में आर्यवज्र के प्रशिष्य एवं ब्रजसेन के शिष्य आर्य नाग से नाइल या नागिल शाखा के निकलने का उल्लेख है।^४ श्वेताम्बर पट्टावलियों के अनुसार भी ब्रजसेन के शिष्य आर्य नाग ने नाइल शाखा प्रारम्भ की थी। विमलसूरि इसी नागिल शाखा में हुए हैं। नन्दीसूत्र में आचार्य भूतदिन्न को भी नाइलकुलवंशानन्दीकर कहा गया है।^५ यही विरुद्ध विमलसूरि ने अपने गुरुओं आर्य राहू एवं आर्य विजय को भी दिया है। अतः यह सुनिश्चित है कि विमलसूरि उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ परम्परा से सम्बन्धित हैं और उनका यह 'नाइल कुल' श्वेताम्बरों में बारहवीं शताब्दी तक चलता रहा है। चाहे उन्हें आज के अर्थ में श्वेताम्बर न कहा जाये, किन्तु वे श्वेताम्बरों के अग्रज अवश्य हैं, इसमें किसी प्रकार के मतभेद की सम्भावना नहीं है।

१. गोप्या यापनीया । गोप्यास्तु वन्वमाना धर्मलाभं भणन्ति ।—षट्दर्शनसमुच्चय टीका ४/१ ।

२. पउमचरियं, ११८/११७; १

३. वही, ११८/१०३ ।

४. 'धेरेहिहो णं अज्जवहरसेणिएहिहो एत्थ णं अज्जनाइली साहा निग्गया'—कल्पसूत्र २२१, पृ० ३०६ ।

५. नाइलकुल-वंसनंदिकरे'भूयदिन्नमायरिए ।—नन्दीसूत्र ४४-४५ ।

पउमचरियं के सम्प्रदाय का निर्धारण करने हेतु यहाँ दो समस्याएँ विचारणीय हैं—प्रथम तो यह कि यदि पउमचरियं का रचनाकाल वीर नि० सं० ५३० है, जिसे अनेक आधारों पर अथार्थ भी नहीं कहा जा सकता है, तो वे उत्तरभारत के सम्प्रदाय विभाजन के पूर्व के आचार्य सिद्ध होंगे। यदि हम महावीर का निर्वाण ई० पू० ४६७ मानते हैं तो इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० सन् ६४ और वि० सं० १२२ आता है। दूसरे शब्दों में पउमचरियं विक्रम की द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना है। किन्तु विचारणीय यह है कि क्या वीर नि० सं० ५३० में नागिककुल अस्तित्व में आ चुका था? यदि हम कल्पसूत्र पट्टावलि की दृष्टि से विचार करें तो आर्य वज्र के शिष्य आर्य वज्रसेन और उनके शिष्य आर्य नाग महावीर की पाट परम्परा में क्रमशः १३वें, १४वें एवं १५वें स्थान पर आते हैं^१। यदि आचार्यों का सामान्य काल ३० वर्ष मानें तो आर्यवज्रसेन और आर्य नाग का काल वीर नि० के ४२० वर्ष पश्चात् आता है, इस दृष्टि से वीर नि० के ५३०वें वर्ष में नाइल कुल का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। यद्यपि पट्टावलियों में वज्र स्वामी के समय का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु निह्लवों के सम्बन्ध में जो कथायें हैं, उसमें आर्य रक्षित को आर्य भद्र और वज्र स्वामी का समकालीन बताया गया है और इस दृष्टि से वज्रस्वामी का समय वीर नि० ५८३ मान लिया गया है, किन्तु यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। इस संबंध में विशेष उद्घापोह करके कल्याण विजय जी ने आर्य वज्रसेन की दीक्षा वीर नि० सं० ४८६ में निश्चित को है। यदि इसे भी हम सही मान लें तो वीर नि० सं० ५३० में नाइल कुल का अस्तित्व मानने में कोई बाधा नहीं आती है। पुनः यदि कोई आचार्य दीर्घजीवी हो तो अपनी शिष्य परंपरा में सामान्यतया वह चार-पाँच पीढ़ियाँ तो देख हो लेता है। वज्रसेन के शिष्य आर्य नाग, जिनके नाम पर नागेन्द्र कुल ही स्थापना हुई, अपने दादा गुरु आर्य वज्र के जीवनकाल में जीवित हो सकते हैं। पुनः आर्य वज्र का स्वर्गवास वी० नि० सं० ५८४ में हुआ ऐसा अन्य स्रोतों से प्रमाणित नहीं होता है। मेरी दृष्टि में तो यह भ्रान्त अवधारणा है। यह भ्रान्ति इसलिये प्रचलित हो गई कि नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य वज्र के पश्चात् सीधे आर्य रक्षित का उल्लेख हुआ। इसी आधार पर उन्हें आर्य वज्र का सीधा शिष्य मानकर वज्रसेन को उनका गुरु भ्राता मान लिया गया और आर्यरक्षित के काल के आधार पर उनके काल का

१. पट्टावलि परागसंग्रह (कल्याणविजयजी), पृ० २७ एवं १३८-१३९.

निर्धारण कर लिया गया। किन्तु नन्दीसूत्र में आचार्यों के क्रम में बीच-बीच में अन्तराल रहे हैं। अतः आचार्य विमलसूरि का काल वीर निर्वाण सं० ५३० अर्थात् विक्रम की दूसरी शताब्दी का पूर्वार्ध मानने में कोई बाधा नहीं आती है। यदि हम पउमचरियं के रचनाकाल वीर नि० सं० ५३० को स्वीकार करते हैं, तो यह स्पष्ट है कि उस काल तक उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में विभिन्न कुल शाखाओं की उपस्थिति और उनमें कुछ मान्यता भेद या वाचनाभेद तो था फिर भी स्पष्ट संघभेद नहीं हुआ था। दोनों परंपरा इस संघभेद को वीर निर्वाण सं० ६०६ या ६०९ में मानती है। अतः स्पष्ट है कि अपने काल की दृष्टि से भी विमलसूरि संघ-भेद के पूर्व के आचार्य हैं और इसलिए उन्हें किसी संप्रदाय विशेष से जोड़ना संभव नहीं है। हम सिर्फ यही कह सकते हैं वे उत्तर भारत के उस श्रमण संघ में हुए हैं, जिससे श्वेताम्बर और यापनीय दोनों धाराएँ निकली हैं। अतः वे श्वेताम्बर और यापनीय दोनों के पूर्वज हैं और दोनों ने उनका अनुसरण किया है। यद्यपि दक्षिण भारत की निर्ग्रन्थ परंपरा के प्रभाव से यापनीयों ने उनकी कुछ मान्यताओं को अपने अनुसार संशोधित कर लिया था, किन्तु स्त्रीमुक्ति आदि तो उन्हें भी मान्य रही है।

पउमचरियं में स्त्रीमुक्ति आदि की जो अवधारणा है वह भी यही सिद्ध करती है कि वे इन दोनों परंपराओं के पूर्वज हैं, क्योंकि दोनों ही परंपरायें स्त्रीमुक्ति को स्वीकार करती हैं। यदि कल्पसूत्र स्थविरावली के सभी गण, कुल, शाखायें श्वेताम्बरों द्वारा मान्य है, तो विमलसूरी को श्वेताम्बरों का पूर्वज मानने में कोई बाधा नहीं है। पुनः यह भी सत्य है कि सभी श्वेताम्बर आचार्य उन्हें अपनी परंपरा का मानते रहे हैं। जबकि यापनीय रविषेण और स्वयंभू ने उनके ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए भी उनके नाम का स्मरण तक नहीं किया है, इससे यही सिद्ध होता है कि वे उन्हें अपने से भिन्न परंपरा का मानते थे। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि वे उसी युग में हुए हैं जब श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर का स्पष्ट भेद सामने नहीं आया था। यद्यपि कुछ विद्वान् उनके ग्रन्थ में मुनि के लिए 'सियंबर' शब्द के एकाधिक प्रयोग देखकर उनको श्वेताम्बर परंपरा से सम्बद्ध करना चाहेंगे, किन्तु इस संबंध में कुछ सावधानियों की अपेक्षा है। विमलसूरि के इन दो-चार प्रयोगों को छोड़कर हमें प्राचीन स्तर के साहित्य में कहीं भी श्वेताम्बर या दिगम्बर शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता है। स्वयं विमलसूरि द्वारा पउमचरियं में एक भी स्थल पर दिगम्बर शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। विद्वानों ने भी विमलसूरि के

पउमचरियं में उपलब्ध श्वेताम्बर (सियंबर) शब्द के प्रयोग को संप्रदाय सूचक न मानकर उस युग के सवस्त्र मुनि का सूचक माना है। हो सकता है कि परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों या प्रतिलिपि कर्ताओं ने यह शब्द बदला हो, यद्यपि ऐसी संभावना कम है। क्योंकि सीता साध्वी के लिये भी सियंबर शब्द का प्रयोग उन्होंने स्वयं ही किया होगा। मुझे ऐसा लगता है विमलसूरि के युग तक जैन मुनियों में वस्त्र रखने की प्रवृत्ति विकसित हो चुकी थी। मथुरा के ईसा की प्रथम-द्वितीय शती के अंकन भी इसकी पुष्टि करते हैं। जिस प्रकार सवस्त्र साध्वी सीता को विमलसूरि ने सियंबर कहा उसी प्रकार सवस्त्र मुनि को भी सियंबर कहा होगा। उनका यह प्रयोग निग्रन्थ मुनियों द्वारा वस्त्र रखने की प्रवृत्ति का सूचक है, न कि श्वेताम्बर दिगम्बर संघभेद का। विमलसूरि निश्चित ही श्वेताम्बर और यापनीय—दोनों के पूर्वज है। श्वेताम्बर उन्हें अपने संप्रदाय का केवल इसीलिये मानते हैं कि वे उनकी पूर्व परंपरा से जुड़े हुए हैं।

श्रीमती कुसुम पटोरिया ने महावीर जयन्ती स्मारिका जयपुर वर्ष १९५७ ई०पृष्ठ २५७ पर इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि विमलसूरि और पउमचरियं यापनीय नहीं है। वे लिखती हैं कि निश्चित विमलसूरि एक श्वेताम्बराचार्य है। उनका नाइलवंश, स्वयंभू द्वारा उनका स्मरण न किया जाना तथा उनके (ग्रन्थ में) श्वेताम्बर साधु का आदरपूर्वक उल्लेख—उनके यापनीय न होने के प्रत्यक्ष प्रमाण है।

विमलसूरि और उनके ग्रन्थ पउमचरियं को यापनीय मानने में सबसे बड़ी बाधा यह भी है कि उनकी कृति महाराष्ट्री प्राकृत में है जबकि किसी भी यापनीय या दिगंबर लेखक ने महाराष्ट्री प्राकृत को अपने ग्रन्थ की भाषा नहीं बनाया है। यापनीयों ने सदैव ही अर्धमागधी से प्रभावित शौरसेनी प्राकृत को ही अपनी भाषा माना है।

अतः आदरणीय पं० नाथुरामजी प्रेमी ने उसके यापनीय होने के संबंध में जो संभावना प्रकट की है, वह समुचित प्रतीत नहीं होती है। यह ठीक है कि उनकी मान्यताओं की श्वेताम्बरों एवं यापनीयों दोनों से समानता है, किन्तु इसका कारण उनका इन दोनों परम्पराओं का पूर्वज होना है—श्वेताम्बर या यापनीय होना नहीं। कालकी दृष्टि से भी वे इन दोनों के पूर्वज ही सिद्ध होते हैं। पुनः यापनीय आचार्य रविषेण और अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भु द्वारा उनकी कृति का पूर्णतः अनुसरण करने पर भी उनके नाम का उल्लेख नहीं करना यही सूचित करता है कि वे उन्हें

अपनी परम्परा का नहीं मानते थे। अतः सिद्ध यही होता है कि विमलसूरि श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्परा के पूर्वज है। श्वेताम्बरों ने सदैव अपने पूर्वज आचार्यों को अपनी परम्परा का माना है। विमलसूरि के दिगम्बर होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, यापनीयों ने उनका अनुसरण करते हुए भी उन्हें अपनी परम्परा का नहीं माना, अन्यथा रविषेण और स्वयम्भु कहीं न कहीं उनका नाम निर्देश अवश्य करते। पुनः यापनीयों की शौरसेनी प्राकृत को न अपना कर अपना काव्य महाराष्ट्री प्राकृत में लिखना यही सिद्ध करता है कि वे यापनीय नहीं है।

विमलसूरि की परम्परा के सम्बन्ध में दो ही विकल्प है। यदि हम उनके ग्रन्थ का रचना काल वीर निर्वाण सम्वत् ५३० मानते हैं तो हमें उन्हें श्वेताम्बर और यापनीयों का पूर्वज मानना होगा। यदि हम इस काल को वीर निर्वाण सम्वत् न मानकर विक्रम सम्वत् मानते हैं, जैसा कि कुछ विद्वानों ने माना है, तो उन्हें श्वेताम्बर आचार्य मानना होगा।



सिद्धसेन दिवाकर और उनके सन्मति सूत्र की परम्परा :

सिद्धसेन दिवाकर और उनके ग्रन्थ सन्मति सूत्र के सम्प्रदाय के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण परिलक्षित होते हैं। जिनभद्र, हरिभद्र आदि से 'प्रारम्भ करके पं० मुखलाल जी, पं० बेचरदास जी आदि सभी श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् एकमत से उन्हें अपने सम्प्रदाय का स्वीकार करते हैं'। इसके विपरीत षट्खण्डागम की धवला टीका एवं जिनसेन के हरिवंश तथा रविषेण के पद्मपुराण में सिद्धसेन का उल्लेख होने से पं० जुगल किशोर मुख्तार जैसे दिगम्बर परम्परा के कुछ विद्वान् उन्हें अपनी परम्परा का आचार्य सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।^{१२} किन्तु दिगम्बर परम्परा से उनकी कुछ भिन्नताओं को देखकर प्रो० ए० एन० उपाध्ये आदि कुछ दिगम्बर विद्वानों ने उन्हें यापनीय परम्परा का आचार्य सिद्ध करने का

१. (अ) दंसणगाही—दंसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय—
संमतिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ
सो सुद्धो अप्रायश्चित्ती भवतात्थर्थः ।

—निशीथचूर्णि, भाग १, पृ० १६२

दंसणप्पभावगाण सत्थाण सम्मदियादिसुत्तणाणे य जो विसारदो णिस्म-
कियसुत्तत्थो त्ति वुत्तं भवति । वही भाग ३, पृ० २०२

जोणीपाहुडातिणा जहा सिद्धसेणायरिएण अस्सा पक्कता ।

—वही भाग २, पृ० २८१

(ब) आयरिय सिद्धसेणेण सम्मई ए पइदिठ अजसेणं ।

दूसमणिसादिवागर कप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥

—पंचवस्तु (हरिभद्र) १०४८

(स) श्रीदशाश्रुतस्कन्ध मूल, नियुक्ति, चूर्णिसह—पृ० १६ (श्रीमणिविजय
ग्रन्थमाला नं० १४ सं० २०११) (यहाँ सिद्धसेन को गुरु से भिन्न
अर्थ करने वाला भाव-अविनय का दोषो बताया गया है)

(द) पूर्वाचार्य विरचितेषु सन्मति-नयावतारादिषु..... ।

—द्वादशारं नयचकम्, (मल्लवादि)

भावनगरस्था श्रीआत्मानन्द सभा, १९८८ तृतीय विभाग, पृ० ८८६

२. (अ) अणेण सम्मद्सुत्तेणसह कथमिदं वक्खारं ण विरुज्ज्जदे ।

(ज्ञातव्य है कि इसके पूर्व सन्मतिमूत्र को गाथा ६ उद्धृत है)

—धवला, टीका समन्वित षट्खण्डागम १।१।१ पुस्तक १ पृ० १६

प्रयास किया है^१। प्रो० उपाध्ये ने जो तर्क दिये उन्हें स्पष्ट करते हुए तथा अपनी ओर से कुछ अन्य कुछ तर्कों को प्रस्तुत करते हुए डॉ० कुसुम पटोरिया ने भी उन्हें यापनीय परम्परा का सिद्ध किया है^२। प्रस्तुत सन्दर्भ में हम इन सभी विद्वानों के मन्तव्यों की समीक्षा करते हुए यह निश्चय करने का प्रयत्न करेंगे कि वस्तुतः सिद्धसेन की परम्परा क्या थी ?

(ब) जगत्प्रसिद्ध बोधस्य, वृषभस्येव निस्तुषाः ।

बोधयन्ति सतां बुद्धि सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥

—हरिवंशपुराण (जिनसेन) १।३०

स सिद्धसेनोऽभय भीमसेनको गुरु परौ तौ जिनशांतिषेणकौ ।

—वही ६६।२९

(स) प्रवादिकरियूथानां केसरी नयकेसरः ।

सिद्धसेन कविर्जीयाद्विकल्पनखराड्कुरः ॥

—आदिपुराण (जिनसेन) १।४२

(द) आसोदिन्द्रगुरुदिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः ।

तस्माल्लक्ष्मणसेन सन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतः ॥

—पद्मचरित (रविषेण) १२३।१६७

ज्ञातव्य है कि हरिवंश पुराण के अन्त में पुनधाटसंघीय जिनसेन की अपनी गुरुपरम्परा में उल्लेखित सिद्धसेन तथा रविषेण द्वारा पद्मचरित के अन्त में अपनी गुरु परम्परा में उल्लेखित दिवाकर यति—ये दोनों सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न है। यद्यपि हरिवंश के प्रारम्भ में तथा आदिपुराण के प्रारम्भ में पूर्वाचार्यों का स्मरण करते हुए जिन सिद्धसेन का उल्लेख किया गया है वे सिद्धसेन दिवाकर ही हैं

(इ) देखें—जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, जुगलकिशोर मुस्तार, पृ० ५००-५८५

(एफ) धवला और जय धवला में सन्मत्तिसूत्र की कितनी गाथायें कहाँ उद्धृत हुई, इसका विवरण पं० सुखलालजी ने सन्मत्तिप्रकरण की अपनी भूमिका में किया है। देखें—सन्मत्तिप्रकरण भूमिका पृ० ५८

(जी) इसीप्रकार जटिल के वरांगचरित में भी सन्मत्तितर्क की अनेक गाथाएँ अपने संस्कृत रूपान्तरण में पायी जाती हैं। इसका विवरण मैंने इसी ग्रन्थ के इसी अध्याय में वराङ्गचरित्र के प्रसंग में किया है।

१. सिद्धसेनास न्यायावतार एण्ड अदर वक्स—ए० एन० उपाध्ये, जैन साहित्य विकास मण्डल वाम्बे, इन्ट्रोडक्शन पेज XIV-XVII

२. यापनीय और उनका साहित्य —डॉ० कुसुमपटोरिया पृ० १४३-१४८

क्या सिद्धसेन दिगम्बर है ?

इस चर्चा के प्रसंग में हमारा आधार मुख्य रूप से सन्मतिसूत्र और द्वात्रिंशिकाएँ ही हैं। न्यायावतार सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन की कृति है या नहीं, यह विवादास्पद प्रश्न है। इस सन्दर्भ में श्वे० विद्वान् भी मतैवय नहीं रखते हैं। पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी एवं पं० दलसुख-मालवर्णिया ने न्यायावतार को सिद्धसेन की कृति माना है, किन्तु एम० ए० ढाकी आदि कुछ श्वेताम्बर विद्वान् उनसे मतभेद रखते हुए उसे सिद्धर्षि की कृति मानते हैं^१। किन्तु कुछ तार्किक आधारों पर मेरी व्यक्तिगत मान्यता यह है कि न्यायावतार भी सिद्धसेन की कृति है। प्रथम तो यह कि न्यायावतार भी एक द्विंशिका है और मुझे ज्ञात नहीं है कि सिद्धसेन के अतिरिक्त किसी अन्य श्वेताम्बर या दिगम्बर प्राचीन आचार्य ने द्विंशिका शैली को अपनाया हो, उदाहरण के रूप में हरिभद्र ने अष्टक, षोडशक एवं विंशिकायें तो लिखीं किन्तु द्वात्रिंशिका नहीं लिखी। दूसरे न्यायावतार में आगम युग के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों की ही चर्चा हुई है दर्शनयुग में विकसित जैन परम्परा में मान्य स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क की प्रमाण के रूप में मूल ग्रन्थ में कोई चर्चा नहीं है जबकि परवर्ती सभी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आचार्य एवं न्यायावतार के टीकाकार सिद्धर्षि स्वयं भी इन प्रमाणों की चर्चा करते हैं। यदि सिद्धर्षि स्वयं ही इसके कर्ता होते तो कम से कम एक कारिका बनाकर इन तीनों प्रमाणों का उल्लेख तो मूलग्रन्थ में अवश्य करते। पुनः सिद्धर्षि की टीका में एक भी ऐसा लक्षण नहीं मिलता है, जिससे वह स्वोपज्ञ सिद्ध होती है।

प्रत्यक्ष की परिभाषा में प्रयुक्त अभ्रान्त पद तथा सन्मतभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार के जिस श्लोक को लेकर यह शंका की जाती है कि न्यायावतार सिद्धसेन दिवाकर की कृति नहीं है—अन्यथा वे धर्मकीर्ति और समन्तभद्र के परवर्ती सिद्ध होंगे। उसमें जहाँ तक अभ्रान्त पद का प्रश्न है—तुची के अनुसार यह धर्मकीर्ति के पूर्व भी बौद्ध न्याय में प्रचलित था। यह हो सकता है धर्मकीर्ति के पूर्व भी बौद्ध न्याय का वर्तमान में अनुपलब्ध कोई ग्रन्थ रहा हो जिसमें अभ्रान्त पद का प्रयोग हुआ हो। पुनः समन्तभद्र की कृति के रूप में मान्य रत्नकरण्डक श्रावकाचार में प्राप्त जिस समान कारिका को लेकर विवाद किया जाता है—उस सम्बन्ध में प्रथम तो यह निश्चित नहीं है कि रत्नकरण्डक

१. प्रो० एम० ए० ढाकी से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर

प्राचीन स्तुतियों के कर्ता समन्तभद्र की ही कृति है। दूसरे यह कि यह कारिका दोनों ग्रन्थों में अपने योग्य स्थान पर है अतः इसे सिद्धसेन से समन्तभद्र ने लिया है या समन्तभद्र से सिद्धसेन ने लिया है यह कह पाना कठिन है। तीसरे समन्तभद्र भी लगभग ५ वीं शती के आचार्य है अतः न्यायावतार को सिद्धसेन की कृति मानने में बाधा नहीं है।

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन को दिगम्बर परम्परा का आचार्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं तथापि मुख्तार जी उन्हें दिगम्बर परम्परा का आचार्य होने के संबंध में कोई भी आधारभूत प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। उनके तर्क मुख्यतः दो बातों पर स्थित हैं—प्रथमतः सिद्धसेन के ग्रन्थों से यह फलित नहीं होता कि वे स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति और सवस्त्रमुक्ति आदि के समर्थक थे। दूसरे यह कि सिद्धसेन अथवा उनके ग्रन्थ सन्मति सूत्र का उल्लेख जिनसेन, हरिवेण, वीरवेण आदि दिगम्बर आचार्यों ने किया है—इस आधार पर वे उनके दिगम्बर परम्परा का होने की संभावना व्यक्त करते हैं। यदि आदरणीय मुख्तार जी उनके ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति या सवस्त्रमुक्ति का समर्थन नहीं होने के निषेधात्मक तर्क के आधार पर उन्हें दिगम्बर मानते हैं, तो फिर इसी प्रकार के निषेधात्मक तर्क के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उनके ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति और सवस्त्र मुक्ति का खण्डन नहीं है, अतः वे श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य हैं।

पुनः मुख्तार जी यह मान लेते हैं कि रविवेण आर पुनाटसंघोय जिनसेन दिगम्बर परम्परा के हैं, यह भी उनकी भ्रान्ति है। रविवेण यापनीय परम्परा के हैं अतः उनके परदादा गुरु के साथ में सिद्धसेन दिवाकर का उल्लेख मानें तो भी वे यापनीय सिद्ध होंगे दिगम्बर तो किसी भी स्थिति में सिद्ध नहीं होंगे। आदरणीय मुख्तारजी ने एक यह विचित्र तर्क दिया है कि श्वेताम्बर प्रबन्धों में सिद्धसेन के सन्मति सूत्र का उल्लेख नहीं है, इसलिए प्रबन्धों में उल्लेखित सिद्धसेन अन्य कोई सिद्धसेन है, वे सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन नहीं हैं। किन्तु मुख्तार जी ये कैसे भूल जाते हैं कि प्रबन्ध ग्रन्थों के लिखे जाने के पाँच सौ वर्ष पूर्व हरिभद्र के पंचवस्तु तथा जिनभद्र की निशीथचूर्णि में सन्मतिसूत्र और उसके कर्ता के रूप में सिद्धसेन के उल्लेख उपस्थित हैं। जब प्रबन्धों से प्राचीन श्वेता-

१. देखे—जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पं० जुगल किशोर मुख्तार, पृ० ५८०-५८२

म्बर ग्रन्थों में सम्मतिसूत्र के कर्ता के रूप में सिद्धसेन का उल्लेख है, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रबन्धों में जो सिद्धसेन का उल्लेख है, वह सम्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन का न होकर कुछ द्वात्रिंशिकाओं और न्यायावतार के कर्ता किसी अन्य सिद्धसेन का है। पुनः श्वेताम्बर आचार्यों ने यद्यपि सिद्धसेन के अभेदवाद का खण्डन किया और उन्हें आगमों की अवमानना करने पर दण्डित किसे जाने का उल्लेख भी किया है, किन्तु किसी ने भी उन्हें अपने से भिन्न परम्परा या सम्प्रदाय का नहीं बताया है। श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् उन्हें मतभिन्नता के बावजूद भी अपनी ही परम्परा का आचार्य प्राचीन काल से मानते आ रहे हैं। श्वेताम्बर ग्रन्थों में उन्हें दण्डित करने की जो कथा प्रचलित है, वह भी यही सिद्ध करती है कि वे सचेल धारा में ही दीक्षित हुए थे, क्योंकि किसी आचार्य को दण्ड देने का अधिकार अपनी ही परम्परा के व्यक्ति को होता है—अन्य परम्परा के व्यक्ति को नहीं। अतः सिद्धसेन दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे, यह किसी भी स्थिति में सिद्ध नहीं होता है।

केवल यापनीय ग्रन्थों और उनको टीकाओं में सिद्धसेन का उल्लेख होनेसे इतना ही सिद्ध होता है कि सिद्धसेन यापनीय परम्परा में मान्य रहे हैं। पुनः श्वे० धारा से कुछ बातों में अपनी मत-भिन्नता रखने के कारण उनको यापनीय या दिगम्बर परम्परा में आदर मिलना अस्वाभाविक भी नहीं है। जो भी हमारे विरोधी का आलोचक होता है, वह हमारे लिए आदरणीय होता है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। कुछ श्वेताम्बर मान्यताओं का विरोध करने के कारण सिद्धसेन यापनीय और दिगम्बर दोनों में आदरणीय बने हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे दिगम्बर या यापनीय हैं। यह तो उसी लोकोक्ति के आधार पर हुआ है कि 'शत्रु का शत्रु मित्र होता है।' किसी भी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ में सिद्धसेन के जीवन वृत्त का उल्लेख न होने से तथा श्वे० परम्परा में उनके जीवनवृत्त का सविस्तार उल्लेख होने से तथा श्वेताम्बर परम्परा द्वारा उन्हें कुछ काल के लिए संघ से निष्कासित किये जाने के विवरणों^२

१. देखें—प्रभावकचरित—प्रभाचन्द्र—सिंधी जैन ग्रन्थमाला पृ० ५४-६१।

प्रबन्धकोश (चतुर्विंशतिप्रबन्ध)=राजशेखरसूरि-सिंधी जैन ज्ञानपीठ
पृ० १५-२१

प्रबन्ध चिन्तामणि मेस्तुंग-सिंधी जैन ज्ञानपीठ पृ० ७-९

२. प्रभावकचरित-बुद्धवादिमूरिचरितम् पृ० १०७-१२०

से यही सिद्ध होता है कि वे यापनीय या दिगम्बर परम्परा के आचार्य नहीं थे। मतभेदों के बावजूद भी श्वेताम्बरों ने सदैव ही उन्हें अपनी परम्परा का आचार्य माना है। दिगम्बर आचार्यों ने उन्हें 'द्वेष्य-सितपट' तो कहा, किन्तु अपनी परम्परा का कभी नहीं माना। एक भी ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं है जिसमें सन्मत्तिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन को दिगम्बर परम्परा का कहा गया हो। जबकि श्वेताम्बर भण्डारों में उपलब्ध उनकी कृतियों की प्रतिलिपियों में उन्हें श्वेताम्बराचार्य कहा गया है।

श्वेताम्बर परम्परा के साहित्य में छठी-सातवीं शताब्दी से लेकर मध्यकाल तक सिद्धसेन के अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। पुनः सिद्धसेन की कुछ द्वात्रिंशिकायें स्पष्ट रूप से महावीर के विवाह आदि श्वेताम्बर मान्यता एवं आगम ग्रन्थों की स्वीकृति और आगमिक सन्दर्भों का उल्लेख करती हैं।^१ यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ यह भी उल्लेख करते हैं कि कुछ प्रश्नों को लेकर उनका श्वेताम्बर मान्यताओं से मतभेद था, किन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं होता है कि वे किसी अन्य परम्परा के आचार्य थे। यद्यपि सिद्धसेन श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य को स्वीकार करते थे किन्तु वे आगमों को युगानुरूप तर्क पुरस्सरता भी प्रदान करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने सन्मत्तिसूत्र में आगम भीरु आचार्यों पर कटाक्ष किया तथा आगमों में उपलब्ध असंगतियों का निर्देश भी किया है।^२ परवर्ती प्रबन्धों में उनकी कृति सन्मत्तिसूत्र का उल्लेख नहीं होने का स्पष्ट कारण यह है कि सन्मत्तिसूत्र में श्वे० आगम मान्य क्रमवाद का खण्डन है इसी-लिए श्वेताम्बर आचार्यों ने जानबूझकर उस ग्रन्थ की उपेक्षा की है। मध्ययुगीन सम्प्रदायगत मान्यताओं से जुड़े हुए श्वेताम्बराचार्य यह नहीं चाहते थे कि उनके सन्मत्तिसूत्र का संघ में व्यापक अध्ययन हो। अतः जानबूझकर उन्होंने उसकी उपेक्षा की।

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने सन्मत्तिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन को दिगम्बर सिद्ध करने के उद्देश्य से यह मत भी प्रतिपादित किया है कि सन्मत्तिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन, कतिपय द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता सिद्धसेन और न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन—ये तीनों अलग-अलग व्यक्ति हैं।^३

१. 'अनेकजन्मान्तरभग्नमानः स्सरो यशोदाप्रिय यत्पुरस्ते' —पंचम द्वात्रिंशिका ३६

२. देखें—सन्मत्तिसूत्र २/४, २/७, ३/४६

३. जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश—पं० जुगलकिशोर मुख्तार
पृ० ५२७-५२८

उनकी दृष्टि में सन्मत्सूत्र के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर हैं—शेष दोनों श्वेताम्बर हैं। किन्तु यह उनका दुराग्रह मात्र है—वे यह बता पाने में पूर्णतः असमर्थ रहे हैं कि आखिर ये दोनों सिद्धसेन कौन हैं? सिद्धसेन के जिन ग्रन्थों में दिगम्बर मान्यता का पोषण नहीं होता हो, उन्हें अन्य किसी सिद्धसेन की कृति कहकर छुटकारा पा लेना उचित नहीं कहा जा सकता है। उन्हें यह बताना चाहिए कि आखिर ये द्वात्रिंशिकायें कौन से सिद्धसेन की कृति हैं और क्यों इन्हें अन्य सिद्धसेन की कृति माना जाना चाहिए? मात्र श्वेताम्बर मान्यताओं का उल्लेख होने से उन्हें सिद्धसेन की कृति होने से नकार देना तो युक्तिसंगत नहीं है। यह तो तभी संभव है जब अन्य सुस्पष्ट आधारों पर यह सिद्ध हो चुका हो कि सन्मत्सूत्र के कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर हैं। इनके विपरीत प्रतिभा समानता के आधार पर पं० सुखलाल जी उन्हें सन्मत्सूत्रकार सिद्धसेन की ही कृतियाँ मानते हैं।^१ श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धसेन दिवाकर, सिद्धसेनगणि और सिद्धर्षि का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनमें सिद्धसेन दिवाकर को ही सन्मत्सूत्र, स्तुतियों (द्वात्रिंशिकाओं) और न्यायावतार का कर्ता माना गया है। सिद्धसेनगणि तत्त्वार्थाधिगम भाष्य की वृत्ति के कर्ता हैं और सिद्धर्षि-सिद्धसेन के ग्रन्थ न्यायावतार के टीकाकार हैं। सिद्धसेनगणि और सिद्धर्षि को कहीं भी द्वात्रिंशिकाओं और न्यायावतार का कर्ता नहीं कहा गया है।

पुनः आज तक एक भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि किसी भी यापनीय या दिगम्बर आचार्य के द्वारा महाराष्ट्री प्राकृत में कोई ग्रन्थ लिखा गया हो। यापनीय और दिगम्बर आचार्यों ने जो कुछ भी प्राकृत में लिखा है वह सब शौरसेनी प्राकृत में ही लिखा है, जबकि प्रस्तुत सन्मत्सूत्र स्पष्टतः महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है। सन्मत्सूत्र का महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा जाना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि सिद्धसेन यापनीय या दिगम्बर नहीं हैं। वे या तो श्वेताम्बर हैं या फिर उत्तरभारत की उस निर्ग्रन्थ धारा के सदस्य हैं, जिससे श्वेताम्बर और यापनीय दोनों विकसित हुए हैं। किन्तु वे दिगम्बर तो किसी भी स्थिति में नहीं हैं।

सिद्धसेन का सन्मत्सूत्र एक दार्शनिक ग्रन्थ है और उस काल तक स्त्री-भुक्ति और केवली-भुक्ति जैसे प्रश्न उत्पन्न ही नहीं हुए थे। अतः सन्मत्सूत्र में न तो इनका समर्थन है और न खण्डन ही। इन

१. सन्मत्सूत्रप्रकरण—सं० पं० सुखलालजी एवं बेचरदास जो ज्ञानोदय ट्रस्ट अहमदाबाद पृ० ३६-३७

साम्प्रदायिक मान्यताओं की अनुपस्थिति से हम उनके श्वेताम्बर या दिग्म्बर होने के सम्बन्ध में कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाल सकते हैं। क्योंकि यह एक निषेधात्मक तर्क होगा और इसका उपयोग दोनों ही पक्ष अपने मन्तव्य की सिद्धि के लिए कर सकते हैं। सिद्धसेन के सम्प्रदाय का निर्धारण करने में उनका समय एक महत्वपूर्ण साधन हो सकता है अतः अब हम उस पर विचार करेंगे।

सिद्धसेन के काल के आधार पर उनके सम्प्रदाय का निर्धारण :

सिद्धसेन की परम्परा का निर्धारण करने में उनका काल एक महत्वपूर्ण आधार हो सकता है। उनके काल के सम्बन्ध में पं० मुखलाल जी ने विस्तृत चर्चा की है,^१ हम तो यहाँ केवल संक्षिप्त चर्चा करेंगे। प्रभावक-चरित में सिद्धसेन की गुरु परम्परा की विस्तृत चर्चा हुई है। उसके अनुसार सिद्धसेन आर्य स्कन्दिल के प्रशिष्य और वृद्धवादी के शिष्य थे। आर्य स्कन्दिल को माथुरी वाचना का प्रणेता माना जाता है। यह वाचना वीर निर्वाण ८४० में हुई थी। इस दृष्टि से आर्य स्कन्दिल का समय विक्रम की चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्ध के लगभग आता है। कभी-कभी प्रशिष्य अपने प्रगुरु के समकालिक भी होता है, इस दृष्टि से सिद्धसेन दिवाकर का काल भी विक्रम की चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। प्रबंधों में सिद्धसेन को विक्रमादित्य का समकालीन माना गया है। इन कथानकों के आधार पर यह सिद्ध होता है या चन्द्रगुप्त द्वितीय को विक्रमादित्य मानने पर भी सिद्धसेन चतुर्थ शती के हैं। यह माना जाता है कि उनकी सभा में कालीदास, क्षपणक आदि नौ रत्न थे। यदि क्षपणक सिद्धसेन ही थे तो इस दृष्टि से भी सिद्धसेन का काल विक्रम की चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय का काल भी विक्रम की चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। पुनः मल्लवादी ने सिद्धसेन दिवाकर के सन्मति तर्क पर टीका लिखी थी, ऐसा निर्देश आचार्य हरिभद्र ने किया है। प्रबन्धों में मल्लवादी का काल वीर निर्वाण संवत् ८८४ के आसपास माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विक्रम की पांचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सन्मतिसूत्र पर टीका लिखी जा चुकी थी। अतः सिद्धसेन विक्रम की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए होंगे। पुनः विक्रम की छठीं शताब्दी में पूज्यपाद देवन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण में सिद्धसेन के

१. देखें—सन्मति प्रकरण—सम्पादक, पं० मुखलाल जी संधवी, ज्ञानोदय ट्रस्ट अहमदाबाद, प्रस्तावना पृ० ६ से १६।

मत का उल्लेख किया है। पूज्यपाद देवनन्दी का काल विक्रम की पाँचवीं-छठीं शती माना गया है। इससे भी वे विक्रम संवत् की छठीं शताब्दी के पूर्व हुए, यह तो सुनिश्चित हो जाता है।

मथुरा के अभिलेखों में दो अभिलेख ऐसे हैं, जिनमें आर्य वृद्धहस्ति का उल्लेख है। संयोग से इन दोनों अभिलेखों में काल भी दिया हुआ है। ये अभिलेख हुविष्क के काल के हैं। इनमें प्रथम में वर्ष ६० का और द्वितीय में वर्ष ७९ का उल्लेख है। यदि हम इसे शक संवत् मानें तो तदनुसार दूसरे अभिलेख का काल लगभग विक्रम संवत् २१५ होगा। ये लेख उनको युवावस्था के हों तो आचार्य वृद्धहस्ति का काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध तक माना जा सकता है। इस दृष्टि से सिद्धसेन का काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध से चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच माना जा सकता है।

इस समय चर्चा से इतना निश्चित होता है कि सिद्धसेन दिवाकर के काल की सीमा रेखा विक्रम संवत् की तृतीय शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर विक्रम संवत् की पंचम शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच ही कहीं निश्चित होगी। पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी ने उनका काल चतुर्थ-पंचम शताब्दी निश्चित किया है। प्रो० ढाकी ने भी उन्हें पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में माना है, किन्तु इस मान्यता को उपर्युक्त अभिलेखों के आलोक में तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय से समकालिकता की दृष्टि से थोड़ा पीछे लाया जा सकता है। यदि आर्य वृद्धहस्ति ही वृद्धवादी हैं और सिद्धसेन उनके शिष्य हैं तो सिद्धसेन का काल विक्रम की तृतीय शती के उत्तरार्ध से चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच ही मानना होगा। कुछ प्रबन्धों से उन्हें आर्य धर्म का शिष्य भी कहा गया है। आर्य धर्म का उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में है। वे आर्य वृद्ध के बाद तीसरे क्रम पर उल्लेखित है। इसी स्थविरावली में एक आर्य धर्म देवधिगणिकक्षमाश्रमण के पूर्व भी उल्लेखित हैं। यदि हम सिद्धसेन के सन्मति प्रकरण और तत्त्वार्थसूत्र को तुलना करें तो दोनों में कुछ समानता परिलक्षित होती है। विशेष रूप से तत्त्वार्थसूत्र में अनेकान्त दृष्टि को व्याख्यायित करने के लिए अपित और अनपित जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों का प्रयोग सन्मतितर्क (१/४२) में भी पाया जाता है। मेरी दृष्टि में सिद्धसेन उमास्वाति से किंचित् परवर्ती हो सकते हैं।

इस चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सिद्धसेन विक्रम की चौथी शताब्दी में ही हुए हैं। यदि हम साम्प्रदायिक विभेद के काल

की दृष्टि से इस पर विचार करें तो यह पाते हैं कि इस काल में उत्तर भारत में आचार और विचार के क्षेत्र में जैन संघ में विभिन्न मान्यताएँ जन्म ले चुकी थीं, किन्तु अभी साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण होकर श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय आदि रूपों में नहीं हो पाया था। वह युग था जब जैन परम्परा में तार्किक चिन्तन प्रारम्भ हो चुका था और धार्मिक एवं आगमिक मान्यताओं को तार्किक रूप प्रदान किया जा रहा था और यदि तर्क और आगमिक मान्यताओं में कोई अन्तर होता था तो तर्क को प्रधानता दी जाती थी। सिद्धसेन का आगमिक मान्यताओं को तार्किकता प्रदान करने का प्रयत्न भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। फिर भी उस युग में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय ऐसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदाय के सम्बन्ध में स्पष्ट नाम निर्देश के साथ जो सर्वप्रथम उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे लगभग ई० सन् ४७५ तदनुसार विक्रम सं० ५३२ के लगभग अर्थात् विक्रम की छठीं शताब्दी पूर्वार्ध के हैं। अतः काल के आधार पर सिद्धसेन को किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि उस युग तक न तो सम्प्रदायों का नामकरण हुआ था और न ही वे अस्तित्व में आये थे। मात्र गण, कुल, शाखा आदि का ही प्रचलन था और यह स्पष्ट है कि सिद्धसेन विद्याधर शाखा (कुल) के थे।

क्या सिद्धसेन यापनीय हैं ?

प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने सिद्धसेन दिवाकर के यापनीय होने के सन्दर्भ में जो तर्क दिये हैं, यहाँ उनको समीक्षा कर लेना भी अप्रासंगिक नहीं होगा^१।

(१) सर्वप्रथम उनका तर्क यह है कि सिद्धसेन दिवाकर के लिए आचार्य हरिभद्र ने श्रुतकेवली विशेषण का प्रयोग किया है और श्रुतकेवली यापनीय आचार्यों का विशेषण रहा है। अतः सिद्धसेन यापनीय हैं। इस सन्दर्भ में हमारा कहना यह है कि श्रुतकेवली विशेषण न केवल यापनीय परम्परा के आचार्यों का अपितु श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन आचार्यों का भी विशेषण रहा है। यदि श्रुतकेवली विशेषण श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही परम्पराओं में पाया जाता है तो फिर यह निर्णय कर लेना कि सिद्धसेन यापनीय हैं उचित नहीं होगा।

1. Siddhasena's Nyayavataar and other works.—A. N. upadhye—Introduction—P. xiii to xviii

(२) आदरणीय उपाध्ये जी का दूसरा तर्क यह है कि सन्मति सूत्र का श्वेताम्बर आगमों से कुछ बातों में विरोध है। उपाध्ये जी के इस कथन में इतनी सत्यता अवश्य है कि सन्मतिसूत्र की अभेदवादी मान्यता का श्वेताम्बर आगमों से विरोध है। मेरी दृष्टि से यही एक ऐसा कारण रहा है कि श्वेताम्बर आचार्यों ने अपने प्रबन्धों में उनके सन्मति तर्क का उल्लेख नहीं किया है। लेकिन मात्र इससे वे न तो आगम विरोधी सिद्ध होते हैं और न यापनीय ही। सर्वप्रथम तो श्वेताम्बर आचार्यों ने उन्हें अपनी परम्परा का मानते हुए ही उनके इस विरोध का निर्देश किया है कभी उन्हें भिन्न परम्परा का नहीं कहा है। दूसरे यदि हम सन्मतिसूत्र को देखे तो स्पष्ट हो जाता है कि वे आगमों के आधार पर ही अपने मत की पुष्टि करते थे। उन्होंने आगम मान्यता के अन्तर्विरोध को स्पष्ट करते हुए यह सिद्ध किया है कि अभेदवाद भी आगमिक धारणा के अनुकूल है। वे स्पष्टरूप से कहते हैं कि आगम के अनुसार केवलज्ञान सादि और अनन्त है, तो फिर क्रमवाद सम्भव नहीं होता है क्योंकि केवलज्ञानोपयोग समाप्त होने पर ही केवल दर्शनोपयोग हो सकता है। वे लिखते हैं कि सूत्र की आशातना से डरने वाले को इस आगम वचन पर भी विचार करना चाहिए^१। वस्तुतः अभेदवाद के माध्यम से वे, उन्हें आगम में जो अन्तर्विरोध परिलक्षित हो रहा था, उसका ही समाधान कर रहे थे। वे आगमों की तार्किक असंगतियों को दूर करना चाहते थे और उनका यह अभेदवाद भी उसी आगमिक मान्यता को तार्किक निष्पत्ति है, जिसके अनुसार केवलज्ञान सादि किन्तु अनन्त है। वे यही सिद्ध करते हैं कि क्रमवाद भी आगमिक मान्यता के विरोध में है।

(३) प्रो० उपाध्ये जी का यह कथन सत्य है कि सिद्धसेन दिवाकर का केवली के ज्ञान और दर्शन के अभेदवाद का सिद्धान्त दिगम्बर परम्परा के युगपद्वाद के अधिक समीप है। हमें यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि सिद्धसेन के अभेदवाद का जन्म क्रमवाद और युगपद्वाद के अन्तर्विरोध को दूर करने हेतु ही हुआ है किन्तु यदि सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर या यापनीय होते तो उन्हें सीधे रूप से युगपद्वाद के सिद्धान्त

१. सुतासायणभीरूहि तं च ददुब्बयं होई ।
संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि ॥
सुतम्मि चेव साई-अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं ।
केवलणाणम्मि य दंसगस्स तम्हा सणिहणाइं ॥

को मान्य कर लेना था, अभेदवाद के स्थापन की क्या आवश्यकता थी? वस्तुतः अभेदवाद के माध्यम से वे एक ओर केवलज्ञान के मादि-अनन्त होने के आगमिक वचन की तार्किक सिद्धि करना चाहते थे, वहीं दूसरी ओर क्रमवाद और युगपदवाद की विरोधी अवधारणाओं का समन्वय भी करना चाहते थे। उनका क्रमवाद और युगपदवाद के बीच समन्वय का यह प्रयत्न स्पष्ट रूप से यह सूचित करता है कि वे दिगम्बर या यापनीय नहीं थे। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि सिद्धसेन ने क्रमवाद की श्वेताम्बर और युगपदवाद की दिगम्बर मान्यताओं का समन्वय किया है, तो उनका काल सम्प्रदायों के अस्तित्व के बाद होना चाहिए। इस सम्बन्ध में हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इन विभिन्न मान्यताओं का विकास पहले हुआ है और बाद में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया में किसी सम्प्रदाय विशेष ने किसी मान्यता विशेष को अपनाया है। पहले मान्यताएँ अस्तित्व में आयीं और बाद में सम्प्रदाय बने। युगपदवाद भी मूल भी में दिगम्बर मान्यता नहीं है, यह बात अलग है कि बाद में दिगम्बर परम्परा ने उसे मान्य रखा है। युगपदवाद का सर्वप्रथम निर्देश श्वेताम्बर कहे जाने वाले उमास्वाति के तत्त्वार्थधिगम भाष्य में है^१। सिद्धसेन के समक्ष क्रमवाद और युगपदवाद दोनों उपस्थित थे। चूँकि श्वेताम्बरों ने आगम मान्य किए थे इसलिए उन्होंने आगमिक क्रमवाद को मान्य किया। दिगम्बरों को आगम मान्य नहीं थे अतः उन्होंने तार्किक युगपदवाद को प्रश्रय दिया। अतः यह स्पष्ट है कि क्रमवाद एवं युगपदवाद की ये मान्यताएँ साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के पूर्व की है इस प्रकार युगपदवाद और अभेदवाद की निकटता के आधार पर सिद्धसेन को किसी सम्प्रदाय विशेष का सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अन्यथा फिर तो तत्त्वार्थभाष्यकार को भी दिगम्बर मानना होगा, किन्तु कोई भी तत्त्वार्थभाष्य की सामग्री के आधार पर उसे दिगम्बर मानने को सहमत नहीं होगा।

(४) पुनः आदरणीय उपाध्ये जी का यह कहना कि एक द्वात्रिंशिका में महावीर के विवाहित होने का संकेत चाहे सिद्धसेन दिवाकर को दिगम्बर घोषित नहीं करता हो, किन्तु उन्हें यापनीय मानने में इसे

१. सम्भिन्न ज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत् सर्वभाव ग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति ।

बाधा नहीं आती है, क्योंकि यापनीयों को भी कल्पसूत्र तो मान्य था ही। किन्तु कल्पसूत्र को मान्य करने के कारण वे श्वेताम्बर भी तो माने जा सकते हैं। अतः यह तर्क उनके यापनीय होने का सबल तर्क नहीं है। कल्पसूत्र श्वेताम्बर और यापनीयों के पूर्व का ग्रन्थ है और दोनों को मान्य है। अतः कल्पसूत्र को मान्य करने से वे दोनों के पूर्वज भी सिद्ध होते हैं।

आचार्य सिद्धसेन के कुल और वंश सम्बन्धी विवरण भी उनकी परम्परा निर्धारण में सहयोगी सिद्ध हो सकते हैं। प्रभावकचरित्र और प्रबन्धकोश में उन्हें विद्याधर गच्छ का बताया गया है। अतः हमें सर्वप्रथम इसी सम्बन्ध में विचार करना होगा। दिग्म्बर और यापनीयों में विद्याधर गच्छ होने की कोई भी प्रमाण नहीं है। दिग्म्बर परम्परा ने सेन नामान्त के कारण उनको सेनसंघ का मान लिया है। यद्यपि यापनीय और दिग्म्बर ग्रन्थों में जहाँ उनका उल्लेख हुआ है वहाँ उनके गण या संघ का कोई उल्लेख नहीं है। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य सुस्थित के पाँच प्रमुख शिष्यों में स्थविर विद्याधरगोपाल एक प्रमुख शिष्य थे। उन्हीं से विद्याधर शाखा निकली। यह विद्याधर शाखा कोटिक गण की एक शाखा थी। हमारी दृष्टि में आर्य सिद्धसेन इसी विद्याधर शाखा में हुए हैं। परवर्ती काल में गच्छ नाम प्रचलित होने के कारण ही प्रबन्धों में इसे विद्याधर गच्छ कहा गया है।

कल्पसूत्र स्थविरावली में सिद्धसेन के गुरु आर्य वृद्ध का भी उल्लेख मिलता है। इस आधार पर यदि हम विचार करें तो आर्य वृद्ध का काल देवर्धिगणि से चार पीढ़ी पूर्व होने के कारण उनसे लगभग १२० वर्ष पूर्व रहा होगा अर्थात् वे वीर निर्वाण सम्वत् ८६० में हुए होंगे। इस आधार पर उनकी आर्य स्कंदिल से निकटता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि माथुरी वाचना का काल वीर निर्वाण सं० ८४० माना जाता है इस प्रकार उनका काल विक्रम की चौथी शताब्दी निर्धारित होता है। मेरी दृष्टि में संभावना यही है कि आचार्य सिद्धसेन इन्हीं आर्य वृद्ध के शिष्य रहे होंगे। अभिलेखों के आधार पर आर्य वृद्ध कोटिक गण की ब्रज शाखा के थे। विद्याधर शाखा भी इसी कोटिक गण की एक शाखा थी। गण की दृष्टि से तो आर्य वृद्ध और सिद्धसेन एक ही गण के सिद्ध होते हैं, किन्तु शाखा का अन्तर अवश्य विचारणीय है। सम्भवतः आर्य वृद्ध सिद्धसेन के विद्यागुरु हों, फिर भी इतना निश्चित है कि आचार्य सिद्धसेन का सम्बन्ध उसी कोटिक

गण से है जो श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही परम्पराओं का पूर्वज हैं। ज्ञातव्य है कि उमास्वाति भी इसी कोटिक गण की उच्चनागरी शाखा में हुए थे। पुनः कल्पसूत्र स्थिविरावली में आर्य वृद्ध के पूर्व आर्य भद्र का उल्लेख हुआ है। यदि ये आर्य भद्र वराहमिह्र के भाई भद्रबाहु (द्वितीय) हैं तो इससे भी जहाँ एक ओर सिद्धसेन की चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से समकालिकता सिद्ध होजाती है वहीं उनका काल भी निश्चित हो जाता है। हम चाहे उनके गण (वंश) की दृष्टि से विचार करे या काल की दृष्टि से विचार करें सिद्धसेन दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं यापनीय परम्पराओं के अस्तित्व में आने के पूर्व ही हो चुके थे। वे उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा में हुए हैं जो आगे चलकर श्वेताम्बर और यापनीय के रूप में विभाजित हुईं। यापनीय परम्परा के ग्रन्थों में सिद्धसेन का आदरपूर्वक उल्लेख उन्हें अपनी पूर्वज धारा के एक विद्वान आचार्य होने के कारण ही है। वस्तुतः सिद्धसेन को श्वेताम्बर या यापनीय सिद्ध करने के प्रयत्न इसलिए निरर्थक है कि पूर्वज धारा में होने के कारण क्वचित् मतभेदों के होते हुए भी वे दोनों के लिए समान रूप से ग्राह्य रहे हैं। श्वेताम्बर और यापनीय दोनों को यह अधिकार है कि वे उन्हें अपनी परम्परा को बताएँ किन्तु उन्हें साम्प्रदायिक अर्थ में श्वेताम्बर या यापनीय नहीं कहा जा सकता है। वे दोनों के ही पूर्वज है

(७) प्रो० ए०एन० उपाध्ये ने उन्हें कर्नाटकीय ब्राह्मण बताकर कर्नाटक में यापनीय परम्परा का प्रभाव होने से उनको यापनीय परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया है। किन्तु उत्तर-पश्चिम कर्नाटक में उपलब्ध पाँचवी, छठीं शताब्दी के अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि उत्तर भारत के श्वेतपट्ट महा-श्रमणसंघ का भी उस क्षेत्र में उतना ही मान था जितना निर्ग्रन्थ संघ और यापनीयों का था। उत्तर भारत के ये आचार्य भी उत्तर कर्नाटक तक की यात्रायें करते थे। सिद्धसेन यदि दक्षिण भारतीय ब्राह्मण होंगे तो इससे यह फलित नहीं होता है कि वे यापनीय थे। उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा, जिससे श्वेताम्बर और यापनीयों का विकास हुआ है, का भी बिहार दक्षिण में प्रतिष्ठानपुर अर्थात् उत्तर पश्चिमी कर्नाटक तक निर्वाध रूप से होता रहा है। अतः सिद्धसेन का कर्नाटकीय ब्राह्मण होना का उनके यापनीय होने का प्रबल प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

मेरी दृष्टि में इतना मानना ही पर्याप्त है कि सिद्धसेन कोटिक गण की उस विद्याधर शाखा में हुए थे जो कि श्वेताम्बर और यापनीयों की पूर्वज है।

(८) पुनः कुन्द-कुन्द के ग्रन्थों और वट्टकेर के मूलाचार की जो सन्मतिसूत्र से निकटता है, उसका कारण यह नहीं है कि सिद्धसेन दक्षिण भारत के वट्टकेर या कुन्द-कुन्द से प्रभावित हैं। अपितु स्थिति इसके ठीक विपरीत है। वट्टकेर और कुन्द-कुन्द दोनों ही ने प्राचीन आगमिक धारा और सिद्धसेन का अनुकरण किया है। कुन्द-कुन्द के ग्रन्थों में त्रस-स्थावर का वर्गीकरण, चतुर्विध मोक्ष मार्ग की कल्पना आदि पर आगमिक धारा का प्रभाव स्पष्ट है चाहे यह यापनीयों के माध्यम से ही उन तक पहुँचा हो। मूलाचार का तो निर्माण ही आगमिक धारा के निर्युक्ति और प्रकीर्णक साहित्य के आधार पर हुआ है। उस पर सिद्धसेन का प्रभाव होना भी अस्वाभाविक नहीं है। आचार्य जटिल के वरांग चरित में भी सन्मति को अनेक गाथाएँ अपने संस्कृत रूपान्तर में प्रस्तुत है। यह सब इसी बात का प्रमाण है ये सभी अपने पूर्ववर्ती-आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित है।

प्रो० उपाध्येजी का यह मानना, कि महावीर का सन्मतिनाम कर्नाटक में अति प्रसिद्ध है और सिद्धसेन ने इसी आधार पर अपने ग्रन्थ का नाम सन्मति दिया होगा, अतः सिद्धसेन यापनीय है, मुझे समुचित नहीं लगता है। श्वेताम्बर साहित्य में भी महावीर के सन्मति विशेषण का उल्लेख मिलता है, जैसे सन्मति से युक्त होने से वे श्रमण कहे गए। इस प्रकार प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने सिद्धसेन के यापनीय होने के जो-जो प्रमाण दिये हैं वे सबल प्रतीत नहीं होते हैं।

सुश्री कुमुम पटोरिया ने जुगल किशोर मुख्तार एवं प्रो० उपाध्ये के तर्कों के साथ-साथ सिद्धसेन को यापनीय सिद्ध करने के लिए अपने भी कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं। वे लिखती हैं कि सन्मतिसूत्र का श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी आदरपूर्वक उल्लेख है। जीतकल्प चूर्ण में सन्मतिसूत्र को सिद्धिविनिश्चय के समान प्रभावक ग्रन्थ कहा है। श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धिविनिश्चय को शिवस्वामि की कृति कहा गया है। शाकटायन व्याकरण में भी शिवार्य के सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख है। यदि एक क्षण के लिए मान भी लिया जाये कि ये शिवस्वामि भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य ही है तो भी इससे इतना ही फलित होगा कि कुछ यापनीय कृतियाँ श्वेताम्बरों को मान्य थी, किन्तु इससे सन्मतिसूत्र का यापनीयत्व सिद्ध नहीं होता है।

पुनः सन्मतिसूत्र में अर्द्धमागधी आगम के उद्धरण भी यही सिद्ध करते हैं कि वे उस आगमिक परम्परा के अनुसरणकर्ता हैं जिसके उत्तराधिकारी श्वेताम्बर एवं यापनीय दोनों हैं। यह बात हम पूर्व में ही प्रतिपादित कर चुके हैं कि आगमों के अन्तर्विरोध को दूर करने के लिए ही उन्होंने

अपने अभेदवाद की स्थापना की थी। सुश्री कुसुम पटोरिया ने विस्तार से सन्मत्तिसूत्र में उनके आगमिक अनुसरण की चर्चा की है। यहाँ हम उस विस्तार में न जाकर केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि सिद्धसेन उस आगमिक धारा में ही हुए हैं जिसका अनुसरण श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ने किया है और यही कारण है कि दोनों ही उन्हें अपनी-अपनी परम्परा का कहते हैं।

आगे वे पुनः यह स्पष्ट करती है कि गुण और पर्याय के सन्दर्भ में भी उन्होंने आगमों का स्पष्ट अनुसरण किया है और प्रमाणरूप में आगम वचन उद्धृत किये हैं। यह भी उन्हें आगमिक धारा का ही सिद्ध करता है। श्वेताम्बर और यापनीय दोनों धारार्ये अर्धमागधी आगम को प्रमाण मानती हैं। सिद्धसेन के सम्मुख जो आगम थे वे देवद्वि वाचना के न होकर माथुरी वाचना के रहे होंगे क्योंकि देवद्वि निश्चित ही सिद्धसेन से परवर्ती हैं।

सुश्री पटोरिया ने मदनूर जिला नेल्लौर के एक अभिलेख^१ का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि कोटमुडुवगण में मुख्य पुष्यार्हणन्दि गच्छ में गणधर के सदृश जिननन्दी मुनीश्वर हुए हैं उनके शिष्य पृथ्वी पर विख्यात केवलज्ञान निधि के धारक स्वयं जिनेन्द्र के सदृश दिवाकर नाम के मुनि हुए। यह सत्य है कि यह कोटिमडुवगण यापनीय है किन्तु इस अभिलेख में उल्लिखित दिवाकर सिद्धसेन दिवाकर है, यह कहना कठिन है क्योंकि इसमें इन दिवाकर के शिष्य श्रीमंदिर देवमुनि का उल्लेख है जिनके द्वारा अधिष्ठित कटकाभरण नामक जिनालय को यह दान दिया गया था। यदि दिवाकर मन्दिरदेव के गुरु हैं तो वे सिद्धसेन दिवाकर न होकर अन्य कोई दिवाकर हैं क्योंकि इस अभिलेख के अनुसार मन्दिरदेव का काल ईस्वी सन् ९४२ अर्थात् वि० सं० १००२ है। इनके गुरु इनसे ५० वर्ष पूर्व भी माने जायें तो वे दसवीं शताब्दी उत्तरार्ध में ही सिद्ध होते जबकि सिद्धसेन दिवाकर तो किसी स्थिति में पाँचवीं शती से परवर्ती नहीं है। अतः वे दिवाकर सिद्धसेन दिवाकर नहीं हो सकते हैं। दोनों के काल में लगभग ६०० वर्ष का अन्तर है यदि इसमें उल्लेखित दिवाकर को मन्दिरदेव का साक्षात् गुरु न मानकर परम्परा गुरु मानें तो इससे उनका यापनीय होना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि परम्परा गुरु के रूप में तो गौतम आदि गणधरों एवं भद्रबाहु आदि प्राचीन आचार्यों का भी उल्लेख किया जाता है। अन्त में सिद्ध यही होता है कि सिद्धसेन दिवाकर यापनीय न होकर यापनीयों और श्वेताम्बरों—दोनों के पूर्वज थे। ●

तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा

तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म और दर्शन का संस्कृत भाषा में सूत्र शैली में निबद्ध प्राचीनतम और सम्भवतः प्रथम ग्रन्थ है। जब विभिन्न दर्शनों में, अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए संक्षिप्त सूत्र शैली के ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे जाने लगे, तो उसी क्रम में जैन परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र की रचना हुई। यह ग्रन्थ सांख्यसूत्र, योगसूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, ब्रह्मसूत्र आदि की शैली में ही लिखा गया है। और उनसे प्रभावित तथा उनका समकालीन या किञ्चित् परवर्ती है यह ग्रन्थ १० अध्यायों में विभक्त है। इसका प्रारम्भिक सूत्र मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करता है। इसके प्रथम अध्याय में पंचज्ञानों, चारनिश्चेषों और सप्त नयों का विवेचन है, द्वितीय अध्याय में जीव का तथा तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में क्रमशः नरक और स्वर्ग का विवेचन है। पंचम अध्याय में षट्द्रव्यों का और विशेष रूप से पुद्गल का विवेचन है। षष्ठम एवं सप्तम अध्यायों में क्रमशः आश्रव एवं संवर की चर्चा है, जिसका मुख्य सम्बन्ध सदाचार और दुराचार से है। अष्टम अध्याय बन्ध की चर्चा के प्रसंग में जैन कर्म सिद्धान्त का और नवम अध्याय निर्जरा के रूप में तप, ध्यान आदि का विवेचन करता है। अन्त में दसवें अध्याय में मोक्ष की चर्चा है। इसका रचनाकाल लगभग ईसा की तीसरी शताब्दी माना जाता है। इस ग्रन्थ की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसे जैनधर्म के सभी सम्प्रदाय मान्य करते हैं, यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य सूत्र-पाठ में क्वचित् अन्तर है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा के विद्वानों ने इसे अपनी-अपनी परम्परा में रचित सिद्ध करने हेतु अनेक लेखादि लिखे हैं। मैंने उन सभी लेखों को, जिन्हें दोनों परम्पराओं के परम्परागत विद्वानों एवं कुछ तटस्थ विदेशी विद्वानों ने लिखा, देखने का प्रयास किया और उन सबको देखने के पश्चात् मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि तत्त्वार्थसूत्र उस युग की रचना है, जब जैन परम्परा में अनेक प्रश्नों पर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मतभेद उभरकर सामने आने लगे थे और जैन संघ विभिन्न गण, कुल और शाखाओं में विभक्त हो गया। किन्तु इन मतभेदों एवं गणभेदों के होते हुए भी तब तक जैन संघ श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे विभागों में विभाजित नहीं हुआ था। मेरी दृष्टि में तत्त्वार्थ-

सूत्र की रचना उत्तर भारत की उस निर्ग्रन्थ परम्परा में हुई, जो उसकी रचना के पश्चात् एक-दो शताब्दियों में ही सचेत-अचेत ऐसे दो भागों में स्पष्ट रूप से विभक्त हो गई जो क्रमशः श्वेताम्बर और यापनीय (बोटिक) के नाम से जानी जाने लगी। जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है, उन्हें यह ग्रन्थ उत्तर भारत की अचेत परम्परा, जिसे यापनीय कहा जाता है, से ही प्राप्त हुआ। जहाँ तक इस ग्रन्थ के आधारभूत साहित्य का प्रश्न है, इसका आधार न तो षट्खण्डागम और कसाय-पाहुड़ आदि यापनीय ग्रन्थ है और न ही कुन्द-कुन्द के दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ है। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य बलभी वाचना के जो आगम वर्तमान में प्रचलित हैं वे भी इसका आधार नहीं माने जा सकते क्योंकि यह वाचना उमास्वाति के पश्चात् लगभग ईसा की पाँचवीं शती के उत्तरार्ध में हुई है। आर्य स्कन्दिल को अध्यक्षता में हुई माथुरी वाचना के आगम इसका आधार है ऐसा भी निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक तो यह वाचना भी उमास्वाति के किञ्चित् पश्चात् ईसा की चौथी शतीमें ही हुई है। दूसरे इसके आगम आज उपलब्ध नहीं है। संभावना यही है कि इस ग्रन्थ की रचना के आधार उच्चैनगिर शाखा में प्रचलित फल्गुमित्र के काल के आगम ग्रन्थ रहे हो। यद्यपि इतना निश्चित है कि ये आगम वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों से बहुत भिन्न नहीं थे। फिर भी त्रिविध पाठ भेदों का होना असम्भव नहीं है। आगे हम इन्हीं प्रश्नों पर थोड़ी गहराई से चर्चा करेंगे और यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ता की वास्तविक परम्परा क्या है ?

तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता—तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञ भाष्य के कर्ता के रूप में उमास्वाति का नाम सामान्य रूप से सर्वमान्य है किन्तु पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री ने उसके कर्ता के रूप में उमास्वाति के स्थान पर गुद्धपिच्छाचार्य को स्वीकार किया है। वे इस बात पर भी बल देते हैं कि दिगम्बर परम्परा में जो तत्त्वार्थ के कर्ता के रूप में उमास्वाति का उल्लेख मिलता है वह परवर्ती है। उनके शब्दों में वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थाधिगम की रचना की थी किन्तु यह नाम तत्त्वार्थसूत्र का न होकर तत्त्वार्थ के भाष्य का है^१। पं० फूलचन्द जी ने इस सम्बन्ध में तीन प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। प्रथम प्रमाण यह है कि षट्खण्डागम की बवल

१. सर्वार्थसिद्धि पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री—भारतीय ज्ञानपीठ-काशी, प्रस्तावना पृ० ६४

टीका में वीरसेन (९ वीं शती उत्तरार्ध) ने जीवस्थान के काल अनुयोग द्वार में तत्त्वार्थसूत्रकार के नाम के उल्लेखपूर्वक तत्त्वार्थसूत्र का एक सूत्र उद्धृत किया है—“तद्गृह्यपिच्छादिरियाप्यासिद तच्चत्थसुत्तेवि वर्तनापरिणाम क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य” (धवलाटीका समन्वित पट्ट-खण्डागम सं० हीरालाल); दूसरे विद्यानन्द (९ वीं शती उत्तरार्ध) ने भी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में “एतेन गृह्यपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, निर्णयसागरप्रेस पृ० ६) के रूप में तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता को गृह्यपिच्छाचार्य माना है। तीसरे वादिराजसुरि ने पार्श्वनाथचरितमें ‘गृह्यपिच्छं नतोऽस्मि’ कहकर गृह्यपिच्छाचार्य का उल्लेख किया है। इनमें दो प्रमाण नवीं शती के उत्तरार्ध एवं एक प्रमाण ग्यारहवीं शती का है। जबकि तत्त्वार्थ के कर्ता के रूप में दिगम्बर परम्परा में उमास्वाति के नाम के जो उल्लेख मिलते हैं वे सब विक्रम की १३ वीं शताब्दी पूर्व के नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि ११ वीं शताब्दी तक जैन परम्परा में तत्त्वार्थ के कर्ता गृह्यपिच्छ थे ऐसी मान्यता थी।” पुनः पं० फूलचन्दजी की दृष्टि में तत्त्वार्थसूत्र मूल के रचनाकार गृह्यपिच्छ और तत्त्वार्थभाष्य के रचनाकार उमास्वाति हैं। इन दोनों नामों के घालमेल से तत्त्वार्थ के कर्ता गृह्यपिच्छ उमास्वाति है ऐसी धारणा बनी। किन्तु दिगम्बर परम्परा के ही शिलालेखों में गृह्यपिच्छ को उमास्वाति का विशेषण माना गया है शिलालेख क्र० १०८ और १५५ से इस तथ्य की पुष्टि होती है।^१ गृह्यपिच्छ कभी भी किसी आचार्य का नाम नहीं हो सकता है वह तो विशेषण ही रहेगा। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति ही है और गृह्यपिच्छ उनका विशेषण है—इस बात को दिगम्बर

१. (अ) अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वशे तदीये सकलार्थवेदो ।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृह्यपक्षान् ।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तर गृह्यपिच्छम् ॥

(ब) श्रीमानुमास्वातिरथं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार ।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ॥
तस्यैव शिष्योऽजनि गृह्यपिच्छ द्वितीय संज्ञस्य बलाकपिच्छः ।
यत्सूक्तिरत्नानि भवन्ति लोके मुक्त्यंगनामोहनमण्डनानि ॥

—सर्वार्थसिद्धिः भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रस्तावना पृ० ६३ ।

विद्वान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार भी स्वीकार करते हैं^१ इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा में सुप्रचलित निम्न श्लोक भी उद्धृत करते हैं—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम् ।

वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वाति मुनीश्वरम् ॥

दिगम्बर परम्परा के ही दूसरे तटस्थविद्वान् पं० नाथुरामजी प्रेमी भी तत्त्वार्थभाष्य को स्वोपज्ञमानकर उसके कर्ता के रूप में उमास्वाति को ही स्वीकार करते हैं। पं० फूलचन्दजी केवल इसी भय से कि तत्त्वार्थ के कर्ता उमास्वाति को स्वीकार करने पर कहीं भाष्य को स्वोपज्ञ नहीं मानना पड़े, उसके कर्ता के रूप में गृध्रपिच्छाचार्य का उल्लेख करते हैं। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता गृध्रपिच्छ है, यह उल्लेख भी तो ९ वीं शती के उत्तरार्ध के हैं। यह ठीक है कि प्राचीन काल में ग्रन्थकर्ता मूलग्रन्थ में अपने को कर्ता के रूप में उल्लेखित न करके जिनवाणी के प्रति अपना विनय प्रदर्शित करते रहे हों। किन्तु पूज्यपाद देवनन्दी और भट्ट अकलंक तो तत्त्वार्थ के टीकाकार हैं—उनको कर्ता का उल्लेख करने में क्या आपत्ति थी? पुनः उस काल तक ग्रन्थ के आदि में पूर्वज आचार्यों का स्मरण करने की परम्परा भी प्रचलित हो गई थी। फिर दिगम्बर परम्परा की प्राचीन टीकाओं में उनके नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया? इसका एक मात्र कारण यही है कि वे उन्हें अपनी परम्परा का नहीं मानते थे। यही स्थिति विमलसूरि के सम्बन्ध में भी रही, पद्मचरित और पउमचरित में उनके ग्रन्थ 'पउमचरियं' का अनुसरण करके भी दिगम्बर एवं यापनीय आचार्यों ने उनके नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। मात्र सिद्धसेन ही इसके अपवाद हैं।

जहाँ दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ के कर्ता के रूप में ९ वीं शती के उत्तरार्ध से गृध्रपिच्छाचार्य के और १३ वीं शती से गृध्रपिच्छ उमास्वाति ऐसे उल्लेख मिलते हैं, वहाँ श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थभाष्य (३री-४ थी शती) तथा सिद्धसेनगणि (७ वीं शती) और हरिभद्र (८ वीं शती) की प्राचीन टीकाओं में भी उसके कर्ता के रूप में उमास्वाति का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है। मात्र यही नहीं उनके वाचकवंश और उच्चनागरी शाखा का भी उल्लेख है। जिन्हें श्वेताम्बर परम्परा अपनी मानती रही है।

१. देखें—जैनसाहित्य के और इतिहास पर विशद प्रकाश, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार—पृ० २०२ से १०८ तक

उमास्वाति का गृध्रपिच्छ विशेषण सम्भवतः यापनीय परम्परा से आया होगा। यह सत्य है कि दूसरी-तीसरी शताब्दी में उत्तर भारत की सबस्त्रपरम्परा में भी पक्षियों के पंखों से निर्मित पिच्छी का प्रचलन था, यह तथ्य मथुरा की आचार्यों एवं मुनियों की सबस्त्र प्रतिमाओं से सिद्ध होता है और सम्भव है कि उमास्वाति गृध्र के पंखों से निर्मित पिच्छी रखते हो और इस कारण उनका एक विशेषण गृध्रपिच्छ बन गया हो। चूँकि श्वेताम्बर परम्परा में उनका वाचक विशेषण प्रचलित रहा, अतः उन्होंने गृध्रपिच्छ विशेषण न अपनाया हो। यदि पं० फूलचन्दजी, उल्लेखों की प्राचीनता के आधार पर उमास्वाति नाम अस्वीकार कर गृध्रपिच्छ नाम अपनाते हैं, तो फिर उन्हें यह स्वीकार करना होगा कि गृध्रपिच्छ नाम (वि० ९ वीं शती उत्तरार्ध) की अपेक्षा भी उमास्वाति नाम का उल्लेख प्राचीन है, क्योंकि यह नाम भाष्य से तो मिलता ही है—भाष्य के काल को वे चाहे कितना ही नीचे लाये, उसे श्लोकवार्तिक और ध्वला टीका—जिनमें गृध्रपिच्छ नाम आया है, से तो प्राचीन मानना होगा—क्योंकि ध्वला में तत्त्वार्थभाष्य का स्पष्ट उल्लेख है। पुनः जब विद्यानन्दी अपने ग्रन्थ आप्तपरीक्षा की स्वोपज्ञ वृत्ति में 'तत्त्वार्थसूत्रकाररुमास्वातिप्रभृतिभिः' (श्लोक ११९) कहकर उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता मान रहे हैं—फिर पं० फूलचन्द जी यह कथन किस आधार पर करते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति नहीं किन्तु गृध्रपिच्छ है? पुनः गृध्रपिच्छ और उमास्वाति अभिन्न है या भिन्न भिन्न व्यक्ति है, इस प्रश्न पं० सुखलालजी ने अपनी भूमिका (पृ०७८)में विस्तार से चर्चा की है। हम उस सब चर्चा में उतरना नहीं चाहते हैं—इच्छुक व्यक्ति उस भूमिका को देख ले। जहाँ पं० सुखलाल जी उन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्ति मान रहे हैं, वहाँ पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार उन्हें अभिन्न मान रहे हैं। जहाँ उनमें भिन्नता मानकर पं० सुखलालजी यह सिद्ध करने को प्रयत्न कर रहे हैं कि उमास्वाति श्वेताम्बर है और गृध्रपिच्छ उनका विशेषण नहीं हो सकता है, क्योंकि पिच्छ धारण की परम्परा श्वेताम्बर नहीं है। वही जुगलकिशोरजी मुस्तार उन्हें अभिन्न सिद्धकर यह बताना चाहते हैं कि गृध्रपिच्छ विशेषण से वे दिगम्बर सिद्ध होते हैं, क्योंकि मयूरपिच्छ, गृध्रपिच्छ, बलाकपिच्छ धारण की परम्परा दिगम्बर है। इस सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण भिन्न है, मथुरा की सचेल मुनि-प्रतिमाओं से यह सिद्ध होता कि प्राचीनकाल में पिच्छ धारण की परम्परा सचेलपक्ष में भी रही है। अतः उमास्वाति का गृध्रपिच्छ विशेषण स्वीकार कर लेने पर भी उनको श्वेताम्बर परम्परा की

पूर्वज धारा में होने में कोई बाधा नहीं आती है। इसीलिये उमास्वाति और गृध्रपिच्छ भिन्नता और अभिन्नता के इस विवाद को मैं यहाँ नहीं उठा रहा हूँ। पं० सुखलालजी की भी यह भ्रान्ति हो है वे यह माने बैठे कि गृध्रपिच्छ, बलाकपिच्छ, मयूरपिच्छ आदि विशेषणों की सृष्टि दिगम्बर परम्परा में हुई है। प्राचीन सचेल धारा में भी पिच्छोंका ग्रहण होता था। पुनः विद्यानन्द के 'तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वातिप्रभृतिभिः' ऐसे बहु-वचनात्मक प्रयोग को देखकर उसके अर्थ को अपने-अपने ढंग से तोड़ने-मरोड़ने के जो प्रयत्न पं० फूलचन्द जो आदि दिगम्बर विद्वानों ने किये हैं वे भी उचित नहीं है। उसका स्पष्ट अर्थ इतना ही है कि 'तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों के रचियता उमास्वाति आदि आचार्य'—यहाँ बहुवचनात्मक प्रयोग से लेखक अन्य ग्रन्थों और अन्य आचार्यों का संग्रह करता है। किन्तु इससे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति है—इस मान्यता में कोई बाधा नहीं आती है। यह एक निश्चित सत्य है कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति है, फिर वे चाहे हम उन्हें गृध्रपिच्छ कहें या उच्चनागर शाखा के वाचक वंश के कहें, दोनों एक ही व्यक्ति के सूचक है। यह मानना कि गृध्रपिच्छ और उमास्वाति अलग-अलग व्यक्ति है—उसी प्रकार भ्रात है जिस प्रकार यह कहना कि तत्त्वार्थ के कर्ता तो गृध्रपिच्छ है और उमास्वाति मात्र भाष्यकार है। हमारे साम्प्रदायिक अभिनिवेशों के आधार पर इतिहास को झुठलाने के ये प्रयत्न निश्चय ही दुःखद हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के आधारभूत ग्रंथ—

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों यह मानते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना आगम ग्रन्थों के आधार पर हुई है, किन्तु प्रश्न यह है कि तत्त्वार्थ-सूत्र के लेखक के लिए वे आधारभूत आगम ग्रन्थ कौन से थे ? इस सन्दर्भ में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के विद्वानों में मतभेद है। दिगम्बर परम्परा के विद्वान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार^१, पं० परमानन्दजी शास्त्री^२, पं० कैलाशचन्दजी^३, डॉ० नेमिचन्दजी^४ एवं पं० फूलचन्दजी^५ ने

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश (पं० जुगलकिशोर मुख्तार) पृ० १२५।
२. अनेकांत वर्ष ४ किरण १—तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज, पं० परमानन्द शास्त्री।
३. जैन साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग, पं० कैलाशचन्दजी, चतुर्थ अध्याय।
४. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० १५९-१६२।
५. देखें—सर्वार्थसिद्धि पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तचार्य प्रस्तावना पृ० १३-१५।

इसकी विस्तार से चर्चा की है। दिगम्बर परम्परा के इन सभी विद्वानों के अनुसार उमास्वाति वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष के पश्चात् ही कभी हुए हैं। किन्तु दिगम्बरों के मतानुसार उस काल तक पूर्व एवं अंगधारी आचार्यों की परम्परा समाप्त हो गई थी। उमास्वाति के सामने अंग एवं पूर्वगत आगमिक साहित्य नहीं था। अतः दिगम्बर परम्परा के विद्वानों को यह कल्पना करनी पड़ी कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का आधार कसाय-पाहुड, षट्खण्डागम, तिलोयपण्णति एवं कुन्दकुन्द के ग्रंथ समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि रहे हैं। किन्तु इसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् जो अंग और अंग बाह्य आगमों की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं, तत्त्वार्थसूत्र का आधार अंग और अंगबाह्य आगम साहित्य को मानते हैं। स्थानकवासो आचार्य आत्मारामजी ने 'तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय' नामक ग्रन्थ में तत्त्वार्थसूत्र की रचना का आधार श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य को बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र की रचना का आगमिक आधार क्या है? इसे आगमों के उद्धरण देकर परिपुष्ट किया है।^१ आधुनिक दिगम्बर विद्वानों ने भी षट्खण्डागम, कसायपाहुड और विशेष रूप से कुन्दकुन्द के ग्रंथों को तत्त्वार्थसूत्र का आधार बताते हुए उनसे उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि अभी तक किसी भी दिगम्बर विद्वान् ने तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम समन्वय की शैली में तत्त्वार्थसूत्र के सभी सूत्रों का दिगम्बर परम्परा मान्य आगमनुल्य ग्रन्थों में कहाँ और किस रूप में निर्देश है—इसको स्पष्ट करने वाले किसी ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया है। मात्र पं० परमानन्द शास्त्री जी ने 'तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज' नामक लेख में, जो अनेकान्त वर्ष ४ किरण १ में प्रकाशित है, इस तथ्य का संकेत किया है। दिगम्बर परम्परा के विद्वान् यह भी उल्लेख करते हैं कि श्वेताम्बर आगम साहित्य की रचना तो पाँचवीं शताब्दी के बाद हुई है। तत्त्वार्थसूत्र में तो आगम के उद्धरण हैं ही नहीं, अब रहा तत्त्वार्थभाष्य तो उसके सम्बन्ध में वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह तो उसके भी बाद में ही किसी समय लिखा गया होगा। इस सम्बन्ध में पं० फूलचन्द जी, पं० सुखलाल जी के कथन को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करते हुए यह कहते हैं कि "तत्त्वार्थभाष्यकार ने तत्त्वार्थ की रचना के आधाररूप जिस अंग-अनंग श्रुत का अवलम्बन किया था, वह पूर्णतया स्थविर पक्ष को मान्य था, अतः तत्त्वार्थभाष्य श्वे० मान्य आगमों के बाद अर्थात् पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् कभी

१. देखें—तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय, उपाध्याय आत्मारामजी।

निर्मित हुआ।^१ दुर्भाग्य यह है कि हमारे दिगम्बर विद्वान् आगमों की अन्तिम वाचना (सम्पादन) और उनके पुस्तकारूढ़ होने अर्थात् ताड़पत्रों पर लिखे जाने के काल को ही आगम का रचना काल मान लेते हैं। यदि उसके पूर्व आगम थे ही नहीं, तो बलभी में संकलन और सम्पादन किसका हुआ होगा? क्या बलभी में कोई नये आगम ग्रन्थ रचे गये थे? यदि दिगम्बर परम्पराके विद्वानों के अनुसार तत्त्वार्थ की रचना के समय आगम थे ही नहीं तो फिर दिगम्बर परम्परा में उपलब्ध तत्त्वार्थसूत्र की उत्थानिका में उमास्वाति ने ऐसा स्पष्ट उल्लेख क्यों नहीं किया कि वर्तमान में अङ्ग-अनङ्ग श्रुतरूप आगमों का उच्छेद हा गया है और इसलिए जनसाधारण को जैनतत्त्वज्ञान का बोध कराने के लिये मैं इस ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त हुआ हूँ। यदि उमास्वाति ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को ही अपना आधार बनाया तो फिर तत्त्वार्थसूत्र एवं उसकी दिगम्बर टीकाओं की उत्थानिकाओं में कहीं भी कुन्दकुन्द को नामोल्लेख पूर्वक नमस्कार क्यों नहीं किया? क्यों तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि और अकलंक की राजवार्तिक आदि टीकायें उसके कर्ता के सम्बन्ध में भी कोई निर्देश नहीं करती? जबकि तत्त्वार्थभाष्य में तो स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि आगम के गम्भीर विषयों का सरलतापूर्वक संक्षेप में बोध कराने के लिए ही मैं इस ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त हुआ हूँ वे तत्त्वार्थभाष्य में अपने वंशपरिचय के साथ-साथ अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख करते हैं।^२ जबकि तत्त्वार्थसूत्र की प्राचीन

१. सर्वार्थसिद्धि, पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रस्तावना पृ० ३७।

२. वाचकमुख्यस्य शिव-श्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण ।
 शिष्येण घोषनन्दि-क्षमाश्रमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥१॥
 वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य ।
 शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तः ॥२॥
 न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
 कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्ध्यम् ॥३॥
 अर्हद्वचनं सम्यग्, गुरुक्रमेणागतं समवधार्यं ।
 दुःखार्तं च दुरागम-विहृतमतिलोकमवलोक्य ॥४॥
 इदमुच्चैर्नागिरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृढवम् ।
 तत्त्वार्थाधिगमाख्यं, स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥

दिगम्बर टीकायें इस सम्बन्ध में मौन साधे हुए हैं। इस रहस्य का कारण क्या है ?

क्या उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का आधार कुन्दकुन्द के ग्रन्थ हैं—

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने तत्त्वार्थ के आधार के रूप में मुख्यतया षट्खण्डागम, कसायपाट्टुड एवं कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को चर्चा की है^१, अन्य दिगम्बर विद्वान् भी इसी मत की पुष्टि करते हैं।^२ इस सम्बन्ध में सर्व-प्रथम तो यह विचार करना होगा कि क्या तत्त्वार्थसूत्र की रचना कसायपाट्टुड, षट्खण्डागम एवं कुन्दकुन्द के पश्चात् हुई। यह सत्य है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अनेक समानतायें परिलक्षित होती हैं, किन्तु मात्र इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उमास्वाति ने ही इन्हें कुन्दकुन्द से ग्रहण किया है। सम्भावना यह भी हो सकती है कि कुन्दकुन्द ने ही उमास्वाति से इन्हें लिया हो। हमें तो यह देखना होगा कि उनमें से कौन पूर्व में हुए और कौन पश्चात्। जहाँ तक दिगम्बर पट्टावलियों का प्रश्न है उनमें से कुछ में उमास्वाति को कुन्दकुन्द का साक्षात् शिष्य और कुछ में परम्परा शिष्य बताया गया है, किन्तु ये सभी पट्टावलियाँ पर्याप्त परवर्ती लगभग १०वीं शती के बाद की हैं अतः प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। स्वयं पं० नाथूराम जी प्रेमी जैसे निष्पक्ष दिगम्बर विद्वानों ने भी इन्हें प्रामाणिक नहीं माना है।^३ मर्कराभिलेख जिसको आधार बनाकर विद्वानों ने कुन्दकुन्द को १-३ शताब्दी के मध्य रखने का प्रयास किया था, अब अप्रामाणिक (जाली) सिद्ध हो चुका है।^४ अब ९वीं शताब्दी से पूर्व का कोई भी ऐसा अभिलेख

यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।

सोऽध्याबाधं सौख्यं, प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥

तत्त्वार्थभाष्य पीठिका कारिका २६-३१ ।

१. देखें—तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, नेमिचन्द्र शास्त्री (अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्) भाग २ पृ० १५९-१६२ ।
२. (अ) जैन साहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश (पं० जुगलकिशोर मुस्तार) पृ० १२५ ।
(ब) जैन साहित्य का इतिहास भाग २ (पं० कल्लाचन्दजी) पृ० २४९ ।
३. जैन साहित्य और इतिहास (पं० नाथूरामजी प्रेमी) पृ० ५३०-५३१ ।
४. Aspects of Jainology Vol. III Pt. Dalsukhbai Malvania

नहीं है, जो कुन्दकुन्द या उनकी अन्वय का उल्लेख करता हो । लगभग १०वीं शती तक कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के निर्देश या उन पर टीका की अनुपस्थिति भी यही सूचित करती है कि कुन्दकुन्द छठी शताब्दी के पूर्व तो किसी भी स्थिति में नहीं हुए हैं, इस तथ्यको प्रो० मधुसूदन ढाकी^१ और मुनि कल्याणविजय जी ने अनेक प्रमाणों से प्रतिपादित किया है।^२ जबकि उमास्वाति किसी भी स्थिति में तीसरी या चौथी शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नहीं होते हैं ।

वस्तुतः कुन्दकुन्द एवं उमास्वाति के काल का निर्णय करने के लिए कुन्दकुन्द एवं उमास्वाति के ग्रन्थों में उल्लिखित सिद्धान्तों का विकासक्रम देखना पड़ेगा । यह बात सुनिश्चित है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में गुणस्थान^३ और सप्तभंगी^४ का स्पष्ट निर्देश है । गुणस्थान का यह सिद्धान्त सम-वायोग के १४ जीव-समासों के उल्लेखों के अतिरिक्त श्वेताम्बरमान्य आगम साहित्य में सर्वथा अनुपस्थित है, यहाँ भी इसे श्वेताम्बर विद्वानों ने प्रक्षिप्त ही माना है । तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में भी इन दोनों सिद्धान्तों का पूर्ण अभाव है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र की सभी दिग्म्बर

Felicitation Vol. I, P. V. Research Institute Varanasi
English Section, M. A. Dhaky, The Date of Kundakunda-
carya p. 190.

१. Ibid. p. 189-190.

२. श्री पट्टावलीपरागसंग्रह, मुनि कल्याणविजय जी, पृ० १००-१०७ ।

३. (अ) गुणठाण मग्गणेहि य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहि ।
ठावण पंचविहेहि पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥
तेरहमे गुणठाणे सजोइ केवल्लिय होइ अरहंतो ।
चउत्तीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्टपडिहारा ॥

—बोधपाहुड ३१-३२

(ब) जीव समासाइं मुणी चउदसगुणठाणामाइं ॥—भावप्राभृत ९७

(स) पेव य जीवठाणा ण गुणठाणा य अत्थि जीवस्स ।—समयसार ५५

(द) णाहं मग्गठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण ।—नियमसार ७८

४. सिय अत्थि णत्थि उहयं अब्बत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।

दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥—पंचास्तिकायसार १४

टीकाओं में इन सिद्धान्तों के उल्लेख प्रचुरता से पाये जाते हैं।^१ पूज्यपाद देवचन्द्रो यद्यपि सप्तभंगी सिद्धान्त की चर्चा नहीं करते परन्तु गुणस्थान की चर्चा तो वे भी कर रहे हैं। दिगम्बर परम्परा में आगमरूप में मान्य छत्रखण्डागम तो गुणस्थान की चर्चा पर ही स्थित है।^२ उमास्वाति के तत्त्वार्थ में गुणस्थान और सप्तभंगी की अनुपस्थिति स्पष्ट रूप से यह

१. (अ) जीवाश्चतुर्दशसु गुणस्थानेषु व्यवस्थिताः मिथ्यादृष्टिः, सासादन-सम्यग्दृष्टिः, सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, असंयत सम्यग्दृष्टिः, संयतासंयत, प्रमत्तसंयतः, अप्रमत्तसंयतः, अपूर्वकरणस्थाने उपशमकः क्षपकः, अनि-वृत्तिबादरगुणस्थाने उपशमकः क्षपकः, सूक्ष्मसाम्परायस्थाने उपशमकः क्षपकः, उपशांतकषाय वीतरागछद्मस्थः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थः, सयोगी केवली, अयोगकेवलि चेति ।***।१।८

[जातव्य है कि गुणस्थान सम्बन्धी यह सम्पूर्ण विवरण पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित सर्वार्थसिद्धि में पृ० २९ से पृ० ९२ तक लगभग ६४ पृष्ठों में हुआ है—इसका तात्पर्य है कि पूज्यपाद के समक्ष यह सिद्धान्त पूर्ण विकसित रूप में था]

(ब) (i) प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि प्रतिषेध कलना सप्तभंगी १।६।५ तत्त्वार्थवार्तिक ।

[अकलंक के तत्त्वार्थवार्तिक में सप्तभंगी का यह विवरण पृ० ३३ से ३५ तक तीन पृष्ठों में उपलब्ध है (ज्ञानपीठ संस्करण)]

(ii) अकलंक ने तत्त्वार्थ १।८ में तो गुणस्थान का निर्देश नहीं किया मात्र मार्गणास्थानका निर्देश किया। किन्तु अध्याय के सूत्र ३ एवं अध्याय ९ के सूत्र ७ एवं २६ में गुणस्थान का निर्देश किया है।

***मिथ्यादृष्ट्यादि चतुर्दशगुणस्थान भेदात् ।५।३

जीवस्थानगुणस्थानानां गत्यादिषु मार्गणा लक्षणो धर्मः स्वारण्यातः ।

—१।७।१०

इस प्रकार अकलंक के सम्मुख सप्तभंगी और गुणस्थान उपस्थित थे ।

२. एदेसि चैव चोद्गमहं जीवसमासाणं***। छत्रखण्डागम १।१।५

(विस्तार एवं सभी नामों के लिये देखे—छत्रखण्डागम १।१।९-२२) जातव्य है कि छत्रखण्डागम गुणस्थानों के लिये समवायाग के जीवठाण के समान जीव-समास शब्द का प्रयोग करता है, गुणस्थान का नहीं। अतः दोनों के तत्सम्बन्धी विवरण में पर्याप्त समानता है और ये कुन्दकुन्द की अपेक्षा पूर्ववर्ती है)

सूचित करती है कि ये अवधारणाएँ उनके काल तक अस्तित्व में नहीं आयी थीं, अन्यथा आध्यात्मिक विकास और कर्मसिद्धान्त के आधार रूप गुणस्थान के सिद्धान्त को वे कैसे छोड़ सकते थे ? चाहे विस्तार रूप में चर्चा भले हो नहीं करते परन्तु उनका उल्लेख अवश्य करते हैं। तत्त्वार्थ-सूत्र^१ में, सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन, निर्जरा के परिणाम-स्वरूप आध्यात्मिक विकास की इन दस अवस्थाओं का चित्रण और इनमें गुणस्थानों के कुछ परिभाषिक नामों की उपस्थिति यही सिद्ध करती है कि उस काल तक गुणस्थान की अवधारणा निर्मित तो नहीं हुई थी, परन्तु अपना स्वरूप अवश्य ग्रहण कर रही थी। तत्त्वार्थसूत्र और गुणस्थान पर श्रमण अप्रैल-जून १९९२ में प्रकाशित मेरा स्वतन्त्र लेख देखे। पं० दलसुखभाई के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित जो दस नाम मिलते हैं, वे बौद्धों की दसभूमियों की अवधारणा पर निर्मित हुए हैं और इन्हों से आगे गुणस्थान की अवधारणा का विकास हुआ है। यदि उमास्वाति के समक्ष गुणस्थान की अवधारणा होती तो फिर वे आध्यात्मिक विकास की इन दस अवस्थाओं की चर्चा न करके १४ गुणस्थानों की चर्चा अवश्य करते। ज्ञातव्य है कि कषायपाहुडसुत्त में भी तत्त्वार्थसूत्र के समान गुण-स्थान सिद्धान्त के कुछ परिभाषिक शब्दों की उपस्थिति होते हुए भी सुव्यवस्थित गुणस्थान सिद्धान्त का अभाव देखा जाता है। जबकि कसाय-पाहुडसुत्त के चूर्ण-सूत्रों में गुणस्थान सिद्धान्त की उपस्थिति देखी जाती है। कषायप्राभृत के कुछ अधिकारों के नाम तत्त्वार्थसूत्र के समान ही

१. (अ) सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानन्तवियोजक दर्शनमोह क्षपकोपशमकोप-शांतमोहक्षपक क्षीणमोहजिनाः...।—तत्त्वार्थ १।४५

[इसी अवधारणा से गुणस्थान की अवधारणा का विकास हुआ है, इसका प्रमाण यह है कि पूज्यपाद गुणस्थान की चर्चा में गुणस्थान के अपने नाम के साथ-साथ उपशमक क्षपक आदि उपयुक्त नामों का समन्वय करते हैं—देखे सर्वार्थसिद्धि १।८]

ज्ञातव्य है कि कसायपाहुडसुत्त में भी गुणस्थान सम्बन्धी कुछ पारिभाषिक शब्दों के होते हुए भी सम्पूर्ण सिद्धान्त का कहीं निर्देश नहीं है, अतः कसाय-पाहुडसुत्त और तत्त्वार्थसूत्र की समकालिकता सिद्ध होती है और दोनों स्पष्टतः सम्प्रदाय भेद के पूर्व की रचनाएँ हैं।

है—सम्यक्त्व, देशविरति, संयत, उपशामक, क्षयक गाथा ॥(१४)। फिर भी कसायपाहुड का विवरण तत्त्वार्थ की अपेक्षा कुछ अधिक व्यवस्थित एवं विस्तृत लगता है। ऐसा माना जा सकता है कि तत्त्वार्थसूत्र, कसायपाहुड और षट्खण्डागम में गुणस्थान की अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ है।

जैसाकि हमने निर्देश किया है श्वेताम्बरमान्य समवायांग में १४ जीवठाण के रूप में १४ गुणस्थानों का निर्देश है, किन्तु अनेक आधारों पर यह सिद्ध होता है कि समवायांग में प्रथम शती से पाँचवीं शती के बीच अनेक प्रक्षेप होते रहे हैं। अतः बलभी वाचना के समय ही जोव समास का यह विषय उसमें संकलित किया गया होगा। अन्य प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों जैसे—आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्वयन, दशवैकालिक, भगवती और यहाँ तक कि प्रथम शताब्दी में रचित प्रज्ञापना और जीवाभिगम में भी गुणस्थान का अभाव है। इन आगमों में ऐसे कई प्रसंग थे, जहाँ गुणस्थान को चर्चा की जा सकती थी, किन्तु उसका कहीं भी उल्लेख या नाम निर्देश तक न होना यही सिद्ध करता है कि तत्त्वार्थसूत्र के काल तक ये अवधारणाएँ अस्तित्व में नहीं आयी थीं। चूँकि कुन्दकुन्द^१, षट्खण्डागम^२, भगवती आराधना^३ और मूलाचार^४ आदि सभी इन अवधारणाओं की चर्चा करते हैं, अतः वे तत्त्वार्थ से पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। यदि यह कहा जाये कि उमास्वाति के समक्ष ये अवधारणाएँ उपस्थित तो थीं, किन्तु उन्होंने अनावश्यक समझकर उनका संग्रह नहीं किया होगा, तो फिर प्रश्न यह उठता है कि तत्त्वार्थभाष्य के अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र के सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर टोकाकार इस सिद्धान्त की चर्चा क्यों करते हैं? यहाँ तक कि तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम दिगम्बर टोकाकार पूज्यपाद देवनन्दी सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थ के प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र की चर्चा में न केवल इनका नाम निर्देश करते हैं। अपिपु इसकी अति विस्तृत व्याख्या भी करते हैं। यदि हम पूज्यपाद देवनन्दी का काल पाँचवीं का उत्तरार्ध और छठीं शताब्दी का पूर्वार्ध मानते

१. देखें—बोधपाहुड ३१, ३२, भावपाहुड ९७, समयसार ५५, नियमसार ७८

२. देखें—षट्खण्डागम १।१।५ तथा १।१।९-२२

३. भगवती आराधना १०८६-८८

४. मूलाचार, १२ (पर्याप्त-अधिकार)/१५४-१५५

हैं, तो हमें यह मानना होगा कि इसी काल में यह अवधारणा सुनिर्धारित होकर अपने स्वरूप में आ गई थी। यही काल श्वेताम्बर आगमों की अन्तिम वाचना का काल है। सम्भव यही है कि इसी समय उसे समवायांग में डाला गया होगा। अतः यह सुनिश्चित है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थ-सूत्र का आधार न तो कुन्दकुन्द के ग्रन्थ हैं और न षट्खण्डागम ही, क्योंकि ये सभी तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य के बाद की रचनाएँ हैं। यद्यपि कसायपाहुड को किसी सीमा तक तत्त्वार्थसूत्र का समसामयिक माना जा सकता है। फिर भी गुणस्थान सिद्धान्त की दृष्टि से यह तत्त्वार्थ से किञ्चित् परवर्ती सिद्ध होता है।

यद्यपि इससे हमारे कहने का तात्पर्य यह भी नहीं है कि बलभी वाचना के वर्तमान में श्वेताम्बरों द्वारा मान्य आगम उनके तत्त्वार्थसूत्र का आधार हैं, क्योंकि यह वाचना तो उमास्वाति के बाद की है। वस्तुतः स्कंदिल की माथुरी वाचना (वीर निर्वाण ८२७-८४०) के भी पूर्व फल्गुमित्र के समय जो आगम ग्रन्थ उपस्थित थे, वे ही तत्त्वार्थसूत्र की रचना के मुख्य आधार रहे हैं। मेरी दृष्टि में उमास्वाति स्कंदिल से पूर्ववर्ती है अतः उनका आधार फल्गुमित्र के युग के आगम ग्रन्थ ही थे। यद्यपि वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगमों से इनमें बहुत अधिक अन्तर नहीं रहा होगा, फिर भी कुछ पाठ भेद और मान्यता भेद तो अवश्य ही रहे होंगे। दूसरे वर्तमान में उपलब्ध श्वेताम्बर आगम कोटिकगण की वज्जीशाखा के हैं जबकि उमास्वाति कोटिकगण की उच्चनागरी शाखा में हुए हैं, इन दोनों शाखाओं में और उनके मान्य आगमों में कुछ मान्यताभेद और कुछ पाठभेद अवश्य ही रहा होगा, यह माना जा सकता है। सम्भवतः उसी उच्चनागरी शाखा में मान्य आगमों को ही उमास्वाति ने अपने ग्रन्थ की रचना का आधार बनाया होगा, जिसके परिणाम स्वरूप चार-पाँच स्थानों पर तत्त्वार्थसूत्र और उसकी भाष्यगत मान्यताओं में वर्तमान श्वेताम्बर आगमिक परम्परा की मान्यताओं से मतभेद आ गया है, जिसकी चर्चा हमने आगे की है। फिर भी इतना सुनिश्चित है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का आधार वे ही आगम ग्रन्थ रहे हैं, जो क्वचित् पाठभेदों के साथ श्वेताम्बरों में आज भी प्रचलित हैं और यापनीयों में भी प्रचलित थे। इससे इस भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना का आधार षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थ हैं, क्योंकि ये ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा पर्याप्त परवर्ती हैं और गुणस्थान, सप्तभंगी आदि परवर्ती युग में विकसित अवधारणाओं के उल्लेखों से युक्त है।

तत्त्वार्थसूत्र के मूलपाठ का प्रश्न

तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा का निर्धारण करने के लिए तत्त्वार्थसूत्र के प्रचलित पाठों में कौन-सा पाठ मौलिक है, इसका निर्णय करना भी आवश्यक है। वर्तमान में तत्त्वार्थसूत्र के दो पाठ प्रचलित हैं—(१) भाष्य-मान्य पाठ, जिसे सामान्यतया श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्वीकार किया जाता है और (२) सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ, जिसे दिगम्बर परम्परा में स्वीकार किया गया है। इन दोनों पाठों में से कौन-सा पाठ प्राचीन एवं मौलिक है, यह निर्णय इसलिए भी आवश्यक है कि उसके आधार पर ही तत्त्वार्थ-सूत्र की मौलिक परम्परा का निर्धारण किया जा सकता है। प्रचलित दोनों पाठों में तत्त्वार्थसूत्र का मूल प्राचीन पाठ कौन-सा है? इस समस्या के समाधान हेतु जापानी विद्वान् मुजिका ओहिरो ने पर्याप्त परिश्रम किया है।^१ किसी परम्परा विशेष से आबद्ध न होने के कारण उनका निर्णय तटस्थ भी माना जा सकता है। डॉ० मुजिका ओहिरो ने इस समस्या के समाधान हेतु तीन दृष्टियों से विचार किया है—

(१) भाषागत परिवर्तन, (२) सूत्रों का विलोपन और (३) सूत्रगत मतभेद।

इस सम्बन्ध में उनके विस्तृत निबन्ध का हिन्दी अनुवाद पं० सुखलाल जी द्वारा विवेचित तथा पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्र में संकलित किया गया है। यहाँ हम उसी को आधार बनाकर संक्षेप में चर्चा करेंगे—

भाषागत परिवर्तनों के सन्दर्भ में उनका निष्कर्ष यह है कि श्वेताम्बर मान्य पाठ आगमनुसार है, जबकि दिगम्बर मान्य पाठ में व्याकरण को प्रधानता दी गई है। व्याकरण और पदविन्यास की दृष्टि से पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों को निम्न दृष्टि से परिमार्जित किया है—

(अ) एक तरह के भावों का संयुक्तिकरण करने के लिए दो सूत्रों का एक सूत्र में समावेश।

(ब) शब्दक्रम की सम्यक् समायोजना।

(स) अनावश्यक शब्दों को निकालना और स्पष्ट भावाभिव्यक्ति के लिए कम से कम शब्दों को जोड़ना।

१. देखें—तत्त्वार्थसूत्र, पं० सुखलाल जी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान वाराणसी, ५, भूमिका भाग-पृ० ८४-१०७

(द) 'इति' शब्द द्वारा सूत्रों को वर्ग में बाँटना ।

सुजिको ओहिरो के अनुसार यद्यपि ऐसा करने में तकनीकी दृष्टि से बहुत-सी गलतियाँ हुई हैं, जिससे सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझने में कठिनाई होती है। इसका एक कारण तो यह है कि दक्षिण भारत में जैनाचार्यों के समक्ष उत्तर भारत की आगमिक परम्परा का अभाव था और दूसरा कारण यह है कि सूत्रकार की उस वास्तविक स्थिति को न समझ पाना, जिसमें जैन सिद्धान्त को तथा अन्य दार्शनिक मतों को बराबर ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ की रचना की गई थी। यद्यपि वे मानती हैं कि मात्र भाषागत अध्ययन से किसी ऐसे निष्कर्ष पर तो नहीं पहुँच जा सकता, जिससे कहा जा सके कि अमुक परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र मूलरूप में है और अमुक परम्परा में दूसरे से लिया गया है। फिर भी "उपर्युक्त आधार पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर पाठ आगमिक सन्दर्भ की दृष्टि से दिगम्बर पाठ से अधिक संगत है।" सुजिका ओहिरो के साथ-साथ कुछ श्वेताम्बर विद्वानों की भी मान्यता है कि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ व्याकरण की दृष्टि से अधिक परिष्कारित है। पूज्यपाद व्याकरण के विद्वान् थे अतः उन्होंने ही भाष्य-मान्य पाठ को व्याकरण की दृष्टि से परिष्कारित किया है और इस आधार पर सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ भाष्यमान्य पाठ की अपेक्षा परवर्ती सिद्ध होता है। मुझे उनके इस तर्क से तो कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु अनेक कारणों से ऐसा लगता है कि यह पाठ संशोधन का कार्य पूज्यपाद देवनन्दी ने नहीं किया है, अपितु इन्द्रनन्दी या अन्य किसी यापनीय परम्परा के व्याकरण के विद्वान् ने किया होगा। सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा संशोधित नहीं है, इस हेतु मैंने आगे अलग से तर्क दिये हैं, पाठक उन्हें वहाँ देख ले।

सूत्रों का विलोपन एवं वृद्धि—

डॉ० सुजिको ओहिरो ने सूत्रों के विलोपन के आधार पर यह माना है कि श्वेताम्बर पाठ को दिगम्बर पाठ में साररूप से समाहित किया गया है। ओहिरो के अनुसार सूत्रों के विलोपन एवं वृद्धि के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि दिगम्बर सूत्रों (३/१२-३२) की रचना भाष्य और जम्बूद्वीप-समास के आधार पर की गई है। तार्किक दृष्टि से दिगम्बर विद्वान् यह भी

१. देखें—तत्त्वार्थसूत्र, प० सुखलालजी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी ५, भूमिका भाग, पृ० ९२

कह सकते हैं कि भाष्य तथा जम्बूद्वीप समास की रचना दिगम्बर मान्य पाठ के आधार पर की गई है। यद्यपि मुजिको ओहिरो का कहना है कि श्वेताम्बर पाठ के १-३ वर्गों के सूत्रों के विलोपन के आधार पर अब तक जो विश्लेषण किया गया है उससे यही प्रमाणित होता है कि श्वेताम्बर पाठ मूल रूप में हैं। सूत्र शैली में यथाक्रम शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। 'सत् द्रव्य लक्षणम्' नामक सूत्र प्रस्तुत सन्दर्भ में उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, वरन् बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है, इससे यह सिद्ध होता है कि सूत्र ५/२९ तत्त्वार्थसूत्र के प्राचीन मूलपाठ का नहीं है। मुजिको ओहिरो के शब्दों में जहाँ तक दोनों आवृत्तियों में सूत्रों के विलोपन का प्रश्न है दिगम्बर परम्परा में मान्य पाठ श्वेताम्बर परम्परा में मान्य पाठ से अधिक संशोधित प्रतीत होता है।^१

सूत्रगत मतभेद—

डॉ० मुजुको ओहिरो ने तथा अन्य श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानों ने भाष्यमान्य और सवार्थसिद्धिमान्य पाठों के उन सूत्रगत मतभेदों की विस्तार से चर्चा की है जो या तो आगमिक श्वेताम्बर परम्परा से या दिगम्बर मान्यताओं से संगति नहीं रखते हैं। डॉ० मुजिकोओहिरो ने सूत्रगत ऐसे आठ मतभेदों का संकेत किया है—

१. नय के प्रकार

२. त्रस एवं स्थावर का विभाजन

३. अन्तराल गति में जीव तीन समय तक अनाहारक रहता है।

४. आहारक शरीर चतुर्दश पूर्वधर को होता है।

आहारक शरीर प्रमत्तसंयत को होता है।

५. ज्योतिष देवों में तेजोलेश्या होती है, भवनपति व व्यन्तरों में कृष्ण से तेजस् तक चार लेश्याएँ होती है, इस प्रकार भवनपति, व्यन्तर एवं ज्योतिष्क इन तीन देवनिकायों में चार लेश्याएँ पायी जाती हैं।

६. बारह कल्प देवलोक है। दिगम्बर परम्परा मान्य पाठ (३/४) में बारह कल्प माने गये हैं, किन्तु ४/१९ में सोलह कल्प गिनाये हैं। तिलायपण्णत्ति (८/११४) में १२ कल्पों की गणना है।

७. कई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं या काल भी द्रव्य है।

१. देखें—तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलालजी, पार्श्वन्ताथ विद्याश्रम शोध-संस्थान वाराणसी ५, भूमिका भाग, पृ० ९७

८. सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुष्पवेद पुण्य प्रकृति है। किन्तु दोनों परम्पराओं में इन्हें पुण्य प्रकृति नहीं कहा गया है।

सुजिको ओहिरो के अनुसार उपर्युक्त आठ मतभेदों में दूसरे, तीसरे और आठवें मतभेद की पुष्टि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में आगमिक पद्धति के द्वारा होती है। पहला, चौथा और सातवाँ वास्तव में मतभेद नहीं है। पाँचवा और छठा विशेष महत्त्व के नहीं हैं।^१

इनके अतिरिक्त अन्य दो मतभेद-जो पुद्गल बन्ध के नियम तथा परिषदों के सम्बन्ध में हैं, ओहिरो की दृष्टि में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि ये मतभेद मूलसूत्रों को लेकर उतने नहीं हैं, अपितु उनकी व्याख्याओं के सम्बन्ध में हैं।^२ बन्ध के नियम के सन्दर्भ में डॉ० सुजिको ओहिरो का कहना है कि ये सूत्र श्वेताम्बर परम्परा सम्मत अर्थ के साथ अधिक संगत हैं। दिगम्बर परम्परा सम्मत अर्थ से इनका तालमेल नहीं बैठता है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में इस पाठ को षट्खण्डागम के अनुरूप बनाने का प्रयत्न अवश्य किया गया। वे लिखती हैं कि सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ में सूत्र मौलिक नहीं हैं, सूत्र ५/२५ बिना किसी विशेष विचार के अन्य सूत्रों के साथ अपना लिया गया मालूम होता है।^३ इससे श्वेताम्बर पाठ की मौलिकता सिद्ध होती है। इसी सन्दर्भ में परिषदों की चर्चा के प्रसंग में वे लिखती हैं कि “दिगम्बर आचार्यों ने ‘एकादश जिने’ सूत्र (९/११) को बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार कर लिया परन्तु अपने रूढ़िगत विश्वास के अनुसार टीकाओं में अर्थ सम्बन्धी संशोधन कर डाला। उन्होंने यह संशोधन उपचार की पद्धति से किया ताकि इस सूत्र का मूल अर्थ बिगड़ न जाए, किन्तु इसमें वे असफल रहे हैं।”^४

इससे यह निश्चित रूप से प्रमाणित होता है कि सूत्र ९/११ (११) मूलरूप में दिगम्बर परम्परा का नहीं है। अन्त में वे लिखती हैं कि “यह

१. तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलाल जी, पार्ष्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी ५, भूमिका भाग पृ० ९८-१००

२. वही पृ० १००-१०१।

३. तत्त्वार्थसूत्र-विवेचक पं० सुखलालजी (पा० वि० शोध संस्थान) भूमिका भाग पृ० १०३।

४. वही, पृ० १०६।

प्रमाणित हो जाता है कि श्वेताम्बरमान्य पाठ मूल है और दिगम्बर परम्परा में मान्य पाठ उससे व्युत्पन्न हुआ है।^१

इन सूत्रगत मतभेदों के सन्दर्भ में आगे हमने अलग से भी चर्चा की है और यह पाया है कि भाष्यमान श्वेताम्बर पाठ ही मूल है और वह आगमों के अनुकूल भी है। यद्यपि वर्तमान आगमिक मान्यताओं से कुछ स्थलों पर जो क्वचित् मतभेद दृष्टिगत होता है, वह इसलिए है कि एक तो आगमों में अनेक मान्यतायें संकलित हैं और दूसरे उमास्वातिके समक्ष बलभी वाचना के आगम न होकर फल्गुमित्र के काल के उच्चनागरी शाखा के आगम रहे होंगे।

क्या तत्त्वार्थसूत्र का भाष्य-मान्य पाठ अप्रामाणिक और परवर्ती है—

यह सत्य है कि सिद्धसेन गणि और हरिभद्र सूरि और अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने तत्त्वार्थभाष्य-मान्य पाठ के आधार पर अपनी टीकाएँ लिखीं और तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की रक्षा करने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्होंने उनके सूत्र में जो पाठ भेद और अर्थभेद हो गये थे, उनका भी उल्लेख किया है। यह सत्य है कि श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ के कुछ पाठभेद प्राचीन काल से ही प्रचलित रहे हैं, फिर भी उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। किन्तु इस आधार पर दिगम्बर परम्परा के विद्वान् यह तर्क उपस्थित करते हैं कि जब तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य एक ही व्यक्ति की कृति थी और श्वेताम्बर आचार्य इस तथ्य को भली-भाँति समझते थे, तब सूत्रपाठ के विषय में इतना पाठभेद क्यों हुआ? खासकर उस अवस्था में जबकि तत्त्वार्थभाष्य उस स्वीकृत पाठ को सुनिश्चित कर देता है।

सूत्रपाठ में मात्र तीन पाठान्तरों के आधार पर हमारे दिगम्बर विद्वान् यह कल्पना कर लेते हैं कि सूत्रपाठ और भाष्य मान्य पाठ के बीच पर्याप्त अन्तर है। पं० फूलचन्द जी लिखते हैं कि “हम तो इस समस्त मतभेदों को देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य-मान्य सूत्रपाठ स्वीकृत होने के पहले श्वेताम्बर परम्परा-मान्य सूत्रपाठ निश्चित करने के लिए छोटे-बड़े अनेक प्रयत्न हुए हैं, और वे प्रयत्न पीछे तक भी स्वीकृत होते रहे हैं।”^२ यही नहीं इस आधार पर हमारे दिगम्बर विद्वान् यह निष्कर्ष भी निकाल लेते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य स्वोपज्ञ नहीं है और दोनों के

१. वही, पृ० १०७।

२. सर्वार्थसिद्धि, सं० पं० फूलचंद जी, प्रस्तावना पृ० २३।

के बीच समय का एक लम्बा अंतराल है। इस सन्दर्भ में मैं यह बताना आवश्यक समझता हूँ कि वह युग लेखन का युग नहीं था। तत्त्वार्थभाष्य के काल तक जैन परम्परा में पुस्तक लेखन की प्रवृत्ति विकसित नहीं हुई थी। मुनि के लिए ग्रन्थ लेखन और लिखित ग्रन्थों का संग्रह करना प्रायश्चित्त योग्य अपराध माने जाते थे। क्योंकि ताड़पत्रों पर ग्रन्थ लिखने और उनका संग्रह करने दोनों में जीव हिंसा अपरिहार्य थी। जबकि सर्वार्थसिद्धि जिस काल में लिखी गई उस काल में लेखन की परम्परा प्रारम्भ हो चुकी थी। श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम वो० नि० सं० ९८० अर्थात् विक्रम सं० ५१० या ई० सन् ४५३ में यह सुनिश्चित किया गया कि यदि आगम साहित्य की रक्षा करना है तो उन्हें ताड़पत्रों पर लिखवाना और संग्रहित करना होगा। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में ग्रन्थ लेखन की प्रवृत्ति तत्त्वार्थभाष्य की रचना के लगभग दो सौ वर्ष बाद प्रारम्भ हुई। जो ग्रन्थ मुखाग्र परम्परा से २०० वर्षों तक चला हो उसमें पाठ भेद हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सभी मुनि तत्त्वार्थसूत्र को उसके भाष्य के साथ ही कंठस्थ तो नहीं नहीं करते थे, कुछ मात्र सूत्र को कंठस्थ करते रहे होंगे। अतः सूत्रगत पाठ और भाष्यगत पाठ में क्वचित् अन्तर आ गया हो। २०० वर्ष तक की मौखिक परम्परा में सूत्र और भाष्य के पाठों में कुछ अन्तर आ जाना अस्वाभाविक भी नहीं है।

पुनः हमारे दिगम्बर विद्वान् जितने अधिक जोर-शोर से इस पाठभेद की चर्चा को उछालते हैं, वैसा भी कुछ नहीं है, एक ही सूत्र में दो सर्व पद होने पर एक का छूट जाना, अस्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार 'नित्याऽवस्थितान्याः रूपानि' को एक सूत्र या दो सूत्र के रूप में स्वीकार करना कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। इन दो-तीन छोटी-छोटी बातों को उछालकर येन केन प्रकारेण भाष्य को सर्वार्थसिद्धि और अकलंक के राजवार्तिक से पीछे ले जाने का प्रयत्न है ताकि यह कहा जा सके कि दिगम्बर परम्परा के विद्वान् पूज्यपाद और अकलंक ने भाष्य से कुछ नहीं लिया है, बल्कि भाष्यकार ने ही उनसे लिया है।

दिगम्बर परम्परा के निष्पक्ष विद्वान् पं० नाथूराम प्रेमी ने पं० सुखलालजी के समान ही अनेक तर्क देकर भाष्य को स्वोपज्ञ और तत्त्वार्थसूत्र की प्राचीनतम टीका मान रहे हैं।^१ दूसरे लोग उसे स्वोपज्ञ मानने

२. जैन साहित्य और इतिहास (पं० नाथूरामजी प्रेमी) पृ० ५२४-५२९।

से केवल इसीलिए कतरा रहे हैं कि उसमें कुछ ऐसा भी है जो उनकी अपनी परम्परा के विरोध में जाता है। भाष्य में मात्र दो-तीन स्थलों पर वस्त्र, पात्र सम्बन्धी कुछ बातें हैं (देखें—भाष्य ९/५, ९/७, ९/२६), जो उनकी दृष्टि में दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाती है और केवल इसीलिए वे उसे अस्वीकार कर देते हैं। जबकि सूत्र और भाष्य में कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जो वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा के भी विरोध में जाते हैं। जिस प्रकार श्वेताम्बर टीकाकार भाष्यकार को अपनी परम्परा का मानते हुए भी उसके मतों को स्वीकार नहीं करते हैं, उसी प्रकार दिगम्बर विद्वान् भी ऐसा कर सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

यदि हम निष्पक्ष हृदय से विचार करें तो हमें यह प्रतीत होता है कि परवर्ती दिगम्बर परम्परा में जैसी कट्टरवादिता रही है, वैसी श्वेताम्बर परम्परा में नहीं रही है। यदि भाष्यगत और सूत्रगत पाठ में दो-तीन स्थलों पर जो थोड़ा सा अन्तर है, वह भाष्य की स्वोपज्ञता का विरोधी माना जा सकता है तो हम पूछना चाहेंगे कि सर्वार्थसिद्धि के दो प्रकाशित संस्करणों में मात्र प्रथम अध्याय में इतने अधिक पाठभेद क्यों और कैसे हो गये हैं? स्वयं पं० फूलचन्द जो सिद्धान्तशास्त्री ने अपने द्वारा सम्पादित सर्वार्थसिद्धि में मात्र अपनी परम्परा से संगति बिठाने के लिये क्यों अनेक पाठ बिना किसी ठोस आधार पर बदल दिये हैं। इस संबंध में विस्तृत चर्चा आगे की है और उनके ही कथन को पाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत किया है। भगवती आराधना के मूलपाठ और उसकी टीका में उल्लेखित मूल पाठ से अन्तर क्यों है? प्राचीन स्तर के ग्रन्थों का साम्प्रदायिकता के चश्मे से मूल्यांकन करना भी उचित नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य न तो श्वेताम्बर है और न दिगम्बर ही, उसकी स्थिति मथुरा के साधु-साध्वियों के अंकन के समान है, जिन्हें श्वेताम्बर या दिगम्बर नहीं कहा जा सकता है अथवा फिर दोनों ही कहा जा सकता है। वे श्वेताम्बर माने जा सकते हैं क्योंकि उनके पास वस्त्र और पात्र हैं, साथ ही उनके गण, शाखा, कुल आदि श्वेताम्बर मान्य कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार हैं। वे दिगम्बर भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे नग्न जिन-प्रतिमा की उपासना कर रहे हैं और स्वयं भी नग्न हैं। वे यापनीय भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि अचेलता को मान्य करके भी अपवाद रूप में वस्त्र और पात्र ग्रहण कर रहे हैं (देखें—परिशिष्ट के चित्र)। तत्त्वार्थ-सूत्र को श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय के चश्मे देखना ही मूर्खता है, क्योंकि वह तो इनके विभाजन के पूर्व का है।

क्या तत्त्वार्थ का सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ स्वयं देवनन्दी के द्वारा संशोधित है ? या भाष्यमान पाठ स्वयं उमास्वाति का न होकर किसी अन्य श्वेताम्बर आचार्य द्वारा संशोधित है ?

सामान्यतया श्वेताम्बर विद्वानों के द्वारा यह माना जाता है कि पूज्यपाद देवनन्दी ने तत्त्वार्थ के पाठ को अपनी परम्परा के अनुसार संशोधित करके उस पर सर्वार्थसिद्धि नामक टीका लिखी। इसके दूसरे ओर दिगम्बर विद्वान् यह मानकर चलते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य के कर्ता ने तत्त्वार्थ के पाठ को अपनी परम्परानुसार ढाल करके उस पर भाष्य लिखा। हमारी दृष्टि में ये दोनों ही कथन सही नहीं है। क्योंकि यदि हम यह माने कि पूज्यपाद देवनन्दी दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे और उन्होंने दिगम्बर परम्परानुसार तत्त्वार्थ के पाठ को संशोधित किया था तो यह समझ में नहीं आता कि फिर उन्होंने मूलपाठ में वे सब बातें, जैसे 'एकादश जिने'^१ अथवा 'द्वादशविकल्पाः'^२, जो कि उनकी परम्परा के विपरीत थी, क्यों रहने दी ? जब कोई व्यक्ति अपनी परम्परा के अनुसार किसी ग्रन्थ को संशोधित करता है तो ऐसा नहीं होता है कि उसमें कुछ मान्यताओं को संशोधित करे और कुछ को वैसा ही रहने दे। यदि 'एकादशजिने' पाठ, जो स्पष्ट रूप से दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाता है और जिसके लिए स्वयं पूज्यपाद 'एकादशजिने न सन्ति वाक्य-शेषकल्पनीयः' कहकर 'न सन्ति' का अध्याहार करते हैं तो प्रश्न उन्स्थित होता है कि जब उन्होंने इतने सारे पाठ बदले तो क्यों नहीं यहाँ 'न' शब्द या 'न सन्ति' शब्द मूल पाठ में रख दिया। जब इतने सारे सूत्रों में परिवर्तन कर दिया था तो 'न' को मूल पाठ में जोड़ देने में उन्हें क्या आपत्ति हो सकती थी ? इस समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि या तो पूज्यपाद ने पाठ को संशोधित ही नहीं किया है और उन्हें यह जिम रूप में उपलब्ध हुआ उसी पर टीका लिखी, या फिर हम यह मानें कि पूज्यपाद देवनन्दी यापनीय परम्परा के थे, उन्हें यह सूत्रपाठ मान्य था और बाद में किसी दिगम्बर आचार्य ने इस सूत्र की उनकी टीका को अपनी परम्परा के अनुरूप बनाने के लिए बदला है। इस प्रकार दो ही विकल्प हमारे सामने हो सकते हैं, प्रथम तो यह कि सूत्रपाठ पूज्यपाद देवनन्दी के द्वारा परिवर्तित नहीं किया

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९।११ (श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों पाठों में यही क्रम है।

२. वही, ४।३

गया है और यदि देवनन्दी ने सूत्रपाठ में परिवर्तन किया है तो वे फिर यापनीय थे और उन्हें जिन भगवान् में एकादश परिषद् मान्य थे और यहाँ उनकी इस सूत्र की टीका को किसी दिगम्बर आचार्य ने बदला है। इन सबमें भी उचित विकल्प यह मानना है कि पूज्यपाद ने कोई पाठ नहीं बदला है। यापनीयों से जैसा मिला उमपर टीका लिखी।

इस सन्दर्भ में इतना तो निश्चित है कि श्वेताम्बर आचार्यों ने भी पाठ के साथ स्वतः कोई छोड़-छाड़ नहीं की है, उन्हें मूलपाठ और पाठान्तर जिस रूप में उपलब्ध हुए हैं, उन्हें रखा है। क्योंकि यदि उन्हें भी अपनी परम्परा के अनुसार सूत्रपाठ बदलना होता, तो वे अपनी परम्परा से भिन्न जो मान्यताएँ थीं उन्हें बदल डालते। मुझे तो ऐसा लगता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परा के आचार्यों पर तत्त्वार्थ के मूलपाठों को संशोधित या परिवर्धित करने का जो आरोप लगाया जाता है, वह मिथ्या है; क्योंकि इन टीकाकार समर्थ आचार्यों ने यदि पाठ में परिवर्तन किया होता तो यह कभी भी सम्भव नहीं था कि वे उसमें कोई भी पाठ अपनी परम्परा से भिन्न रहने देते। अतः दोनों परम्परा के विद्वानों को एक दूसरे पर इस तरह के आक्षेप नहीं लगाने चाहिए।

वास्तविकता इससे कुछ भिन्न है, मेरी समझ के अनुसार तत्त्वार्थ सूत्रकार ने उच्चनागरी शाखा की उस युग की मान्यताओं के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की रचना की और यह भाष्यमान्य मूल पाठ और भाष्य बाद में विकसित होने वाली श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं को उपलब्ध हुआ। यापनीय आचार्यों ने अपनी मान्यताओं के स्थिरोकरण के पश्चात् मूलपाठ को संशोधित किया और उस पर टीका लिखी। क्योंकि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्परा के विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार कर रहे हैं कि सर्वार्थसिद्धि और सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थभाष्य की टीका लिखे जाने के पूर्व तत्त्वार्थ की कुछ अन्य टीकाएँ अस्तित्व में थीं और संभवतः वे यापनीय परम्परा की थीं।^१ यह भी संभव है कि यापनीय परम्परा में जो तत्त्वार्थ की टीका उपलब्ध थी उसमें भाष्य को भी समाहित कर लिया होगा। यह कहने का आधार यह है कि यापनीय परम्परा ने उत्तराधिकार में उपलब्ध ग्रन्थों एवं आपनों में अपनी परम्परा के अनुरूप भाषिक और सैद्धान्तिक परिवर्तन किये थे। अतः तत्त्वार्थ के मूलपाठ में भी संशोधन उन्हीं के द्वारा किया होगा। यापनीय परम्परा से ही पूज्यपाद देवनन्दी को तत्त्वार्थ उपलब्ध हुआ और उन्होंने

१. जैनसाहित्य और इतिहास, पं० नाथुराम प्रेमी; पृ० ५४४-५४५।

उस पर अपनी परम्परा के अनुरूप सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी। इसकी पुष्टि षट्खण्डागम जैसे यापनीय ग्रन्थों की धवला टीका से भी होती है, जिसके मूलपाठ को यथावत् रखते हुए भी दिगम्बर आचार्यों ने अपनी मान्यता के अनुरूप उस पर टीका लिखी है। इसी प्रकार सिद्धसेन गणि ने तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य जैसा और जिस रूप में उन्हें प्राप्त हुआ था, उसे मान्य रखते हुए अपनी टीका लिखी और जहाँ-जहाँ उन्हें आगम और अपनो मान्यताओं से अन्तर परिलक्षित हुआ उसका निर्देश कर दिया। अतः तत्त्वार्थ का भाष्य-मान्य पाठ उसके मूलकर्ता का है और सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ यापनीयों द्वारा संशोधित। इस पाठ को यापनीयों द्वारा संशोधित किये जाने का प्रमाण यह है कि इसमें पुद्गल के बंधको प्रक्रिया को यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम-आगम के अनुरूप बनाया गया है। दिगम्बर आचार्यों के द्वारा उसमें संशोधन नहीं हुआ है अन्यथा उसमें उनकी परम्परा से जो असंगतियाँ हैं, वे नहीं रह सकती थीं। कुछ श्वेताम्बर विद्वानों का कहना है कि पूज्यपाद देवनन्दी व्याकरण के विद्वान् थे और तत्त्वार्थसूत्र का सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से अधिक प्रामाणिक है अतः यह संशोधन उन्हीं ने किया है, किन्तु मेरो दृष्टि से यह भ्रान्त धारणा है। यापनीय परम्परा में भी इन्द्रनन्दी आदि व्याकरण के विद्वान् हुए हैं, अतः सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ इन्द्रनन्दी नामक यापनीय आचार्य द्वारा ही संशोधित है। जिनका उल्लेख गोम्मट्टसार में सांशयिक के रूप में हुआ है।

क्या वाचक उमास्वाति और उनका तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर परम्परा का है ?

मूर्धन्य विद्वान् पं० सुखलालजी ने अपने तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका में, पं० हीरालाल रसिकलाल कापड़िया ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र एवं उसके स्वोपज्ञ भाष्य की सिद्धसेनगणि की टीका के द्वितीय विभाग के प्रारम्भ की अंग्रेजी भूमिका में, डॉ० मुजिको ओहिरो ने अपने निबन्ध 'तत्त्वार्थसूत्र का मूलपाठ' में इसे श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयास किया है।^१ स्थानकवासी आचार्य आत्माराम जी महाराज ने 'तत्त्वार्थसूत्र-

१. देखें—(अ) तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलालजी, पार्ष्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी-५ भूमिका भाग पृ० १५-२७।

(ब) तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञ भाष्य और सिद्धसेन गणि की टीका सहित), Introduction P. ३६-४०।

(स) तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक; पं० सुखलालजी, पार्ष्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी ५, भूमिका भाग पृ० १०५-१०७।

जैन आगम समन्वय' में तत्त्वार्थ के पाठों का आगमिक आधार प्रस्तुत करते हुए इसे श्वेताम्बर परम्परा की ही कृति माना है।^१ श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के सागरानन्द सूरीश्वर जो ने तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता श्वेताम्बर हैं और सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ संशोधित है, यह सिद्ध करने के लिए ९६ पृष्ठों की एक पुस्तक ही लिख डाली है।^२ यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानों का यह आग्रह उचित नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके लेखक उस मूल धारा के हैं, जिससे इन विभिन्न परम्पराओं का विकास हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर परम्परा की कृति है, इसे सिद्ध करने के लिए पं० सुखलाल जो आदि श्वेताम्बर विद्वानों ने जो तर्क दिए हैं उन्हें संक्षेप में निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. तत्त्वार्थसूत्र के मूल पाठों की रचना श्वेताम्बर मान्य आगमों के आधार पर हुई है, अतः तत्त्वार्थ श्वेताम्बर परम्परा का ग्रंथ है। तत्त्वार्थ के मूलपाठ श्वेताम्बरमान्य आगम साहित्य के कितने निकट है, इसे आचार्य आत्मारामजीकृत 'तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट किया गया है।^३ इससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ता श्वेताम्बर आगमिक परम्परा के हैं।

२. तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान्य पाठ में गति की अपेक्षा से त्रस और स्थावर का जो वर्गीकरण उपलब्ध होता है वह प्राचीन जैन आगम आचारांग, उत्तराध्ययन, जीवाभिगम आदि के अनुकूल है।^४ अतः भाष्यमान्य पाठ प्राचीन भी है और आगमों से प्रमाणित भी होता है। इस आधार पर भी उसे श्वेताम्बर आगमिक परम्परा का माना जा सकता है।

३. भाष्यमान्य पाठ में 'कालश्चेके' जो सूत्र मिलता है वह भी प्राचीन आगमिक परम्परा का अनुसरण करता है क्योंकि श्वेताम्बर मान्य आगमों

१. तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय, उपध्याय आत्माराम जी, प्रस्तावना सम्मति पत्र, पं० हंसराज जी पृ० ३।

२. श्री तत्त्वार्थकर्तृत्तन्मत्तनिर्णय, सागरानन्दसूरीश्वर, ऋषभदेव केसरिमल श्वेताम्बर संस्था रतलम—सम्पूर्णग्रन्थ पठनीय है।

३. देखें—तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय, इसमें तत्त्वार्थ के सूत्रों के नीचे संसंदर्भ आगमिक पाठ दिय गये हैं।

४. देखें—श्रमण, अप्रैल-जून १९९३ प्राचीन जैन साहित्य में 'त्रस-स्थावर वर्गीकरण', लेखक—डॉ० सागरमल जैन।

में काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं, इस सम्बन्ध में दोनों प्रकार के दृष्टि-कोणों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। इस सूत्र के आधार पर यह सिद्ध होता है कि यह उस परम्परा का ग्रन्थ है जिसमें काल के द्रव्यत्व के सम्बन्ध में वैकल्पिक मान्यताएँ थीं।^१

४. तत्त्वार्थ के भाष्यमान्य और सर्वार्थसिद्धिमान्य दोनों पाठों में उपस्थित 'एकादशजिने' (९।११) सूत्र स्पष्ट रूप से दिग्म्बर परम्परा के विरुद्ध जाता है, क्योंकि वे 'जिन' में कवलहार नहीं मानने के कारण क्षुधा-परिषह आदि परिषहों को स्वोकार नहीं करते, किन्तु सूत्र में स्पष्ट रूप से 'जिन' को भी ग्यारह परिषह बताये गये हैं। यह बात भी उसे श्वेताम्बर परम्परा का सिद्ध करती है, क्योंकि श्वेताम्बर एवं यापनीय केवलो के कवलहार को स्वोकार करके उसमें क्षुधादि परिषहों का सद्भाव मानते हैं।

५. श्वेताम्बर विद्वान् तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति को उमास्वाति की ही कृति मानकर उन्हें श्वेताम्बर परम्परा का सिद्ध करते हैं। क्योंकि तत्त्वार्थभाष्य (९।५, ९।७, ९।२६) और प्रशमरति में वस्त्र-पात्र सम्बन्धी कुछ ऐसे सन्दर्भ हैं, जो उनके श्वेताम्बर परंपरा से सम्बद्ध होने के प्रमाण हैं।

यदि हम भाष्य और प्रशमरति को तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति की कृति मानते हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि तत्त्वार्थ सूत्र मूलतः वस्त्र-पात्र समर्थक श्वेताम्बर परंपरा का ग्रन्थ है।

पं० सुखलाल जी के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र, उसका भाष्य तथा प्रशमरति (१३८) एक ही कृतक हैं—इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

(i) भाष्य पर उपलब्ध टीकाओं में सबसे प्राचीन टीका सिद्धसेन की है। उसमें भाष्य की स्वोपज्ञता के सूचक अनेक उल्लेख मिलते हैं। (इस हेतु देखें—तत्त्वार्थधिगमसूत्र-सभाष्यटीका प्रथम भाग पृ० ७२, २०५, द्वितीय भाग पृ० २२०, सम्पादक—हीरालाल कापडिया)।

(ii) याकिनी सुनु हरिभद्र (ईसा की आठवीं शती) ने भी शास्त्रवार्ता-समुच्चय में भाष्य की अन्तिम कारिकाओं में से आठवीं कारिका को उमास्वाति कृतक रूप में उद्धृत किया है।

(iii) आचार्यदेवगुप्त भी सूत्र और भाष्य को एक ही कृतक मानते हैं।

(iv) भाष्य की प्रारम्भिक कारिकाओं (१।२२) में और कुछ अन्य स्थलों पर भाष्य में वक्ष्यामि, वक्ष्यामः (५।२२, ५।३७, ५।४०, ५।४२) आदि प्रथम पुरुष के निर्देश हैं और इन निर्देशों के बाद ही सूत्र का कथन किया

गया है, इससे भी भाष्य की स्वोपज्ञता सिद्ध होती है।^१ इस प्रकार तत्त्वार्थ के कुछ मूलसूत्रों के पूर्व में भाष्य में वक्ष्यामि शब्द के प्रयोग से भाष्य की स्वोपज्ञता में सन्देह करने का कोई अवकाश ही नहीं रह जाता है।

पं० सुखलालजी के शब्दों में भाष्य को प्रारम्भ से अन्त तक देखे जाने पर एक बात जँचती है कि 'कहीं सूत्र का अर्थ करने में शब्दों की खींचतान नहीं हुई है, कहीं सूत्र का अर्थ करने में संदेह या विकल्प भी नहीं लिया गया है। न सूत्र की किसी दूसरी व्याख्या को मन में रखकर सूत्र का अर्थ किया गया और न कहीं सूत्र के पाठभेद का ही अवलम्बन लिया गया है।^२ जबकि ये सभी बातें दिगम्बर परम्परा मान्य प्रथम टोका सर्वार्थसिद्धि में देखी जाती हैं, उसमें अनेक स्थानों पर अर्थ को लेकर खींचतान करना पड़ी है। यह वस्तुस्थिति सूत्र और भाष्य की एककृतक होने की चिरकालीन मान्यता को सिद्ध करती है। यदि भाष्यकार और सूत्रकार एक ही हैं, तो सूत्रकार के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने की पुष्टि होती है।

(v) पुनः भाष्य की प्रशस्ति में उमास्वाति ने अपनी उच्चनागर शाखा का उल्लेख किया है।^३ वह उच्चनागर शाखा दिगम्बर परम्परा में रही है, ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता है। जबकि श्वेताम्बरमान्य कल्पसूत्र की स्थविरावलि में (२१६) और मथुरा के अनेक अभिलेखों में इस उच्चनागर शाखा का उल्लेख मिलता है।^४ कल्पसूत्र में यह उच्चनागरो शाखा कोटिकगण की शाखा बताया गयी है और आज भी सभी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मुनि अपने को कोटिकगण का मानते हैं। पुनः भाष्य में उमास्वाति ने अपने को वाचक वंश का बताया है, यह वाचक वंश भी श्वेताम्बर परम्परा में मान्य नन्दीसूत्र^५ में उल्लिखित है।

१. तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलालजी, पाश्र्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी—भूमिका भाग, पृ० १६।
२. वही, पृ० १६।
३. वही, पृ० १७।
४. इदमुच्चैर्नागरवाचकेन—तत्त्वार्थभाष्य ५।
५. कल्पसूत्र, (प्राकृत भारती) २१६ तथा जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, लेख-क्रमांक १९, २०, २२, २३, ३१, ३५, ३६, ५०, ६४, ७१।
६. वडहड बायगवंसो-नन्दीसूत्र, स्तुति गाथायें, ३४, ३५।

(vi) इसी प्रकार भाष्य की 'कालश्चेके' ५/३८) एवं 'एकादश जिने' (९/११) की व्याख्याएँ तथा सिद्धों में लिंगद्वार और तीर्थद्वारों (१०/७) का भाष्यगत वक्तव्य तथा वस्त्र-पात्रसम्बन्धी उल्लेख (९/५, ९/७, ९/२६) भी दिग्म्बर परम्परा के विपरीत जाते हैं, भाष्य में केवलज्ञान के पश्चात् केवली के दूसरा उपयोग मानने का जो मन्तव्य भेद है वह भी दिग्म्बर ग्रन्थों में नहीं दिखता (१/३१)। पं० सुखलालजी के अनुसार उपर्युक्त युक्तिओं से यही सिद्ध होता है कि वाचक उमास्वामी श्वेताम्बर परम्परा के हैं।^१

(vii) पुनः प्रशमरति की तत्त्वार्थसूत्र से तुलना करने पर जो समात्ताएँ दृष्टिगत होती हैं, उनके आधार पर उसे भी उमास्वाति की कृति होने में सन्देह नहीं रह जाता। उसमें भी मुनि के वस्त्र-पात्र आदि का उल्लेख होने से यही सिद्ध होता है कि उमास्वानि श्वेताम्बर परम्परा के थे। इस प्रकार पं० सुखलालजी, कापडियाजी आदि श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् तत्त्वार्थसूत्र, उसके स्वोपज्ञभाष्य और प्रशमरति की एककृतकता सिद्ध कर उमास्वाति को अपनी परम्परा का बताते हैं।^२

(viii) तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य श्वेताम्बर परम्परा का है, इसका महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह है कि तत्त्वार्थ के प्राचीन श्वेताम्बर टीकाकार सिद्धसेनगणि और हरिभद्र दोनों ही उन्हें अपनी परम्परा का मानते हैं और जहाँ उन्हें तत्त्वार्थ अथवा उसके भाष्य का आगम से विरोध परिलक्षित होता है वहाँ उसका स्पष्ट निर्देश करते हुए या तो वे आगम से उसका समन्वय स्थापित करते हैं या यह मान लेते हैं कि यह आचार्य की अपनी परम्परा होगी अथवा किसी दुर्विग्ध ने भाष्य का यह अंश विकृत कर दिया है। सिद्धसेनगणि लिखते हैं कि उमास्वाति तो वाचक मुख्य हैं, वाचक तो पूर्वों के ज्ञाता होते हैं, उन्होंने ऐसा आगम विरोधी कैसे लिख दिया, यहाँ अवश्य ही किसी दुर्विग्ध ने भाष्य को नष्ट कर दिया है।^३

१. देखें—तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलालजी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी-५, भूमिका भाग, पृ० १७।

२. वही, भूमिका भाग, पृ० १८।

३. नेदं पारमर्षं प्रवचनानुसारि भाष्यं किं तर्हि प्रमत्तगीतमेतत् । वाचको हि पूर्ववित् कथमेवंविधं आर्षं विसंवादि निबध्नीयात् । सूत्रानवबोधोपादुपजाता-भ्रान्तिना केनापि रचितमेतत् ।

—तत्त्वाधिगमसूत्र भाष्य ९/६

सिद्धसेन के उपरोक्त कथन से दिगम्बर परम्परा के विश्रुत विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमो यही निष्कर्ष निकालते हैं कि 'उनके इस तरह के वाक्यों से प्रतीत होता है कि वे भाष्यकार को अपने ही सम्प्रदाय का समझते हैं।' यहाँ एक बात स्पष्ट है कि सभी श्वेताम्बर विद्वानों में यह मतैक्य है कि तत्त्वार्थ और उसका भाष्य उनकी अपनी परम्परा का है। जबकि तत्त्वार्थसूत्र के प्राचीन दिगम्बर टीकाकार मूल ग्रंथ पर विस्तृत टीकाएँ लिखकर भी उस ग्रंथकार के विषय में मौन साधे हुए हैं जो इसी तथ्य का सूचक है कि या तो वे ग्रन्थकार के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं या उसके बारे में जानते हुए भी इसलिए मौन रह जाते हैं कि वह उनकी अपनी परम्परा का नहीं है, अतः उसका उल्लेख ही क्यों करें? अन्यथा क्या कारण था कि पूज्यपाद देवनन्दी और अकलंक ने उनका कहीं स्मरण नहीं किया? वास्तविकता यह है कि उमास्वाति उस परम्परा के थे जिसे श्वेताम्बर अपनी मानते थे और जिससे वे निकट रूप में जुड़े हुए थे। दिगम्बरों ने तत्त्वार्थ को यापनीयों से प्राप्त किया था। यापनीय उसी मूल धारा से अलग हुए थे, अतः उन्होंने ग्रन्थ को अपनाकर भी ग्रन्थकार को मान्य नहीं किया। दिगम्बर आचार्यों को इसीलिए कर्ता के सम्बन्ध में मौन साधना पड़ा।

जहाँ तक सूत्र, भाष्य और प्रशमरति को एककृतक मानने का प्रश्न है, श्वेताम्बर विद्वानों का इस सम्बन्ध में मतैक्य है, किन्तु दिगम्बर विद्वान् सूत्र, भाष्य, प्रशमरति को एककृतक नहीं मानते हैं उनकी दृष्टि में भाष्य और प्रशमरति किसी श्वेताम्बर आचार्य की रचना है जबकि तत्त्वार्थ किसी अन्य आचार्य की रचना है, जो दिगम्बर था। अतः इस सम्बन्ध में उनके तर्कों की समीक्षा कर लेना भी आवश्यक है।

क्या प्रशमरति प्रकरण और तत्त्वार्थ भाष्य भिन्न कृतक है ?

तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति प्रकरण को भिन्न कृतक सिद्ध करने के लिए दिगम्बर परम्परा के विद्वानों ने उनमें मिलने वाले बहुत अधिक साम्य की उपेक्षा करके उनकी भिन्नता के कुछ उदाहरणों को प्रस्तुत करके यह स्पष्ट किया है कि उनमें जो साम्य है वह तो पूर्व परम्परा की एकरूपता के कारण है किन्तु उनमें जो वैषम्य है वह उनकी भिन्न कृतकता को सूचित करता है, अतः इस सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार कर लेना

१. जैन साहित्य और इतिहास, पं० नाथूरामजी प्रेमो, पृ० ५४२।

आवश्यक है। इनके अन्तर को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि (i) तत्त्वार्थ-भाष्य और प्रशमरति प्रकरण में संयम के जो सत्रह भेद बताये गये हैं वे संख्या की दृष्टि से समान होते हुए भी विवरण की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं।^१ 'तत्त्वार्थभाष्य' में संयम के सत्रह भेद निम्न हैं—

योगनिग्रहः संयमः । सः सप्तदशविधः । तद्यथा पृथ्वीकायिक-संयमः, अष्कायिक-संयमः, तेजस्कायिक-संयमः वायुकायिक-संयमः, वनस्पति-कायिक-संयमः, द्वीन्द्रिय-संयम, त्रीन्द्रिय-संयमः, चतुरिन्द्रिय-संयमः, पंचेन्द्रिय-संयमः, प्रेक्ष्य-संयमः, उपदेश-संयमः, अपहृत्य-संयमः, प्रमूज्य-संयमः, काय-संयमः, वाक्-संयमः, मनःसंयमः, उपकरण-संयमः, इति संयमो धर्मः-तत्त्वार्थभाष्य ९।६

जबकि प्रशमरति में संयम के सत्रह भेद निम्न हैं—

पंचास्रवाद्विरमणं पंचेन्द्रियनिग्रहश्च कषायजयः ।

दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदेशभेदः ॥

—प्रशमरति कारिका १७२

इन दोनों में मात्र पाँच इन्द्रिय विजय और तीन दण्ड समान हैं किन्तु शेष नौ नाम भिन्न-भिन्न हैं। इस आधार पर श्रीमती कुसुम पटोरिया आदि का कहना है कि 'इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये दोनों रचनाएँ एककृतक नहीं हैं, उनके कर्ता भिन्न-भिन्न हैं अन्यथा एक ही कर्ता इस प्रकार का भिन्न-भिन्न कथन अपने ही ग्रन्थों में नहीं करता।^२ किन्तु उनकी यह मान्यता एक भ्रान्त धारणा पर स्थित है। संयम के सत्रह भेदों का दोनों शैलियों से विवेचन करने वाली परम्पराएँ अति प्राचीन हैं और आगमिक भी है, क्योंकि इनके उल्लेख उपलब्ध होते हैं। 'प्रवचनसारोद्धार' जो कि श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ है। उसमें दोनों ही प्रकार से संयम के सत्रह भेदों का उल्लेख हुआ है। उसके द्वार ६६ गाथा ५५५ में पाँच आश्रवों से विरति, पाँच इन्द्रियों पर विजय, चार कषाय का त्याग और तीन दण्ड से विरति ऐसे संयम के सत्रह भेद बताये हैं जबकि उसके द्वार ६६ की ही ५५६वीं गाथा में पृथ्वीकायादि सत्रह प्रकार के संयमों का उल्लेख हुआ है। पाँच आश्रव द्वार आदि के आधार पर संयम के सत्रह भेद करने वाली प्रवचनसारोद्धार की निम्न गाथा 'प्रशमरति' के अनुरूप है :

'पंचास्रवा विरमणं पंचेन्द्रिय निग्रहो कषाय जओ ।

दण्डत्तयस्स विरई सत्तरसहा संजमो होइ ॥'

—प्रवचनसारोद्धार ६६।५५५

१. यापनीय और उनका साहित्य,—डॉ० कुसुम पटोरिया, पृ० ११९-१२० ।

जबकि पृथ्वीकाय आदि संयम के सत्रह भेद करने वाली प्रवचनसारो-
द्धार की निम्न गाथाएँ 'समवायांग' और 'तत्त्वार्थभाष्य' के विवरण के
अनुरूप हैं—

पुढवि दग अगणि माख्य वणस्सइ बि ति चउ पर्णिदिअज्जीवा ।
पेहु घेह पमज्जण परिठवण अणो वई काए ॥

—प्रवचनसारोद्धार ६६।५५६

न केवल श्वेताम्बर परम्परा में अपितु यापनीय परम्परा में भी आग-
मिक आधार पर संयम के दोनों शैलियों से सत्रह भेद करने की परम्परा
प्रचलित रही है। यापनीय ग्रंथ भगवतीआराधना में गाथा ४१६-१७
में जो संयम के सत्रह भेद किये गये हैं वे श्वेताम्बर मान्य 'समवायांग'
के १७वें समवाय के अनुरूप ही हैं। जबकि उसी परम्परा के प्रतिक्रमण
में 'सत्तरस्सविहिमु असंजमेसु' की व्याख्या करते हुए प्रभाचन्द्र ने उसकी
टीका में एक ओर पृथ्वीकाय आदि संयम के सत्रह भेदों का उल्लेख किया
है, वहीं दूसरी ओर पाँच आश्रव आदि के आधार पर संयम के सत्रह भेदों
की चर्चा करने वाली निम्न गाथा भी प्रस्तुत की है—

'पंचासवेहिं विरमणं पंचेन्द्रियनिगगहो
कसाय जयो तिहि दण्डेहिं य विरदि
सत्तारस्स संजया भणिदा' ।^१

प्रवचनसारोद्धार की उपरोक्त गाथा और दिगम्बर प्रतिक्रमण सूत्र
की टीका में उल्लिखित यह गाथा समान ही है और 'प्रशमरति' प्रकरण
की १७२वीं कारिका भी इनका संस्कृत रूपान्तरण मात्र है। वस्तुतः संयम
के सत्रह भेदों की दोनों प्रकार से व्याख्या करने को शैलियाँ आगमिक
और प्राचीन ही हैं। जिसका अनुकरण श्वेताम्बर और यापनीय दोनों
परम्पराओं में पाया जाता है। वस्तुतः वर्गीकरण शैली की यह विविधता
प्राणी-संयम और इन्द्रिय-संयम के आधार पर स्थित है। जब प्रभाचन्द्र
जैसे यापनीय परम्परा के मान्य विद्वान् एक ही ग्रंथ में प्रकारान्तर से
संयम के दोनों प्रकार के वर्गीकरणों की चर्चा कर सकते हैं^२ और जब
श्वेताम्बर 'सिद्धसेनसूरि' प्रवचनसारोद्धार में इन दोनों ही प्रकारों का

१. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी (प्रभाचन्द्र की टीका सहित) सं० पं० मोतीचन्द्र
गोतमचन्द्र कोठारी, दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था कोल्हापुर
पृ० ४९-५० ।

उल्लेख करते हैं तो उमास्वाति के द्वारा दो भिन्न ग्रंथों में संयम के सत्रह भेदों का दो भिन्न दृष्टियों से उल्लेख किया जाना असम्भव नहीं है। इससे दोनों ग्रन्थों का भिन्न कृतक होना सिद्ध नहीं होता है। उमास्वाति ने जहाँ अपने विवरणात्मक गद्य ग्रन्थ 'तत्त्वार्थभाष्य' में प्राणो संयम की दृष्टि से संयम के सत्रह भेदों का विवेचन किया है, वहीं 'प्रशमरति' में इन्द्रिय-संयम की दृष्टि से संयम के सत्रह भेदों की चर्चा की। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दोनों ही शैलियों से संयम के सत्रह भेद करने की यह परम्परा आगमिक है और इसीलिए आगमों को मानने वाली श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं में मिलती है। दिगम्बर परम्परा में संयम के सत्रह भेदों की यह चर्चा अनुपलब्ध है क्योंकि न तो पूज्यपाद देवनन्दि और न अकलङ्क ही तत्त्वार्थटीका में इन सत्रह भेदों का कहीं कोई निर्देश करते हैं। जबकि यापनीय ग्रन्थ भगवतीआराधना^१ और यापनीय प्रतिक्रमण की टीका में^२ प्रभाचन्द्र स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख करते हैं। अतः संयम के सत्रह भेदों का दो दृष्टियों से विवेचन करने वाली परम्परा, दो भिन्न-भिन्न परम्पराएँ न होकर एक ही आगमिक परम्परा का अनुसरण है। अतः उमास्वाति के द्वारा दो भिन्न ग्रन्थों में दो भिन्न किन्तु अपनी परम्परा की शैलियों का अनुसरण करना आश्चर्यजनक नहीं है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि 'प्रशमरति' और 'तत्त्वार्थभाष्य' एक ही आगमिक परम्परा की रचनाएँ हैं और उनके कर्ता भी एक ही हैं।

(ii) 'तत्त्वार्थभाष्य' और 'प्रशमरति' को भिन्न कर्तृक सिद्ध करने के लिए एक तर्क यह दिया जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र में और तत्त्वार्थभाष्य में जीवों के भावों के पाँच प्रकारों का ही उल्लेख मिलता है (२।१) जब कि 'प्रशमरति' कारिका १९६-१९७ में पाँच प्रकार के भावों की चर्चा के पश्चात् छठें 'सान्निपातिक' (षष्ठश्च सन्निपातिक) नामक छठें भाव की भी चर्चा करती है।^३ इसे वैषम्य का सैद्धांतिक उदाहरण बताकर यह कहा गया है कि यदि इन दोनों का कर्ता एक होता तो ये सैद्धांतिक विषमताएँ उनमें नहीं हो सकती थी। ऐसी विषमता तो भिन्न कर्तृक कृतियों में ही सम्भव है।^४

१. भगवतीआराधना, गाथा ४१६-१७।

२. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी (सम्पादक प्रकाशक पूर्वोक्त) पृ० ४९-५०।

३. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० ११९।

४. वही, पृ० ११७।

मेरी दृष्टि में यह निष्कर्ष युक्तिपूर्ण नहीं है, प्रथम तो यह कि यह सैद्धांतिक वैषम्य न होकर मात्र संक्षिप्त और विस्तृत विवेचन का परिणाम है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के समान प्रशमरति भी मूल में तो पाँच ही भाव की चर्चा करती है किन्तु जब वह उनमें से प्रत्येक के उपभेदों एवं उनके सन्निपातजन्य उपभेदों की चर्चा करती है तो वह कहती है कि छठें सान्निपातिक भाव के अन्य पन्द्रह भेद भी हैं। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि सान्निपातिक भाव स्वतंत्र भाव न होकर, एक मिश्रित भाव दशा है, अतः उसका तत्त्वार्थ में स्वतंत्र भावों की चर्चा के प्रसंग में उल्लेख नहीं होना आश्चर्यजनक नहीं है। तत्त्वार्थ सूत्र-शैली का गद्य ग्रंथ है, जबकि प्रशमरति विवेचनात्मक शैली में लिखी गई पद्यात्मक रचना है, अतः उसमें अधिक विस्तार से चर्चा की गई। सैद्धांतिक वैषम्य तो तब होता, जब उनमें पाँच भावों में कोई अन्तर होता और सान्निपातिक भाव कोई स्वतंत्र भाव होता। सान्निपातिक शब्द स्वयं ही इस तथ्य का सूचक है कि यह स्वतंत्र भाव नहीं है। एक ही लेखक जब विस्तार से कोई चर्चा करता है तो पूर्व में अनुक्त अनेक बातों का उल्लेख करता है। पुनः इस चर्चा में यदि प्रशमरति प्रकरण, तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य से उत्तरवर्ती सिद्ध हो तो भी उससे उसकी भिन्नकृतकता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि एक ही लेखक जब जीवन के विविध चरणों में विविध रचनाएँ लिखता है और उनमें अन्तर भी होता है।

(iii) प्रशमरति, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य को भिन्न कृतक सिद्ध करने के लिए एक तर्क यह दिया जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने के विषय में तटस्थता प्रदर्शित की गई है, जबकि प्रशमरति में कालद्रव्य को समान भाव से स्वीकार किया गया है। श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया लिखती हैं कि प्रशमरति प्रकरणकार ने छहों द्रव्यों का एक साथ प्रतिपादन किया। तत्त्वार्थसूत्र की तरह प्रशमरति प्रकरण में काल के विषय में अपनी तटस्थता प्रदर्शित नहीं की है। इससे प्रतीत होता है कि प्रशमरति प्रकरणकार छहों द्रव्यों के अन्तर्गत काल-द्रव्य को भी स्वतंत्र रूप से स्वीकार करते हैं (देखें कारिका २०६ एवं २१०)^१ इस आधार पर वे यह फलित निकालती हैं कि प्रशमरति प्रकरणकार और तत्त्वार्थसूत्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

१. यापनीय और उनका साहित्य, डॉ० कुसुम पटोरिया, पृ० ११६।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना होगा कि तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य में उमास्वाति ने अपना पक्ष प्रस्तुत नहीं किया है—मात्र उन्होंने जैन परम्परा में काल को स्वतंत्र द्रव्य की मान्यता को लेकर जो मतभेद था, उसका 'कालश्चेके' सूत्र में भी संकेत किया है। काल स्वतंत्र द्रव्य है या नहीं यह चर्चा प्राचीनकाल से ही जैन परम्परा में प्रचलित रही है। पार्श्व और उनकी परम्परा मात्र पंचास्तिकाय को ही मानते थे,^१ काल को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानते थे, वे काल को जीव और अजीव की पर्याय ही मानते थे।^२ किन्तु महावीर की परम्परा में काल को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में मान्यता मिल चुकी थी। स्वयं उत्तराध्ययन में काल को स्वतंत्र द्रव्य^३ मानकर उसके लक्षण की चर्चा है।^४ यदि आगमों में ही दोनों प्रकार के दृष्टिकोण थे, तो आगमों के आधार पर निर्मित ग्रंथ में उसका संकेत करना आवश्यक था। पुनः तत्त्वार्थ की रचना का उद्देश्य समग्र जैन दर्शन के प्रतिनिधि ग्रन्थ की रचना करना था, ताकि न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, सांख्यसूत्र और मीमांससूत्र की तरह जैन दर्शन का भी कोई प्रतिनिधि सूत्र ग्रन्थ हो। जब कि प्रशमरति उनकी अपनी स्वतः रचना थी। अतः तत्त्वार्थ में उस तटस्थता का परिचय देना आवश्यक था, जब कि प्रशमरति में आवश्यक नहीं था। तत्त्वार्थ और उसके भाष्य में वे सम्पूर्ण जैन दर्शन की ओर से कोई बात कह रहे हैं, जबकि प्रशमरति में अपनी परम्परा की बात कर रहे हैं। आज भी कोई विद्वान् जब समग्र जैनधर्म के प्रतिनिधि के रूप में कोई बात कहता है तो उसकी प्रस्तुतीकरण की शैली भिन्न होती है और जब अपनी साम्प्रदायिक मान्यता की बात करता है तो उसकी शैली भिन्न होती है।

पुनः यहाँ भी सैद्धांतिक मतभेद नहीं है क्योंकि कहीं भी उमास्वाति ने यह नहीं कहा है कि मैं काल को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानता हूँ। वे मात्र यह कहते हैं कि कुछ काल को भी स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं। उन कुछ में उमास्वाति स्वयं भी हो सकते हैं। अतः इस आधार पर तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के कर्ता को प्रशमरति के कर्ता से भिन्न मानना उचित नहीं

१. से जहा नामते पंच अत्थिकाया ण कयाति णासी जाव णिच्चा एवामेव

लोकेऽवि ण कयाति णासी जाव णिच्चे ।—इसिभासिबाई ३११९

२. आगमयुग का जैनदर्शन, पं० दलसुख मालवणिया—पृ० २१३-२१४

३. धम्मो अहम्मो आगारं काली पुग्गल जन्तवो ।

एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणोहं वरदंसिंह ॥—उत्तराध्ययन २८।७

४. 'वत्तणालक्खणो कालो ।'—उत्तराध्ययन २८।१०

है। इस सन्दर्भ में यह भी स्मरण रखना होगा कि उमास्वाति के काल तक महावीर के संघ में विलीन पार्श्वार्थियों की पञ्चास्तिकाय को द्रव्य मानने की और काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानने की परम्परा क्षीण हो रही थी और काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने का पक्ष मजबूत होता जा रहा था। वह एक संक्रमण काल था, अतः उनके लिए तटस्थ रूप से उस विलुप्तप्रायः मान्यता का संकेत कर देना ही पर्याप्त था, उसे मानना आवश्यक नहीं था। पुनः ये दोनों ही परम्पराएँ आगमिक हैं और वे उमास्वाति को उसी आगमिक धारा का सिद्ध करती हैं।

(iv) प्रशमरति को तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के कर्ता से भिन्न किसी अन्य की कृति बताने हेतु दिगम्बर विद्वानों द्वारा एक तर्क यह भी दिया जाता है कि त्रस और स्थावर के वर्गीकरण को लेकर भी दोनों में भेद पाया जाता है।

जहाँ प्रशमरति में जीव के भेदों का वर्गीकरण करते हुए पाँच स्थावरों का विवेचन है^१ वहाँ तत्त्वार्थ और तत्त्वार्थभाष्य में तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों को त्रस कहा गया है,^२ जबकि प्रशमरति इन दोनों को स्थावरों में वर्गीकृत करती है। सुश्री कुसुम पटोरिया^३ के अनुसार यह एक सैद्धांतिक मतभेद है और एक ही कर्ता की दो भिन्न कृतियों में इस प्रकार का सैद्धांतिक मतभेद यही सिद्ध करता है कि वे भिन्न कृतक हैं। तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता प्रशमरति के कर्ता से भिन्न है और वे उनके उत्तरवर्ती हैं। मेरी दृष्टिसे इस सन्दर्भ में विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से आगमिक मान्यताओं का गम्भीर अध्ययन किये बिना इस तरह की बातें करना हास्यास्पद लगता है।

षट्जीवनिकायों में पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये षट् प्रकार के जीव आते हैं किन्तु इन षट्जीवनिकायों में कौन त्रस है और कौन स्थावर? इस प्रश्न को लेकर प्राचीनकाल से ही जैन परम्परा में भिन्न-भिन्न धारणाएँ उपलब्ध होती हैं। यद्यपि लगभग छठीं शती से

१. क्षित्यम्बुवह्निपवनतरवस्त्रसाश्च षड्भेदाः।—प्रशमरति १९२।

२. तेजोवायु द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः। तत्त्वार्थ २।१४

ज्ञातव्य है कि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में मात्र 'द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः' इतना पाठ है, उसमें वायु और तेज को सूत्र २।१३ में सम्मिलित किया गया है।

३. यापनीय और उनका साहित्य, डॉ० कुसुम पटोरिया, पृ० ११७।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँचों को स्थावर माना जाता है, किन्तु आगमिक परम्परा में इनके वर्गीकरण की भिन्न शैलियाँ रही हैं और उसमें भी अनेक मत-मतान्तर रहे हैं। तत्त्वार्थ का श्वेताम्बर परम्परा का भाष्यमान्य पाठ पृथ्वी, अप और वनस्पति—इन तीन को स्थावर और अग्नि, वायु तथा द्वीन्द्रिय आदि को त्रस निकाय में वर्गीकृत करता है। तत्त्वार्थ और तत्त्वार्थभाष्य का यह पाठ उत्तराध्ययन के ३६वें अध्याय में उपलब्ध दृष्टिकोण के समान ही है।^१ किन्तु आचारांग से इस अर्थ में भिन्न है कि जहाँ आचारांग में अग्नि को स्थावर माना गया है, वहाँ तत्त्वार्थ में उसे त्रस कहा गया है। आगमों में षट्जीवनिकाय के वर्गीकरण की अनेक शैलियाँ प्रचलित रही हैं और उनमें परिवर्तन भी होता रहा है। आचारांग में वायु और द्वीन्द्रिय आदि को त्रस माना गया, क्योंकि आचारांगकार वायुकाय की विवेचना त्रसकाय के पश्चात् करता है।^२ उत्तराध्ययन में अग्नि को उसमें सम्मिलित करके अग्नि, वायु और द्वीन्द्रियादि को त्रस कहा गया है,^३ किन्तु दूसरी ओर उत्तराध्ययन के २६वें अध्याय की ३१वीं गाथा में^४ तथा दशवैकालिक के चौथे अध्याय में^५ यद्यपि त्रस और स्थावर का स्पष्ट नाम-निर्देश नहीं है, फिर भी उनकी विवेचन शैली से ऐसा लगता है कि वहाँ पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच को स्थावर ही माना गया होगा। क्योंकि इन पाँचों का उल्लेख करने के बाद त्रस का उल्लेख हुआ है। षट्जीवनिकाय के वर्गीकरण के इन दोनों दृष्टिकोणों में दशवैकालिक की ओर उत्तराध्ययन के २६वें

१. तुलनीय—तत्त्वार्थ २।१३—१४ तथा उत्तराध्ययन ३६।

२. देखें—आचारांगसूत्र प्रथम श्रुत स्कन्ध प्रथम अध्यायन, उद्देशक ६ एवं ७।

३. पृथ्वी आउजीवा य तहेव य वणस्सई।

इच्चेए थावरा तिविहा तेसि भेए सुणेह मे ॥

तेऊ वाऊ य बोद्धव्वा उराला य तसा तथा।

इच्चेए तसा तिविहा तेसि भेए सुणेह मे ॥—उत्तराध्ययन ३६।६९, १०७

४. पृथ्वी आउक्काए तेऊ वाऊ वनस्सई तसाण।

पडिल्लेहणं आउत्तो छण्हं आराहओ होइ ॥—उत्तराध्ययन २६।३१

५. तं जहा पृथ्विकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वनस्सकाइया, तसकाइया।

दशवैकालिक, अध्याय ४।१

ज्ञातव्य है कि प्रथमरति की स्थिति दशवैकालिक के समान है।

अध्ययन की स्थिति प्रशमरति के समान है, प्रशमरति भी स्पष्ट रूप से यह तो नहीं कहती है, कि क्षितिआदि पाँच स्थावर है, किन्तु वह इन पाँचों का उल्लेख करने के पश्चात् त्रस कहकर जीव के छह भेद बताती है। जबकि उत्तराध्ययन के ३६वें अध्ययन की स्थिति तत्त्वार्थ और उसके भाष्य के समान है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ भाष्य और प्रशमरति दोनों में ही आगमिक मान्यताओं का ही अनुसरण किया है। ऐसा लगता है कि उनके काल तक दोनों ही मान्यताएँ प्रचलित रही हैं और किन्तु पाँच एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मानने की अवधारणा धीरे-धीरे स्थिर हो रही थी, यही कारण है कि उन्होंने प्रशमरति में पंचस्थावरों की अवधारणा का उत्तराध्ययन के २६वें अध्ययन एवं दशवैकालिक के अनुरूप ही विवेचन किया। जब एक ही आगम में दोनों प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध हैं, तो यह आश्चर्यजनक नहीं है कि एक ही कर्ता की दो भिन्न कृतियों में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण उपलब्ध हो जायें। यद्यपि दिगम्बर परम्परा के सर्वार्थ-सिद्धिमान्य पाठ^१ में और परवर्ती सभी दिगम्बर तत्त्वार्थ की टीकाओं में पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु, वनस्पति इन पाँच को स्थावर माना गया है। किन्तु स्वयं दिगम्बर परम्परा में ही कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। कुन्दकुन्द अपने ग्रन्थ पंचास्तिकाय में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पृथ्वी, अप, वायु, अग्नि और वनस्पति ये पाँच एकेन्द्रिय जीव हैं। इन एकेन्द्रिय जीवों में तीन स्थावर शरीर से युक्त हैं और शेष अनिल और अनल त्रस शरीर से युक्त हैं।^२ यहाँ कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण भी त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण में श्वेताम्बर आगम और श्वेताम्बर मान्य पाठ के समान है। किन्तु उसी पंचास्तिकाय की गाथा संख्या ११३ में उन्होंने प्रशमरति के समान ही पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु और वनस्पति का एक साथ विवरण प्रस्तुत किया है।^३ यदि कुन्द-

१. पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ।

—तत्त्वार्थ (सर्वार्थसिद्धि) २।१३

२. पुढत्री य उदगमगणी वाउत्रणत्फदि जीव संसिदा काया ।

दंति खलु मोह बहुलं फासं बहुगा वि ते तेसि ॥

तित्थावरतणुजोगा अणिलाणल काइया ये।तेसु तसा ।

मणपरिणाम विरहिदा जीवा एगेंदिया णेया ॥

—पंचास्तिकाय ११०-१११

३. एदे जीवणिकाया पंचविहा पुढविकाइयादीया ।

(मन) मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ॥ —पंचास्तिकाय ११३

कुन्द के एक ही ग्रन्थ में ये दोनों दृष्टिकोण एक साथ उपलब्ध हैं तो क्या यह माना जायेगा कि पंचास्तिकाय दो भिन्न आचार्यों की रचना है या वह मात्र एक संकलित ग्रन्थ है। प्रशमरति और तत्त्वार्थमूल तथा तत्त्वार्थ भाष्य में जिस अन्तर को इंगित करके हमारे दिगम्बर विद्वान् उन्हें दो भिन्न व्यक्तियों की रचना सिद्ध करते हैं, क्या वे अपने उसी तर्क के आधार पर पंचस्तिकाय को दो भिन्न व्यक्तियों की रचना मानने को तैयार हैं ?

वस्तुतः वर्गीकरण की ये जो दो शैलियाँ उपलब्ध होती हैं वे त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण के आधार पर नहीं है अपितु गतिशीलता और इन्द्रिय-संख्या इन दो आधारों पर है। अतः इन दोनों प्रकार की शैलियों में सैद्धान्तिक विरोध नहीं है। जब षट्जीवनिकाय को एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय आदि के आधार पर वर्गीकृत करना होता है, तो इस वर्गीकरण की दृष्टि से पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु और वनस्पति को एक वर्ग में और त्रस को दूसरे वर्ग में रखा जाता है। किन्तु जब गतिशीलता की दृष्टि से वर्गीकरण किया जाता है, जो पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर और अग्नि, वायु और उदार-त्रस को त्रस कहा जाता है। वस्तुतः ये दोनों वर्गीकरण दो भिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित हैं। हमारे विद्वान् वर्गीकरणों के इन दो दृष्टिकोणों को एक साथ मिलाकर भ्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं। आगम युग में ऐन्द्रिक आधार से जब वर्गीकरण किया जाता था, तो इन पाँचों को एकेन्द्रिय वर्ग में और त्रस को एकेन्द्रियेतर वर्ग में रखा जाता है, किन्तु जब गतिशीलता के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है तब पृथ्वी, अप और वनस्पति को अगतिशील अर्थात् स्थावर में द्वीन्द्रिय आदि को गतिशील मानकर त्रस में वर्गीकृत किया जाता है। अतः वर्गीकरण के इस प्रश्न को लेकर जो दिगम्बर विद्वान् तत्त्वार्थ और उसके भाष्य तथा प्रशमरति को भिन्न कृतक सिद्ध करना चाहते हैं, वे एक भ्रान्त अवधारणा को खड़ी करना चाहते हैं। जिस तर्क का वे यहाँ भिन्न कृतकता सिद्ध करने हेतु उपयोग करते हैं, जब वही तर्क कुन्दकुन्द के प्रसंग में उन पर लागू होता है तब वे असमंजस में पड़ जाते हैं। क्या पंचास्तिकाय की दो भिन्न मतों को प्रस्तुत करने वाली ये गथायें एक कृतक नहीं है ? क्या इस आधार पर यह कहा जाय कि सर्वार्थसिद्धिमान्य तत्त्वार्थसूत्र का पाठ और पंचास्तिकाय के कर्ता एक ही सम्प्रदाय के नहीं है ? दूसरे शब्दों में कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के

नहीं है ? पुनः प्रशमरति में यह श्लोक षड्जीवनिकाय को सूचित करने के सन्दर्भ में आया है न कि त्रस-स्थावर के वर्गीकरण के सन्दर्भ में । पुनः यह श्लोक उत्तराध्ययन, दशवैकालिक एवं पंचास्तिकाय में भी भाव की दृष्टि समान रूप से पाया जाता है । वस्तुतः प्रशमरति और तत्त्वार्थ एक ही आगमिक परम्परा के ग्रन्थ है ।

इस प्रकार तत्त्वार्थ, उसके भाष्य और प्रशमरति में जो वैषम्य सिद्ध करके उनको पृथक् बताने का प्रयास किया गया है, वह निराधार सिद्ध हो जाता है ।

पुनः तत्त्वार्थ और प्रशमरति में साम्यता के अनेकानेक उदाहरण पं० सुखलालजी की भूमिका से उद्धृत करके स्वयं कुसुम पटोरिया ने दिये ही हैं ।^१ अतः विद्वानों को उन पर भी विचार लेना चाहिए । उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण समानता यह है कि दोनों में श्रावक के व्रतों के नाम और क्रम एक समान है । तत्त्वार्थ (७/१५-१७) में इनका जो क्रम है, वह प्रशमरति (३०३-३०३) को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है । इसी प्रकार दोनों में काल का लक्षण समान शब्दावली में दिया गया है । इस साम्य से तो यही सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं । उनमें एक व्यक्ति के जीवन की दृष्टि से कालक्रम भेद और विचार भेद हो सकता है, किन्तु वे भिन्न कृतक किंसा भी अवस्था में नहीं हो सकती । व्यावहारिक अनुभव में भी हम यह पाते हैं कि, 'एक ही व्यक्ति के जीवन में, कालक्रम में कुछ मान्यताएँ बिल्कुल बदल जाती हैं, तो यदि तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति में कहीं क्वचित् मान्यता भेद, जो कि वस्तुतः तो नहीं है, यदि दिखाई भी पड़े तो इस आधार पर यह कल्पना कर लेना कि वे भिन्न व्यक्ति की रचनाएँ हैं, एक भ्रान्त अवधारणा है ।

इसी प्रसंग में कुसुम पटोरिया का यह कथन भी विचारणीय है, "इन ग्रन्थों के सूक्ष्म अन्तः परीक्षण से हमें तो यही अवगत होता है कि प्रशमरति-प्रकरणकार के समक्ष तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य विद्यमान थे । यह इसलिए कह सकते हैं कि प्रशमरतिप्रकरणकार ने पूर्व कवियों द्वारा रचित प्रशम-जननशास्त्रपद्धतियों के आधार-ग्रहण का जो उल्लेख किया है, इससे वे निश्चय ही उत्तरकालीन और भिन्न समयवर्ती हैं । इस सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह है कि तत्त्वार्थसूत्र पहले रचा गया और उसका भाष्य

१. देखें—यापनीय और उनका साहित्य, पृ० ११५-११६ ।

उसके बहुत काल बाद रचा गया है और इन दोनों का आधार लेकर प्रशमरतिप्रकरणकार ने अपनी रचना प्रशमरति लिखी है।”

इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो मेरा निवेदन यह है कि प्रशमरति के कर्ता के समक्ष तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य की उपस्थिति से यह सिद्ध नहीं होता है कि वे भिन्न कृतक हैं अथवा उनके बीच कालक्रम का लम्बा अन्तराल है। जब ये तीनों ग्रन्थ एक ही लेखक की रचना है और उसमें भी प्रशमरति उनकी बाद की रचना हो तो प्रशमरति में तत्त्वार्थ और उसके भाष्य की उपस्थिति स्वाभाविक हो है।

पुनः तीनों ग्रन्थों में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों का अनुसरण देखा जाता है, जो यही सिद्ध करता है कि वे तीनों एक ही आगमिक परम्परा के व्यक्ति की रचनाएँ हैं। अतः तत्त्वार्थ के कर्ता को दिगम्बर या यापनीय मानना और भाष्य और प्रशमरति के कर्ता को श्वेताम्बर कहना उचित नहीं है। भाष्य और प्रशमरति में जो तथ्य हैं वे उनके कर्ता को श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा का पूर्वज ही सिद्ध करते हैं। तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति में यदि किञ्चित् मान्यता भेद भी हो तो उससे मात्र यही फलित होता है कि उमास्वाति की जीवन के उत्तरार्ध में कुछ मान्यताएँ बदली हैं। यद्यपि उनमें ऐसा मान्यता भेद नहीं देखा जाता है।

तत्त्वार्थ और उसके भाष्य तथा प्रशमरति में यदि काल का लम्बा अन्तराल होता तो उनमें कहीं न कहीं किसी रूप में गुणस्थान और सप्तभंगी जैसे विकसित जैन सिद्धान्तों का प्रवेश हो जाता। गुणस्थान जैन साधना और जैन कर्म सिद्धान्त का आधारभूत सिद्धान्त है, जो पाँचवीं शती के लगभग अस्तित्व में आया। तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति में उनकी अनुपस्थिति से यही सिद्ध होता है कि वे समकालीन रचनाएँ हैं और उनके कालों में २०-३० वर्ष से अधिक का अन्तर नहीं रहा है। यदि दिगम्बर विद्वानों के अनुसार ये सातवीं-आठवीं शती की रचनाएँ होती तो इनमें सप्तभंगी और गुणस्थान सिद्धान्त अवश्य आ जाते। क्योंकि पाँचवीं-छठीं शती के बाद को सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में इनका उल्लेख है।

क्या तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य भी भिन्न कृतक हैं ?

दिगम्बर परम्परा के मूर्धन्य विद्वान् पं० फूलचन्द जो, पं० जुगल-

१. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० १२०।

किशोर जी आदि सूत्र और भाष्य में विरोध दिखाते हुए यह सिद्ध करते हैं कि वे भी भिन्न कृतक हैं। पं० फूलचन्द जी लिखते हैं—

(i) “साधारणतः किसी विषय को स्पष्ट करने, उसकी सूचना देने या अगले सूत्र की उत्थानिका बाँधने के लिए, टीकाकार आगे के या पीछे के सूत्र का उल्लेख करते हैं। यह परिपाटी सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य में भी विस्तारपूर्वक अपनाई गई है।” साधारणतः ये टीकाकार कहीं पूरे सूत्र को उद्धृत करते हैं और कहीं उसके एक हिस्से को। पर जितने अंश को उद्धृत करते हैं वह अपने में पूरा होता है। ऐसा व्यत्यय कहीं भी नहीं दिखाई देता कि किसी एक अंश को उद्धृत करते हुए भी वे उसमें से सम्मिलित प्रारम्भ के किसी पद को छोड़ देते हों।

ऐसी अवस्था में हम तो यही अनुमान करते थे कि इन दोनों टीकाग्रन्थों में ऐसा उद्धरण शायद ही मिलेगा जिससे इनकी स्थिति में सन्देह उत्पन्न किया जा सके। इस दृष्टि से हमने सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य का बारीकी से पर्यायलोचन किया है। किन्तु हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि तत्त्वार्थभाष्य में एक स्थल पर ऐसा स्वलन अवश्य हुआ है जो इसकी स्थिति में सन्देह उत्पन्न करता है। यह स्वलन अध्याय १ सूत्र २० का भाष्य लिखते समय हुआ है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय का प्रतिपादन करने वाला सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्र इस प्रकार है—

‘मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।’

यही सूत्र तत्त्वार्थभाष्य मान्यपाठ में इस रूप में उपलब्ध होता है—

‘मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।’

तत्त्वार्थभाष्य में सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्र पाठकी अपेक्षा ‘द्रव्य’ पदके विशेषणरूप से ‘सर्व’ पद अधिक स्वीकार किया गया है। किन्तु जब वे ही तत्त्वार्थभाष्यकार इस सूत्र के उत्तरार्ध को अध्याय १ सूत्र २० के भाष्य में उद्धृत करते हैं तब उसका रूप सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ ले लेता है। यथा—

‘अत्राह—मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं वक्ष्यति—‘द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु’ इति’

कदाचित् कहा जाय कि इस उल्लेख में से लिपिकार की असावधानी-

वश 'सर्व' पद छूट गया होगा किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अपनी टीका में सिद्धसेनगणि और हरिभद्र ने भी तत्त्वार्थभाष्य के इस अंश को इसी रूप में स्वीकार किया है। प्रश्न यह है कि जब तत्त्वार्थ-भाष्यकार ने उक्त सूत्र का उत्तरार्थ 'सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' स्वीकार किया, तब अन्यत्र उसे उद्धृत करते समय वे उसके 'सर्व' पद को क्यों छोड़ गए। पद का विस्मरण हो जाने से ऐसा हुआ होगा यह बात बिना कारण के कुछ नपी-तुलो प्रतीत नहीं होती। यह तो हम मान लेते हैं कि प्रमादवश या जान-बूझकर उन्होंने ऐसा नहीं किया होगा, फिर भी यदि विस्मरण होने से ही यह व्यर्थ माना जाय तो इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। हमारा तो ख्याल है कि तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय उनके सामने सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ अवश्य रहा है और हमने क्या पाठ स्वीकार किया है इसका विशेष विचार किये बिना उन्होंने अनायास उसके सामने होने से सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ का अंश यहाँ उद्धृत कर दिया है। यह भी हो सकता है कि अध्याय १ सूत्र २० का भाष्य लिखते समय तक वे यह निश्चय न कर सके हों कि क्या इसमें 'सर्व' पद को 'द्रव्य' पद का विशेषण बनाना आवश्यक होगा या जो पुराना सूत्रपाठ है उसे अपने मूलरूप में ही रहने दिया जाय और सम्भव है कि ऐसा कुछ निश्चय न कर सकने के कारण यहाँ उन्होंने पुराने पाठ को ही उद्धृत कर दिया हो। हम यह तो मानते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य प्रारम्भ करने के पहले ही वे तत्त्वार्थसूत्र का स्वरूप निश्चित कर चुके थे फिर भी किसी खास सूत्र के विषय में शंकास्पद बने रहना और तत्त्वार्थ-भाष्य लिखते समय उसमें परिवर्तन करना सम्भव है। जो कुछ भी हो इस उल्लेख से इतना निश्चय करने के लिए तो बल मिलता ही है कि तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय वाचक उमास्वाति के सामने सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ अवश्य होना चाहिए।”

इस सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण यह है कि अपने ही ग्रन्थ में अपने किसी सूत्र को उद्धृत करते समय यह आवश्यक नहीं है कि पूरे ही सूत्र को उद्धृत किया जाये। स्वयं पं० जी इसी सन्दर्भ में पूर्व में यह स्वीकार कर चुके हैं कि “साधारणतः ये टीकाकार कहीं पूरे सूत्र को उद्धृत करते हैं और कहीं उसके एक हिस्से को ऐसी स्थिति में उद्धृत करते समय यदि द्रव्य के पूर्व सर्व विशेषण को उद्धृत नहीं किया तो, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सूत्रकार स्वयं ही टीकाकार नहीं हो सकता।” विशेष बात

यह है कि इस प्रसंग में भाष्यकार सर्वपर्यायों के ज्ञान के निषेध पर बल देना चाहता है और इसलिए द्रव्य के आगे सर्व पद को उद्धृत करना उसे आवश्यक नहीं लगा होगा। पुनः 'द्रव्येषु' पाठ स्वतः बहुवचनात्मक प्रयोग होने से उसके सर्व विशेषण को यहाँ उद्धृत करना आवश्यक भी नहीं था। अतः सर्व पद का उल्लेख होना या न होना बहुत महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है। पुनः विस्मरण अथवा लिपिकार द्वारा सर्व पद को छोड़ देना भी असम्भव नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थ और उसके स्वोपज्ञ भाष्य के काल तक लिखित ग्रंथों के माध्यम से अध्प्रयत्न करवाने की परम्परा जैनसंघ में नहीं थी, मौखिक परम्परा ही थी। अतः विस्मरण या लिपिकार का दोष सम्भव है। यदि उस सर्वार्थसिद्धि में, जिसके काल तक लिखने की प्रथा प्रारम्भ हो चुकी थी, आज सैकड़ों पाठभेद हैं, जिनका उल्लेख स्वयं० पं० फूलचन्दजी ने अपनी सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना में पृ० १-७ में किया है, तो तत्त्वार्थ और उसके स्वोपज्ञ भाष्य में एक-दो स्थल पर पाठभेद होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है कि जिसके आधार पर भाष्य की स्वोपज्ञता को नकारा जा सके। पुनः यह भी सम्भव है कि भाष्यकार के काल में यहो पाठ रहा हो और बाद में परिष्कारित हुआ हो, किन्तु यह कहना तो अत्यन्त ही बचकाना लगता है कि सर्वार्थसिद्धि के पाठों के आधार पर भाष्यमान्य पाठ निश्चित हुआ है।

जब भाष्य के अनेकों अंश सर्वार्थसिद्धि में मूल पाठ के रूप में अथवा टीका के अंश में पाये जाते हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि भाष्यकार ने सर्वार्थसिद्धि से पाठ उद्धृत किया होगा? आश्चर्य तो यह होता है कि तत्त्वार्थ और उसके भाष्य को उमास्वाति की कृति मानकर भी यह कहना कि वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठ को ग्रहण किया होगा। यदि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता वाचक उमास्वाति से भिन्न कोई आचार्य या आचार्य गृद्धपिच्छ थे, तो फिर तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर टीकाकार पूज्यपाद देवन्दी और अकलंक ने उनके नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया? अपनी परम्परा के उस आचार्य का जिसके ग्रन्थ पर टीकाकार टीका लिख रहा है, उल्लेख न करे, इससे दुर्भाग्यपूर्ण बात अन्य क्या हो सकती है? क्यों बाद के दिगम्बर आचार्यों ने अभिलेखों में उमास्वाति को तत्त्वार्थ का कर्ता माना। पुनः यह कल्पना करना कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति और तत्त्वार्थभाष्य के कर्ता उमास्वाति दो भिन्न व्यक्ति हैं और उनमें प्रथम दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर है? यदि ऐसा ही है तो अकलंक जैसे समर्थ आचार्यों ने भाष्य की कारिकाओं

को अपने वार्तिक में क्यों उद्धृत किया। दुर्भाग्य से ऐसा सब सोच हमारे परम्परा के व्यामोह और साम्प्रदायिक अभिनिवेश का प्रतीक है। हम अपने साम्प्रदायिक व्यामोहों की मोहर उस आचार्य पर लगाना चाहते हैं, जो इन सम्प्रदायों के जन्म के पूर्व हुआ था।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में मात्र एक पाठ भेद पकड़ कर यह कह देना कि दोनों एक आचार्य की कृति नहीं है, दुर्भाग्यपूर्ण ही है।

मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या इस तरह के अनेकों पाठभेद दिग्म्बर परम्परा में नहीं हैं। भगवती आराधना आदि अनेक ग्रन्थों में और उनकी टीकाओं में भी ऐसे पाठभेद मिल रहे हैं, जिनको चर्चा स्वयं पं० कैलाशचंद्र जी, पं० नाथूरामजी आदि दिग्म्बर विद्वान् भी कर चुके हैं। अन्य ग्रन्थों की बात छोड़िए—तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका की पुरानी मुद्रित प्रतियों में और वर्तमान में भारतीय ज्ञानपीठ से मुद्रित एवं स्वयं पण्डित फूलचन्दजी द्वारा सम्पादित प्रति में ही एक-दो नहीं मात्र प्रथम अध्याय में ही पचास से अधिक स्थानों में पाठभेद का संकेत तो स्वयं पं० जी ने किया है और यह पाठभेद भी सामान्य नहीं है कहीं-कहीं तो पूरे के पूरे ८-१० वाक्यों का अन्तर है। पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने इनके अतिरिक्त भी इसमें दिग्म्बर परम्परा के अनुकूल नहीं बैठने वाले पाठों को पाठ शुद्धि के नाम पर कैसे और क्यों बदला है, इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर मात्र उनकी सर्वार्थसिद्धि की भूमिका के पृ० १ से ७ देखने का निर्देश करेंगे ताकि पाठक उनके मन्तव्य का सम्यक् प्रकार से मूल्यां कन कर सकें।

(ii) तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार लिखते हैं कि “सूत्र और भाष्य जब दोनों एक ही आचार्य की कृति हों तब उनमें परस्पर असंगति, अर्थभेद, मतभेद अथवा किसी प्रकार का विरोध न होना चाहिये और यदि उनमें कहीं पर ऐसी असंगति, भेद अथवा विरोध पाया जाता है तो कहना चाहिए कि वे दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं हैं—उनके कर्ता भिन्न-भिन्न है—और इसलिये सूत्र का वह भाष्य ‘स्वोपज्ञ’ नहीं कहला सकता।” उनके अनुसार श्वेताम्बरों के तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके भाष्य में ऐसी असंगति, भेद अथवा विरोध पाया जाता है।

प्रथमतः श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ में प्रथम अध्याय का २३वाँ सूत्र निम्न प्रकार है—

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।

इसमें अवधिज्ञानके द्वितीय भेदका नाम 'यथोक्तनिमित्तः' दिया है और भाष्य में 'यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः' ऐसा लिखकर 'यथोक्तनिमित्त' का अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्त' बतलाया है; परन्तु 'यथोक्त' का अर्थ 'क्षयोपशम' किसी तरह भी नहीं बनता। 'यथोक्त' का सर्व-साधारण अर्थ होता है—जैसा कि कहा गया, परन्तु पूर्ववर्ती किसी भी सूत्र में 'क्षयोपशमनिमित्त' नाम से अवधिज्ञान के भेद का कोई उल्लेख नहीं है और न कहीं 'क्षयोपशम' शब्द का ही प्रयोग आया है, जिससे 'यथोक्त' के साथ उसकी अनुवृत्ति लगाई जा सकती। ऐसी हालत में 'क्षयोपशमनिमित्त' के अर्थ में 'यथोक्तनिमित्त' का प्रयोग सूत्रसन्दर्भ के साथ असंगत जान पड़ता है। इसके सिवाय, 'द्विविधोऽवधिः' इस २१वें सूत्र के भाष्य में लिखा है—'भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्च' और इसके द्वारा अवधिज्ञान के दो भेदों के नाम क्रमशः 'भवप्रत्यय' और 'क्षयोपशमनिमित्त' बतलाये हैं। २२वें सूत्र 'भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्' में अवधिज्ञान के प्रथम भेद का वर्णन जब भाष्यनिर्दिष्ट नाम के साथ किया गया है तब २३वें सूत्र में उसके द्वितीय भेद का वर्णन भी भाष्यनिर्दिष्ट नाम के साथ होना चाहिये था और तब उस सूत्र का रूप होता—'क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्', जैसा कि दिगम्बर सम्प्रदाय में मान्य है। परन्तु ऐसा नहीं है, अतः उक्त सूत्र और भाष्य की असंगति स्पष्ट है और इसलिये यह कहना होगा कि या तो 'यथोक्तनिमित्तः' पद का प्रयोग ही गलत है और या इसका जो अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्तः' दिया है वह गलत है तथा २१वें सूत्रके भाष्यमें 'यथोक्तनिमित्त' नाम को न देकर उसके स्थान पर 'क्षयोपशमनिमित्त' नाम का देना भी गलत है। दोनों ही प्रकार से सूत्र और भाष्य की पारस्परिक असंगति में कोई अन्तर मालूम नहीं होता।^१

प्रस्तुत विवेचन से आदरणीय जुगलकिशोर जी मूल और भाष्य में जिस असंगति को दिखाना चाहते हैं, वह असंगति तो वहाँ कहीं परिलक्षित ही नहीं हो रही है—भाष्य में 'यथोक्तनिमित्त' को स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि 'यथोक्त निमित्त' का तात्पर्य क्षयोपशम रूप निमित्त है। सम्भवतः यहाँ मुस्तार जी यह मानकर चल रहे हैं कि भाष्यकार ने यथोक्त शब्द का अर्थ क्षयोपशम किया है जो किसी प्रकार से नहीं बनता

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश, पण्डित जुगलकिशोर जी मुस्तार पृ० १२६-२७।

है और इसीलिए वे भाष्य और मूल में असंगति मान रहे हैं। किन्तु यहाँ भाष्यकार ने 'यथोक्त' शब्द का स्पष्टीकरण नहीं करके मात्र 'निमित्त' शब्द को स्पष्ट किया है और बताया है कि निमित्त का तात्पर्य क्षयोपशम रूप निमित्त है। यहाँ मुस्तार जी ने इस सत्य को समझते हुए भी एक भ्रान्ति खड़ी करके येन केन प्रकारेण भाष्य और मूल में असंगति दिखाने का प्रयास किया है। यथोक्त निमित्त का पूरा स्पष्टीकरण है—क्षयोपशम के निमित्त आगमों में जैसी तप साधना बतायी गया है वैसी तप साधना से प्राप्त होने वाला अर्थात् साधनाजन्य अवधि ज्ञान। यहाँ मुस्तार जी कहते हैं कि यदि मूल सूत्र में 'यथोक्त' कहा तो उसके पहले तत्त्वार्थ के किसी पूर्व सूत्र में उसका उल्लेख होना चाहिए था। किन्तु हमें ध्यान रखना है कि उमास्वाति तो आगमिक परम्परा के है, अतः उनकी दृष्टि में यथोक्त का अर्थ है—आगमोक्त। वस्तुतः जो परम्परा आगम को ही नहीं मानती हो, उसको सूत्र में प्रयुक्त यथोक्त शब्द का वास्तविक तात्पर्य कैसे समझ में आयेगा? इसलिए उसने भाष्य के आधार पर मूल में ही पाठ बदल डाला। चूँकि अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम तो भवप्रत्यय में भी होता है, अतः सूत्र एवं भाष्यकार ने क्षयोपशम शब्द को मूल में न रखकर भाष्य में रखा ताकि यह भ्रान्ति पैदा न हो कि भवप्रत्यय बिना क्षयोपशम के हो जा सकता है। क्षयोपशम तो दोनों में है। मूल और भाष्य दोनों में संगति का परिचायक जो महत्त्वपूर्ण शब्द है वह तो 'निमित्त' है। उसमें अवधिज्ञान के दो भेद हैं—भव-प्रत्यय और निमित्त जन्य और यहाँ निमित्त शब्द का अर्थ प्रयत्न या तप साधना से है। इसलिए 'यथोक्त निमित्त'—इस सूत्र का तात्पर्य है, क्षयोपशम हेतु की गई आगमोक्त तप-साधना जन्य। भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनों ही अवधिज्ञान होते तो हैं अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से ही—किन्तु जहाँ प्रथम में उस ज्ञान की उपलब्धि के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना होता है, वह जन्मना होता है वहीं दूसरे के लिए प्रयत्न या साधना करनी होती है, अतः उसी जन्म की दृष्टि से पहला विपाक जन्य है तो दूसरा प्रयत्न या साधना जन्य। इस प्रकार भाष्य में 'यथोक्त' का अर्थ क्षयोपशम किया ही नहीं गया है अतः दोनों में असंगति का प्रश्न ही नहीं उठता है। यह जानकर दुःख होता है कि आदरणीय मुस्तार जी इस स्पष्ट सत्य को क्यों नहीं समझ पाये? शायद सम्प्रदाय का व्यामोह ही इसमें बाधक बना हो।

पुनः अवधिज्ञान से सम्बन्धित इन दोनों मूल सूत्रों के श्वेताम्बर भाष्य मान्य और दिगम्बर सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ को देखें तो स्पष्ट हो जाता

है कि सर्वार्थसिद्धिकार ने भाष्य के आधार पर ही मूल पाठ को संशोधित किया है। चूँकि भाष्य में 'निमित्त' की व्याख्या 'क्षयोपशम निमित्त' थी। अतः उन्होंने 'यथोक्त', जिसका तात्पर्य आगमोक्त था, को मूलपाठ में से हटाकर उसके स्थान पर क्षयोपशम निमित्त ऐसा भाष्य पाठ रख दिया। इससे यह भी फलित होता है कि यापनीय या दिग्म्बर परम्परा में जो पाठ बदले गये हैं—उनका आधार भी भाष्य ही रहा है। अन्यथा यहाँ 'गुण प्रत्यय' पाठ रखा जा सकता था। पुनः सर्वार्थसिद्धि में सुधरा हुआ अधिक स्पष्ट पाठ होना यही सूचित करता है कि वह भाष्य से परवर्ती है।

यद्यपि इस सुधारे गये पाठ में 'यथोक्त' शब्द हट जाने से एक भ्रान्ति जन्म लेती है, वह यह कि क्या भवप्रत्यय अविधिज्ञान अविधिज्ञानावरण के क्षयोपशम के बिना होता है? वस्तुतः 'यथोक्त निमित्तः' मूल पाठ भव-प्रत्यय अविधिज्ञान से गुणप्रत्यय अविधिज्ञान का अन्तर जितनी अधिक गहराई से करता है, वैसा 'क्षयोपशम निमित्तः' पाठ नहीं कर पाता है। इसमें यथोक्त शब्द से अविधिज्ञानावरण के क्षयोपशम के लिये जिस आगमोक्त तप साधना का निर्देश होता था, वह समाप्त हो गया और इस प्रकार स्पष्टता के प्रयास में पुनः एक भ्रान्ति ही खड़ी हो गई।

(iii) तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में असंगति दिखाकर उन्हें भिन्न कर्तृक दिखाने के प्रयत्न में आदरणीय मुस्तार जी तीसरा तर्क यह देते हैं कि—

श्वे० सूत्रपाठ के छठे अध्याय का छठा सूत्र है—

“इन्द्रियकषायाऽव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः।”

दिग्म्बर सूत्रपाठ में इसी को नं० ५ पर दिया है। यह सूत्र श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र की टीका और सिद्धसेनगणी की टीका में भी इसी प्रकार से दिया हुआ है। श्वेताम्बरों की उस पुरानी सटिप्पण प्रति में भी इसका यही रूप है, जिसका प्रथम परिचय अनेकान्त के तृतीय वर्ष की प्रथम किरण में प्रकाशित हुआ है। इस प्रामाणिक सूत्रपाठ के अनुसार भाष्य में पहले इन्द्रिय का, तदनन्तर कषाय का और फिर अव्रत का व्याख्यान होना चाहिये था; परन्तु ऐसा न होकर पहले 'अव्रत' का और अव्रत वाले तृतीय स्थान पर इन्द्रिय का व्याख्यान पाया जाता है। यह भाष्यपद्धति को देखते सूत्रक्रमोल्लंघन नाम की एक असंगति है, जिसे सिद्धसेनगणी ने अन्य प्रकार से दूर करने का प्रयत्न किया है, जैसा कि पं० सुखलालजी के उक्त

तत्त्वार्थसूत्र की सूत्रपाठ से सम्बन्ध रखने वाली निम्न टिप्पणी (पृ० १३२)-
से भी पाया जाता है :—

“सिद्धसेन को सूत्र और भाष्य की असंगति मालूम हुई है और उन्होंने इसको दूर करने की कोशिश भी की है।”

परन्तु जान पड़ता है पं० सुखलालजी को सिद्धसेन का वह प्रयत्न उचित नहीं जँचा, और इसलिये उन्होंने मूलसूत्र में उस सुधार को इष्ट किया है जो उसे भाष्य के अनुरूप रूप देकर ‘अन्नतकषायेन्द्रियक्रियाः’ पद से प्रारम्भ होने वाला बनाता है। इस तरह यद्यपि सूत्र और भाष्य की उक्त असंगति को कहीं-कहीं पर सुधारा गया है, परन्तु सुधार का यह कार्य बाद की कृति होने से यह नहीं कहा जा सकता कि सूत्र और भाष्य में उक्त असंगति नहीं थी।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्वेताम्बरीय आगमादि पुरातन ग्रन्थों में भी साम्प्रदायिक आख्य के भेदों का निर्देश इन्द्रिय, कषाय, अन्नत योग और क्रिया इस सूत्र निर्दिष्ट क्रम से पाया जाता है; जैसा कि उपाध्याय मुनि श्री आत्मारामजी द्वारा ‘तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय’ में उद्धृत स्थानांगसूत्र और नवतत्त्वप्रकरण के निम्न वाक्यों से प्रकट है :—

“पंचिदिया पण्णत्ता चत्तारिकसाया पण्णत्ता पंचअविरय पण्णत्ता पंचवीसा किरिया पण्णत्ता।”

—स्थानांग स्थान २, उद्देश्य १ सू० ६० (?)

“इन्दियकसायअव्वयजोगा पंच चउ पंच तिसि कमा।”

किरियाओ पण्णत्तासं इमाओ ताओ अणुकमसो ॥”

—नवतत्त्वप्रकरण

इससे उक्त सुधार जैसे भी समुचित प्रतीत नहीं होता, वह आगम के विरुद्ध पड़ेगा और इस तरह एक असंगति से बचने के लिये दूसरी असंगति को आमन्त्रित करना होगा।”^१

यह सत्य है कि ‘इन्द्रियकषायाऽन्नत क्रिया’ की विवेचना में भाष्य में क्रम-भेद है। जहाँ सूत्र में इन्द्रिय प्रथम और अन्नत तृतीय स्थान पर है,

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद् प्रकाश, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार पृ० १२७-२८।

वहाँ भाष्य में अत्रत प्रथम और इन्द्रिय तीसरे स्थान पर है, किन्तु यह कोई सैद्धान्तिक असंगति नहीं है, विवेचन में क्रम का अन्तर है। विस्मृति से भाष्य लिखते समय यह अन्तर आ गया होगा। क्रम का यह अन्तर भाष्य करते समय आया हो या प्रतिलिपि करते समय हुआ हो हम आज कुछ भी नहीं कह सकते। यह सत्य है कि सिद्धसेनगणि को जो प्रति मिली उसमें यह अन्तर था। पुनः भाष्यकार और सिद्धसेनगणि में भी तीन-चार सौ वर्ष का अन्तर है अतः ऐसी भूल मुख्याग्र परम्परा में भी हो सकती है किन्तु इस सबसे यह कहीं फलित नहीं होता है कि दोनों में सैद्धान्तिक असंगति है। ऐसा क्रम भंग एक ही लेखक की दो कृतियों में भी अनेक बार हो जाता है, अतः इस आधार पर यह कहना अनुचित होगा कि भाष्य स्वोपज्ञ नहीं है। पुनः श्वेताम्बर मान्य मूलपाठ की आगम से जो संगति है जिसे स्वयं मुख्तार जो दिखा रहे हैं, वह यही सिद्ध करती है कि मूलपाठ आगमिक परम्परा के अनुरूप है और स्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक के पाठ स्वयं भाष्य के क्रम के आधार पर सुधारे गये हैं, अतः परवर्ती भी हैं।

यदि वे क्रमभंग को बहुत बड़ी असंगति मानते हैं, तो फिर संख्या भेद तो महान असंगति होगी। इन्हीं आस्रव के कारणों की चर्चा के प्रसंग में ही हम देखते हैं कि जहाँ कुन्दकुन्द समयसार में 'प्रमाद' को छोड़कर मात्र मिथ्यात्व, अत्रत, कषाय और योग ऐसे चार कारण मानते हैं, वहाँ तत्त्वार्थ मूल, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, आदि सभी पाँच कारण मानते हैं। क्या संख्या भेद की इस असंगति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द और सर्वार्थसिद्धिकार एक ही परम्परा के नहीं हो सकते? विवेचन में क्रम का व्यतिक्रम या संख्या भेद एक लेखक की कृति में भी सम्भव होता है, अतः इस आधार पर यह कहना कि भाष्य स्वोपज्ञ नहीं है, एक दुराग्रह ही होगा।

(iv) आदरणीय मुख्तारजी तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य में एक असंगति यह भी दिखाते हैं कि—

चौथे अध्याय का चौथा सूत्र इस प्रकार है—

“इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्याऽऽत्तरक्ष-लोकपाला-ऽनीकप्रकीर्ण-का-ऽऽभियोग्य-कित्विषिकाश्चैकशः।”

इस सूत्र में पूर्वसूत्रके निर्देशानुसार देवनिकायों में देवों के दश भेदों का उल्लेख किया है। परन्तु भाष्य में 'तद्यथा' शब्द के साथ उन भेदों को जो गिनाया है उसमें दश के स्थान पर निम्न ग्यारह भेद दे दिये हैं :—

“तद्यथा, इन्द्राः सामानिकाः त्रायस्त्रिंशः पारिषदाः आत्मरक्षाः लोकपालाः अनीकाधिपतयः अनीकानि प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्बिषिकाश्चेति ।”

इस भाष्य में 'अनीकाधिपतयः' नाम का जो नया भेद दिया है वह सूत्रसंगत नहीं है। इसी से सिद्धसेनगणी भी लिखते हैं कि—

“सूत्रे चानीकान्येवोपात्तानि सूरिणा नानीकाधिपतयः, भाष्ये पुनरुपन्यस्ताः ।”

अर्थात्—सूत्र में तो आचार्य ने अनीकों का ही ग्रहण किया है अनीकाधिपतियों का नहीं। भाष्य में उसका पुनः उपन्यास किया गया है। वे मानते हैं कि इससे सूत्र और भाष्य में जो विरोध आता है, उससे इनकार नहीं किया जा सकता। सिद्धसेनगणी ने इस विरोध का कुछ परिमार्जन करने के लिये जो यह कल्पना की है कि भाष्यकार ने अनीकों और अनीकाधिपतियों के एकत्व का विचार करके ऐसा भाष्य कर दिया जान पड़ता है^१, वह ठीक मालूम नहीं होती; क्योंकि अनीकों और अनीकाधिपतियों की एकता का वैसा विचार यदि भाष्यकार के ध्यान में होता तो वह अनीकों और अनीकाधिपतियों के लिये अलग-अलग पदों का प्रयोग करके संख्या-भेद को उत्पन्न न करता। भाष्य में तो दोनों का स्वरूप भी अलग-अलग दिया गया है जो दोनों की भिन्नता का द्योतन करता है। यों तो देव और देवाधिपति (इन्द्र) यदि एक हों तो फिर 'इन्द्र' का अलग भेद करना भी व्यर्थ ठहरता है; परन्तु दश भेदों में इन्द्र की अलग गणना की गई है, इससे उक्त कल्पना ठीक मालूम नहीं होती। सिद्धसेनगणी भी अपनी इस कल्पना पर दृढ़ मालूम नहीं होते, इसी से उन्होंने आगे चलकर लिख दिया है—“अन्यथा वा दशसंख्या भिद्यैत—अथवा यदि ऐसा नहीं है तो दश की संख्या का विरोध आता है^२”।

यहाँ आदरणीय मुस्तार जी अनीक (सैनिक) और अनीकाधिपति में भेद दिखाकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जहाँ मूलसूत्र में देव परिषद् के दस प्रकार दिखाये हैं, वहाँ भाष्य में अनीक (सैनिक) और अनीकाधिपति को अलग-अलग मानने पर ग्यारह भेद हो जाते हैं। मुस्तार जी का एक तर्क यह भी है कि जिस प्रकार इन्द्र (देव-अधिपति) और देवों में

१. “तदेकत्वमेवानीकानीकाधिपतयोः परिचिन्त्य विवृतमेव भाष्यकारेण ।”

२. जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पं० जुगलकिशोरजी मुस्तार, पृ० १२८-२९

भेद है, उसी प्रकार अनीकाधिपति और अनीक में भेद है और यह भेद मान लेने पर सूत्र और भाष्य की देवपरिषद् की संख्या में अन्तर आ जाता है। जब सूत्रकार और भाष्यकार एक ही है तो यह अन्तर होना नहीं चाहिये। सर्वप्रथम तो हमारी समझ में यह नहीं आता कि मूल में अनीक और भाष्य में अनीक एवं अनीकाधिपति ऐसा भेद होने पर कौन-सी बहुत बड़ी असंगति हो जाती है। कोई भी व्याख्याकार व्याख्या में किसी भेद के उपभेद की चर्चा तो कर ही सकता है। पुनः क्या इस प्रकार भेद और उपभेदों की चर्चा दिग्म्बर व्याख्याकारों ने नहीं की है? जब वे निक्षेप की चर्चा करते हैं तो क्या स्थापना के साकार-स्थापना और अनाकार-स्थापना ऐसे दो भेद नहीं करते हैं? और कोई आग्रह पूर्वक यह कहे कि साकार और अनाकार ऐसी दो स्थापना होने से व्याख्या में निक्षेप के पाँच भेद किये गये हैं अतः व्याख्या और मूल में असंगति है? ऐसे तो एक दो नहीं सैकड़ों असंगतियाँ किसी भी मूलग्रन्थ और उसके भाष्य या टीका में दिखाई जा सकती हैं। वास्तव में अनीक (सैनिक) के भाष्य में अनीक (सैनिक) और अनीकाधिपति (सेनापति) ऐसे दो भेद करने से न तो देव-परिषद् की दस संख्या में कोई अभिवृद्धि होती है और न भाष्य और मूल में कोई असंगति ही आती है। अनीक और अनीकाधिपति का भेद राजा और प्रजा के भेद से भिन्न है—राजा प्रजा नहीं होता है, स्वामी सेवक नहीं होता है किन्तु सेनापति अनिवार्य रूप से सैनिक होता ही है—अतः मुख्तार जी ने अपने मत की पुष्टि हेतु जो उदाहरण दिया है वह स्वतः ही असंगत है। ऐसे असंगत उदाहरण देकर तो कही भी असंगति दिखाई जा सकती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि सेना का कोई भी अधिकारी सैनिक होता ही है। अतः मुख्तार जी द्वारा दिखाई गई यह असंगति निरस्त हो जाती है। पुनः यदि वे कहे कि इन्द्र भी तो देव होता है और जब उसकी गणना तो अलग से की गई है तो फिर सेनापति की सैनिक से अलग परिगणना करना चाहिये, तो हमारा उत्तर यह है कि यह देव-परिषद् के प्रकारों की चर्चा है—इसलिये इन्द्र और उसकी परिषद् के सामानिक आदि देवों को अलग गिना गया। उसी परिषद् का एक अंग है—सैनिक देव (अनीक)। जब देव सेना के अंगों की चर्चा करना हो तो सैनिक एवं सेनापति आदि की अलग-अलग गणना करना चाहिये। वैसे तो सैनिक देवों के वर्ग में सेनापति स्वतः ही समाहित है अतः अनीक और अनीकाधिपति को अलग-अलग मानकर मूल और भाष्य में असंगति दिखाना अनुचित है।

(v) पुनः तत्त्वार्थ के श्वेताम्बरमान्य मूल पाठ और उसके भाष्य में असंगति दिखाते हुए आदरणीय मुस्तार जो लिखते हैं कि—

“श्वे० सूत्रपाठके चौथे अध्याय का २६वाँ सूत्र निम्न प्रकार है—

“सारस्वतादित्यबन्धुरणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्ठाश्च ।”

इसमें लोकतान्त्रिक देवोंके सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्टः ऐसे नव भेद बतलाये हैं, परन्तु भाष्यकार ने पूर्व सूत्रके भाष्य में और इस सूत्र के भाष्य में भो लोकान्तिक देवों के भेद आठ ही बतलाये हैं और उन्हें पूर्वादि आठ दिशा-विदिशाओं में स्थित सूचित किया है; जैसा कि दोनों सूत्रोंके निम्न भाष्यों में प्रकट है :—

“ब्रह्मलोकं परिवृत्याष्टामु दिक्षु अष्टकिकल्पा भवन्ति । तद्यथा—”

“एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकन्य पूर्वात्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासंख्यम् ।”

इससे सूत्र और भाष्यका भेद स्पष्ट है। सिद्धसेनगणी ओर पं० सुखलालजी ने भी इस भेद को स्वीकार किया है; जैसा कि उनके निम्न-वाक्यों से प्रकट है—

“नन्वेवमेते तवभेदा भवन्ति, भाष्यकृता चाष्टविधा इति मुद्रिताः ।”

“इन दो सूत्रों के मूलभाष्य में लोकान्तिक देवोंके आठ ही भेद बतलाये हैं, नव नहीं ।”

इस विषय में सिद्धसेनगणी तो यह कहकर छुट्टी पा गये हैं कि लोकान्त में रहने वालों के ये आठ भेद जो भाष्यकार सूरि ने अंगोकार किये हैं वे रिष्टविमान के प्रस्तार में रहनेवालों की अपेक्षा नवभेदरूप हो जाते हैं, आगम में भी नव भेद कहे हैं, इसमें कोई दोष नहीं परन्तु मूल सूत्र में जब स्वयं सूत्रकार ने नव भेदों का उल्लेख किया है तब अपने ही भाष्य में उन्होंने नव भेदों का उल्लेख न करके आठ भेदों का ही उल्लेख क्यों किया है, इसका वे कोई माकूल (युक्तियुक्त) वजह नहीं बतला सके। इसी से पं० सुखलालजी को उस प्रकार से कहकर छुट्टी पा लेना उचित नहीं जँचा और इसलिये उन्होंने भाष्य की स्वोपज्ञता में बाधा न

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० १२८-२९।

२. ‘उच्यते—लोकान्तवर्तिनः एतेऽष्टभेदाः सूरिणोपात्ताः रिष्टविमानप्रस्तारवर्ति-
भिर्नवधा भवन्तीत्यदोषः । आगमे तु नवधैवाधीता इति ।’

पड़ने देने के खयाल से यह कह दिया है कि—“यहाँ मूल सूत्र में ‘मरुतो’ पाठ पीछे से प्रक्षिप्त हुआ है।” परन्तु इसके लिये वे कोई प्रमाण उपस्थित नहीं कर सके। जब प्राचीन से प्राचीन श्वेताम्बरीय टीका में ‘मरुतो’ पाठ स्वीकृत किया गया है तब उसे यों ही दिगम्बर पाठ की बात को लेकर प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता।

सूत्र तथा भाष्य के इन चार नमूनों और उनके उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सूत्र और भाष्य दोनों एक ही आचार्य की कृति नहीं है और इसलिये श्वे० भाष्य को ‘स्वोपज्ञ’ नहीं कहा जा सकता।”

इस चर्चा में जो असंगति आदरणीय मुख्तार जी दिखा रहे हैं वह यह है कि भाष्यमान्य मूल सूत्र में लोकांतिक देवों के नौ प्रकार उल्लेखित है जबकि भाष्य मात्र आठ प्रकारों की चर्चा करता है। पू० सिद्धसेनगणि और पं० मुखलाल जो दोनों ने इस संख्यागत भिन्नता का निर्देश किया किया है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना कि भाष्य स्वोपज्ञ नहीं अयुक्तिसंगत है। वास्तविकता यह है कि भाष्यकार के समक्ष जो मूल पाठ रहा होगा उसमें तो आठ ही प्रकारों का उल्लेख रहा होगा—अन्यथा वे भाष्य में आठ की संख्या का निर्देश ही क्यों करते? जैसी कि पं० सुखलाल जो ने कल्पना की है, बाद में किसी श्वेताम्बर आचार्य ने मूलपाठ की समवायांग से संगति दिखाने हेतु उसमें मरुत को जोड़कर यह संख्या नौ कर दी। जब यापनीय और दिगम्बर आचार्यों ने अनेक पाठ बदल डाले, तो किसी परवर्ती श्वेताम्बर आचार्य ने कहीं एक नाम प्रक्षिप्त कर दिया तो मूल एवं भाष्य में बहुत बड़ी असंगति हो गई—यह नहीं कहा जा सकता है। जब भाष्यकार के समक्ष मूलपाठ में आठ ही नाम थे, तो फिर असंगति कहाँ हुई? भाष्यकार ने तो किसी एक स्थल पर भी मूल पाठ से अपनी असंगति की चर्चा नहीं की। जबकि सिद्धसेन गणि ने जहाँ भी मूलपाठ अथवा आगम से भाष्य में कोई भिन्नता दिखाई दी, उसकी चर्चा की है। जो प्राचीन श्वेताम्बर आचार्यों की बौद्धिक ईमानदारी को सूचित करता है।

पुनः यह भी ज्ञातव्य है कि लोकान्तिक देवों की संख्या चाहे आठ माने या नौ माने दोनों ही आगम सम्मत है। समवायांग दोनों मतों का निर्देश करता है। आठ की संख्या भी आगम संगत है। अतः भाष्य की न तो मूलपाठ से और न आगम से कोई असंगति है। जो असंगति आई है वह परवर्ती प्रक्षेप के कारण आई है, यद्यपि यह प्रक्षेप कब हुआ

और किसने किया यह कहना कठिन है—फिर भी सिद्धसेनगणि को मूल-और भाष्य की जो प्रति मिली, उसमें यह प्रक्षेप अवश्य था। यद्यपि यह प्रक्षेप भी आगम संगत है, आगम विरुद्ध नहीं। लगता है कि श्वेताम्बरो में जब लोकान्तिक देवों की संख्या नौ मान ली गई तभी किसी ने भाष्य का विचार किये बिना ही मूलपाठ में 'मरुत' शब्द प्रक्षिप्त कर दिया होगा। यह प्रक्षेप भी लगभग सातवीं शती के पूर्व हो हुआ होगा—क्योंकि सिद्धसेन गणि उससे अवगत है। आज उस युग की कोई भी प्रति उपलब्ध नहीं है, अतः उसके प्रमाणीकरण का कोई साधन नहीं है। किन्तु भाष्य एवं सर्वार्थ सिद्धि आदि में जो पाठ है वे ही इस तथ्य का प्रमाण है कि यह प्रक्षेप हुआ है।

सर्वार्थ सिद्धि का पाठ संशोधन क्यों ?

हमारे दिग्म्बर परम्परा के विद्वान् पूर्व परम्परा के या उसके द्वारा मान्य ग्रन्थों यथा—तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थभाष्य, प्रश्नमति और आगम में परस्पर असंगतियाँ दिखाकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उनमें परस्पर विरोध है, अतः वे भिन्न कृतक और भिन्न परम्परा के हैं। किन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि असंगतियाँ सर्वत्र है। सर्वार्थसिद्धि की दिग्म्बर परम्परा में कितनी असंगतियाँ और कितने पाठभेद थे, यह सब हमें बताने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं पं० फूलचन्दजी की प्रस्तावना ही इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। वे लिखते हैं—“विशेष वाचन के समय मेरे ध्यान में आया कि सर्वार्थ सिद्धि में ऐसे कई स्थल हैं जिन्हें उसका मूल भाग मानने में सन्देह होता है। किन्तु जब कोई वाक्य, वाक्यांश, पद या पदांश लिपिकार की असावधानी या अन्य कारण से किसी ग्रन्थ का मूल भाग बन जाता है तब फिर उसे बिना आधार के पृथक् करने में काफी अड़चन का सामना करना पड़ता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थ सूत्र प्रथम अध्याय के 'निर्देशस्वामित्व' और 'सत्संख्या' इन दो सूत्रों की व्याख्या षट्खण्डागम के आधार से की है। यहाँ केवल यह देखना है कि इन सूत्रों की व्याख्या में कहीं कोई शिथिलता तो नहीं आने पाई और यदि शिथिलता चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं तो उसका कारण क्या है ?

'निर्देशस्वामित्व'—सूत्र की व्याख्या करते समय आचार्य पूज्यपाद ने चारों गतियों के आश्रय से सम्यग्दर्शन के स्वामी का निर्देश किया है। वहाँ तिर्यचिनियों में क्षायिक सम्यग्दर्शन के अभाव के समर्थन में पूर्व मुद्रित प्रतियों में यह वाक्य उपलब्ध है—

‘कुत इत्युक्ते मनुष्यः कर्मभूमिज एव दर्शनमोहक्षपणप्रारम्भको भवति । क्षपणप्रारम्भकालात्पूर्वं तिर्यक्षु’ बद्धायुष्कोऽपि उत्तमभोगभूमितिर्षक्पुरुषे-
प्वेवोत्पद्यते न तिर्यक्स्त्रीणां; द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासम्भवात् । एवं
तिरश्चामप्यपर्याप्तकानां क्षायोपशमिकं ज्ञेयं न पर्याप्तकानाम् ।’

यहाँ ‘द्रव्यवेदस्त्रीणां’ यह वाक्य रचना आगम परिपाटी के अनुकूल नहीं है अतएव भ्रमोत्पादक भी है, क्योंकि आगम में तिर्यञ्च, तिर्यञ्चिनी और मनुष्य, मनुष्यिनी ऐसे भेद करके व्यवस्था की गई है तथा इन संज्ञाओं का मूल आधार वेद तोषाय का उदय बतलाया गया है ।

हमारे सामने यह प्रश्न था । हम बहुत काल से इस विचार में थे कि यह वाक्य ग्रन्थ का मूल भाग है या कालान्तर में उसका अंग बना है । तात्त्विक विचारणा से बाद भी इसके निर्णय का मुख्य आधार हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ ही थीं । तदनुसार हमने उत्तर भारत और दक्षिण भारत की प्रतियों का संकलन कर शंकास्थलों का मुद्रित प्रतियों से मिलान करना प्रारम्भ किया । परिणामस्वरूप हमारी धारणा सही निकली । यद्यपि सब प्रतियों में इस वाक्य का अभाव नहीं है पर उनमें से कुछ प्राचीन प्रतियाँ ऐसी भी थीं जिनमें यह वाक्य नहीं उपलब्ध होता है ।” यह ‘द्रव्य-वेदस्त्रीणां’ पाठ पण्डित जी को वस्तुतः इसलिये खटका कि आगे चलकर स्त्री मुक्ति निषेध की अवधारणा के समर्थन में षट्खण्डागम के मनुष्यिनी शब्द की व्याख्या में उसका जो भाव स्त्री अर्थ लाया गया है, वह इसके विरोध में जाता है । दूसरा पक्ष यहाँ यह कह सकता था कि सर्वार्थसिद्धि में तो ‘स्त्री’ का अर्थ द्रव्य वेद किया है आप भाव स्त्री कैसे करते हैं । अतः पण्डितजी ने मूलपाठ में से द्रव्यवेद स्त्री शब्द ही पुरानो प्रति के नाम पर हटा दिया । यद्यपि वे यह नहीं बता सके कि यह पाठ किस प्रति में नहीं मिलता है । आगे पुनः पण्डित जी लिखते हैं—

“इसी सूत्र की व्याख्या में दूसरा वाक्य ‘क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव’ मुद्रित हुआ है । यहाँ मनुष्यिनियों के प्रकरण से यह वाक्य आता है । बत-लाया यह गया है कि पर्याप्त मनुष्यिनियों के ही तीनों सम्यग्दर्शनों का प्राप्ति सम्भव है, अपर्याप्त मनुष्यिनियों के नहीं ।’ निश्चयतः मनुष्यिनी के क्षायिक सम्यग्दर्शन भाववेद की मुख्यता से ही कहा है यह द्योतिक करने के लिए इस वाक्य की सृष्टि की गई है ।

किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि आगम में ‘मनुष्यिनी’ पद स्त्रीवेद के

उदयवाले मनुष्य गति जीव के लिए हो आता है। जो लोक में नारी, महिला या स्त्री आदि शब्दों के द्वारा व्यवहृत होता है, आगम के अनुसार मनुष्यिनी शब्द का अर्थ उससे भिन्न है।^१ ऐसी अवस्था में उक्त वाक्य को मूल का मान लेने पर मनुष्यिनी शब्द के दो अर्थ मानने पड़ते हैं। उसका अर्थ तो स्त्री वेद का उदयवाला मनुष्य जीव होता ही है और दूसरा अर्थ महिला मानना पड़ता है चाहे उसके स्त्री वेद का उदय हो या न हो।

ऐसी महिला को भी जिसके स्त्री वेद का उदय होता है मनुष्यिनी कहा जा सकता है और उसके क्षायिक सम्यग्दर्शन का निषेध करने के लिए यह वाक्य आया है, यदि यह कहा जाय तो इस कथन में कुछ भी तथ्यांश नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि आगम में मनुष्यिनी शब्द भाववेद की मुख्यता से ही प्रयुक्त हुआ है, अतएव वह केवल अपने अर्थ में ही चरितार्थ है। अन्य आपत्तियों का विधिनिषेध करना उसका काम नहीं है।^२ किन्तु भाववेद अर्थात् स्त्री सम्बन्धी कामवासना वाली स्त्री में क्षायिक सम्यक् दर्शन मानना पण्डित जी को कदापि इष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि यह स्त्री मुक्ति का साधक बनता अतः पण्डित जी ने यह लिखकर—‘हमने इस वाक्य पर भी पर्याप्त ऊहापोह कर सब प्रतियों में इसका अनुसन्धान किया है। प्रतियों के मिलान करने से ज्ञात हुआ कि यह वाक्य भी सब प्रतियों में नहीं उपलब्ध होता।’ इस कथन से भी अपना पीछा छुड़ा लिया और भी ऐसे सभी प्रसंग जहाँ उन्हें आंतरिक असंगति या परम्परा से विरोध परिलक्षित हुआ इन्हीं पाठ भेदों के नाम पर हटा दिये। आदरणीय पण्डित जी ने उसकी चर्चा अपनी भूमिका में की है। पाठक पृष्ठ १ से ७ तक देख सकते हैं।

सर्वार्थसिद्धि प्रथम संस्करण कल्लप्पा भरमप्पा नितवे ने कोल्हापुर से प्रकाशित किया था। दूसरा संस्करण श्री मोतीचन्द्र गोतमचन्द्र कोठारी ने सोलापुर से प्रकाशित किया है। तीसरा संस्करण पं० बंशोधर जी सोलापुर वालों ने सम्पादित करके प्रकाशित किया है। यद्यपि पण्डित फूलचन्द जी स्पष्टतः यह मानते हैं कि अन्य संस्करणों की अपेक्षा यह संस्करण अधिक शुद्ध है। फिर भी पं० फूलचन्द जी का अनेक स्थलों पर पाठ बदलने पड़े हैं—आखिर क्यों? केवल अपनी मान्यता से संगति के लिये?

इस सम्बन्ध में वे स्वयं लिखते हैं कि अधिकतर हस्तलिखित प्रतियों में यह देखा जाता है कि पीछे से अनेक स्थलों पर विषयों को स्पष्ट करने लिए अन्य ग्रन्थों के श्लोक, गाथा, वाक्यांश या स्वतन्त्र टिप्पणियाँ जोड़

१. पं० फूलचन्द जी का यह कथन स्वतः ही आत्म विरोधी है।

दी जाती हैं और कालान्तरमें वे ग्रन्थ का अङ्ग बन जाती हैं। सर्वार्थसिद्धि में यह व्यत्यय बहुत ही मात्रा में हुआ है। पंडित जी ने इस व्यत्यय को मिटाने हेतु कितना परिवर्तन किया है, इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर मात्र उनके द्वारा प्रस्तुत सूची ही नीचे दे रहे हैं—

पृ०	पं०	पुरानी मुद्रित प्रति	प्रस्तुत संस्करण
३	३	—वत् । एवं व्यस्तज्ञाना—	—वत् व्यस्तं ज्ञाना—
६	१	स्वयं पश्यति दृश्यतेऽनेनेति	पश्यति दृश्यतेऽनेन
६	१	ज्ञप्तिमात्रं	ज्ञातिमात्रं
१७	४	पुरुषाकारा—	पुरुषकारा—
१८	१	—र्थानामजोवानानानामा—	—र्थानां नामा—
१९	१	—विधिना नामशब्दा—	—विधिना शब्दा—
२०	१	तत्त्वं प्रमाणेभ्यो	तत्त्वं प्रमाणाभ्याम्
२९	६	—निर्देशः । प्रशंसा—	—निर्देशः । स प्रशंसा—
३०	२	संक्षेपरुचयः । अपरे	संक्षेपरुचयः । केचित् विस्तर- रुचयः । अपरे
३४	१	द्विविधा सामान्येन तावत्	द्विविधा सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावत्
४४	५	—संख्येयभागः	—संख्येया भागाः
४९	७	—स्पृष्टः अष्टौ नव चतु—	स्पृष्टः अष्टौ चतु—
५०	३	—ख्येयभागः स्पृष्टः । सासादन— सम्यग्दृष्टिभिः लोकस्यासंख्येयभागा अष्टौ नव चतुर्दश भागा वा देशोनाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयाद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । असंयत—	—ख्येयभागः । असंयत- संख्येयभागाः । असंयत- सम्यग्दृष्टिभिः लोकस्यासंख्येयभागा अष्टौ नव चतुर्दश भागा वा देशोनाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयाद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । असंयत—
५९	२	—ख्येयः कालः । वन—	—ख्येया लोकाः । वन—
६४	११	—ज्ञानां मिथ्यादृष्टेर्नाना—	—ज्ञानां नानां—
७१	१०	—भ्यधिके । चतुर्णां—	—भ्यधिके । असंयतसम्य- ग्दृष्टयाद्यप्रमत्तान्तानां नाना- जोवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्त- मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे साग- रोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वै- रभ्यधिके । चतुर्णां—

८३	७	—भागा असंख्येया उत्स—	—भागोऽसंख्येयासंख्येया उत्स—
८८	७	—संयता संख्ये—	—संयता असंख्ये—
८९	५	—भावः । इन्द्रियं प्रत्युच्यते । पञ्चेन्द्रियाच्चोकेन्द्रियान्ता उत्त- रोत्तरं बहवः पञ्चे—	—भावः । पञ्चे—
८९	७	—भावः कार्यं प्रत्युच्यते । सर्वत- स्तेजः—कार्यिका अल्पाः । ततो बहवः पृथिवी—कार्यिकाः । ततो- ऽप्यकार्यिकाः । ततो वातकार्यिकाः । सर्वतोऽनन्तगुणा वन—स्पतवः । त्रस—	—भावः । त्रस—
९०	६	—दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मति—	—दृष्टयोऽनन्तगुणाः विभंग- ज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाः सासा- दनसम्यग्दृष्टयः । मिथ्या- दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मति- यताः असंख्ये—
९०	९	—यताः संख्ये—	—दृष्टयः संख्येय—
९०	९	—दृष्टयः संख्ये—	—दृष्टयः असंख्ये—
९१	५	—दृष्टयोऽसंख्ये—	—दृष्टयः संख्येय—
९१	१२	—संयता संख्ये—	—संयता असंख्ये—
९२	१	—दृष्टयः संख्ये—	—दृष्टयोऽसंख्ये—
९२	२	—दृष्टयोऽसंख्ये	—दृष्टयः संख्ये—
९२	७	—यताः संख्ये—	—यताः असंख्ये—
९२	९	—यताः संख्ये—	—यताः असंख्ये—
९२	१०	—बहुत्वम् । विपक्षे एकैक— गुणस्थानग्रहणात् । संज्ञा—	—बहुत्वम् । संज्ञा—
९३	११	—स्वमर्थान्मन्यते	—स्वमर्थो मन्यते
९४	१	अनेनेति तत्	अनेन तत्
९८	१	—ल्पाज्ञानभावः अज्ञाननाशो	—ल्पाज्ञाननाशो
९८	३	—धिगमे अन्य—	—धिगमे च अन्य—
९८	५	हेतुः तत्स्वरूप—	हेतुः स्वस्वरूप—
१००	१	—त्यर्थः उपमानार्थापत्त्यादीना मत्रैवान्तर्भावानुभवस्य	—त्यर्थः । उक्तस्य
१०३	३	—ज्ञानमपि प्रति	—ज्ञानमक्षमेव प्रति
१०४	१	एवं प्रसक्त्या आप्तस्य	एवं सति आप्तस्य

१०७	२	संज्ञाः । सम—	संज्ञाः । सम—
१०७	४	नातिवर्तत इति	नातिवर्तन्त इति
११०	१	—र्गतं करणमित्यु	—र्गतःकरणमन्तःकरणमित्यु
१११	६	पताकेति ।	पताका वेति ।
१११	७	अपैतस्य	अवेतस्य
११२	७	बहुषु बहुविधेष्वपि	बहुष्वपि बहुत्वमस्ति बहु- विधेष्वपि
११७	३	द्वित्रिसिक्तः	द्वित्रासिक्तः
११७	५	द्वित्र्यादिषु	द्वित्रादिषु
१२०	५	प्रतीत्या व्यु—	प्रतीत्य व्यु—
१३१	३	ताभ्याम् । तयोः	ताभ्यां विशुद्ध्यप्रतिपाता- भ्याम् । तयोः
१३४	१०	नारूपेष्विति	नारूपिष्विति
१४०	१	—ज्ञानमवध्यज्ञानं	ज्ञानं विभंगज्ञानं
१४०	८	—प्रवणप्रयोगो	प्रवणः प्रयोगो

ज्ञातव्य है कि यह भी सम्पूर्ण सूची नहीं है। इसी अध्याय के 'द्रव्यवेद-स्त्रीणां' आदि परिवर्तित पाठों का भी इसमें समावेश नहीं है।

वस्तुतः पण्डित फूठचन्दजी ने स्वार्थसिद्धि में पाठान्तर के नाम पर जो इतना अधिक परिवर्तन कर डाला, हमारी दृष्टि में वह मात्र पाठभेद से सम्बन्धित ही नहीं है, वह तो सिद्धान्त भेद से भी सम्बन्धित है। उनको जहाँ कहीं भी स्वार्थसिद्धि के पाठ वर्तमान दिगम्बर परम्परा की मान्यता के प्रतिकूल लगे, उन्होंने वे सभी पाठ पाठशुद्धि के नाम पर बदल डाले। आगम में द्रव्यवेद का तात्पर्य सदैव ही स्त्री-शरीर (स्त्री-लिंग) से और भावभेद का तात्पर्य स्त्री सम्बन्धो कामवासना (स्त्रीवेद) से माना गया था, अतः स्वार्थसिद्धिकार ने मनुष्यणी का अर्थ द्रव्य-स्त्री किया। किन्तु ऐसा मान्य कर लेने पर षट्खण्डागम की स्त्रीमुक्ति की अवधारणा का निषेध करने हेतु आगे चलकर उसकी धवला टीका में जो भाव-स्त्री की चर्चा उठी है—उससे स्वार्थसिद्धि का मन्तव्य भिन्न हो जाता। अतः पण्डित जी ने स्वार्थसिद्धि का पाठ ही बदल डाला। क्योंकि यदि वे मनुष्यणी का तात्पर्य द्रव्य-स्त्री मानते जैसा स्वार्थसिद्धिकार ने माना है, तो षट्खण्डागम को धवला टीका में भी मनुष्यणी का अर्थ द्रव्य-स्त्री ही मानना होता और फिर स्त्री-मुक्ति निषेध की दिगम्बर परम्परा की अवधारणा ही खण्डित हो जाती। इस प्रकार पूज्यपाद जिस भावी

समस्या को नहीं देख सके थे, पण्डित जी ने उसे देख लिया और अपनी परम्परा को सुदृढ़ करने हेतु सर्वार्थसिद्धि का पाठ बदल डाला। इसी प्रकार पाठभेद के नाम पर अनेक स्थलों पर उन्होंने या तो 'अ' जोड़कर या 'अ' हटाकर पाठों का विपरीत अर्थवाला भी बना दिया, केवल प्रथम अध्याय में ही उन्होंने अनेक स्थलों पर यह उपक्रम किया है।

सबसे अधिक आश्चर्य तो यह है कि पण्डितजी को जिन-जिन स्थलों पर ऐसी शंकाये उठो थीं उन सभी शंकित स्थलों का समाधान उन्हें किसी न किसी प्रति में मिल गया। जो कि किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं हो सकता है। पुनः आदरणीय पण्डितजी को स्पष्टरूप से यह भय था कि कोई उनसे यह पूछ सकता था कि कौन सा शुद्ध पाठ आपको किस प्रति में मिला। इससे बचने का उपाय भी आदरणीय पण्डितजी ने ढूँढ़ निकाला। उन्होंने गोलगोल उत्तर दिया और फिर कह दिया कि प्रति परिचय खो गया। प्रत्येक शंकित स्थल पर पण्डितजी का उत्तर होता है "यद्यपि सब प्रतियों में इस वाक्य का अभाव नहीं है, परन्तु उनमें कुछ प्राचीन प्रतियाँ ऐसी भी थी जिनमें यह वाक्य नहीं उपलब्ध होता है।" "इस वाक्य पर भी उहापोह कर सब प्रतियों में अनुसंधान किया है। प्रतियों के मिलान करने पर ज्ञात हुआ कि यह वाक्य भी सभी प्रतियों में उपलब्ध नहीं होता है।" लगभग सभी जगह इसी प्रकार के उत्तर हैं। मात्र एक स्थल पर प्रति के उल्लेख के साथ उत्तर दिया। यदि एक स्थल पर प्रति के उल्लेख सहित उत्तर दिया गया, तो अन्यत्र क्यों नहीं दिया? अन्त में पण्डितजी ने अपने पूरे बचाव के लिये लिख दिया—“सर्वार्थसिद्धि को सम्पादित होकर प्रकाश में आने में आवश्यकता से अधिक समय लगा है। इतने लम्बे काल के भीतर हमें अनेक बार गृह परिवर्तन करना पड़ा है और भी कई अड़चने आई हैं। इस कारण हम अपने सब कागजात सुरक्षित नहीं रख सके” उन कागजातों में प्रति परिचय भी था। इसी-लिए प्रतियों का जो पूरा परिचय हमने लिख रखा था वह तो इस समय हमारे सामने नहीं है और वे प्रतियाँ भी हमारे सामने नहीं, जिनके आधार से हमने कार्य किया था।”

जिस प्रकार पूर्व में दिगम्बर विद्वानों ने खट्खण्डागम के अपनी परम्परा के विपरीत मूलपाठ बदल डाले थे, यद्यपि बाद में दूसरे संस्करण

१. सर्वार्थसिद्धि, सं० पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, प्रस्तावना पृ० ७।

२. वही, पृ० ७

में उन्हें पुनः सम्मिलित करना पड़ा। उसी प्रकार का कुछ उपक्रम सर्वार्थ-सिद्धि के सम्बन्ध में आदरणीय पण्डित फूलचन्द्र जी द्वारा किया गया है।

इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि की प्राचीन मुद्रित प्रति में भाष्य का जो अंश था वह भी क्यों निकाल दिया गया यह विचारणीय है।

विचार-विकास की दृष्टि से सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य का पूर्वापरत्व

श्वेताम्बर विद्वानों विशेषरूप से पं० सुखलालजी आदि ने तत्त्वार्थ की दिग्म्बर आचार्यों की टीकाओं में उपलब्ध वैचारिक विकास जैसे—गुणस्थान, सप्तभंगो, प्रमाणचर्चा, स्त्रोमुक्ति निषेध, केवलभुक्ति निषेध आदि के आधार पर यह सिद्ध किया है कि तत्त्वार्थभाष्य को अपेक्षा ये सभी टीकाएँ परवर्ती हैं, क्योंकि इन सभी में एक वैचारिक विकास परिलक्षित होता है। दिग्म्बर विद्वानों के द्वारा इस तथ्य का कोई स्पष्ट समाधान दे पाना तो इसलिए सम्भव नहीं था, क्योंकि इन टीका ग्रन्थों में पग-पग पर वैचारिक विकास के तथ्य परिलक्षित होते हैं। फिर भी ये न केन प्रकारेण सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा तत्त्वार्थभाष्य में अर्थ विकास का दिखाने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री अपनी सर्वार्थसिद्धि की भूमिका में लिखते हैं कि “कहीं-कहीं वस्तुके विवेचन में तत्त्वार्थभाष्य में अर्थ विकास के स्पष्ट दर्शन होने से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ—दसवें अध्याय में ‘धर्मास्तिकाया-भावात्’ सूत्र आता है। इसके पहले यह बतला आये हैं कि मुक्त जीव अमुक कारण से ऊपर लोकके अन्त तक जाता है। प्रश्न होता है कि वह इसके आगे क्यों नहीं जाता है और इसी के उत्तरस्वरूप इस सूत्र की रचना हुई है। किन्तु यदि टीका को छोड़कर केवल सूत्रोंका पाठ किया जाय तो यहाँ जाकर रुकना पड़ता है और मन में यह शंका बनी ही रहती है कि धर्मास्तिकाय न होने से आचार्य क्या बतलाना चाहते हैं। सूत्रपाठ को यह स्थिति वाचक उमास्वाति के ध्यान में आई और उन्होंने इस स्थिति को साफ करने की दृष्टि से ही उसे सूत्र न मानकर भाष्य का अंग बनाया है। यह क्रिया स्पष्टतः बाद में की गई जान पड़ती है। इसी प्रकार इसी अध्याय के सर्वार्थसिद्धि मान्य दूसरे सूत्र को लीजिए। इसके पहले मांहीय आदि कर्मों के अभाव से केवलज्ञान की उत्पत्ति का विधान किया गया है। किन्तु इनका अभाव क्यों होता है इसका समुचित उत्तर उस सूत्र से नहीं मिलता और न ही सर्वार्थसिद्धिकार इस प्रश्न को स्पर्श करते हैं। किन्तु वाचक उमास्वाति को यह त्रुटि खटकती है। फलस्वरूप ये सर्वार्थसिद्धि-

मान्य 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' इस सूत्र के पूर्वार्ध को स्वतंत्र और उत्तरार्ध को स्वतंत्र सूत्र मानकर इस कमी की पूर्ति करते हैं। सर्वार्थसिद्धि में जब कि इसका सम्बन्ध केवल 'कृत्स्नकर्म-विप्रमोक्षः' पद के साथ जोड़ा गया है वहाँ वाचक उमास्वाति इसे पूर्वसूत्र और उत्तरसूत्र दोनोंके लिए बतलाते हैं।"^१

इस प्रकार पं० फूलचन्द्रजी सर्वप्रथम यह दिखाना चाहते हैं कि मुवतात्मा लोकाग्र से आगे क्यों नहीं जाता है, इसके समाधान हेतु भाष्य में धर्मास्तिकायाभाववात् जो व्याख्या आयी है वह बाद में आयी है और उनकी दृष्टि में तो उमास्वाति ने सर्वार्थसिद्धि मान्यपाठ के आधार पर ही इसे ग्रहण किया है, फिर भी इसे सूत्र के रूप में मानकर भाष्य का अंग बनाया है। इस चर्चा में हमें देखना होगा कि अर्थ-विकास या विचार-विकास कहाँ है? सर्वप्रथम तो यदि हम इस सन्दर्भ में भाष्यमान्य और सर्वार्थसिद्धिमान्य मूल पाठ को देखें तो स्पष्ट लगता है कि भाष्यमान्य मूलपाठ में तो यह सूत्र है ही नहीं, जबकि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में यह सूत्र है। यदि उमास्वाति ने इसे सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ से लिया होता तो उसे मूलसूत्र ही क्यों नहीं रखा, भाष्य में इसे क्यों ले गये? सर्वार्थसिद्धि में वह मूलसूत्र था ही, फिर उन्हें मूलसूत्र रखने में क्या आपत्ति थी? यह निश्चित सत्य है कि कथन को तार्किक पूर्णता प्रदान करने के लिए इस तथ्य का उल्लेख होना आवश्यक था। किन्तु भाष्यमान्य मूलपाठ में इसका अभाव होने से यही प्रतिफलित होता है कि भाष्यमान्य पाठ अविकसित है और उसकी अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि मान्यपाठ विकसित है। क्योंकि उसमें इसे मूलसूत्र का ही अंग बना लिया गया है। पुनः अनेक स्थलों पर हमने यह दिखाया है कि भाष्य के अनेक अंशों को सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में मूलसूत्र बना लिया गया है। वास्तविकता तो यह है कि भाष्य को देखकर ही सर्वार्थसिद्धिकार ने अथवा उसके पूर्व तत्त्वार्थसूत्र के किसी यापनीय टीकाकार ने मूल पाठ को संशोधित किया होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि अनेक प्रसंगों में भाष्यमान्य पाठ की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ अधिक विकसित है। सर्वार्थसिद्धिकार ने न केवल भाष्य के उस अंश को मूल के रूप में मान्य किया अपितु उस पर अपनी व्याख्या भी लिखी है। यदि हम इसी प्रसंग में देखें तो यह स्पष्ट लगता है कि भाष्यमान्य मूलपाठ की अपेक्षा भाष्य में क्वचित् अर्थ विकास है, किन्तु भाष्यमान्य मूलपाठ की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि मान्य मूलपाठ में और भाष्य की अपेक्षा

१. देखे—सर्वार्थसिद्धि स० पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, भूमिका पृ० ४५।

सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट रूप से एक-दो नहीं शताधिक स्थलों पर अर्थ विकास देखा जाता है। इस सत्य को देखते हुए भी यह कहना कि उमास्वाति ने सर्वार्थसिद्धि और उसके मान्य पाठ को लेकर अपना भाष्य बनाया, हमारी बौद्धिक ईमानदारी के प्रति प्रश्नचिह्न ही खड़ा करेगा। जब सर्वार्थसिद्धि में भाष्य के अंश को मूल पाठ मानकर उस पर व्याख्या लिखी जा रही है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि भाष्य में अर्थ विकास हुआ है ?

पुनः पं० फूलचन्दजी ने दसवें ही अध्याय के 'बन्ध ... मोक्षः' (सर्वार्थसिद्धि ९।२) नामक सूत्र को लेकर भी अर्थ विकास की बात कही है। सर्वप्रथम तो हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि भाष्यमान्य मूलपाठ में यह सूत्र दो भागों में विभाजित है जबकि सर्वार्थसिद्धि के मान्य पाठ में ये दोनों सूत्र मिलाकर एक कर दिये गये हैं। अतः यदि मात्र सूत्र की दृष्टि से देखे तो दोनों में किञ्चित् अन्तर नहीं है, एक सूत्र को दो सूत्र अथवा दो सूत्र को एक सूत्र कर देने को कभी भी अर्थ विकास नहीं कहा जा सकता। जहाँ कुछ प्रसंगों में भाष्यमान्य पाठ में सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ का एक सूत्र दो सूत्रों में मिलता है वहीं अधिकांश प्रसंगों में सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में भी भाष्यमान्य पाठ के एक सूत्र को दो सूत्रों में दिखाया गया है। इस प्रकार सूत्र विभाजन या सूत्र संकलन के आधार पर पूर्वापरत्व का निश्चय नहीं किया जा सकता, जबतक कि अन्य कोई ठोस प्रमाण न हो। यदि हम यह मानें कि इन दो सूत्रों को एक मानकर मोक्ष को अधिक सुसंगत व्यवस्था सम्भव थी, तो ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ अधिक सुसंगत या विकसित है। पुनः पं० जी मानते हैं कि 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्' सूत्र का सम्बन्ध उमास्वाति ने पूर्वसूत्र और उत्तरसूत्र दोनों से माना, इसमें अर्थ विकास कैसे हो गया, यह हम समझ नहीं पाते। कोई भी मध्यवर्ती सूत्र अपने पूर्वसूत्र से और अपने उत्तर सूत्र से सम्बन्धित होता ही है। इसमें अर्थ विकास की कल्पना कैसे आ गयी ?

इस सूत्र का भाष्य और सर्वार्थसिद्धि टीका दोनों को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वार्थसिद्धि अधिक विकसित है। सर्वार्थसिद्धि के इस सूत्र की व्याख्या में गुणस्थान और कर्म प्रकृतियों के क्षयोपक्षम की विस्तृत चर्चा है जबकि भाष्य में ऐसा कुछ भी नहीं है। फिर पं० जी किस आधार पर यह कहते हैं कि भाष्य सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा विकसित है। यदि भाष्य विकसित होता तो उसमें यहाँ गुणस्थान की चर्चा होनी थी, जैसी सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओं में है। सम्भवतः हम अपने साम्प्रदायिक

अभिनिवेशों के कारण या तो सत्य को देखते ही नहीं या देखकर भी अपने पक्ष-प्रतिपादन हेतु उसे दृष्टि से ओझल कर देते हैं। मैं पाठकों से अनुरोध करूँगा कि दसवें अध्याय के दूसरे और तीसरे सूत्र के भाष्य और सर्वार्थसिद्धि टीका के इन अंशों को देखकर स्वयं निर्णय करें कि कौन विकसित है ?

सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य को विकसित बताने के लिए पाँचवें अध्याय के काल के उपकार के प्रतिपादक सूत्र को भी चर्चा पं० जी ने की है। वे लिखते हैं कि ऐसी ही एक बात, जो विशेष ध्यान देने योग्य है, पाँचवें अध्याय के काल के उपकार के प्रतिपादक सूत्र के प्रसंग से आती है। प्रकरण परत्व और अपरत्व का है। ये दोनों कितने प्रकार के होते हैं इसका निर्देश सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य दोनों में किया है। सर्वार्थसिद्धि में इनके प्रकार बतलाते हुए कहा है—परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते कालकृते च स्तः। किन्तु तत्त्वार्थभाष्य में ये दो भेद तो बतलाये ही गये हैं, साथ ही वहाँ प्रशंसाकृत परत्वापरत्व का स्वतन्त्र रूप से और ग्रहण किया है। वाचक उमास्वाति कहते हैं—परत्वापरत्वे त्रिविधे-प्रशंसाकृते क्षेत्रकृते कालकृते इति।

इतना ही नहीं। हम देखते हैं कि इस सम्बन्धमें तत्त्वार्थवातिककार तत्त्वार्थभाष्य का ही अनुसरण करते हैं। उन्होंने काल के उपकार के प्रतिपादक सूत्र का व्याख्यान करते हुए परत्व और अपरत्व के इन तीन भेदों का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

‘क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्तात्परत्वापरत्वानवधारणमिति चेत् ?

न, कालोपकारप्रकदणात्’।

अतएव क्या इससे यह अनुमान करनेमें सहायता नहीं मिलती कि जिस प्रकार इस उदाहरण से तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थवातिककारके सामने था इस कथन की पुष्टि होती है उसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्य सर्वार्थसिद्धि के बाद की रचना है इस कथन की भी पुष्टि होती है।

यह सत्य है कि जहाँ वाचक उमास्वाति ने ‘परत्वापरत्व’ के प्रशंसाकृत, क्षेत्रकृत और कालकृत ऐसे तीन भाग माने हैं वहाँ सर्वार्थसिद्धि में केवल परत्वापरत्व के क्षेत्रकृत और कालकृत ऐसे दो भागों की चर्चा हुई है, लेकिन यहाँ भी यदि हम मूलभाष्य और सर्वार्थसिद्धि को सामने रखकर देखें तो हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि सर्वार्थसिद्धिकार ने परत्वापरत्व

१. देखें—सर्वार्थसिद्धि, सं० पं० फूलचन्दजी भूमिका पृ० ४५-४६।

के न केवल क्षेत्रकृत और कालकृत भेदों का उल्लेख किया है अपितु इनकी अतिविस्तार में चर्चा भी की है। वस्तुतः पूज्यपाद ने परमार्थकाल और व्यवहारकाल, भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल की चर्चा तो की है, अपितु परमार्थ काल और व्यवहार काल में उनकी मुख्यता और गौणता को भी विस्तार से चर्चा की है। यदि भेद चर्चा को ही विकास का आधार माना जाये तो पंचम अध्याय के 'निष्क्रियाणिच' (श्वे० ६/दिग० ७) में उत्पाद के दो भेदों की चर्चा हुई है, जबकि भाष्य में ऐसी कोई चर्चा नहीं है। इससे यह स्पष्ट लगता है कि सर्वार्थसिद्धि भाष्य की अपेक्षा विचार और भाषा दोनों ही दृष्टि से अधिक विकसित है। परस्व और अपरस्व के भेदों की चर्चा में क्षेत्र और काल के अतिरिक्त प्रशंसा को उसका एक भेद मानना अथवा नहीं मानना यह पूज्यपाद की अपनी व्यक्तिगत रुचि का प्रश्न भी हो सकता है। सम्भवतः पूज्यपाद ने भाष्य के सम्मुख होते हुए भी उसे स्वीकार नहीं किया हो, किन्तु आगे अकलंक ने अपने वार्तिक में उसका अनुसरण किया हो। यदि विकास को समझना है तो हमें वैचारिक विकास को दृष्टि से विविध तथ्यों का संकलन करना होगा। नीचे तुलनात्मक दृष्टि से हम कुछ तथ्य प्रस्तुत कर रहे हैं जिस पर विचार करके पाठकों को यह निर्णय करने में सुविधा होगी कि वैचारिक विकास को दृष्टि से कौन पूर्व है आर कौन पश्चात्।

सर्वार्थसिद्धि

१. सर्वार्थसिद्धि में गुणस्थान और मार्गणा स्थान का अत्यधिक विकसित और विस्तृत विवरण उपलब्ध है। सर्वार्थसिद्धि के प्रथम अध्ययन के ८वें सूत्र को व्याख्या में लगभग सत्तर पृष्ठों में गुणस्थान और मार्गणास्थान को चर्चा की गई है।

तत्त्वार्थभाष्य

१. जबकि तत्त्वार्थभाष्य में गुणस्थान सिद्धान्त का पूर्णतः अभाव है, उसमें प्रथम अध्याय के ८वें सूत्र की व्याख्या केवल दो पृष्ठों में समाप्त हो गई है। मार्गणा के रूप में मात्र गति इन्द्रिय काय, योग, कषाय आदि का नामोल्लेख है, उनके सम्बन्ध में कोई विस्तृत चर्चा नहीं है। सत्तर पृष्ठों में चर्चा करनेवाला ग्रन्थ विकसित है या मात्र दो पृष्ठों में चर्चा करने वाला विकसित है पाठक स्वयं यह विचार कर लें।

सर्वार्थसिद्धि

२. सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में सात नयों का उल्लेख मिलता है। इसमें नयों की यह व्याख्या लगभग सात पृष्ठ में समाप्त हुई है।

३. औपशमिक आदि भावों की जो व्याख्या सर्वार्थसिद्धि में उपलब्ध है वह लगभग तीन पृष्ठों में हैं।

४. सम्यक् चारित्र्य को सर्वार्थसिद्धि में लगभग एक पृष्ठ में व्याख्या की गई है।

५. द्वितीय अध्याय के चतुर्थ सूत्र क्षायिक भाव की व्याख्या लगभग एक पृष्ठ में है।

६. सर्वार्थसिद्धि में स्त्री-मुक्ति का निषेध किया गया है।

७. सर्वार्थसिद्धि में पंचम अध्याय के प्रथम सूत्र से इक्कीसवें सूत्र तक २१ सूत्रों की व्याख्या २६ पृष्ठों में है।

८. सर्वार्थसिद्धि में अनेक स्थलों पर पूर्व पक्ष की ओर से शंका उपस्थित कर उसका समाधान किया गया है।

९. सर्वार्थसिद्धि (१/१९) में चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है इसकी सिद्धि में आप्राप्यकारितों का दार्शनिक सिद्धान्त

तत्त्वार्थभाष्य

२. भाष्यमान्य पाठ में प्रारम्भ पाँच नयों का उल्लेख करके फिर उनमें प्रथम और अन्तिम के दो और तीन विभाग किये गये हैं। इसमें यह व्याख्या पाँच पृष्ठों है।

३. भाष्य में यह व्याख्या मात्र छह पंक्तियों में समाप्त हो गयी है।

४. भाष्य में मात्र एक पंक्ति में विवेचन करता है।

५. इसमें यह मात्र दो पंक्तियों में है।

६. भाष्य में इस चर्चा का पूर्णतः अभाव है। यह चर्चा छठीं शती के पश्चात् ही अस्तित्व में आयी है।

७. तत्त्वार्थभाष्य में इन २१ सूत्रों की व्याख्या मात्र छः पृष्ठों में है।

८. तत्त्वार्थभाष्य में इस शैली का लगभग अभाव सा है यह शैली खण्डन-भण्डन युग की देन है। भाष्य में उसकी अनुपस्थिति स्वतः ही उसकी प्राचीनता का प्रमाण है।

९. भाष्य में अप्राप्यकारिता की कोई चर्चा ही नहीं है। मात्र तीन पंक्तियों में व्याख्या समाप्त हो गयी है।

सर्वार्थसिद्धि

तत्त्वार्थभाष्य

वर्णित है। उसमें अपने मत की पुष्टि में आवश्यक निर्युक्ति की पाँचवीं गाथा भी कुछ पाठभेद के साथ उद्धृत है। यह गाथा पंचसंग्रह (१/९८) में भी उपलब्ध है।

जबकि भाष्य में ये व्याख्याएँ

इस प्रकार दो-चार अपवादों को छोड़कर सामान्यतः सर्वार्थसिद्धि में हर सूत्र की विस्तृत व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं।

अत्यन्त संक्षिप्त हैं।

यहाँ हम अधिक कुछ न कहकर पाठकों से इतना निवेदन अवश्य करेंगे कि वे निर्देशित अंशों का स्वयं अवलोकन करके यह निश्चित कर लें कि कौन विकसित है ?

तत्त्वार्थभाष्य की स्वोपज्ञता एवं प्राचीनता—

तत्त्वार्थभाष्य को दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमी ने न केवल स्वोपज्ञ माना है अपितु उसे सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दिगम्बर टीकाओं से प्राचीन भी माना है। हम यहाँ उनके कथन को शब्दशः उद्धृत कर रहे हैं—

“भाष्य की प्रशस्ति उमास्वाति का पूरा परिचय देनेवाली और विश्वस्त है। इसमें कोई बनावट नहीं मालूम होती और इससे प्रकट होता है कि मूलसूत्र के कर्त्ता का ही यह भाष्य है।

भाष्य की स्वोपज्ञता में कुछ लोगों को सन्देह है; परन्तु नीचे लिखी बातों पर विचार करने से वह सन्देह दूर हो जाता है—

१. भाष्य की प्रारम्भिक कारिकाओं में और अन्य अनेक स्थानों में ‘वक्ष्यामि’ ‘वक्ष्यामः’ आदि प्रथम पुरुष का निर्देश है और निर्देश में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार ही बाद में सूत्रों में कथन किया गया है। अतएव सूत्र और भाष्य दोनों के कर्त्ता एक हैं।

२. सूत्रों का भाष्य करने में कहीं भी खींचातानी नहीं की गई। सूत्र का अर्थ करने में भी कहीं सन्देह या विकल्प नहीं किया गया और न

१. ज्ञातव्य है कि पृ० ३०५ से लेकर ३११ तक का यह समग्र अंश हमने पं० नाथूरामजी प्रेमी के ‘जैन साहित्य और इतिहास’ से यथावत् उद्धृत किया है और इस हेतु हम लेखक और प्रकाशक के अभारी हैं।

किसी दूसरी व्याख्या या टीका का खयाल रखकर सूत्रार्थ किया गया है। भाष्य में कहीं किसी सूत्र के पाठ-भेद की चर्चा है और न सूत्रकार के प्रति कहीं सम्मान ही प्रदर्शित है।

३. भाष्य के प्रारम्भ की ३१ कारिकायें मूल सूत्र-रचना के उद्देश्य से और मूल ग्रंथ को लक्ष्य करके ही लिखी गई हैं। इसी प्रकार भाष्यान्त की प्रशस्ति भी मूलसूत्रकार की है। भाष्यकार सूत्रकार से भिन्न होते और उनके समक्ष सूत्रकार की कारिकायें और प्रशस्ति होती, तो वे स्वयं भाष्य के प्रारम्भ में और अन्त में मंगल और प्रशस्ति के रूप में कुछ न कुछ अवश्य लिखते। इसके सिवाय उक्त कारिकाओं की और प्रशस्ति की टीका भी करते।^१

भाष्य की प्राचीनता—

१. तत्त्वार्थ की सुप्रसिद्ध टीका तत्त्वार्थवार्तिक के कर्ता अकलंकदेव विक्रम की आठवीं शताब्दि के हैं। वे इस भाष्य से परिचित थे। क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में भाष्यान्त की ३२ कारिकायें 'उक्तं च' कहकर उद्धृत की हैं। इतना ही नहीं, उक्त कारिकाओं के साथ का भाष्य का गद्यांश भी प्रायः ज्योंका त्यों दे दिया है।^२ इसके सिवाय आठवीं 'दग्धे बोजे' आदि कारिका को और भी एक जगह—'उक्तं च' रूप से उद्धृत किया है।^३

१. देखो, पं सुखलालजीकृत हिन्दी तत्त्वार्थ की भूमिका पृ० ४५-५०।

२. "ततो वेदनीयनामगोत्रआयुष्कक्षयात्फलबन्धननिर्मुक्तो निर्दग्धपूर्वोपात्तेन्वनो निरुपादान इवाग्निः पूर्वोपात्तभववियोगाद्धेतवभावाच्चेत्तरस्याप्रादुर्भावाच्छान्तः संसारसुखमतीत्यान्त्यान्तिकर्मकान्तिकं निरुपमं निरतिशयं नित्यं निर्वाण-सुखमवाप्नोतीति। एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशं" —भाष्य।

"ततः शेषकर्मक्षयाद्भावबन्धनिर्मुक्तः निर्दग्धपूर्वोपादनेन्वनो निरुपादान इवाग्निः पूर्वोपात्तभववियोगाद्धेतवभावाच्चेत्तरस्याप्रादुर्भावात्तसंसारसुखमतीत्य आत्यन्तिकर्मकान्तिकं निरुपमं निरतिशयं निर्वाणसुखमवाप्नोतीति। तत्त्वार्थभावनाफलमेतत्। उक्तं च—एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशं" —राजवार्तिक (भारतीय ज्ञानपीठ बनारस में राजवार्तिक की जो ताडपत्र की प्रति आई है, उसमें 'एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्य' ही पाठ है, छपी प्रति जैसा 'सम्यक्त्वज्ञानचरित्रसंयुक्तस्य' नहीं। यह पिछला पाठ सम्पादकों द्वारा अमृतचन्द्रसूरि के तत्त्वार्थसार' के अनुसार बनाया गया है और तत्त्वार्थसार को राजवार्तिक का पूर्ववर्ती समझ लिया गया है जो कि भ्रम है।)

३. तत्त्वार्थवार्तिक (मुद्रित) पृ० ३६१।

२. तत्त्वार्थवार्तिक में अनेक जगह भाष्यमान्य सूत्रों का विरोध किया है^१ और भाष्य के मत का भी कई जगह खण्डन किया है^२।

३ पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री और पं० महेन्द्रकुमार जो न्यायाचार्य भी मानते हैं कि अकलंकदेव भाष्य से परिचित थे^३। डॉ० जगदीशचन्द्र जो शास्त्री एम० ए० ने भी भाष्य और वार्तिक के अनेक उद्धरण देकर इस बात को सिद्ध किया है^४।

४ वीरसेन ने अपनी जयध्वला टीका शक संवत् ७३८ (वि० सं० ८७३) में समाप्त की है। इसमें भी भाष्यान्तकी उक्त ३२ कारिकायें उद्धृत हैं^५। इससे भी भाष्यकी प्राचीनता और प्रसिद्धि पर प्रकाश पड़ता

१. तृतीय अध्याय के पहले भाष्यसम्मत सूत्र में 'पृथुतरा' पाठ अधिक है। इसको लक्ष्य करके राजवार्तिक (पृ० ११३) में कहा है—“पृथुतरा इति केषांचित्पाठः।” चौथे अध्याय के नवें सूत्र में 'द्वयोर्द्वयोः' पद अधिक है। इस पर राजवार्तिक (पृ० १५३) में लिखा है—“द्वयोर्द्वयोरिति वचनात्सिद्धिरिति चेन्न आर्षविरोधात्।” इसी तरह पाँचवें अध्याय के ३६वें सूत्र 'बन्धे-समाधिकौ पारिणामिकौ' को लक्ष्य करके पृ० २४२ में लिखा है—“समाधिकौ पारिणामिकौ पाठः—स पाठो नोपपद्यते। कुतः, आर्षविरोधात्।”
२. पाँचवें अध्याय के अन्त में 'अनादिरादिमांश्च' आदि तीन सूत्र अधिक हैं। पृ० २४४ में इन सूत्रों के मत का खंडन किया है। इसी तरह नवें अध्याय के ३७ वें सूत्र में 'अप्रमत्तसंयतस्य' पाठ अधिक है, उसका विरोध करते हुए पृ० ३५४ में लिखा है, “धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेन्न। पूर्वेषां विनिवृत्त-प्रसंगात्।”
३. देखो, न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग की प्रस्तावना पृ० ७१।
४. देखो, अनेकान्त वर्ष ३, अंक ४-११ में 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक', जैन सिद्धान्तभास्कर वर्ष ८ और ९ तथा जैनसत्यप्रकाश वर्ष ६ अंक ४ में तत्त्वार्थभाष्य और राजवार्तिक में शब्दगत और चर्चागत साम्य तथा सूत्र-पाठसम्बन्धी उल्लेख।^१
५. जयध्वला में भाष्य की जो उक्त कारिकायें उद्धृत हैं, उनके बाद जयध्वलाकार कहते हैं—“एवमेत्तिष्ण पबंधेण णिग्वाणफलपञ्जवसाणं।” इस वाक्य को देखकर एक विद्वान् ने (अनेकान्त वर्ष ३, अंक ४) कल्पना की थी कि पूर्वार्च्य का यह कोई प्राचीन प्रबन्ध रहा होगा जिस पर से राजवार्तिक में भी वे कारिकायें उद्धृत की गई हैं। परन्तु, यह 'एत्तिष्ण पबंधेण' पद जयध्वला में उक्त प्रसंग में ही नहीं, और बीसों जगह आया

है। इसके सिवाय वीरसेन उमास्वति के दूसरे ग्रन्थ 'प्रशमरति' से भी परिचित थे। क्योंकि उन्होंने जयधवला (पृ० ३६९) में 'अत्रोपयोगो श्लोकः' कहकर 'प्रशमरतिकी २५ वीं कारिका उद्धृत की है।

५ अमृतचन्द्रने अपने तत्त्वार्थसार (पद्यबद्ध तत्त्वार्थसूत्र) में भी भाष्यकी उक्त कारिकाओं में से ३० कारिकाएँ नम्बरों को कुछ इधर उधर करके ले ली हैं और मुद्रित प्रति के पाठपर यदि विश्वास किया जाय तो उन्होंने उन्हें 'उक्तं च' न रहने देकर अपने ग्रन्थ का ही अंश बना लिया है। अमृतचन्द्र विक्रम की ग्यारहवीं सदी के लगभग हुए हैं और वे भी भाष्य से या उसकी उक्त कारिकाओं से परिचित थे।

६ अकलंक और वीरसेन के समान, उनसे भी पहले के पूज्यपाद देवनन्द के समक्ष भी तत्त्वार्थभाष्य रहा होगा। यद्यपि उन्होंने सर्वार्थसिद्धि में कहीं भाष्य का विरोध आदि नहीं किया है, फिर भी जब हम भाष्य और सर्वार्थसिद्धि को आमने सामने रखकर देखते हैं तब दोनों के वाक्य के वाक्य, पद के पद एक से मिलते चले जाते हैं—

भाष्य

१. सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्र्यमित्येष त्रिविधो मोक्षमार्गः । तं पुरस्ताल्लक्षणतो विधानतश्च विस्तरेणोपदेक्ष्यामः । शास्त्रानुपूर्वीं विन्यासार्थं तुद्देशमात्रमिदमुच्यते ।—१, १
२. चक्षुषा नो इन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति ।—१, १९
३. काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीवः ।—१, ५
४. नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिन ऋद्धियशस्कामाः सात-गौरवाश्रिता अविविक्तपरिवारादछेदशबलयुक्ता निर्ग्रन्था बकुशाः । कुशीलाः

हैं और सब जगह उससे केवल यही सूचित किया है कि इतने प्रबन्ध या सूत्रभाग के द्वारा या इतने कथन से अमुक विषय का निरूपण किया गया। उक्त ३२ कारिकाओं के बाद आये हुए उक्त पद का यही अर्थ वहाँ ठीक बैठता है, दूसरा कोई अर्थ नहीं हो सकता।

१. तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति के कर्त्ता सिद्धसेन गणिते 'प्रशमरति' को उमास्वति वाचक का ही माना है—“यतः प्रशमरती अनेनैवोक्तम्” “वाचकेन त्वेतदेव बलसंज्ञया प्रशमरती उपात्तम् ।” अ० ५/६ तथा ९/६ की भाष्य-वृत्ति। और प्रशमरति की १२० वीं कारिका 'आचार्य आह' कहकर श्रीजिनदास महत्तर ने निशीथचूर्णि में उद्धृत की है और जिनदास महत्तर विक्रम की आठवीं सदी के हैं।

द्विविधाः प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीलाश्च । तत्र प्रतिसेवनाकुशीलाः नैर्ग्रन्थं प्रति प्रस्थिता अनियतक्रियाः कथंचिदुत्तरगुणेषु विरावयन्तश्चरन्ति ते प्रतिसेवनाकुशीलाः । येषां तु संयतानां सतां कथंचित्संज्वलनकषाया उदीर्यन्ते ते कषायकुशीलाः ।—९, ४८

१. लिङ्गं द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च । भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पंचनिर्ग्रन्था भावलिङ्गे भवन्ति द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः ।—९, ४९
२. कषायकुशीलो द्वयोः परिहारविशुद्धौ सूक्ष्मसाम्पराये च । निर्ग्रन्थस्नातकावेकस्मिन् यथाख्यातसंयमे । श्रुतम्—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कृष्टेनाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः कषायकुशील-निर्ग्रन्था चतुर्दशपूर्वधरौ । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः । श्रुतापगतः केवलो स्नातक इति । प्रतिसेवना—पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनविरतिषष्ठानां पराभियोगाद्बलात्कारेणान्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति ।—९, ४९

सर्वार्थसिद्धि

१. सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति । एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेण निर्देक्ष्यामः । उद्देशमात्रं त्वदमुच्यते । १, १
 २. चक्षुषा अनिन्द्रियेण च व्यंजनावग्रहो न भवति । १, १९
 ३. काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षिन्नेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना ।—१, ५
 ४. नैर्ग्रन्थं प्रति प्रस्थिता अखंडितव्रताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनोऽविविक्तपरिवारा मोहशत्रुल्युक्ता बकुशाः... । कुशीला द्विविधाः—प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीला इति । अविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णभयाः कथंचिदुत्तरगुणविराघिनः प्रतिसेवनाकुशीलाः । वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतत्राः कषायकुशीलाः ।—९, ४७
 ५. लिङ्गं द्विविधं—द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति । भावलिङ्गं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्था लिङ्गानो भवन्ति । द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः ।—९, ४७
 ६. कषायकुशीला द्वयोः संयमयोः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराययोः पूर्वयोश्च । निर्ग्रन्थस्नातका एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे सन्ति । श्रुतं—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः । कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः । स्नातका अपगतश्रुताः केवलिनः । प्रतिसेवना—पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगालाद्बदन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति ।—९, ४७
- विशेष उदाहरणों के लिए देखो डा० जगदीशचन्द्र जी स्यहनी के लेख ।

७. भाष्य की लेखन शैली भी सर्वार्थसिद्धि से प्राचीन है। वह प्रसन्न और गंभीर होते हुए भी दार्शनिकता की दृष्टि से कम विकसित और कम परिशोधित है। संस्कृत के लेखन और जैनसाहित्य में दार्शनिक शैली के जिस विकास के पश्चात् सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है, वह विकास भाष्य में नहीं दिखाई देता।^१ अर्थ की दृष्टि से भी सर्वार्थसिद्धि अर्वाचीन मालूम होती है। जो बात भाष्य में है, सर्वार्थसिद्धि में उसको विस्तृत करके और उस पर अधिक चर्चा करके निरूपण किया गया है। व्याकरण और जैनेतर दर्शनों की चर्चा भी उसमें अधिक है। जैन परिभाषाओं का जो विशदो-करण और वक्तव्य का पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि में है, वह भाष्य में कम से कम है। भाष्य की अपेक्षा उसमें तार्किकता अधिक है और अन्य दर्शनों का खंडन भी जोर पकड़ता है। ये सब बातें सर्वार्थसिद्धि से भाष्य को प्राचीन सिद्ध करती हैं^२।

इस तरह तत्त्वार्थभाष्य पूज्यपाद, अकलंकदेव, वीरसेन आदि से पहले का है और उससे उक्त सभी आचार्य परिचित थे। उन्होंने उसका किसी न किसी रूप में उपयोग भी किया है और उसकी यह प्राचीनता स्वोपज्ञता का ही समर्थन करती है।

स्वोपज्ञभाष्य की आवश्यकता

तत्त्वार्थ जैसे संक्षिप्त सूत्र-ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ भाष्य होना ही चाहिए। क्योंकि एक तो जैनदर्शन का यह सबसे पहला संस्कृतबद्ध सूत्र-ग्रन्थ है, जो अन्य दर्शनों के दार्शनिक सूत्रों की शैली पर रचा गया है। जैनधर्म के अनुयायी इस संक्षिप्त सूत्र-पद्धति से पहले परिचित नहीं थे। वे भाष्य की सहायता के बिना उससे पूरा लाभ नहीं उठा सकते थे। दूसरे इसकी रचना का एक उद्देश्य इतर दार्शनिकों में भी जैनदर्शन की प्रतिष्ठा करना था। इसलिये भी भाष्य आवश्यक है।

सूत्रकार को यह चिन्ता रहती है कि यदि स्वयं अपने सूत्रों का भाष्य नहीं किया जायगा तो आगे लोग उनका अनर्थ कर डालेंगे। पाटलिपुत्र में विहार करते हुए उन्होंने अपने इस भाष्य-ग्रन्थ की रचना की थी, इसलिए वे आर्य चाणक्य या विष्णुगुप्त के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र (सूत्र-

१. उदाहरण के लिए देखो अ० १/२, १/१२, १/३२, और ३/१ सूत्रों का भाष्य और सर्वार्थसिद्धि।

२. देखो, हिन्दी तत्त्वार्थ की भूमिका, पृ० ८६-८८

और स्वोपज्ञ भाष्य) से अवश्य परिचित होंगे, जो पाटलीपुत्र में ही निर्माण किया गया था और जिसके अन्त में कहा है कि—प्रायः सूत्रों से भाष्यकारों की विप्रतिपत्ति या विरोध देखकर—सूत्रकार का अभिप्राय कुछ था और भाष्यकारों ने कुछ लिख दिया, यह समझ कर, विष्णुगुप्त ने स्वयं सूत्र बनाये और स्वयं ही भाष्य लिखा^१। ऐसी अवस्था में उमास्वातिका स्वयं ही भाष्य निर्माण करने में प्रवृत्त होना स्वाभाविक है।

अपने ग्रन्थों पर इस तरह के स्वोपज्ञ भाष्य लिखने के और भी उदाहरण हैं। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन उमास्वाति से पहले हुए हैं^२। उन्होंने अपने ग्रन्थ पर 'विग्रहव्यावृत्तिनी' नामक व्याख्या लिखी है। मूल ग्रन्थ कारिकाओं में है जो सूत्र की ही भाँति अधिक बातों को थोड़े शब्दों में कहलाने वाली और पद्य होने से कण्ठस्थ करने योग्य होती है। इसी तरह वसुबन्धु का 'अभिधर्मकोश' है जो तत्त्वार्थ जैसा हो है और उस पर भी स्वोपज्ञ भाष्य है^३।

अपने ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ टीका लिखने की यह पद्धति जैनपरम्परा में भी रही है। पूज्यपाद ने अपने व्याकरण पर जैनेन्द्र-न्यास (अनुपलब्ध), जिनभद्रगणि ने अपने विशेषावश्यक भाष्य पर व्याख्या, शाकटायन ने अपने व्याकरण-सूत्रों पर अमोघवृत्ति और अकलंकदेव ने अपने लघोयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय पर स्वोपज्ञ वृत्तियों की रचना की।^४

तत्त्वार्थसूत्र के कुछ सूत्रों का दिगम्बर मान्यताओं से विरोध—

तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य मूलपाठ के ही कुछ सूत्र स्पष्ट रूप से दिगम्बर परम्परा की मान्यताओं के भी विरोध में जाते हैं। अग्रिम पंक्तियों में हम इस सम्बन्ध में कुछ विस्तृत चर्चा करेंगे—

(१) सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय के सूत्र ३ में देवों के पाँच प्रकारों के अवाप्तर भेदों का विवरण दिया गया है। इसमें वैमानिक देवों के बारह प्रकारों का उल्लेख हुआ है।^५ जबकि दिगम्बर परम्परा वैमानिक देवों के सोलह भेद मान्य करती है। दिगम्बर परम्परा द्वारा

१. दृष्ट्वां विप्रतिपत्ति प्रायः सूत्रेषु भाष्यकाराणाम् ।

स्वयमेव विष्णुमुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च ॥

२. नागार्जुन का समय वि० सं० २२३-२५३ निश्चित किया गया है।

३. विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार वसुबन्धु का समय वि० सं० २९८ है।

४. दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ।

—तत्त्वार्थसूत्र ४।३

मान्य पाठ के इसी अध्याय के उन्नीसवें सूत्र में वैमानिक देवों के सोलह प्रकारों का नाम सहित उल्लेख भी हुआ है।^१ दिगम्बर परम्परा के मान्य इस पाठ में जहाँ चतुर्थ अध्याय का तीसरा सूत्र श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वैमानिक देवों के बारह प्रकारों की ही चर्चा करता है, वहीं उन्नीसवाँ सूत्र दिगम्बर परम्परा के अनुसार सोलह देवलोको के नामों का उल्लेख करता है। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य सूत्र पाठ में ही एक अन्तर्विरोध परिलक्षित होता है। चतुर्थ अध्याय के इन तीसरे और उन्नीसवें सूत्र का यह अन्तर्विरोध विचारणीय है। यह कहा जा सकता है कि एक स्थान पर तो अपनी परम्परा के अनुरूप पाठ को संशोधित कर लिया गया है और दूसरे स्थान पर असावधानीवश वह यथावत् रह गया है। किन्तु एक स्थान पर प्रयत्न पूर्वक संशोधन किया गया हो और दूसरे स्थान पर उसे असावधानीवश छोड़ दिया गया हो—यह बात बुद्धिगम्य नहीं लगती हैं। सम्भावना यही है कि दिगम्बर आचार्यों को यह सूत्र या तो इसी रूप में प्राप्त हुए हों अथवा उस परम्परा के सूत्र हों जो सोलह स्वर्ग मानकर भी वैमानिक देवों के बाहर प्रकार ही मानती हो—हो सकता है यह यापनीय मान्यता हो। दिगम्बर टीकाकारों ने इस सन्दर्भ में विशेष कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है। वे मात्र इसे इन्द्रों की संख्या मानकर सन्तोष करते हैं^२। जबकि यह सूत्र इन्द्र को संख्या का सूचक या इन्द्रों के आधार पर देवों का वर्गीकरण नहीं है क्योंकि यदि इन्द्रों की संख्या या इन्द्रों के आधार पर देवों के वर्गीकरण का सूचक होता तो ज्योतिषी में केवल दो ही इन्द्र हैं फिर पाँच कैसे कहे गये? अतः स्पष्ट है कि यह सूत्र दिगम्बर मान्यता के अनुरूप ही नहीं है।

(२) दूसरा जो सूत्र है वह पाँचवें अध्याय का बाईसवाँ सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा मान्य सूत्रपाठ में 'कालश्चेके' यह पाठ मिलता है, जबकि दिगम्बर परम्परा में 'कालश्च' ऐसा पाठ मिलता है। द्रव्यों की चर्चा के पश्चात् अन्त में यह सूत्र आया है इससे ऐसा लगता कि ग्रन्थकार काल को द्रव्य मानने के सन्दर्भ में तटस्थ दृष्टि रखता होगा। श्वेताम्बर

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

१. सौधमेशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र

१२ १३ १४ १५ १६

शतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोः ।

—तत्त्वार्थसूत्र ४।१९

२. देखें—तत्त्वार्थसूत्र सर्वाधिसिद्धि टीका ४।३

परम्परा में काल द्रव्य है या नहीं है, इस प्रश्न को लेकर दो मान्यताओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उस काल में कुछ विचारक काल को स्वतंत्र द्रव्य स्वीकार करते हैं और कुछ विचारक काल को स्वतंत्र द्रव्य न मानकर जीव एवं अजीव द्रव्यों की पर्याय का सूचक मानते थे। यदि तत्त्वार्थसूत्र की रचना दिगम्बर परम्परा के अनुसार होती या दिगम्बर आचार्यों ने अपना पाठ बनाया होता तो द्रव्यों की विवेचना के प्रसंग में भी काल का उल्लेख आ जाना चाहिए था। जहाँ अजीव काया का उल्लेख किया वहीं काल का भी उल्लेख होना था। इससे स्पष्ट लगता है कि ग्रन्थकार ने उस मान्यता का संग्रह करने के लिए कि कुछ दार्शनिक काल को भी द्रव्य मानते हैं, इस सूत्र की रचना की। अतः 'कालश्चेके' यहाँ मूल सूत्र रहा होगा जबकि आगे चलकर काल को एक द्रव्य मान लिया गया तो सूत्रपाठ में से 'एके' पाठ अलग कर दिया—किन्तु यह यापनीय परम्परा में हुआ होगा—ऐसी सम्भावना है, क्योंकि यदि पूज्यपाद इसे बदलते तो वे इसका स्थान भी बदल सकते थे। वस्तुतः चाहे मूल पाठ में 'कालश्च' हो या कालश्चेके हो, यह सूत्र दिगम्बर मान्यता से तत्त्वार्थ की भिन्नता सूचित करते हुए आगमिक परम्परा से निकटता सूचित करता है। क्योंकि जहाँ भगवती एवं प्रज्ञापना में काल को पुद्गल और जीव को पर्याय कहा गया वहीं उत्तराध्यायन में उसे स्वतंत्र द्रव्य कहा गया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। उसकी पुनरावृत्ति निरर्थक है।

(३) तीसरे तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय का शारहवाँ सूत्र 'एकादशजिने' भी जिसे दोनों ही पाठों में मान्य किया गया है, दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाता है। क्योंकि दिगम्बर परम्परा केवली या जिन में परिषदों का सद्भाव नहीं मानती है। जब केवली में कवलाहार ही नहीं स्वीकार किया गया, तो फिर क्षुधा-पिपासा जैसे परिषद उसमें संभव ही नहीं होंगे। दिगम्बर टीकाकार भी इस सूत्र को अपने मत के विरुद्ध मानते हैं और इसलिए वे 'न सन्ति' का अध्याहार करके उसे अपने मतानुकूल करना चाहते हैं, जबकि मूलसूत्र स्पष्ट रूप से उनके सद्भाव का संकेत करता है। इस सन्दर्भ में दिगम्बर परम्परा के वरिष्ठ विद्वान् डॉ० हीरालाल जी के विचार द्रष्टव्य हैं—“कुन्दकुन्दाचार्य ने केवली के भूल-प्यास आदि की वेदना का निषेध किया है। पर तत्त्वार्थसूत्रकार ने सब्रता से कर्म-सिद्धान्तानुसार यह सिद्ध किया है कि वेदनीयोदय जन्य क्षुधा-पिपासादि शारह परीषद केवली के भी होते हैं (अध्याय ९ सूत्र ८-१७) सर्वार्थ-

सिद्धिकार एवं राजवार्तिककार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मोद्दय के अभाव में वेदनीय का प्रभाव जर्जरित हो जाता है इससे वे वेदनाएँ केवली के नहीं होतीं। पर कर्मसिद्धान्त से यह बात सिद्ध नहीं होती। मोहनीय के अभाव में रागद्वेषजन्य परिणति का अभाव अवश्य होगा, पर वेदनीय जन्य वेदना का अभाव नहीं हो सकेगा। यदि वैसा होता तो फिर मोहनीय कर्म के अभाव के पश्चात् वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाता? वेदनीय का उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है। इसके मानते हुए तत्सम्बन्धी वेदनाओं का अभाव मानना शास्त्रसम्मत नहीं ठहरता। दूसरे समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा ९३ में वीतराग के भी सुख और दुःख का सद्भाव स्वीकार किया।^१ 'एकादशजिने' सूत्रपाठ की उपस्थिति स्पष्टतः इम तथ्य की सूचक है कि यह ग्रन्थ मूलतः दिगम्बर परम्परा का नहीं है, साथ ही यह सूत्र इस सत्य को भी उद्घाटित करता है कि दिगम्बर परम्परा में मान्य सूत्रपाठ भी उनके द्वारा संशोधित नहीं है अन्यथा वे आसानी से मूल में भी 'एकादशे जिने न संति' पाठ कर सकते थे। इसका तात्पर्य यह है कि यह पाठ उन्हें यापनीयों से प्राप्त हुआ था। यह स्पष्ट है कि यापनीय श्वेताम्बरों के समान 'जिन' में एकादश परिषद् सम्भव मानते हैं, क्योंकि वे केवली के कवलाहार के समर्थक हैं।

(४) तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर परम्परा मान्य पाठ में भी निग्रन्थों के पुलाक, बकुश, कुशील, निग्रन्थ और स्नातक ऐसे पाँच विभाग किये गये हैं। पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील की विवेचना करते हुए तत्त्वार्थराजवार्तिककार ने उनमें सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र का सद्भाव माना है। सामायिक और छेदोपस्थापनीय ऐसे दो चारित्रों की मान्यता मूलतः यापनीय और श्वेताम्बर है। यापनीयों के प्रभाव से ही आगे यह दिगम्बर परम्परा में मान्य हुई है। पुनः बकुश के तत्त्वार्थराजवार्तिक में जो दो प्रकार बताये गये हैं। उनमें उपकरण बकुश को विविध, विचित्र परिग्रह युक्त तथा विशेष और बहु उपकरणों का आकांक्षी कहा गया है। केवल कमण्डल और पिच्छी रखने वाले दिगम्बर मुनि के सन्दर्भ में यह कल्पना उचित नहीं बैठती है। यह विविध और विचित्र परिग्रह की कल्पना केवल उन्हीं निग्रन्थों के सन्दर्भ में हो सकती है, जो पिच्छी और

१. देखे—दिगम्बर जैनसिद्धान्तदर्पण (द्वितीय अंश), दिगम्बर जैन पंचायतक बम्बई १९४४ पृ० २०।

कमण्डलु के अतिरिक्त भी अन्य उपकरण रखते होंगे। अतः यह सूत्र भी दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाता है।

(५) इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र का 'मूर्च्छा परिग्रह' नामक सूत्र भी मूलतः श्वेताम्बर मान्य आगम दशवैकालिक के आधार पर बना हुआ प्रतीत होता है। दशवैकालिक को तत्त्वार्थ से प्राचीनता सर्वत्र सिद्ध है। तत्त्वार्थ का यह सूत्र दशवैकालिक के 'न सा परिग्रहो वुत्तो' मुच्छा परिग्रहोवुत्तो' के आधार पर लिखा गया है। मूर्च्छा परिग्रह यह बात दिगम्बर परम्परा के अनुकूल नहीं है, उसके अनुसार तो मात्र मूर्च्छा ही नहीं, वस्तु भी परिग्रह है। यदि तत्त्वार्थसूत्रकार दिगम्बर परम्परा का होता तो भाव परिग्रह के साथ द्रव्य परिग्रह की भी चर्चा करता वह 'मूर्च्छा परिग्रह' के साथ-साथ यह भी उल्लेख करता कि वस्तु भी परिग्रह है। किन्तु यह सूत्र तो वस्त्र-पात्रवाद पोषण के लिए रास्ता साफ कर देता है। यह सूत्र उसी परम्परा का हो सकता है, जिसमें किसी सीमा तक संयमोपकरण के रूप में वस्त्र-पात्र की परम्परा का पोषण हो रहा था और उन्हें परिग्रह नहीं माना जा रहा था।

तत्त्वार्थ और उसके भाष्य में 'मूर्च्छा परिग्रह' नामक सूत्र स्पष्ट रूप से तत्त्वार्थ की परम्परा का निर्धारण कर देता है। सर्वप्रथम तो यह सूत्र दशवैकालिक का अनुसरण करते हुए परिग्रह के भाव पक्ष को प्रधानता देता है और द्रव्य (वस्तु) पक्ष को गौण कर देता है। निग्रन्थ परम्परा में अपरिग्रह और अचेलता पर अति बल था, अतः सामान्य रूप से यह समस्या उत्पन्न हुई कि संयमोपकरण के रूप में प्रतिलेखन एवं वस्त्र-पात्र भी परिग्रह है अतः उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए। एक ओर अहिंसा के परिपालन लिए प्रतिलेखन (रजोहरण/पिच्छी) का ग्रहण आवश्यक था तो दूसरी ओर बीमार और वृद्धों की परिचर्या के लिए पात्र की आवश्यकता हुई। पुनः एक ही घर से सम्पूर्ण आहार ग्रहण करने पर भी या तो उसे पुनः भोजन बनाना पड़ सकता था या फिर भूखा रहना होगा—दोनों स्थिति में हिंसा थी—इसी प्रकार यदि वृद्ध, ग्लान, रोगी आदि की परिचर्या नहीं की जाती तो कर्षण की समाप्ति और हिंसा में भागीदार बनने का प्रश्न था। इन्हीं कारणों से पात्र आवश्यक बना। पात्र के साथ पात्र की सफाई तथा पात्र को ढकने के लिए वस्त्र की आवश्यकता प्रतीत हुई। पुनः भोजन, पानी एवं शौच आदि के लिए अलग-अलग पात्र

१. दशवैकालिक ।

की आवश्यकता प्रतीत होने पर झोली आयी। मथुरा के अंकनों से ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शती में नग्नता को मान्य रखते हुए भी इतना परिग्रह आ चुका था। जब अहिंसा की प्राथमिकता से संयमोपकरण के रूप में निर्ग्रन्थ संघ में प्रतिलेखन, वस्त्र और पात्र मान्य हुए तब वस्तुमात्र परिग्रह हैं यह परिभाषा बदलने की आवश्यकता हुई होगी और उसी में परिग्रह की यह नवीन परिभाषा आई होगी—संयमोपकरण परिग्रह नहीं है, मूर्च्छा ही परिग्रह है—दशवैकालिक के काल तक तो यह सब हो चुका था और तत्त्वार्थसूत्र में उसी का अनुसरण किया गया है।

क्या तत्त्वार्थ और उसका स्वोपज्ञभाष्य श्वेताम्बरों के विरुद्ध है ? :—

दिगम्बर परम्परा के अनेक विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य की श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों से असंगति सिद्ध कर यह बताने का प्रयास किया है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य मूलतः श्वेताम्बर परम्परा का नहीं है। अतः तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा का निर्धारण करने हेतु उनके तर्कों पर भी विचार करना आवश्यक है।

(१) आदरणीय पं० जुगल किशोर जी मुस्तार ने मोक्षमार्ग के प्रतिपादन के सन्दर्भ में तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य की श्वेताम्बर मान्य आगम से असंगति दिखाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है, कि तत्त्वार्थ की त्रिविध साधना मार्ग की परम्परा श्वेताम्बर मान्य आगमों में अनुपलब्ध है, उनमें चतुर्विध मोक्षमार्ग की परम्परा है, जबकि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में सर्वत्र त्रिविध साधना मार्ग की परम्परा पाई जाती है अतः तत्त्वार्थ श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ न होकर दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ है; वे लिखते हैं कि—“श्वेताम्बरीय आगम में मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए उसके चार कारण बतलाये हैं और उनका ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप इस क्रम से निर्देश किया है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन की निम्न गाथाओं से प्रकट है—

मोक्षमग्गगइं तच्च सुणेहजिणभासियं ।
 चउकारणसंजुत्तं णाणदंसण लक्खणं ।
 नाणं च दंसणं च्चवचरित्तं च तवो तहा ।
 एस मग्गुत्तिपणत्तो जिणेहि वरदसिहि ॥

परन्तु (तत्त्वार्थसूत्र के) श्वेताम्बर सूत्रपाठ में दिगम्बर सूत्रपाठ की तरह तीन कारणों का दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के क्रम से निर्देश है जैसा

कि निम्नसूत्र से प्रकट है—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः—१।१।
यह सूत्र श्वेताम्बर आगम के साथ पूर्णतया संगत नहीं है। वस्तुतः यह दिगम्बर सूत्र है और इसके द्वारा मोक्षमार्ग के कथन की उस दिगम्बर शैली को अपनाया गया है, जो कुन्दकुन्दादि के ग्रन्थों में सर्वत्र पाई जाती है।^१ मूर्धन्य विद्वान् आदरणीय जुगल किशोर जी मुख्तार को यह भ्रान्ति कैसे हो गई कि श्वे० मान्य आगमों में मात्र चतुर्विध (चउकारण संजुत) मोक्षमार्ग का विधान है—सम्भवतः उन्होंने 'तत्त्वार्थ-जैनागम समन्वय' नामक ग्रन्थ को देखकर ही यह धारणा बना ली और इस प्रसंग में श्वेताम्बर मान्य आगमों को देखने का कष्ट ही नहीं उठाया। जिस उत्तराध्ययन के २८ वें अध्याय का प्रमाण उन्होंने दिया यदि उसे भी पुरो तरह देख लिया होता तो इस भ्रान्त धारणा के शिकार न होते। उत्तराध्ययन सूत्र के ही इसी अध्ययन को गाथा क्रमांक तोस में त्रिविध साधना मार्ग का स्पष्ट उल्लेख है। वस्तुतः श्वेताम्बर आगमों में द्विविध से लेकर पंचविधरूप में मोक्षमार्ग का विवेचन है—

द्विविध—

'णाणकिरियाहि मोक्खा'—

विज्जाचरण पमोक्खो।—सूत्रकृतांग

नाणेण बिणा करणं करणेण बिणा ण तारयं णाणं।

—चन्द्रावेद्यक ७३

त्रिविध—

णाण दंसण चरित्ताइं पडिसेविस्सामि—इसिभासयाइं, २३/२

आरियं णाणं साहू आरियं साहू दंसणं

आरियं चरणं साहू तम्हा सेवहू आरियं।—वही १९/६

तिविहा आराहणा पन्नता तं जहा

णाणाराहणा, दंसणाराहणा, चरित्ताराहणा

—स्थानांग, ३/४/१९८

चतुर्विध—

दंसण णाण चरित्ते तवे य कुण आपमायं ति।

—मरणविभक्ति १२६

उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वें अध्यायन की गाथा २,३ एवं ३५ में भी चतुर्विध मोक्ष मार्ग का कथन हुआ है।

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, ले० जुगल किशोर मुख्तार
पृ० १३३

वस्तुतः उमास्वाति का तत्त्वार्थ की रचना में मुख्य प्रयोजन संक्षेप में या सूत्ररूप में जैन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना था, अतः उन्होंने अनावश्यक विस्तार से बचते हुए सूत्ररूप में, फिर भी कोई महत्त्वपूर्ण पक्ष न छोड़े, इस दृष्टि से विवेचन किया है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने त्रिविध मोक्षमार्ग का विवेचन किया। तत्त्वार्थ की श्वेताम्बरमान्य आगमों से असंगति तो तब मानी जाती, जब आगमों में त्रिविध साधना का उल्लेख ही नहीं होता। जब आगमों में त्रिविध मोक्ष मार्ग के सन्दर्भ उपलब्ध हैं साथ ही दर्शन, ज्ञान और चरित्र का मोक्ष के हेतु के रूप में उल्लेख है, जब तत्त्वार्थ और आगम में असंगति का प्रश्न ही नहीं उठता है। यदि आगमों में मोक्ष के चार हेतुओं का उल्लेख होने में ही उन्हें असंगति दृष्टिगत होती है तो ऐसी असंगति तो स्वयं कुन्दकुन्द में ही तथा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों और तत्त्वार्थ सूत्र में भी दिखाई देती है—देखिए कुन्दकुन्द स्वयं एवं दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थकार भी उत्तराध्ययन के समान चतुर्विध मोक्ष मार्ग का वर्णन कर रहे हैं—

णाणेण दंसणेण तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।

होहदि परिनिब्बाणं जीवाणं चरितसुद्धाणं ॥

—सीलपाहुड, ११

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।

चउहि पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥

—दर्शनपाहुड, ३०

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।

चोपहं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सदिहो ॥

—दर्शनपाहुड, ३२

दंसणणाणचरित्तं तवे य पावति सासणे भणियं ।

जो भविऊण मोक्खं तं जाणह सुदह माहप्पं ॥

—अंगप्रज्ञप्ति, ७६

यहीं नहीं पंचविध मार्ग का उल्लेख भी आगमानुसार कुन्दकुन्द ने शीलप्राभृत में किया है—

सम्मत्त णाण दंसण तव वीरियं पंचयारमप्पाणं ।

जलणो वि पवण सहिदो ड्हंति पोरायण कम्मं ॥

—सीलपाहुड, ३

यदि उत्तराध्ययन में दो गाथाओं में चतुर्विध साधनामार्ग का उल्लेख होने से एवं तत्त्वार्थसूत्र में त्रिविध साधना मार्ग उल्लेख होने से तत्त्वार्थसूत्र

श्वेताम्बर नहीं हो सकता तो फिर कुन्दकुन्द में तीन गाथाओं में चतुर्विध मोक्षमार्ग-प्रतिपादन होने पर भी यह कुन्दकुन्द की परम्परा का ग्रन्थ और उनके ग्रन्थों से निर्मित कैसे हो सकता है ? वस्तुतः ऐसा सोचना हमारी साम्प्रदायिक बुद्धि का परिणाम है। वास्तविकता तो यह है कि आगमों में मोक्षमार्ग के प्रतिपादन को विविध शैलियाँ रही हैं और उमास्वाति ने उनमें से मध्यमार्ग के रूप में त्रिविध साधना मार्ग को शैलो को अपनाया।

(२) पं० जुगल किशोर जी मुख्तार ने तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य का आगम से विरोध दिखाते हुए दूसरा तर्क यह दिया है कि सूत्र और भाष्य दोनों में जोव, अजोव, आश्रव, बन्ध, संवर और मोक्ष ऐसे सात तत्त्वों का निर्देश है। जबकि श्वेताम्बर आगमों में तत्त्व या पदार्थ नौ बतलाये गये हैं। स्थानांगसूत्र के नवें स्थान में नौ पदार्थों का तथा उत्तराध्ययन के २८वें अध्याय में नौ तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। इसके आधार पर वे लिखते हैं कि “सात तत्त्वों के कथन की शैली श्वेताम्बर आगमों में ही नहीं।”^१ इससे उपाध्याय मुनि आत्माराम जी ने तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर आगम के साथ जो समन्वय उपस्थित किया है उसमें वे स्थानांग के उक्त सूत्र को उद्धृत करने के अलावा कोई भी ऐसा निर्देश नहीं कर सके जिसमें सात तत्त्वों की कथन शैली का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है। सात तत्त्वों के कथन की यह शैली दिगम्बर है—दिगम्बर सम्प्रदाय में सात तत्त्वों और नौ पदार्थों का अलग-अलग रूप से निर्देश किया गया है।^२ अपने इस मन्तव्य की पुष्टि के लिए मुख्तार जी भावप्राभृत से ‘नवम-पयत्थाइं सत्त तच्चाइं’ नामक उद्धरण भी उपस्थित करते हैं।^३ इसके अतिरिक्त भी दर्शनपाहुड में षट्द्रव्य, नवपदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व का उल्लेख मिलता है, किन्तु इस आधार पर यह कल्पना कर लेना कि सात तत्त्वों के विवेचन की शैली दिगम्बर और नव तत्त्वों की शैली श्वेताम्बर है, समुचित नहीं है। क्योंकि पंचास्तिकाय में स्पष्ट रूप से हमें नौ अर्थों का उल्लेख मिलता है। अर्थ, पदार्थ, तत्त्व आदि में कोई विशेष अर्थ भेद नहीं है। क्या सात तत्त्वों में पुण्य-पाप का योग हो जाने पर वे पदार्थ हो जायेंगे ? उत्तराध्ययन में तो उन्हें नव तत्त्व ही कहा गया है।^४

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पृ० १३४।

२. वही, पृ० १३४।

३. भावपाहुड, आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा ९५।

४. उत्तराध्ययन सूत्र।

प्रारम्भ में नव तत्त्वों की ही अवधारणा प्रमुख रही है। नव तत्त्वों की अवधारणा में सुविधा यह होती थी कि पुण्य और पाप का किसी एक में अन्तर्भाव करना आवश्यक नहीं था। वस्तुतः पुण्य और पाप मात्र आश्रव ही नहीं हैं जैसा कि उमास्वाति ने मान लिया है। वे आश्रव, बन्ध और निर्जरा तीनों के साथ जुड़े हुए थे। पुण्य और पाप का सम्बन्ध न केवल आश्रव और बन्ध से ही है अपितु उनका सम्बन्ध कर्मफल-विपाक अर्थात् कर्म-निर्जरा से भी है। इसलिए आगमकारों ने नव तत्त्वों की ही अवधारणा को प्रमुखता दी। चूंकि उमास्वाति पाप और पुण्य की चर्चा आश्रव के प्रसंग में अलग से कर रहे थे^२ इसलिए उन्होंने प्रारम्भ में सात तत्त्वों की ही चर्चा की। लेकिन सात और नव तत्त्वों की इस चर्चा को सैद्धान्तिक मतभेद नहीं माना जा सकता। क्योंकि सात मानकर भी उन्होंने पुण्य और पाप को स्वीकार तो किया ही है, चाहे उन्होंने उनकी आश्रव के भेद रूप में चर्चा की हो। पुनः तत्त्वार्थ सूत्रशैली का ग्रन्थ है अतः उससे अनावश्यक विस्तार से यथासम्भव बचने का प्रयास किया गया है। चतुर्विध मोक्षमार्ग के स्थान पर त्रिविध मोक्षमार्ग, नव तत्त्व के स्थान पर सात तत्त्व, सात नयों के स्थान पर मूल पाँच नय, तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध के बीस कारणों के स्थान पर सोलह कारण आदि तथ्य यही सूचित करते हैं कि उमास्वाति समास (संक्षिप्त) शैली के प्रस्तोता थे—व्यास (विस्तार) शैली के नहीं। किन्तु इस आधार पर उमास्वाति दिगम्बर हैं—श्वेताम्बर नहीं, यह कहना उचित नहीं है। फिर तो कोई यह भी तर्क दे सकता है कि उमास्वाति ने पाँच नयों की चर्चा की है क्योंकि दिगम्बर परम्परा में पाँच नयों की शैली नहीं है अतः उमास्वाति दिगम्बर नहीं है।

(३) तत्त्वार्थसूत्र एवं तत्त्वार्थभाष्य की श्वेताम्बर आगमों से भिन्नता दिखाते हुए पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार आदि दिगम्बर विद्वानों ने एक प्रमाण यह भी प्रस्तुत किया है कि तत्त्वार्थसूत्र में और उसके भाष्य में अधिगम के निम्न ८ अनुयोग द्वारों की चर्चा है^१—सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व। इसके विपरीत श्वेताम्बर मान्य अनुयोगद्वार सूत्र में अधिगम के ९ अनुयोगद्वारों की चर्चा है।^२ इसमें उपरोक्त:

१. सत्संख्या क्षेत्र स्पर्शनकालान्तरभावाऽल्पबहुत्वैश्च ।

—तत्त्वार्थसूत्र १।८

इनकी विवेचना हेतु देखें—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य १।८

२. अणुगमे नवविहे पण्णत्ते, तं जहा सन्तपथपरूवणा १ दक्खणमाण च २ खेत

८ के अतिरिक्त 'भाग' नामक एक अनुयोगद्वार और है, किन्तु यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो इसमें संख्या के स्थान पर द्रव्य-प्रमाण ऐसा नाम उपलब्ध होता है। यह सूत्र दिगम्बर परम्परा का समर्थक है, यह सिद्ध करने के लिए आदरणीय मुख्तार जो यह तर्क भी देते हैं कि षट्खण्डागम में इन आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा उपलब्ध होती है।^१ षट्खण्डागम में और तत्त्वार्थसूत्र में आठ अनुयोग द्वारों की चर्चा होने मात्र से तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं हो जाता है। प्रथम तो यह कि षट्खण्डागम स्वयं दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ न होकर यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है। इस सन्दर्भ में हम विशेष चर्चा पूर्व में कर चुके हैं। पुनः उन्होंने यह निर्णय कैसे कर लिया कि श्वेताम्बर आगमों में आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा ही नहीं है। अनुयोगद्वार सूत्र में जहाँ नैगम नय की अपेक्षा से चर्चा की गई है वहाँ उपरोक्त नौ अनुयोगद्वारों की चर्चा है^२ तथा जहाँ संग्रह नय की अपेक्षा से चर्चा की गई है वहाँ आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा है।^३ पुनः हम पूर्व में ही प्रतिपादित कर चुके हैं कि तत्त्वार्थ सूत्रात्मक शैली का ग्रंथ है, अतः उसमें अनावश्यक विस्तार से बचने का प्रयत्न किया गया है और यह बात हमें उसकी तत्त्व-विवेचना, मोक्ष-मार्ग विवेचना, तीर्थंकर नामकर्म विवेचना, अनुयोगद्वार विवेचना आदि सभी में उपलब्ध होती है। जहाँ उसमें आगमों में वर्णित संख्या का संकोच किया है। पुनः आगमों की यह शैली रही है कि उन्होंने विभिन्न अपेक्षाओं से विभिन्न प्रकार के विवेचन किये हैं। जैसे—प्रस्तुत प्रसंग में हो जहाँ श्वेताम्बरमान्य आगम नैगम-व्यवहारनय से चर्चा करते हैं वहाँ नौ अनुयोगद्वारों की और जहाँ संग्रहनय की अपेक्षा से चर्चा करते हैं वहाँ

३ फुसणा य ४। कालो य ५ अंतरं ६ भाग ७ भाव ८ अष्पाबहुतव्व ९

—अनुयोगद्वार सूत्र, सम्पादक मधुकर मुनि, सूत्र १०५

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार। एर्देसि चौद्साहं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोग-द्वाराणि णायब्बाणि भवंति-त्तं जहा—संतपरूवणा, दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो, अल्पा-बहुगाणुगमो चेदि।

—षट्खण्डागम १।१।७ (खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, सूत्र ७)।

२. अनुयोगद्वारसूत्र, सम्पादक मधुकर मुनि, सूत्र १०५, पृ० ६८

३. वही, सूत्र १२२, पृ० ८३

आठ अनुयोग द्वारों की चर्चा करते हैं। पुनः हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अनुयोगद्वार सूत्र निश्चित ही तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य से किञ्चित् परवर्ती है और इसलिए उसमें ऐसा विकास सम्भव है। पुनः अनुयोगद्वारों की यह संख्या विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न रही है। तत्त्वार्थसूत्र में सम्यक् दर्शन के सन्दर्भ में आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा हुई है, जबकि अनुयोगद्वार सूत्र में यह चर्चा द्रव्य के सन्दर्भ में है। सम्यक् दर्शन जीव के किसी भाग विशेष में नहीं होता है अतः उसमें 'भाग' की चर्चा नहीं है। जबकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के किसी भाग विशेष में रह सकता है अतः द्रव्य की चर्चा के प्रसंगमें 'भाग' नामक अनुयोग (अनुगम) की चर्चा की गई है। षट्खण्डागम यापनीय आगम है तत्त्वार्थ से उसकी निकटता तत्त्वार्थ को उत्तर भारत की आगमिक धारा का ही ग्रन्थ सिद्ध करती है। षट्खण्डागम के अनुयोगद्वारों के नामों की निकटता तत्त्वार्थ की अपेक्षा अनुयोगद्वार सूत्र के निकट है, यह भी हमें देखना होगा। पुनः विषयों के बदलने के साथ अनुयोगद्वारों की संख्या में भिन्नता के संकेत श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मिलते हैं। षट्खण्डागम में ही ग्यारह, सोलह आदि अनुयोग द्वारों की चर्चा भी है और इसमें 'भाग' नामक अनुयोगद्वार, जो श्वेतबान् आगमों में भी उल्लेखित है, मिलता है। प्रसंगानुसार अनुयोगद्वारों की संख्या में भिन्नता होने से तत्त्वार्थ और श्वेताम्बर आगमों में विरोध नहीं माना जा सकता है। दोनों में यदि एक ही प्रसंग में भिन्न-भिन्न संख्या बतायी गयी होती तो ही उनमें विरोध माना जा सकता था।

(४) तत्त्वार्थभाष्य का आगम से विरोध दिखाते हुए पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा यह भी कहा गया है कि जहाँ तत्त्वार्थ भाष्य में लोकान्तिक देवों की संख्या आठ मानी गई है^१ वहाँ श्वेताम्बर आगमों में लोकान्तिक देवों की संख्या ९ मिलती है किन्तु आदरणीय पण्डितजी ने यह भ्रान्ति व्यर्थ ही खड़ी की है। श्वेताम्बर आगमों में लोकान्तिक देवों की संख्या ८ और ९ दोनों ही प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। स्थानांग में भी आठवें स्थान में आठ प्रकार के लोकान्तिक देवों की चर्चा

१. सर्वार्थसिद्धि सम्पादक, पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रस्तावना, पृ०, १९ एवं ३३।

है^१ और नवें स्थान में नौ लोकान्तिक देवों की चर्चा है।^२ इसका तात्पर्य यह भी है कि लोकान्तिक देवों की नौ की संख्या एक परवर्ती विकास है। जब नौ की संख्या मान्य हो गई तो किसी श्वेताम्बर आचार्य ने तत्त्वार्थ के मूलपाठ में भी मरुत नाम जोड़ दिया और इस प्रकार तत्त्वार्थ मूल और तत्त्वार्थभाष्य में अन्तर आ गया। तत्त्वार्थसूत्र मूल में यह प्रक्षेप तत्त्वार्थभाष्य की रचना के बाद और सिद्धसेन गणि की तत्त्वार्थभाष्य की टीका के पूर्व किया गया होगा। किन्तु इस सबसे यह सिद्ध नहीं होता है कि भाष्य श्वेताम्बरमान्य आगमों के विरुद्ध है। यदि संख्या के भेद के आधार पर हो आगम विरोध माना जाये फिर तिलोयपण्णत्ति, सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में ही लोकान्तिक देवों की २४ संख्या भी मानी गई। फिर तो दिगम्बर परम्परा से भी तत्त्वार्थसूत्र की भिन्नता सिद्ध हो जायेगी। आश्चर्य यह है कि जो 'मरुत' नाम प्रक्षिप्त माना जाता है, उसका उल्लेख तिलोयपण्णत्ति और राजवार्तिक में भी उपस्थित है; इससे भाष्य की सर्वार्थसिद्धि से प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि लोकान्तिक देवों की अवधारणा में एक विकास हुआ है और सर्वार्थसिद्धि भाष्य की अपेक्षा विकास की सूचक है। तिलोयपण्णत्ति में लोकविभाग के कर्ता का प्राचीन मत भी उल्लिखित है (८/६३५-६३९)। इसमें नौ लोकान्तिक देवों की अवधारणा का संकेत है; क्योंकि इसमें वह्नि के अतिरिक्त आग्नेय नाम अधिक मिलता है। (ज्ञातव्य है कि वर्तमान संस्कृत लोकविभाग-प्राचीन प्राकृत 'लोकविभाग' के आधार पर निर्मित है)। इसका संकेत संस्कृत लोकविभाग की भूमिका में बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने किया है (देखें भूमिका, पृ० ३१) तथा मूल में भी यह संख्या ९ ही वर्णित है (श्लोक १०।३१९) ज्ञातव्य है—आग्नेय (अग्निच्चा) यही नाम श्वेताम्बर आगम (स्थानांग ८।४६, ९।३४)

१. ऐतेसु णं अट्टसु लोमंतियविमाणेसु अट्टविधा लोगतिया देवापण्णत्ता तं जहा—
सारस्सतमाइच्चा वण्हीवरुणा य गहतोया य।

तुसिता अब्वावाहा अग्निच्चा चैव बोद्धव्वा ॥

—स्थानांग-सं० मधुकर मुनि, ८।४६

२. णव देवणिकाया पण्णत्ता तं जहा—

सारस्सयमाइच्चा वण्हीवरुणा य गहतोया य।

तुसिया अब्वावाहा अग्निच्चा चैव रिट्ठा य ॥

—स्थानांग सं० मधुकर मुनि ९।३४

में भी उपलब्ध है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि नौ लोकांतिक देवों की अवधारणा भी प्राचीन ही है और यह दिगम्बर परम्परा (लोक विभाग) में भी मान्य रही है। अतः इस आधार पर तत्त्वार्थसूत्र को आगम-परम्परा से विरोधी माना जाये, तो वह दोनों परम्परा का ही विरोधी सिद्ध होगा। अपनी परम्परा को भी सम्यक् प्रकार जाने बिना विद्वानों द्वारा तत्त्वार्थसूत्र को दिगम्बर सिद्ध करने के प्रयास में ऐसे तर्क देना समुचित नहीं है। जो श्वेताम्बरों में अरिष्ट-नामक लोकान्तिक देवों को मध्य में मानने की अवधारणा है, वह भी तिलोयपण्णत्ति में उद्धृत लोक-विभाग के आचार्य के मत से सहमति रखती है, यद्यपि आशय को समग्र प्रकार से न समझने के कारण तिलोयपण्णत्ति के सम्पादक ने उस मूलपाठ को सम्यक् रूप में नहीं रखा है।

पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने भाष्य और श्वेताम्बर आगम में विरोध दिखाते हुए एक अन्य तर्क यह दिया है कि “तत्त्वार्थसूत्र के चौथे अध्याय में लोकान्तिक देवोंका निवास स्थान ‘ब्रह्मलोक’ नाम का पाँचवाँ स्वर्ग बतलाया गया है और ‘ब्रह्मलोकालया लोकान्तिका’ इस २५वें सूत्र के निम्न भाष्य में यह स्पष्ट निर्देश किया गया है कि ब्रह्मलोक में रहने वाले ही लोकान्तिक होते हैं—अन्य स्वर्गों में या उनसे परे ग्रैवेयकादिमें लोकान्तिक नहीं होते—

“ब्रह्मलोकालया एव लोकान्तिका भवन्ति नान्यकल्पेषु नापि परतः।”

ब्रह्मलोक में रहने वाले देवों की उत्कृष्ट स्थिति दस सागर की और जघन्य स्थिति सात सागर से कुछ अधिक की बतलाई गई, जैसा कि सूत्र नं० ३७ और ४२ और उनके निम्न भाष्यांशों से प्रकट है—

“ब्रह्मलोके त्रिभिरधिकानि सप्तदशेत्यर्थः।”

“माहेन्द्र परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्त सागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या भवति। ब्रह्मलोके दशसागरोपमाणि परा स्थितिः सा लान्तवे जघन्या।”

इससे स्पष्ट है कि सूत्र तथा भाष्य के अनुसार ब्रह्मलोक के देवों की उत्कृष्ट आयु दस सागर की और जघन्य आयु सात सागर से कुछ अधिक होती है; क्योंकि लोकान्तिक देवों की आयु का अलग निर्देश करने वाला कोई विशेष सूत्र भी श्वे० सूत्रपाठ में नहीं है। परन्तु श्वे० आगम में लोकान्तिक देवों की उत्कृष्ट और जघन्य दोनों ही प्रकार की आयु की

स्थिति आठ सागर को बतलाई है जैसाकि 'स्थानांग' और 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' के निम्न सूत्र से प्रकट है—

“लोकतिकदेवाणं जहण्णमुक्कोसेणं अट्टसागरोवमाइं ठित्ति पण्णत्ता ।”
—स्थानांग, स्थान ८, समवायांग, ६२३, व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० ६ । उ० ५

ऐसी हालत में सूत्र और भाष्य दोनों का कथन श्वे० आगम के साथ संगत न होकर स्पष्ट विरोध को लिये हुए है। दिग्म्बर आगम के साथ भी उसका कोई मेल नहीं है; क्योंकि दिग्म्बर सम्प्रदाय में भी लोकान्तिक देवों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति आठ सागर की मानी है और इसी से दिग्म्बर सूत्रपाठ में “लोकान्तिवानामण्टो सागरोपमाणि सर्वेषाम्” यह एक विशेष सूत्र लोकान्तिक देवों की आयु के स्पष्ट निर्देश को लिये हुए है।”^१

मुख्तार जो की इस चर्चा का सार यह है कि भाष्य में लोकान्तिक देवोंको ब्रह्मलोक का निवासो बताया गया है और ब्रह्मलोक के देवों की भाष्य में आयु मर्यादा अधिकतम दससागरोपम और न्यूनतम सात सागरोपम बताई गई है अतः लोकान्तिक देवों की भी यही आयु मर्यादा होगी। किन्तु श्वेताम्बर आगमों में लोकान्तिक देवों की आयु आठ सागरोपम बताई गई है, इस प्रकार उनकी दृष्टि में सूत्र और भाष्य का कथन श्वेताम्बर आगमों के साथ संगत नहीं है। किन्तु यह उनका निरा भ्रम है। जहाँ ब्रह्मलोक के देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु की चर्चा है वहाँ सामान्य कथन है। जबकि लोकान्तिक देवों की चर्चा एक विशिष्ट कथन है। लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक के देवों का एक छोटा सा विभाग है पुनः जब लोकान्तिक देवों की आयु ब्रह्मलोक के जघन्य और उत्कृष्ट आयुसोमा के अन्तर्गत ही है तो उसका आगमों के साथ विरोध कैसे हुआ? विरोध तो तब होता जब उनको आयु इसी आयु सोमा वर्ग से भिन्न होती। यह बात अलग है कि दिग्म्बर परम्परा ने उसके लिए एक स्वतंत्र सूत्र बना लिया किन्तु यह सूत्र भी श्वेताम्बर मान्य आगमों के विरुद्ध नहीं है, पुनः यह सूत्र स्पष्टता को दृष्टि से ही बनाया गया है, जो यही सिद्ध करता है कि तत्त्वार्थ सूत्र का सर्वार्थसिद्धि का दिग्म्बर मान्य पाठ परिष्कारित है।

(६) तोर्थकर नाम कर्म प्रकृति के बन्ध के कारणों की संख्या को लेकर

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश—पं० जुगलकिशोर मुख्तार,
पृ० १३६ ।

जैनधर्म की श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परम्परा में अन्तर माना जाता है। इसी आधार पर तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्त्ता की परम्परा का निर्धारण करने का प्रयत्न भी किया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के आगम णायधम्मकहाओ, आवश्यकनियुक्ति तथा प्रवचनसारोद्धार में तीर्थंकर नाम कर्म बन्ध के बीस कारणों का उल्लेख मिलता है।^१ जबकि तत्त्वार्थसूत्र, षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं में तीर्थंकर नाम कर्म बन्ध के सोलह कारणों का उल्लेख मिलता है^२।

तत्त्वार्थसूत्र मूल में यद्यपि स्पष्ट रूप से सोलह का संख्या का उल्लेख नहीं है, किन्तु फिर भी गणना करने पर उनकी संख्या सोलह ही है।

१. (अ) अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-धेर-बहुस्सुए तस्वसीसु ।
 वच्छलया य एसि अभिक्खनाणोवभागे अ ॥ १ ॥
 दंसणविणए आवस्सए अ सीलव्वए निरइचारो ।
 खणलवत्तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ २ ॥
 अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
 एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं ल्हइ जीवो ॥ ३ ॥

—ज्ञाताधर्मकथा, अध्याय ८

(ब) आवश्यकनियुक्ति १७९-१८१, तथा ४५१-५३

(स) प्रवचनसारोद्धार, १०/३१२ (देवचन्द लालभाई जैनपुस्तकोद्धार प्रन्थाङ्क ५८)

२. (अ) “दर्शनविशुद्धि विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्षणं ज्ञानोपयोग-संवेगो शक्तितस्त्याग-तपसी संघोसाघुसमाधिवैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकपरिहाणिमार्गप्रभावनाप्रवचनत्वसलत्वमित्ति तीर्थकृत्वस्य तत्त्वार्थसूत्र ६/२४ देखें—इसी सूत्र की सर्वार्थसिद्धि, राजवातिक, श्लोकवातिक आदि टीकार्ये ।

- (ब) “दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वेसु गिरदिचारदाए भावासाएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जघागमे तथा तवे साहूणं पासुअपरिच्चागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोग्गुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयण-भत्तीए, पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणाए अभिक्खणं णाणोवजोग-जुत्तदाए इच्चेदेहिं सोलसेहिं कारणेहिं जीवा तित्थयरणामगोदकम्मं बंधंति ।”

—षट्खण्डागम, बन्धस्वामित्व, ७/४६

षट्खण्डागम में सोलह की संख्या भी स्पष्ट रूप से दी गई है। तत्त्वार्थसूत्र और षट्खण्डागम में पन्द्रह नाम तो लगभग समान हैं, परन्तु उनमें भी एक नाम में तो स्पष्ट अन्तर है। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य भक्ति है जबकि षट्खण्डागम में उसके स्थान पर क्षणलवप्रतिबोधता है, यह नाम श्वेताम्बर आगमों में उपलब्ध हैं। अपराजितसूरि ने भगवतीआराधना की विजयोदया टीका में यद्यपि १६ अथवा २० की संख्या का निर्देश नहीं किया है। फिर भी दर्शन विशुद्धि आदि का तीर्थंकर नाम-कर्म बन्ध का कारण बताया है^१।

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान्य श्वेताम्बर मूल पाठ में भी इन्हीं सोलह कारणों का उल्लेख है, किन्तु स्वोपज्ञभाष्य^२ में प्रवचन वात्सल्य के अन्तर्गत बाल, वृद्ध, तपस्वी, शैक्ष और ग्लान—इन पाँच के वात्सल्य का उल्लेख है, अतः प्रवचन-वात्सल्य के स्थान पर इन पाँचों को स्वतंत्र मानने पर संख्या बीस हो जाती है। यद्यपि नामों की दृष्टि से तत्त्वार्थभाष्य के तीन नाम आवश्यकनियुक्ति से भिन्न होते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर नाम कर्मबन्ध के कारणों के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र एवं तत्त्वार्थभाष्य का दृष्टिकोण श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं से क्वचित् भिन्न है। सिद्धसेनगणि के तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य की टीका में तीर्थंकर नामकर्म बन्ध के बीस कारणों को मानते हुए भी यह कहा है कि सूत्रकार ने इनमें से कुछ का भाष्य में और कुछ का आदि शब्द से ग्रहण किया है^३ (इति शब्द आदयर्थः)। इस प्रकार तीर्थंकर नामकर्म बन्ध के प्रश्न को लेकर जो विभिन्न मान्यताएँ हैं, तुलनात्मक दृष्टि से उनका विवरण इस प्रकार है—

१. दर्शनविशुद्ध्यादि परिणामविशेष तीर्थंकर त्वनामकर्मातिशयाः ।

—भगवतीआराधना, गाथा ३१९ की टीका पृ० २८५

२. “अहंछासनानुष्ठायिनां श्रुतघराणां बाल-बुद्ध-तपस्वि-शैक्षग्लानादिनां च संग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति”

—तत्त्वार्थभाष्य, ६/२३,

३. “विशतेः कारणानां सूत्रकारेण किञ्चित्सूत्रे किञ्चिद्भाष्ये किञ्चित् आदिग्रहणात् सिद्धपूजा-क्षणलवध्यानभावनाख्यमुपात्तम् उपयुज्य च प्रवक्त्रा व्याख्येयम् ।”

तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य, ६।२३

क्र०सं०	तत्त्वार्थसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाएँ	तत्त्वार्थभाष्य	षट्खण्डागम (यापनीय परंपरा)	ज्ञाताधर्मकथा और आवश्यकनियुक्ति (श्वेताम्बर परंपरा)
१.	दर्शन विशुद्धि	दर्शन विशुद्धि	दर्शनविशुद्धता	दर्शननिरतिचारिता
२.	विनय सम्पन्नता	विनय सम्पन्नता	विनय सम्पन्नता	विनयनिरतिचारिता
३.	शीलव्रतानतिचार	शीलव्रतानतिचार	शीलव्रतनिरति- चारिता	शीलव्रतनिरति- चारिता
४.	अभीक्षणज्ञानोपयोग	अभीक्षण ज्ञानोपयोग	अभीक्षण-अभीक्षण ज्ञानोपयोगयुक्तता	अभीक्षणज्ञानोपयोग
५.	संवेग	संवेग	लब्धिसंवेग संपन्नता	×
६.	शक्त्यानुसार त्याग	शक्त्यानुसार त्याग	साधु प्रासुक परित्यागता	त्याग
७.	शक्त्यानुसार तप	शक्त्यानुसार तप	यथाशक्ति तप	तप
८.	साधु समाधि	साधु समाधि	साधु समाधि संधारणता	समाधि
९.	वैय्यावृत्यकरण	वैय्यावृत्यकरण	साधु वैयावृत्य- योगयुक्तता	वैयावृत्य
१०.	अर्हत् भक्ति	अर्हत् भक्ति	अरहन्त भक्ति	अरहन्त वत्सलता
११.	आचार्य भक्ति	आचार्य भक्ति	×	गुरु वत्सलता
१२.	बहुश्रुत भक्ति	बहुश्रुत भक्ति	बहुश्रुत भक्ति	बहुश्रुत वत्सलता
१३.	प्रवचन भक्ति	प्रवचन भक्ति	प्रवचन भक्ति	श्रुत भक्ति
१४.	आवश्यकपरिहाणि	आवश्यकपरिहाणि	आवश्यकपरि- हीनता	आवश्यकनिरति चारिता
१५.	मार्ग-प्रभावना	मार्ग-प्रभावना	मार्ग-प्रभावना	प्रवचन प्रभावना
१६.	प्रवचनवत्सलत्व	प्रवचन वत्सलता	प्रवचन वत्सलता	प्रवचन वात्सल्य
१७.	×	×	क्षणलव प्रतिबो- धनता	क्षणलव प्रति- बोधनता
१८.	×	वृद्ध वत्सलता	×	स्थविर वत्सलता
१९.	×	×	×	सिद्ध वत्सलता
२०.	×	तपस्वी वत्सलता	×	तपस्वी वत्सलता
२१.	×	×	×	अपूर्व ज्ञान ग्रहण
२२.	×	बाल वत्सलता	×	×
२३.	×	शैक्षवत्सलता	×	×
२४.	×	ग्लान वत्सलता	×	×

तीर्थंकर नामकर्मबंध के इस तुलनात्मक विवरण में तत्त्वार्थसूत्र का अन्य ग्रन्थों से जो अन्तर ज्ञात होता है, वह इस प्रकार है—जहाँ तक तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञ भाष्य का प्रश्न है—दोनों में सोलह नाम समान हैं, किन्तु दोनों में ही संख्या का स्पष्ट निर्देश नहीं है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्य में प्रवचन प्रभावना के पाँच भेद किये गये हैं—१. बालवत्सलता, २. वृद्धवत्सलता, ३. तपस्वीवत्सलता, ४. शैक्षवत्सलता और ५. ग्लान वत्सलता। यदि हम प्रवचन वत्सलता के स्थान पर इन पाँच उपभेदों को मान्य करते हैं तो तत्त्वार्थभाष्य में तीर्थंकर नामकर्म बंध के कारणों की संख्या बीस हो जाती है, जो आगे श्वेताम्बर परम्परा में मान्य रही है। यद्यपि दोनों में नाम और क्रम में आंशिक अन्तर है। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य बीस कारणों में से तत्त्वार्थसूत्र में १५ समान हैं। तत्त्वार्थसूत्र में उल्लिखित संवेग श्वेताम्बर परम्परा में अनुपलब्ध है, उसके स्थान पर निम्न पाँच अधिक पाये जाते हैं—१. क्षणलव प्रतिबोधना, २. सिद्ध वत्सलता, ३. स्थविर वत्सलता, ४. तपस्वी वत्सलता और ५. अपूर्व ज्ञान ग्रहण।

यदि हम भाष्य की दृष्टि से इन पर विचार करें तो १६ नाम अर्थ की दृष्टि से लगभग समान हैं—तत्त्वार्थभाष्य में 'संवेग, बालवत्सलता, शैक्ष वत्सलता और ग्लान वत्सलता है जबकि आवश्यकनियुक्ति और ज्ञातासूत्र में इनके स्थान पर प्रवचन वत्सलता, क्षणलव प्रतिबोधनता, सिद्धवत्सलता और अपूर्व ज्ञान ग्रहण है। यद्यपि प्रवचन वत्सलता मूल में तो है ही और संवेग को अपूर्व ज्ञान ग्रहण से जोड़ा जा सकता है अतः अन्तर मात्र दो में रहता है। जहाँ तक तत्त्वार्थसूत्र मूल और यापनीय ग्रंथ षट्खण्डागम का प्रश्न है—दोनों में सोलह कारण उपस्थित होते हुए भी उनमें भी एक नाम में स्पष्ट अन्तर है। जहाँ तत्त्वार्थ में आचार्य भक्ति है, वहाँ षट्खण्डागम में क्षणलव प्रतिबोधनता है, जिसका श्वेताम्बर मान्य आवश्यकनियुक्ति और ज्ञाताधर्मकथा में उल्लेख है। तत्त्वार्थसूत्र की आचार्यभक्ति षट्खण्डागम में अनुपस्थित है। षट्खण्डागम की अपेक्षा श्वेताम्बर परम्परा में निम्न चार नाम अधिक हैं—गुरु, सिद्ध, स्थविर एवं तपस्वी वत्सलता।

इस तुलना से हम दो निष्कर्ष निकाल सकते हैं, प्रथम यह कि तीर्थंकर नामकर्मबंध के कारणों के नाम तथा संख्या की दृष्टि से श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर—तीनों ही परम्परा में क्वचित् मतभेद पाया जाता

है। न तो तत्त्वार्थसूत्र की, दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य यापनीय ग्रन्थ की षट्खण्डागम से पूर्ण एकरूपता है और न श्वेताम्बर मान्य ज्ञाताधर्म-कथा और आवश्यकनियुक्ति से हो। किन्तु यदि ईमानदारी पूर्वक विश्लेषण करें तो यह पाते हैं कि इन अन्तरो से कोई सैद्धान्तिक विरोधाभास नहीं आता। तत्त्वार्थसूत्र की आचार्यभक्ति न तो षट्खण्डागमकार को अमान्य कही जा सकती है और न गुरु, सिद्ध, स्थविर और तपस्वी भक्ति तथा अपूर्व ज्ञान ग्रहण के प्रति तत्त्वार्थकार या षट्खण्डागमकार का कोई विरोध हो सकता है। वस्तुतः ये धारणाएँ कालक्रम में विकसित हुई हैं और इसी कारण उनमें क्वचित् मतभेद देखा जाता है।

भगवतोभाराधना की अपराजितसूरि टीका में दर्शन विशुद्धि आदि को तोर्थकरत्व प्राप्ति का कारण बताया है। इसके आधार पर कुछ विद्वानों ने यह मान लिया है कि उन्हें अर्थात् यापनीयों को भी तत्त्वार्थसूत्र अथवा दिगम्बर सम्प्रदाय समस्त सोलह कारण ही मान्य होंगे, श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्मत बीस कारण नहीं। पुनः श्वेताम्बरमान्य ग्रन्थों में तीर्थकर पद प्राप्ति का प्रथम कारण अरिहन्त-वत्सलता बताया गया है जबकि तत्त्वार्थसूत्र में प्रथम कारण दर्शनविशुद्धि है। इस आधार पर उन्होंने यह भी अनुमान कर लिया है कि तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर ग्रन्थ नहीं हो सकता है। उनके शब्दों में 'इससे भी अनुमानित होता है कि तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर ग्रन्थ नहीं है।'^१

इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है—बीस कारणों का उल्लेख करने वाली आवश्यक नियुक्ति की ये तीनों गाथाएँ त्रिक हैं। इस त्रिक में यदि प्रथम दो गाथाओं का क्रम बदल दिया जाये तो श्वेताम्बर परम्परा में भी प्रारम्भ दर्शन से हो होगा। हो सकता है कि उमास्वाति के सामने यही क्रम रहा हो। गाथाओं के क्रम निर्धारण से मूल अवधारणा में कोई अन्तर भी नहीं आता है। आवश्यकनियुक्ति में स्पष्ट रूप से यह भी उल्लेख है कि प्रथम और अन्तिम तोर्थकर सभी कारणों का सेवन करते हैं किन्तु मध्यवर्ती तोर्थकर एक, दो, तीन या सब कारणों का सेवन करते हैं।^२

१. यापनीय और उनका साहित्य, डॉ० कुसुम पटोरिया पृ० १००।

२. पुरिमेण पच्छिमेण य, एए सव्वेऽवि फासिया ठाणा।

मज्झिमएहि जिणेहि एक्कं दो तिण्णि सव्वे वा ॥

—आवश्यकनियुक्ति गाथा ५४ (नियुक्ति संग्रह, पृ० ४७)

पुनः तत्त्वार्थभाष्य को टीका करते हुए सिद्धसेन गणि स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि 'एते यथोद्दिष्टा गुणा दर्शनविशुद्धिद्यादय आत्मनः परिणामाः समुदिताः प्रत्येकं च तोर्थकर नामकर्मन् आश्रवा भवन्ति न पुनः नियमो अस्ति समस्ता एव व्यस्ता एव वा विकल्पा अर्थो वा जब्दः ।' यहाँ हम देखते हैं कि सिद्धसेन भी दर्शन विशुद्धि से ही प्रारम्भ करते हैं और उनके कारणों को वैकल्पिकता स्वीकारते हैं। अतः दर्शनविशुद्धि से प्रारम्भ होने के कारण यापनीयों को दिग्म्बर सम्मत वही १६ कारण मान्य थे, यह निष्कर्ष निकाल लेना ठीक नहीं होगा; क्योंकि दोनों में एक नाम में तो स्पष्ट अन्तर है। इस चर्चा में संख्या का महत्त्व नहीं है क्योंकि भाष्य, नियुक्ति आदि सभी यह मानते हैं कि इनमें से किसी एक के अथवा कुछेक के अथवा सभी के अनुपालन से तोर्थकर गोत्र का बन्ध होता है।

जहाँ तक १६ या २० कारणों के विवाद का प्रश्न है, नामों की यह भिन्नता षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र में भी उपलब्ध होती है। तत्त्वार्थ-सूत्र में प्रतिपादित आचार्य भक्ति का उल्लेख षट्खण्डागम में नहीं है उसके स्थान पर वहाँ 'क्षणलव प्रतिबोधना' का उल्लेख मिलता है। जो कि ज्ञाताधर्मकथा और नियुक्ति के उल्लेख के अनुरूप है। वस्तुतः तोर्थकर नामकर्म प्रकृति के कारणों का सुव्यवस्थित संख्यात्मक विवेचन एक परवर्ती घटना है। श्वेताम्बर मान्य ज्ञाताधर्मकथा में तत्सम्बन्धी जो गाथाएँ उपलब्ध हैं, वे उसमें आवश्यक नियुक्ति से ही प्रक्षिप्त की गई हैं, क्योंकि प्रथम तो ग्रन्थ गद्य में है और दूसरे उस सन्दर्भ में वे अत्यावश्यक भी नहीं हैं। वहाँ महाबल के तप का विवरण चल रहा है, कोई भी विज्ञ पाठक यह समझ सकता है कि अनुकूल प्रसंग देखकर ये गाथाएँ उसमें डाल दी गई हैं किन्तु यदि यह विवरण वहाँ न भी हो तो भी कोई कमी नहीं रहती। सम्भवतः इस बीस की संख्या का निर्धारण नियुक्ति काल में ही हुआ है। जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र की मूल पाँच नयों एवं शब्दनय के दो भेदों की अवधारणा से सात नयों का विकास हुआ, उसी प्रकार तत्त्वार्थ-भाष्य के मूल सोलह कारणों तथा भाष्य के प्रवचन वत्सलता के पाँच भेदों से ही श्वेताम्बरों में बीस कारणों की मान्यता का विकास हुआ है। यह भी सम्भव है कि उमास्वाति की उच्च नागर शाखा प्रारम्भ में १६ कारण ही मानती हो।

यदि हम इस सोलह और बीस के विवाद को सामान्य दृष्टि से देखें

१. तत्त्वार्थविगम भाष्य टीका ६।२३ (द्वितीयो विभाग, पृ० ३८)

तो न तो यह महत्त्वपूर्ण ही प्रतीत होता है और न सैद्धान्तिक ही। तत्त्वार्थ से ज्ञाताधर्मकथा या आवश्यक नियुक्ति में जो अधिक बातें हैं वे हैं—सिद्ध भक्ति, स्थविर-भक्ति, तपस्वी-वात्सल्य अपूर्वज्ञानग्रहण तथा क्षणलव समाधि। जबकि तत्त्वार्थ में उल्लिखित आचार्य भक्ति इनमें नहीं है। फिर भी ये सभी बातें ऐसी हैं जिनसे न श्वेताम्बरों को और न दिगम्बरों को विरोध हो सकता है। क्या दिगम्बरों को सिद्धभक्ति, स्थविरभक्ति, तपस्वी वात्सल्य और अपूर्व ज्ञान ग्रहण से कोई आपत्ति है? यदि भेद की ही बात करनी हो तो फिर तत्त्वार्थसूत्र और षट्खण्डागम भी एक परम्परा के नहीं हो सकते क्योंकि दोनों में भी एक नाम को भिन्नता है और वह भिन्न नाम क्षणलव प्रतिबोधनता श्वेताम्बर आगमों के अनुरूप है। पुनः विकसित कर्मसिद्धान्त और गुणस्थानसिद्धान्त से युक्त षट्खण्डागम तो तत्त्वार्थसूत्र से पर्याप्त परवर्ती है। षट्खण्डागम मूलतः यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है और तत्त्वार्थसूत्र तो श्वेताम्बर और यापनीयों के विभाजन के पूर्व का ग्रन्थ है। पुनः तीर्थंकर नामकर्म बन्ध के बीस कारण हैं यह अवधारणा आगम काल में नहीं, नियुक्ति काल में स्थिर हुई है और वहीं से ज्ञाताधर्मकथा में डाली गई है।

(७) दिगम्बर विद्वानों ने 'तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं है'—इसे सिद्ध करने के लिए एक तर्क यह भी दिया है कि तत्त्वार्थसूत्र में श्रावक के गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का जो निरूपण है, उसकी श्वेताम्बर आगमों के साथ संगति नहीं है। साथ ही यह भी दिखाया है कि इस असंगति का उल्लेख स्वयं श्वेताम्बर टीकाकार सिद्धसेन गणि ने किया है और उसके परिहार का भी प्रयास किया है। पं० जुगलकिशोर मुख्तार के द्वारा इस असंगति को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है—उसे हम अवि-कल रूप से नांचे दे रहे हैं। वे लिखते हैं कि—

“सातवें अध्याय का १६वाँ सूत्र इस प्रकार है :—

“द्विदेशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ।”

इस सूत्र में तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों के भेद वाले सात उत्तरव्रतों का निर्देश है, जिन्हें शीलव्रत भी कहते हैं। गुणव्रतों का निर्देश पहले और शिक्षाव्रतों का निर्देश बाद में होता है, इस दृष्टि से इस सूत्र में प्रथम निर्दिष्ट हुए दिव्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डविरतिव्रत ये तीन गुणव्रत हैं; शेष सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथि-

संविभाग, ये चार शिक्षाव्रत हैं। परन्तु श्वेताम्बर आगम में देशव्रत को गुणव्रतों में न लेकर शिक्षाव्रतों में लिया है और इसी तरह उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत का ग्रहण शिक्षाव्रतों में न करके गुणव्रतों में किया है। जैसा कि श्वेताम्बर आगम के निम्न सूत्र से प्रकट है—

“आगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा-पंचअणुव्वयाइं तिण्णि-गुणव्वयाइं चत्तारि सिक्खावयाइं । तिण्णि गुणव्वयाइं, तं जहा-अणत्थदण्ड-वेरमाणं, दिसित्त्वयं, उपभोगपरिभोगपरिमाणं । चत्तारि सिक्खावयाइं, तं जहा—सामाइयं, देसावगासियं, पोसहोपवासे, अतिहिंसंविभागे ।”

—औपपातिक श्रोतोरदेशना सूत्र ५७

इससे तत्त्वार्थशास्त्र का उक्त सूत्र श्वेताम्बर आगम के साथ संगत नहीं, यह स्पष्ट है। इस असंगति को सिद्धसेनगणो ने भी अनुभव किया है और अपनी टीका में यह बतलाते हुए कि ‘आर्ष (आगम) में तो गुणव्रतों का क्रम से आदेश करके शिक्षाव्रतों का उपदेश दिया है, किन्तु सूत्रकार ने अन्यथा किया है’, यह प्रश्न उठाया है कि सूत्रकार ने परम आर्ष वचन का किसलिये उल्लंघन किया है? जैसा कि निम्न टीका के वाक्य से प्रकट है—

“सम्प्रति क्रमनिदिष्टं देशव्रतमुच्यते । अत्राह वक्ष्यति भवान् देशव्रतं । परमार्षवचनक्रमः कैमर्थाद्भिन्नः सूत्रकारेण ? आर्षे तु गुणव्रतानि क्रमेण-दिश्य शिक्षाव्रतान्युपदिष्टानि सूत्रकारेण त्वन्यथा ।”

इसके बाद प्रश्न के उत्तर रूप में इस असंगति को दूर करने अथवा उस पर कुछ पदी डालने का यत्न किया गया है, और वह इस प्रकार है—

“तत्रायमभिप्रायः—पूर्वतो योजनशतपरिमितं गमनमभिगृहोतम् । न चास्ति सम्भवो यत्प्रतिदिवसं तावती दिगवगाह्या, ततस्तदनन्तरमेवोपदिष्टं देशव्रतमिति देशे-भागेऽवस्थानं प्रतिप्रहरं प्रतिक्षणमिति सुखावबोधार्थमन्यथा क्रमः ।”

इसमें अन्यथा क्रम का यह अभिप्राय बतलाया है कि—‘पहले से किसी ने १०० योजन परिमाण दिशागमन की मर्यादा ली परन्तु प्रतिदिन उतनी दिशा का अवगाहन सम्भव नहीं है, इसलिये उसके बाद ही देशव्रत का उपदेश दिया है। इससे प्रतिदिन, प्रतिप्रहर और प्रतिक्षण पूर्वगृहोत मर्यादा के एक देश में एक भाग में अवस्थान होता है। अतः सुखबोधार्थ—सरलता से समझाने के लिए यह अन्यथा क्रम स्वीकार किया गया है।’

यह उत्तर बच्चों को बहकाने जैसा है। समझ में नहीं आता कि देश-व्रत को सामायिक के बाद रखकर उसका स्वरूप वहाँ बतला देने से उसके सुखबोधार्थ में कौन-सी अड़चन पड़ती अथवा कठिनता उपस्थित होती थी और अड़चन अथवा कठिनता आगमकार को क्यों नहीं सूझ पड़ी? क्या आगमकार का लक्ष्य सुखबोधार्थ नहीं था? आगमकार ने तो अधिक शब्दों में अच्छी तरह समझाकर—भेदोपभेद को बतलाकर लिखा है। परन्तु बात वास्तव में सुखबोधार्थ अथवा मात्र क्रम भेद की नहीं है, क्रम-भेद तो दूसरा भी माना जाता है—आगम में अनर्थदण्डव्रत को दिग्व्रत से भी पहले दिया है, जिसकी सिद्धसेन गणी ने कोई चर्चा नहीं की है। परन्तु वह क्रमभेद गुणव्रत-गुणव्रत का है, जिसका विशेष महत्व नहीं; यहाँ तो उस क्रमभेद की बात है जिससे एक गुणव्रत शिक्षाव्रत और एक शिक्षा-व्रत गुणव्रत हो जाता है और इसलिए इस प्रकार की असंगति सुखबोधार्थ कह देने मात्र से दूर नहीं हो सकती। अतः स्पष्ट कहना होगा कि इसके द्वारा दूसरे शासन भेद को अपनाया गया है।^{११}

इस सन्दर्भ में मेरा निवेदन इस प्रकार है प्रथमतः तो ऐसे आवान्तर मतभेद एक ही परम्परा में भी उपलब्ध होते हैं, हमें तो यह विचार करना होगा कि क्या यह कोई महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक असंगति है? यदि हम गुणव्रतों या शिक्षाव्रतों के नामों के सन्दर्भ में विचार करते हैं तो हम यह पाते हैं कि वर्तमान में जो श्रावक के बारह व्रतों का विभाजन पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के रूप में किया जाता है वह श्वेताम्बर आगमों में भी समान रूप से नहीं है। वह एक कालक्रम में विकसित एवं सुनिश्चित हुआ है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक परम्परा में आवान्तर मतभेद देखे जा सकते हैं।

श्वेताम्बर मान्य आगमों में भी औपपातिक में जो पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, शिक्षाव्रत का विभाजन है, वह उपासकदशांग में नहीं है। उपासकदशांग में पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों का उल्लेख है। गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का विभाजन तत्त्वार्थसूत्र और उपासकदशांग की रचना के पश्चात् हुआ है, जो ग्रन्थ ऐसे उल्लेख से युक्त हैं, वे परवर्ती हैं।

जहाँ तक श्रावक के बारह व्रतों के नामों का प्रश्न है वहाँ तक श्वेताम्बर आगमों और तत्त्वार्थसूत्र में नामों को लेकर कोई असंगति नहीं

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विषय प्रकाश—पं० जुगल किशोर जी मुस्तार, पृ० १४०-१४२।

है। उपासकदशांग, औपपातिक और तत्त्वार्थसूत्र में समान रूप से उन्हीं म्बारह नामों का उल्लेख हुआ है। अतः नामों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर आगमों और तत्त्वार्थसूत्र में कहीं कोई असंगति नहीं है। जिस असंगति का निर्देश पं० जुगलकिशोर मुख्तार और अन्य दिगम्बर विद्वान् करते हैं तथा जिसे सिद्धसेनगणि ने भी स्पष्ट किया है, वह क्रम सम्बन्धी असंगति है।

उपभोग परिभोग परिमाण व्रत को श्वेताम्बर परम्परा में गुणव्रतों में समाहित किया जाता है जबकि तत्त्वार्थ में क्रम की दृष्टि से वह शिक्षाव्रतों के अन्तर्गत आता है। किन्तु गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का यह विभाजन प्राचीन नहीं है, तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् का है। तत्त्वार्थ में तो अणुव्रत और व्रत ये दो ही विभाग हैं। उपासकदशांग भी स्पष्ट रूप से पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों का उल्लेख करता है^१। गुणव्रतों का निर्देश श्वेताम्बर आगमिक साहित्य में सर्वप्रथम औपपातिक में मिलता है और यह निश्चित है कि उपासकदशांग औपपातिक से प्राचीन है। तत्त्वार्थसूत्र में तो गुणव्रत और शिक्षाव्रत ऐसा नाम भी नहीं है उसमें तो मात्र अणुव्रत और व्रत यही उल्लेख है^२। भाष्यकार अणुव्रत और उत्तरव्रत अथवा शील कहकर उनमें अन्तर करता है जिसे उपासकदशांग में शिक्षाव्रत कहा गया है उसे ही तत्त्वार्थभाष्य में उत्तरव्रत या शील कहा गया^३। अतः तत्त्वार्थ-मूल, भाष्य और उपासकदशांग की दृष्टि से विचार करें तो उस काल तक वहाँ गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का भेद ही उत्पन्न नहीं हुआ था अतः उनमें कोई क्रम भंग हुआ यह कहना ही उचित नहीं है। हमें मात्र अवधारणाओं पर ही विचार नहीं करना चाहिए, वरन् उन अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास क्रम को भी समझना चाहिए। दुर्भाग्य से हमारे दिगम्बर विद्वान् अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास क्रम को अपनी दृष्टि से ओझल कर देते हैं, और यह मान लेते हैं आज जैनधर्म का जो रूप है, वह सब महावीर प्रतिपादित है। जिसके परिणामस्वरूप जैन-विद्या का

१. 'पंचाणुवत्तिअं सत्तसिक्खाव इयं दुवाल्स विहं गिरिधम्मं पडिबज्जिस्सामि।

—उपासकदशांग १।२५ (सं० मधुकर मुनि)

२. तत्त्वार्थसूत्र ७।१५-१७

३. (अ) दिग्भ्रतादिभिरुत्तरव्रतैः सम्पन्नोऽगारी व्रती भवति।

—तत्त्वार्थ भाष्य ७।१६

(ब) एतानि दिग्भ्रतादीनि शीलानि भवति

—तत्त्वार्थभाष्य ७।१७

समस्त इतिहास ही अस्त-व्यस्त हो जाता है। यदि हम ऐतिहासिक क्रम से देखें तो पहले श्रावक के अणुव्रतों और उत्तरव्रतों, जिन्हें शिक्षाव्रत भी कहा गया, की अवधारणा बनी होगी। उसके बाद ही उत्तरव्रतों (शिक्षाव्रतों) का गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों में विभाजन हुआ होगा। अतः अधिकांश दिगम्बर विद्वानों का यह कहना कि तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर आगमों में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के क्रम को लेकर अन्तर है, केवल लोगों को भ्रमित करने के लिए है या मात्र अपनी परम्परा का पोषण करने के लिए है। अब रहा प्रश्न व्रतों के क्रम का तो प्रारम्भ में यह क्रम भी सुनिश्चित नहीं रहा यदि हम श्वेताम्बर आगम उपासकदशांग और औपपातिक को ही लें तो वहाँ क्रम में अन्तर है। जहाँ औपपातिक में अनर्थदण्डविरमण को छठाँ, दिक्व्रत को सातवाँ और उपभोग परिभोग परिमाण का आठवाँ क्रम दिया गया है, वहीं उपासकदशांग में दिग्व्रत को छठाँ, उपभोग परिभोग परिमाण को सातवाँ तथा अनर्थदण्ड विरमण को आठवाँ स्थान दिया गया है। अतः श्रावक के द्वादश व्रतों में सुनिश्चित क्रम निर्धारण और उस क्रम के अनुसरण की स्थिति छठीं शती से भी परवर्ती है। जब आगम ग्रन्थों में एवं प्राचीन दिगम्बर और यापनीय आचार्यों में ही सुनिश्चित क्रम नहीं है, तो फिर उमास्वाति पर यह दोषारोपण ही कैसे किया जा सकता है कि उन्होंने क्रम भंग किया है। जब सातों ही उत्तरव्रत या शिक्षाव्रत थे तो उनमें एक निश्चित क्रम का ही अनुसरण किया जाय, यह आवश्यक नहीं था। सिद्धसेनगणि ने भी भाष्यकार पर जो आक्षेप किया है, वह अपनी साम्प्रदायिक स्थिति के कारण ही किया है। दूसरे यह कि उनके काल तक परवर्ती आगमों में यह क्रम निश्चित हो गया था, अतः उन्हें यह असंगति प्रतीत हुई।

उमास्वाति ने खान-पान से सम्बन्धित उत्तरव्रतों को एक साथ रख कर एक अपना विशेष दृष्टि का ही परिचय दिया है अतः यह कहना न्यायसंगत नहीं है कि श्रावक के व्रतों के विवेचन के सन्दर्भ में तत्त्वार्थ और श्वेताम्बर आगमों में असंगति है अतः तत्त्वार्थ श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं है। यदि उपासकदशा और औपपातिक सूत्र इन श्वेताम्बर मान्य दो आगमों में ही क्रमभेद हैं तो क्या वे दोनों आगम श्वेताम्बर परम्परा के नहीं माने जायेंगे। पं० जुगलकिशोर जी जब दोनों ही आगमों को श्वेताम्बर मानकर उद्धृत कर रहे हैं तो क्या वे उनके क्रमभेद को अपनी दृष्टि से ओझल किये हुए हैं ?

अब यदि यही क्रम भंग का आधार ग्रन्थ के श्वेताम्बरत्व और दिगम्बरत्व की कसौटी माना जाता है, तो प्रथम प्रश्न तो यही उठता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र में श्रावक के द्वादश व्रतों का जिस रूप में व जिस क्रम से विवेचन है, वही दिगम्बर परम्परा में पाया जाता है। हमारे दिगम्बर परम्परा के विद्वानों ने इस बात को बड़े साहस के साथ प्रतिपादित किया है कि उमास्वाति कुन्दकुन्द के शिष्य हैं और तत्त्वार्थ की अवधारणाओं के मूल बीज श्वेताम्बर आगमों में नहीं, अपितु आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उपस्थित है^१। यदि यही बात है तो श्रावक के व्रतों की उमास्वाति की प्रतिपादन शैली और कुन्दकुन्द की प्रतिपादन शैली की जरा तुलना कर ली जाय। उमास्वाति जिन पाँच अणुव्रतों और सात उत्तरव्रतों की तत्त्वार्थसूत्र मूल और भाष्य में प्रस्तुत करते हैं, वे कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी उस रूप में नहीं मिलते हैं।

कुन्दकुन्द औपपातिक के समान ही श्रावक के बारह व्रतों का अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत में विभाजन करते हैं। जबकि तत्त्वार्थसूत्र उपासकदशांग का अनुसरण करते हुए श्रावक के बारह व्रतों का अणुव्रत और व्रत (उत्तरव्रत / शिक्षाव्रत) के रूप में उल्लेख करता है। इससे यह भी फलित होता है कि कुन्दकुन्द उमास्वाति से परवर्ती हैं। वैसे कुन्दकुन्द के ग्रन्थ पंचास्तिकाय (१/१४) में सप्तभंगी तथा गुणस्थान का उल्लेख होने से भी वे उमास्वातिकी अपेक्षा परवर्ती ही सिद्ध होते हैं। जहाँ तक श्रावक के व्रतों की संख्या का प्रश्न है उमास्वाति और कुन्दकुन्द दोनों ही बारह की संख्या तो स्वीकार करते हैं किन्तु उनके नामों को लेकर महत्वपूर्ण अन्तर है। कुन्दकुन्द दिग्ब्रत और देशव्रत दोनों को मिलाकर एक कर देते हैं और उनके स्थान पर बारह की संख्या की पूर्ति करने के लिए संलेखना को शिक्षाव्रत में जोड़ देते हैं^२। पुनः जहाँ कुन्दकुन्द अनर्थदण्ड

१. देखें—तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज—पं० परमानन्द जैनशास्त्री, प्रकाशित 'अनेकांत' वर्ष ४ किरण १ पृ० १७-३७
२. पंचेवणुब्बयाइं गुणव्वयाइं हव्वति तह तिणिण ।
सिक्खावयं चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥
थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य ।
परिहरो परमहिला परिग्गहारंभ परिमाणं ॥
दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्थदंढस्स वज्जणं विदियं ।
भोगोपभोगपरिमाणं इयमेव गुणव्वया तिणिण ॥

को सातवाँ और भोगोपभोग परिमाण को आठवाँ व्रत मानते हैं, वहीँ उमास्वाति अनर्थदण्ड को तो सातवाँ मानते हैं, किन्तु भोग परिभोग-परिमाण को ग्यारहवाँ व्रत मानते हैं^१। जबकि कुन्दकुन्द ने उसे आठवाँ और गुणव्रत की दृष्टि से तीसरा माना है। पुनः कुन्दकुन्द अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत ऐसा विभाजन करते हैं जबकि उमास्वाति अणुव्रत और व्रत (उत्तरव्रत) ऐसा विभाजन करते हैं। यदि उमास्वाति का श्रावक के बारह व्रतों का क्रम श्वेताम्बर आगमों से असंगत है तो वह कुन्दकुन्द से भी तो असंगत है। मात्र यही नहीं कुन्दकुन्द में यह असंगति तिहरी है। कुन्दकुन्द ने गुणव्रत और शिक्षाव्रत का भेद माना है जब कि उमास्वाति ने यह भेद नहीं किया है। दूसरे यह कि कुन्दकुन्द दिग्ब्रत और देशव्रत को अलग-अलग नहीं मानते तथा उनका क्रम उमास्वाति से भिन्न है। तीसरे वे संलेखना को बारहवें व्रत के रूप में गिनते हैं, जिसे उमास्वाति श्रावक के व्रतों में वर्गीकृत ही नहीं करते। हमें यह समझ में नहीं आता कि आगम से मात्र क्रमभंग के आधार पर यदि उमास्वाति श्वेताम्बर नहीं है, ऐसा माना जा सकता है, तो कुन्दकुन्द जिसके वे शिष्य माने जाते हैं और जिनके ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की है— जैसा कि दिग्म्बर विद्वानों द्वारा माना जाता है, तो उनसे तत्त्वार्थसूत्र की इतनी असंगति क्यों है?

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रावक के व्रतों का अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों में विभाजन एवं उनके नाम और क्रम को लेकर न केवल श्वेताम्बर परम्परा में अवान्तर अन्तर पाया जाता है बल्कि दिग्म्बर परम्परा में भी अवान्तर अन्तर पाया जाता है और वह अन्तर श्वेताम्बरों की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण और सैद्धान्तिक है। दिग्म्बर परम्परा में श्रावक के व्रतों को लेकर आचार्यों में परस्पर मतभेद है। अमृतचन्द्र पुरुषार्थ सिद्धयुपाय^१ में, सोमदेव उपासकाध्ययन^२ में, अमितगति श्रावकाचार

सामाहयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।

तद्वयं च अतिहिपुञ्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥

—चारित्रपाहुड (परमश्रुतप्रभावक मण्डल अगास) २३-२६

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय ४०—१७६ (ज्ञातव्य है कि अमृतचन्द्र तत्त्वार्थसूत्र के क्रम का पूर्णतः अनुसरण करते हैं और गुणव्रत और शिक्षाव्रत के स्थान पर शील शब्द का प्रयोग करते हैं)

२. अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतं ।

शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्विदशोत्तरे ॥

—उपासकाध्ययन २१९

में, १ पद्मनन्दि पंचविंशतिमें^२ और पं० राजमल्ल ने लाठी संहिता^३ में उमास्वाति का अनुसरण करते हुए पाँच अणुव्रतों और सात शीलों का उल्लेख करते हैं और इस प्रकार कुन्दकुन्द और इन आचार्यों के वर्गीकरण में स्पष्ट अन्तर देखा जाता है। ये सभी आचार्य संलेखना को श्रावक व्रतों में समाहित नहीं करते हैं। जबकि कुन्दकुन्द दिग्ब्रत और देशव्रत को एक मानकर संलेखना को बारह व्रतों में समाहित करते हैं। हरिवंश पुराण में तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण करते हुए दिग्ब्रत और देशव्रत को अलग-अलग माना गया है^४। यही स्थिति आदिपुराण की भी है उसमें भी दिग्ब्रत और देशव्रत अलग-अलग माने गये हैं^५। कार्तिकेयानुप्रेक्षा और

[ज्ञातव्य है कि सोमदेव ने भी उपभोग परिभोग को शिक्षाव्रत में गिना है और उसे ११ वाँ स्थान दिया है। किन्तु अणुव्रतों में वे अचर्य को दूसरा और सत्य को तीसरा अणुव्रत मानते हैं देखें—उपासकाध्ययन ७/२९९-४२४]

१. अणुगुणशिक्षाद्यानि व्रतानि गृहमेधिनां निगद्यन्ते ।

पंचत्रि चतुः संख्यासहितानि द्वादश प्राप्तैः ॥

—अमितगति श्रावकाचार ६/२

[ज्ञातव्य है कि अमितगति नाम एवं क्रम में पूर्णतः उमास्वाति का अनुसरण करते हैं उन्होंने भी दिक् और देश व्रत को गुणव्रत और उपभोग-परिभोग को शिक्षाव्रत माना है देखें—अमितगति श्रावकाचार ७६-९५]

२. पद्मनन्दि-पञ्चविंशति : (जैन संस्कृति रक्षक संघ, शोलापुर) ६/२४

[इसकी हिन्दी व्याख्या में श्वेताम्बर मान्य उपासकदशा के अनुरूप दिग्ब्रत, अनर्थ दण्ड और भोगापभोग परिमाण को गुणव्रत में और देशावकाशिक (देशव्रत) को शिक्षाव्रत में माना है—यद्यपि यहाँ अनर्थदण्ड का क्रम ७ वाँ है जबकि उसमें आठवाँ है ।]

३. दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिः स्याद्गुणव्रतम्—६/१०९-११० साथ ही देखें ६/१५१ के नीचे उद्धृत सूत्र, (पृ० ११३) । ज्ञातव्य है पं० राजमल्ल ने व्रत विवेचन में उमास्वाति का अनुसरण किया है ।

४. देखें—हरिवंश पुराण, जिनसेन (प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ) ५८/१३६-१८३

५. स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३३०-३६८—[ज्ञातव्य है कि इसमें अनर्थदण्ड को दूसरा और भोगापभोग परिमाणव्रत को तीसरा गुणव्रत कहा गया है । साथ ही शिक्षाव्रतों में सामयिक को प्रथम, प्रोषधोपवास को द्वितीय, अतिथि

सागारधर्मामृत^१ भी आदिपुराण और हरिवंशपुराण का ही अनुसरण करते हैं। इस प्रकार ये सभी कुन्दकुन्द से भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार में यद्यपि अन्य नाम तो उमास्वाति के अनुसार ही पाये जाते हैं। किन्तु अतिथिसंविभाग के स्थान पर वैयावृत्य का उल्लेख है।^२ यहाँ भी जो गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का विभाजन है तथा जो क्रम है, वह भगवतीआराधना उपासकदशा एवं औपपातिक से भिन्न है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दिगम्बर परम्परा में श्रावक के द्वादश व्रतों के नाम और क्रम को लेकर एक नहीं, तीन परम्परा पायी जाती है और पुनः ये तीनों परम्परायें भी पूर्णतः तत्त्वार्थ का अनुसरण नहीं करती हैं। कहीं नाम का तो कहीं क्रम का अन्तर है।

जब नामों में समानता होते हुए भी मात्र क्रमभंग के आधार पर तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बर आगमों से असंगत माना जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर परम्परा का ग्रंथ नहीं है तो फिर दिगम्बर परम्परा के श्रावक व्रतों के वर्गीकरण की उपलब्ध तीनों परम्पराओं से कहीं नाम और कहीं क्रम की दृष्टि से भेद होते हुए भी तत्त्वार्थसूत्र उस परम्परा का कैसे माना जा सकता है? दूसरों की असंगतियों को उजागर करके अपनी असंगतियों को न देखना कहीं का न्याय है? क्रम भेद के जिस तर्क के आधार पर तत्त्वार्थ श्वेताम्बर परम्परा का नहीं माना जा सकता, उसी तर्क के आधार पर वह दिगम्बर परम्परा का भी सिद्ध नहीं होता है।

संविभाग को तृतीय और देशावकाशिक को सबसे अन्त में चतुर्थ स्थान दिया गया है।

१. देखें—सागारधर्मामृत ५/१-२३ तथा ५/२४-५५

ज्ञातव्य है कि पं० आशाधरजी के श्रावक व्रत विवेचन में उमास्वाति के स्थान पर श्वेताम्बरमान्य औपपातिक सूत्र का अनुसरण देखा जाता है फिर भी आन्तरिक क्रम में भिन्नता है। इसमें अनर्थदण्ड को दूसरा गुणव्रत और भोगोपभोग परिमाण को तीसरा गुणव्रत कहा गया है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में अनर्थदण्ड को तीसरा और भोगोपभोग परिमाण को दूसरा गुणव्रत माना गया है। शिक्षाव्रतों में भी इसमें देशावकाशिक को प्रथम स्थान दिया गया है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में सामायिक को प्रथम स्थान दिया गया है।

२. देखें—रत्नकरण्ड श्रावकाचार (समन्तभद्र) ५१-१२१

३. भगवती आराधना (सं० पं० कैलाशचन्द्रजी, जैन संस्कृति रक्षक संघ शोला-पुर) २०७३-२०७५

पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तार^१ ने तत्त्वार्थसूत्र की श्वेताम्बर आगमिक परम्परा से भिन्नता सिद्ध करते हुए यह भी बताया है कि “तत्त्वार्थभाष्य में नामकर्म की प्रकृतियों की चर्चा करते हुए पाँच पर्याप्तियों का उल्लेख हुआ है। यथा—पर्याप्तिः पंचविधा तद्यथा—आहारपर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोश्वासपर्याप्ति और भाषापर्याप्ति।^२ यह सुस्पष्ट है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में छह पर्याप्तियाँ मानी जाती हैं, जबकि भाष्य में पाँच पर्याप्तियों का उल्लेख है अतः भाष्य का उक्त कथन श्वेताम्बर आगम के अनुकूल नहीं है।” सिद्ध-सेनगणि ने तत्त्वार्थभाष्य की टीका में इस असंगति को उठाया है, वे लिखते हैं कि परमआर्षवचन में अर्थात् आगम में तो षट् पर्याप्तियाँ प्रसिद्ध हैं। फिर यह पर्याप्तियों की पाँच संख्या कैसी? इस शंका का निवारण करते हुए उन्होंने स्वयं यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन्द्रिय पर्याप्ति में मनः पर्याप्ति का ग्रहण समझ लेना चाहिए, वस्तुतः पाँच और छः पर्याप्तियों का यह प्रश्न सैद्धान्तिक नहीं।^३ आगमों में एक तथ्य को अनेक अपेक्षाओं से अनेक प्रकार से व्याख्यायित किया जाता है। जैसे संज्ञा का वर्गीकरण चार संज्ञा के रूप में भी मिश्रता है और दस संज्ञा के रूप में भी। यदि हम व्यापक दृष्टि से विचार करें तो मन भी इन्द्रिय वर्ग से भिन्न नहीं है, उसे नो-इन्द्रिय कहा गया है। अतः भाष्य में मनः-पर्याप्ति का अलग से उल्लेख नहीं होने का अर्थ यह नहीं है कि कोई आगम से भिन्न मत प्रस्तुत कर रहा है। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तत्त्वार्थ मूल और उसके भाष्य दोनों की शैली सूत्र शैली है और सूत्र शैली में अनावश्यक विस्तार से बचना होता है। पुनः प्राचीन परम्परा में मन का ग्रहण इन्द्रिय के अन्तर्गत होता था। अन्य दर्शनों में मन को इन्द्रिय माना ही गया है।^४ तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की रचना पर अन्य परम्परा के सूत्र ग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव है। सम्भवतः उमास्वाति ने अन्य परम्पराओं के प्रभाव और संक्षिप्तता की दृष्टि से

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, पृ० १४२

२. पर्याप्तिः पंचविधा । तद्यथा—आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिरिति ।” —तत्त्वार्थभाष्य ८/१२

३. “ननु च षट् पर्याप्तयः परमार्षवचनप्रसिद्धाः कथं पंचसंख्याका? इति ।”

४. “इन्द्रियपर्याप्तिग्रहणादिह मनःपर्याप्तेरपि ग्रहणमवसेयम् ।”

—तत्त्वार्थविगम भाष्य टीका ८/१२ (भाग २, पृ० १५९-१६०)

यह शैली अपनाई है। यह बात हम पूर्व में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि उमास्वाति के काल में न तो साम्प्रदायिक मान्यताएँ ही पूर्णतः स्थिर हो पाई थीं और न आगमिक मान्यताओं में एकरूपता ही थी। अतः ऐसे सामान्य मतभेद बहुत अधिक महत्त्व नहीं रखते हैं। पुनः पर्याप्तियों की संख्या पाँच मानने से यह तो सिद्ध नहीं होता है कि तत्त्वार्थभाष्य और उसके कर्ता दिगम्बर हैं। क्योंकि दिगम्बर भी तो छः पर्याप्त मानते हैं, हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि उमास्वाति के सामने जो आगम रहे हैं वे बलभी में सम्पादित आगम नहीं है, उनके समक्ष बलभी के सम्पादन और संकलन के पूर्व के आगम थे। अतः ऐसे मतभेद स्वाभाविक है, क्योंकि जैन दर्शन में मान्यता सम्बन्धी स्थिरीकरण ५वीं-६वीं शती में हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य का श्वेताम्बर और उसके मान्य आगमों से अन्तर स्पष्ट करते हुए पं० जुगल किशोर जी मुख्तार लिखते हैं कि तत्त्वार्थ के नवें अध्याय में जो दशधर्म विषमक सूत्र हैं, उसके भाष्य में भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का निर्देश है। इन भिक्षु की बारह प्रतिमाओं में सात प्रतिमाएँ क्रमशः एक मास से लेकर सात मास तक की है। तीन प्रतिमाएँ क्रमशः सात रात्रिकी और चौदह रात्रिकी और इक्कीस रात्रिकी हैं। शेष दो प्रतिमाएँ क्रमशः अहोरात्रिकी और एकरात्रिकी है।^१ सिद्धसेनगणि के इस भाष्य की टीका लिखते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा है कि आगम के अनुसार तो तीन प्रतिमाएँ सप्तरात्रिकी मानी गई हैं। चतुर्दशरात्रिकी और एकविंशति रात्रिकी प्रतिमाएँ आगम के अनुसार नहीं हैं। इस सन्दर्भ में उनका स्पष्ट कथन है कि यह भाष्य आगम के अनुकूल नहीं है, यह प्रमत्त गीत है। उमास्वाति तो पूर्वो के ज्ञाता थे। वे आगमों से असंगत वचन किस प्रकार लिख सकते थे। सम्भवतः आगम-सूत्र की अनभिज्ञता से उत्पन्न हुई भ्रांति के कारण किसी ने इस वचन की रचना की है।^२ सिद्धसेनगणि ने यह भ्रान्ति कैसे हुई इसका भी उल्लेख

१. "तथा द्वादशभिक्षु-प्रतिमाः मासिक्यादयः आसप्तमासिक्यः सप्त, सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिष्वः अहोरात्रिकी एकरात्रिकी चेति ।"

—तत्त्वार्थधिगमसूत्र भाष्य टीका (सिद्धसेनगणि) ९।६।७ भाग २ पृ० २०५

२. "सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिष्व इति नेदं परमार्थवचनानुसारिभाष्यः, किं तर्हि ? प्रमत्तगीतमेतत् । वाचकोहि पूर्ववित् कथमेवं विषमार्थविसंवादि निबध्नीयात् ? सूत्रानवबोधानुपजातभ्रान्तिना केनापि रचितमेतद्वचनकम् । दोष्वा सञ्चाराद्दिव्या तस्या सत्तराद्दिव्या—द्वितीया सप्तरात्रिकी तृतीयाः

किया है और बताया है कि आगम के प्राकृत वचन के सम्यक् अर्थ को नहीं समझने के कारण ही यह भ्रान्ति हो गई है।^१

यदि हम यह भी मान ले कि भाष्य का यह अंश प्रक्षिप्त न होकर मौलिक ही है, तो भी इससे उनके सम्प्रदाय के निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिलती है। क्योंकि भाष्यगत यह मान्यता श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय किसी के पक्ष में नहीं जाती है। इससे इतना ही ज्ञात होता है कि उमास्वाति की कुछ मान्यताएँ इन तीनों परम्पराओं से पृथक् थी। इसका तात्पर्य यह भी है कि वे इन साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्थिरो-करण के पूर्व हुए हैं।

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने तत्त्वार्थ भाष्य की श्वेताम्बर मान्य आगमों से असंगति दिखाते हुए यह भी लिखा है कि “नवें अध्याय के अन्तिम सूत्र में पुलाक, बकुश आदि निग्रन्थों के न्यूनतम और अधिकतम श्रुतज्ञान सम्बन्धी जो मान्यताएँ हैं वे श्वेताम्बर मान्य आगमों से संगति नहीं रखती हैं। जहाँ तक जघन्य श्रुतज्ञान की मान्यता का प्रश्न है वहाँ तक तो भाष्य और श्वेताम्बर मान्य आगमों में संगति है। किन्तु जहाँ उत्कृष्ट श्रुतज्ञान सम्बन्धी मान्यता का प्रश्न है, वहाँ भाष्य और श्वेताम्बर मान्य आगमों में अन्तर है। उदाहरण के लिए पुलाक मुनियों का उत्कृष्ट श्रुतज्ञान आगम में नवपूर्व तक बताया गया है जबकि भाष्य में अभिन्न अक्षर दस पूर्व अर्थात् पूर्ण दस पूर्व बताया गया है। इसी प्रकार बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनियों का श्रुतज्ञान आगम में चौदह पूर्व तक बताया गया है, जबकि भाष्य उनके उत्कृष्ट श्रुतज्ञान को दस पूर्व से अधिक नहीं मानता है। इस प्रकार भाष्य और आगमिक मान्यताओं में अन्तर है।”^२ सिद्धसेन गणि ने इस अन्तर का उल्लेख तो किया है^३ किन्तु उन्होंने आगम से इसकी संगति बिठाने का प्रयत्न नहीं किया, मात्र इतना ही कहकर इस विषय को छोड़ दिया है कि आगम में अन्यथा व्यवस्था है।

सप्तरात्रिकीति सूत्रनिर्भेदः । द्वे सप्तरात्रे त्रीणीति सप्तरात्राणीति सूत्रनिर्भेदं कृत्वा पठितमज्ञेन सप्यचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्र इति ।

—वही: ९।६।७ भाग २ पृ० २०६

१. वही ९।६।७ पृ० २०६ (अन्तिम दो पंक्तियाँ)

२. देखें—जैनसाहित्य और इतिहास पर विवाद प्रकाश, ले० पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, पृ० १४४-१५५

३. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य टीका (सिद्धसेनगणि) भाग २, ९/६१/८ पृ० २०६

इस सन्दर्भ में हम पूर्व में ही संकेत कर चुके हैं कि उमास्वाति के काल तक अनेक मान्यताएँ स्थिर नहीं हो पाई थीं। आचार्यों में इन मान्यताओं को लेकर परस्पर मतवैभिन्य था। साथ ही यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि सिद्धसेन गणि जिन आगमों का सन्दर्भ दे रहे हैं वे बलभी वाचना के आगम हैं और यह स्पष्ट है कि यह वाचना उमास्वाति के बाद हुई है। उमास्वाति का मत यदि किसी वाचना विशेष से मतभेद रखता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे आगम विरोधी थे। जैसा हम संकेत कर चुके हैं कि जिन्हें दिगम्बर परम्परा अपने आगम मान रही है ऐसे प्राचीन शौरसेनी के आगम-तुल्य ग्रन्थ कसायपाहुड़ और षट्खण्डागम में भी परस्पर मतवैभिन्य हैं। कर्मप्रकृतियों के क्षय के प्रश्न को लेकर कसायपाहुड़ की चूलिका और षट्खण्डागम के 'सत्प्ररूपणा' द्वार के मत भिन्न-भिन्न हैं^१। फिर तो इन्हें भी भिन्न परम्परा का मानना होगा। षट्खण्डागम में स्वयं आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ति के मन्तव्यों की भिन्नता का उल्लेख आया है और उसमें आर्य मंक्षु की मान्यता को अपर्यवसित या अमान्य कहा गया है^२। ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दूसरी और तीसरी शताब्दियों में आचार, तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और कर्म सम्बन्धी अवधारणाओं को लेकर जैनआचार्यों में परस्पर मतभेद थे। क्योंकि उस युग में न तो साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण हुआ था और न मान्यताओं का स्थिरीकरण। यदि श्वेताम्बर आगमों से मान्यता भेद के कारण—उमास्वाति श्वेताम्बर नहीं हैं—यह कहा जा सकता है तो पुण्य-प्रकृति अथवा जिन के परिषद्वादि की भिन्नता को लेकर यह भी कहा जा सकता है वे दिगम्बर भी नहीं हैं। जो तर्क आदरणीय मुस्तार जी उमास्वाति के श्वेताम्बर होने के विरोध में देते हैं, वे ही तर्क समान रूप से उमास्वाति के दिगम्बर होने के विरोध में भी लागू होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि तर्क का जो चाकू

१. दोनों के मान्यता भेद के सम्बन्ध में देखें—षट्खण्डागम परिशीलन—पं० बालचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपोठ पृ० १४८-१४९
२. इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा के लिये देखें—
 - (अ) कसायपाहुड़मुत्त—सं० पं० हीरालाल जैन, प्रकाशक वीर शासन संघ कलकत्ता १९५५ प्रस्तावना पृ० २४-२५
 - (ब) षट्खण्डागम परिशीलन—पं० बालचन्द्र शास्त्री पृ० ६४६-६४८
 - (स) षट्खण्डागम घवलाटीका पुस्तक १६ पृ० ५७८

दूसरे का गला काट सकता है, वह अपना भी गला काट सकता है। अतः ऐसे तर्कों के सम्बन्धों में हमें बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है।

डा० कोठिया ने तत्त्वार्थसूत्र को दिगम्बर परम्परा का सिद्ध करने के लिए जो तर्क उपस्थित किये हैं, वे ही तर्क पं० कैलाशचन्दजी ने जैन साहित्य का इतिहास भाग—२ (पृ० २२८ से २७२) में भी विस्तार से प्रस्तुत किये हैं। पं० जुगलकिशोर जो आदि दिगम्बर परम्परा के अनेक अन्य विद्वानों ने भी उन्हीं मुद्दों को छुआ है। हम उन सब की चर्चा पुनः यहाँ नहीं करेंगे। उन्होंने जो नये मुद्दे उठाये हैं उनमें एक परिषद्‌ओं की चर्चा में नाग्न्य शब्द का प्रयोग है। जिसका संकेत पं० फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री ने सर्वार्थसिद्धि की भूमिका में भी किया है। तत्त्वार्थसूत्र में परोपहोनों में अचेल के स्थान पर नाग्न्य शब्द के प्रयोग को देखकर डॉ० कोठिया ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जब श्वेताम्बर परम्परा ने अचेल शब्द का अर्थ अल्पचेल के रूप में भ्रष्ट कर दिया, तो उस परम्परा से अपने को पृथक् करने के लिए सूत्रकार ने अचेल के स्थान पर 'नाग्न्य' शब्द प्रयोग किया। सर्वप्रथम तो हम पण्डित जी से यह जानना चाहेंगे कि श्वेताम्बर परम्परा में अचेल शब्द का अल्पचेल अर्थ कब प्रचलित हुआ? तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पहले या बाद में? श्वेताम्बर परम्परा के मान्य आगमों में तो अचेल का अर्थ अल्पचेल होता है, ऐसा कहीं लिखा नहीं है, नियुक्तियाँ भी इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं करती हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेख चूर्णियों एवं टीकाओं में मिलता है और जैसा कि दोनों परम्परा के विद्वान् मानते हैं, चूर्णियाँ एवं टीकाएँ तो ७ वीं शती या उसके भी बाद रची गयी हैं, फिर तीसरी या चौथी शती में हुए उमास्वाति को यह कैसे ज्ञात हो गया कि अचेल का अर्थ श्वेताम्बर आचार्य अल्पचेल करते हैं। क्या वे सर्वज्ञ थे? या वे श्वेताम्बर परम्परा के उद्भव के बाद हुए हैं? सम्भवतः डॉ० कोठिया यह मान बैठे हैं कि 'नाग्न्य' शब्द का प्रयोग मात्र दिगम्बर आचार्यों ने अपनी परम्परा को पृथक् सूचित करने के लिए किया है। लगता है कि आदरणीय डॉ० सा० ने उन आगमों को देखा ही नहीं है। आगमों में नग्न के प्राकृत रूप नग्न या नगिन के अनेक प्रयोग देखे जा सकते हैं। (देखिए—उत्तरा० २०/४१; भगवती १/९/७७; सूत्रकृतांग ७/१४; आचा० १/९/६) डॉ० कोठियाजी ने आगमों में अचेल शब्द को देखा, किन्तु नग्न की ओर ध्यान नहीं दिया। आगमों में अचेल और नग्न दोनों ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ई० सन् की दूसरी शती तक श्वेताम्बरों

के पूर्वाचार्य वस्त्र या कम्बल रखते हुए भी प्रायः नग्न ही रहते थे, जो उनके मथुरा के अंकनों से सिद्ध है।

इसी प्रकार डॉ० कोठिया ने बताया है कि बारह तप के प्रकार में जहाँ उत्तराध्ययन एवं व्याख्याप्रज्ञप्ति में 'संलीनता' है वहाँ तत्त्वार्थ में विविक्त शय्यासन है। अतः तत्त्वार्थ का कर्ता श्वेताम्बर परम्परा का नहीं हो सकता है।^१

यहाँ भी प्रतीत यही होता है कि आदरणीय डॉ० सा० ने उत्तराध्ययन की जो गाथाएँ कहीं से लेकर यहाँ उद्धृत की हैं, उनके अतिरिक्त उत्तराध्ययन को देखा ही नहीं है। उत्तराध्ययन के तीसवें अध्याय की २८वीं गाथा में संलीनता की व्याख्या करते हुए "विविक्तसयणासनं" शब्द का स्पष्ट प्रयोग हुआ है, जो तत्त्वार्थसूत्र के तप के वर्गीकरण के अनुरूप ही है तथा हरिभद्रसूरि ने संलीनता के स्पष्टीकरण में विविक्तचर्या का उल्लेख किया है। उनके ग्रन्थ की भेरी समीक्षा के प्रत्युत्तर में आ० कोठियाजी ने विविक्तचर्या में और विविक्त-शय्यासन में भी अन्तर मान लिया है^२। चर्या का अर्थ चलना और शय्यासन का अर्थ सोना-बैठना करके वे इनमें अन्तर करते हैं, किन्तु चर्या का अर्थ सदैव ही चलना नहीं होता है, व्रतचर्या, तपश्चर्या आदि में चर्या का अर्थ चलना न होकर अभ्यास या साधना है। यदि चर्या का अर्थ अभ्यास और साधना भी है तो दोनों ही शब्दों का अर्थ एकान्त स्थल में साधना करना होगा। यदि चर्या और शय्यासन का अर्थ अलग-अलग मान भी ले, तो भी मूल-प्रश्न तो विविक्त 'शय्यासन' का ही है। जब तत्त्वार्थसूत्र (१।१९) में और उत्तराध्ययन (३०।२८) में—दोनों में बाह्य तप में विविक्त शय्यासन शब्द का स्पष्ट उल्लेख है तो फिर दोनों में परम्परा भेद का प्रश्न ही नहीं उठता है। तत्त्वार्थसूत्रकार को उत्तराध्ययन की परम्परा का अनुसरण करने वाला ही मानना होगा। स्पष्ट सत्य को स्वीकार न करके शब्दों के वाक् जाल में उलझाना और यह कहना कि विविक्त शय्यासन श्वेताम्बर श्रुत में नहीं है—क्या यह श्वेताम्बर आगमों के अज्ञान का परिचायक नहीं।

१. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन—डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया, पृ० ८३

२. जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसा—डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया, प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट १९८३, पृ० २७१

बहो, पृ० २७३-२७४

है। उत्तराध्ययन (३०/२८) में विविक्त शय्यासन है—इसे पं० कोठिया जी क्यों नहीं स्वीकार करते हैं ?

आदरणीय डॉ० कोठिया जी ने अपने लेख के अन्त में तत्त्वार्थ को दिगम्बर परम्परा का सिद्ध करने के लिए दो और नवीन प्रमाण दिये हैं, वे हैं—स्त्री परीषह और दंशमशक परीषह। उनका कहना है कि “तत्त्वार्थसूत्र (९,१९) में २२ परीषहों के अन्तर्गत एक स्त्री परीषह है, जिससे प्रकट है कि यह ग्रन्थ उस परम्परा का है, जो मात्र पुरुष की मुक्ति स्वीकार करती है और स्त्री को उसके मोक्ष में बाधक मानती है। वह परम्परा है, दिगम्बर। श्वेताम्बर परम्परा स्त्री और पुरुष दोनों की मुक्ति स्वीकार करती है, अतः उसके अनुसार तो स्त्री परीषह के साथ-साथ पुरुष परीषह भी कहा जाना चाहिए, क्योंकि पुरुष भी स्त्री की मुक्ति में बाधक है, पर तत्त्वार्थसूत्रकार ने उसे नहीं कहा। उन्होंने मात्र स्त्री परीषह का ही कथन किया है।”

इसी प्रकार अन्य २२ परीषहों में ‘दंशमशक’ परीषह परिगणित है। उससे जाना जाता है कि यह ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा का है, क्योंकि उसके साधु पूर्ण दिगम्बर होते हैं और दंशमशक परीषह की बाधा उन्हीं को होती है, श्वेताम्बर सवस्र साधु को नहीं।^१

किन्तु हम अत्यन्त विनम्रता से पूछना चाहेंगे कि परीषह को यह व्याख्या उन्होंने कहाँ से निकाल ली कि परीषह वह है, जो मुक्ति में बाधक है। परीषह का अर्थ है, वे कष्ट जो अनायास सहन करने पड़ते हैं। पुनः जो ग्रन्थ इन दो परीषहों का उल्लेख करता हो, वह दिगम्बर परम्परा का होगा, यह कहना भी उचित नहीं है। फिर तो उन्हें सभी श्वेताम्बर आचार्यों एवं उनके ग्रन्थों को दिगम्बर परम्परा का मान लेना होगा, क्योंकि उक्त दोनों परीषहों का उल्लेख तो प्रायः सभी श्वेताम्बर आचार्यों ने एवं श्वेताम्बर आगमों में किया गया है और किसी श्वेताम्बर ग्रन्थ में भी पुरुष परीषह का उल्लेख नहीं है। पं० कोठिया जी जैसे प्रौढ़ विद्वान् से हम इतने अपरिपक्व तर्क की अपेक्षा नहीं करते हैं।

पुनः यह भारतीय संस्कृति का सर्वमान्य तथ्य है कि गारे उपदेश ग्रन्थ एवं नियम ग्रन्थ पुरुष को प्रधान करके ही लिखे गये हैं किन्तु इससे स्त्री की उपेक्षा या अयोग्यता सिद्ध नहीं होती है। समन्तभद्र आदि दिगम्बर आचार्यों ने ‘श्रावकाचार’ लिखे हैं तथा चतुर्थ अणुव्रत को

१. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन—डॉ० दरबारीलाल जो कोठिया ।

‘स्वदारसंतोषव्रत’ कहा है एवं उस सम्बन्ध में सारे उपदेश एवं नियम पुरुष को लक्ष्य करके ही कहे, तो इससे क्या यह मान लिया जाये कि उन्हें स्त्री का व्रतधारी श्राविका होना भी स्वीकार्य नहीं है।

पुनः क्या दंशमशक परोषह दिगम्बर मुनि को ही होता था और मात्र लोकलज्जा के लिए अल्पवस्त्र रखने वाले प्राचीनकाल के श्वेताम्बर मुनियों को नहीं होता था ? क्या स्वयं पण्डित जी को या किसी गृहस्थ को यह कष्ट नहीं होता है, कम या अधिक का प्रश्न हो सकता है किन्तु यह परोषह तो सभी को होता है। फिर उत्तराध्ययन आदि अनेक श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इस परोषह का उल्लेख है। यदि दंशमशक परोषह का उल्लेख होना ही ग्रन्थ के दिगम्बर परम्परा का होने का प्रमाण है तो फिर डॉ० कोठिया जी को ऐसे सभी ग्रन्थों को दिगम्बर परम्परा का मान लेना चाहिए। यदि दिगम्बर मुनि को आहार करते हुए क्षुधा परोषह हो सकता है, तो श्वेताम्बर मुनि को वस्त्र रखते हुए अचेल परोषह क्यों नहीं हो सकता है ? परोषह वह है जो कभी समय आने पर होता है। तप का नियम लेकर क्षुधा-वेदनीय को सहता तप है, जबकि भोजन की इच्छा होते हुए भी आहार प्राप्ति न होने से क्षुधा सहन करना क्षुधा परोषह है। पुनः आज भी बिहार जैसे प्रान्त में क्या सबस्त्र गृहस्थ इस परोषह (कष्ट) से पीड़ित नहीं होते हैं। कपड़े होने पर भी श्वेताम्बर साधु का सम्पूर्ण शरीर तो वस्त्र से ढका हुआ नहीं होता है अतः दंशमशक परोषह तो सचेल और अचेल दोनों को ही होता है।

क्या तत्त्वार्थभाष्य का श्वे० परम्परा से विरोध है ?

इसी प्रकार पं० कैलाशचन्द्र जी^१, पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार^२, पं० फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री^३, पं० दरबारीलालजी कोठिया^४ आदि विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य का श्वेताम्बर मान्य आगमों में पाँच-छः

१. जैनसाहित्य का इतिहास भाग २, पं० कैलाशचन्द्र जी, वर्णी संस्थान वाराणसी पृ० २६४-२६८
२. जैनसाहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश, पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार पृ० १३२-१४७
३. तत्त्वार्थसिद्धि-सम्पादक पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, प्रस्तावना, पृ० ६५-६८
४. (अ) जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, डॉ० दरबारीलाल कोठिया
(ब) जैन तत्त्व ज्ञानमीमांसा-डॉ० दरबारीलाल कोठिया पृ० १६९-२७५

स्थलों पर अन्तर दिखाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि तत्त्वार्थ-सूत्र एवं तत्त्वार्थभाष्य का कर्ता श्वेताम्बर परम्परा का नहीं है। किन्तु प्रथम तो भाष्य एवं आगम में जहाँ विरोध है। उसकी चर्चा इन्हीं विद्वानों ने की हो ऐसा नहीं है। उसकी चर्चा तो तत्त्वार्थभाष्य के वृत्तिकार श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेन गणि ने भी की हैं और जहाँ-जहाँ उन्हें भाष्यकार की मान्यताओं का आगम से विरोध परिलक्षित हुआ वहाँ-वहाँ स्पष्ट निर्देश भी किया^१। किन्तु आगमिक मान्यताओं से इस अन्तर के आधार पर तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के कर्ता उमास्वाति आगमिक परम्परा से भिन्न अन्य परम्परा के थे—यह सिद्ध नहीं हो जाता।

सबसे पहले तो हमें यह स्मरण रखना होगा कि जिस समय उमास्वाति ने तत्त्वार्थ मूल और भाष्य की रचना की उस समय तक वलभी वाचना हो ही नहीं पायो थी। जब उमास्वाति वलभी वाचना के पूर्व हुए हैं, तो वलभी वाचना के संकलन में उनकी मान्यताओं से कुछ मतभेद हो गया हो, यह अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि उमास्वाति के सामने कोई अन्य आगम थे। वलभी आगमों के संकलन होने के पूर्व विभिन्न गणों, शाखाओं एवं कुलों के जैन आचार्यों में मान्यता विषयक कितने ही मतभेद अस्तित्व में थे। आगमों में भी उनमें से कितनों का संकलन हो पाया है और कितनों का नहीं भी हो पाया है। अतः ४-६ प्रश्नों पर आगमिक मान्यताओं और उमास्वाति की मान्यताओं में मतभेद दिखाने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उमास्वाति किसी भिन्न परम्परा के थे। ऐसा मतभेद न केवल श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में है, अपितु दिगम्बर परम्परा जिन यापनीय ग्रन्थों को अपना आगम मान रही है, उनमें भी है। उदाहरण के रूप में कसायपाहुड की क्षपणा अधिकार की चूलिका का मन्तव्य और षट्खण्डागम के सत्कर्मप्राभृत की मान्यताओं में भी ऐसा मतभेद पाया जाता है। स्वयं धवला टीकाकार यह कहता है कि—“दोनों प्रकार के वचनों में किसका वचन सत्य है, यह तो श्रुतकेवली या केवली ही जानते हैं, अन्य कोई नहीं। अतः यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि कसायपाहुड और षट्खण्डागम में किसका वचन सत्य है। वर्त-

१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य-टीका-सिद्धसेनगणि ७/१६, ८/१२ ९/६, ९/४८-४९ (तत्त्वार्थसूत्र इन सभी के भाष्य की टीका में सिद्धसेन गणि ने आगम से भिन्नता का स्पष्ट उल्लेख किया है)

मान काल के वज्रभीरु आचार्यों को तो दोनों का ही संग्रह करना चाहिए।^१ यह बात स्पष्ट रूप से इस तथ्य की सूचक है कि जैनधर्म और दर्शन संबंधी कितने ही प्रश्नों पर दूसरी-तीसरी शताब्दी में आचार्यों में मतभेद था। यदि कसायपाहुड और षट्खण्डागम में मतभेद के होते हुए भी वे एक ही परम्परा के ग्रन्थ माने जा सकते हैं तो फिर किंचित् मतभेदों की उपस्थिति में उमास्वाति को आगमिक परम्परा का मानने में क्या आपत्ति है? या तो दिगम्बर विद्वान् यह स्वीकार करें कि षट्खण्डागम और कसायपाहुड दो भिन्न-भिन्न परम्पराओं के ग्रन्थ हैं या फिर यह मानें कि उमास्वाति भी मतभेदों के बावजूद उसी उत्तर भारत की आगमिक निर्ग्रन्थ परम्परा के आचार्य हैं, जिनसे श्वेताम्बरों और यापनीयों का विकास हुआ है और जो स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, अन्यतैथिकमुक्ति, केवलीभुक्ति आदि की समर्थक रही। यदि यह तर्क दिया जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र का श्वेताम्बर मान्य आगमों से विरोध है, अतः वह श्वेताम्बर नहीं है, तो इसी प्रकार का दूसरा तर्क होगा, चूँकि तत्त्वार्थसूत्र का दिगम्बर परम्परा की मान्यता से विरोध है, अतः वह दिगम्बर भी नहीं है। श्वेताम्बर और दिगम्बर नहीं होने पर क्या वह यापनीय है? किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के रचना काल तक यापनीय उत्पन्न ही नहीं हुए थे अतः उसे यापनीय भी नहीं कहा जा सकता है—वस्तुतः वह उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ परम्परा की उच्च नागरी शाखा और वाचक वंश का ग्रन्थ है जो श्वेताम्बर और यापनीय दोनों का पूर्वज है। फिर भी इस बात की भी समीक्षा तो कर ही लेनी होगी कि क्या तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों से भिन्न तीसरी यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है?

क्या तत्त्वार्थ यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है ?

उमास्वाति एवं उनके तत्त्वार्थसूत्र के सम्प्रदाय के प्रश्न को लेकर नाथूराम जो प्रेमी ने भी विस्तृत चर्चा की है। उन्होंने ही सर्वप्रथम उनके यापनीय सम्प्रदाय का होने की सम्भावना प्रकट की है^२। यहाँ हम उन्हीं

१. देखे—(अ) षट्खण्डागम १/१/२७ की धवलाटीका

षट्खण्डागम (धवलाटीका समन्वित) पुस्तक १, पृ० २२२-२२३

(ब) षट्खण्डागम परिशीलन—पं० बालचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ पृ० ७१०

२. जैनसाहित्य और इतिहास—पं० नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ५२२-५४७

के तर्कों की समीक्षा के आधार पर यह निश्चित करने का प्रयास करेंगे कि क्या उमास्वाति वस्तुतः यापनीय परम्परा के थे ?

आदरणीय प्रेमी जी ने उमास्वाति के यापनीय होने की सम्भावना के सन्दर्भ में सर्वप्रथम यह तर्क दिया कि “इवेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय में जो प्राचीन पट्टावलियाँ हैं, उनमें कहीं उमास्वाति का उल्लेख नहीं है। वे लिखते हैं कि “दिगम्बर सम्प्रदाय की जो सबसे प्राचीन आचार्य परंपरा मिलती है वह वीर निर्वाण संवत् ६८३ अर्थात् विक्रम संवत् २१३ तक की है। यह तिलोपपण्णत्ति, महापुराण, हरिवंशपुराण, जंबुद्वीपपण्णत्ति, श्रुता-वतार आदि ग्रन्थों में यह लगभग एक सी है। परन्तु इस परम्परा में उमास्वाति या उनके किसी गुरु का नाम नहीं है।

आदिपुराण और हरिवंशपुराण जो विक्रम की नवीं शताब्दी के ग्रन्थ हैं। इनमें प्रायः सभी प्रसिद्ध ग्रन्थकर्ताओं का स्तुतिपरक स्मरण किया गया है, परन्तु उनमें भी उमास्वाति स्मरण नहीं किये गये और यह असम्भव मालूम होता है कि उमास्वाति जैसे युगप्रवर्तक ग्रन्थकर्ता को वे भूल जाते। आदिपुराण के कर्ता तो उनके साहित्य से भी परिचित थे। क्योंकि उनके गुरु वीरसेन ने अपनी ध्वलाटीका में एक जगह गृद्धपिच्छाचार्य या उमास्वाति के तत्त्वार्थ के एक सूत्र को भी उद्धृत किया है और स्वयं उन्होंने भी जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, उमास्वाति के भाष्यान्त के ३२ पद्य और प्रशमरति प्रकरण का भी एक पद्य अपनी जयध्वला में उद्धृत किया है, वास्तव में वे उन्हें भिन्न सम्प्रदाय का आचार्य जानते होंगे।”^१

पुनः प्रेमी जी लिखते हैं कि “दिगम्बर परम्परा में उमास्वाति का उल्लेख करने वाली जो पट्टावलियाँ और अभिलेख मिलते हैं, वे १२वीं शताब्दी के पूर्व के नहीं हैं। इन पट्टावलियों में नन्दिसंघ की गुर्वावली के अनुसार जिनचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि या कुन्दकुन्द और कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वाति थे। दिगम्बर परम्परा के शक संवत् १०३७ अर्थात् विक्रम संवत् ११७२ (विक्रम की १२वीं शताब्दी) के शिलालेखों में जो पट्टावलियाँ अंकित हैं, उनमें यद्यपि उमास्वाति को दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, किन्तु उनमें कहीं भी एकरूपता नहीं है।”^२ इसी सन्दर्भ में प्रेमी जी का निम्न वक्तव्य भी ध्यान देने योग्य है।

“गुर्वावली, पट्टावली और शिलालेखों आदि के पूर्वोक्त उल्लेख बतलाते

१. जैन साहित्य और इतिहास, पं० नाथूराम जी प्रेमी, पृ० ५३०

२. वही, पृ० ५३१।

हैं कि उनके रचयिताओं को उमास्वाति की गुरु परम्परा का, नाम का और समय का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं था, इसलिए उनमें परस्पर मतभेद और गड़बड़ है। पूर्वोक्त शिलालेखों में कोई भी लेख शक संवत् १०३७ अर्थात् विक्रम संवत् ११७२ से पहले का नहीं है और गुर्वावली, पट्टावली तो शायद उनके भी बहुत बाद में बनी है। जिस समय टीका ग्रन्थों के द्वारा उमास्वाति दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य मान लिये गये और उनको कहीं न कहीं अपनी परम्परा में बिठा देना लाजिमो हो गया, उस समय के बाद की ही उक्त पट्टावलियों, शिलालेखों आदि की सृष्टि है। विभिन्न समयों के लेखकों द्वारा लिखे जाने के कारण उनमें एकवाक्यता भी नहीं रह सकी।^{१२}

दूसरे शब्दों में उमास्वाति का उल्लेख करने वाली दिगम्बर पट्टावलियों की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने उमास्वाति को यापनीय सिद्ध करने हेतु यह भी तर्क दिया है कि जिस तरह दिगम्बर परम्परा की प्राचीन पट्टावलियों में उमास्वाति का नाम नहीं है उसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियों में भी उनका उल्लेख नहीं मिलता है। वे लिखते हैं कि "लगभग यही हालत श्वेताम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियों आदि की भी है। उनमें सबसे प्राचीन कल्पसूत्र स्थविरावली और नन्दिसूत्र स्थविरावलि हैं जो वीर निर्वाण संवत् ९८० अर्थात् विक्रम संवत् ५१० में संकलित की गई थी। उमास्वाति के विषय में इतना तो निश्चित है कि वे वि० सं० ५१० के पहले हो चुके हैं। फिर भी उनमें उमास्वाति का नाम नहीं है। नन्दिसूत्र में वाचनाचार्यों की भी सूची दी हुई है परन्तु उनमें भी उमास्वाति या उनके गुरु शिवश्री, भुण्डपाद, मूल आदि किसी भी वाचक का नाम नहीं है। नन्दिसूत्र की २६वीं गाथा में 'हरिययुत्तं साइंच वन्दे' (हारितगोत्रं स्वाति च वन्दे) पद हैं। चूँकि उमास्वाति के नाम का उत्तरार्ध 'स्वाति' है, इसलिए धर्मसागर जी ने स्वाति को ही उमास्वाति समझ लिया और यह नहीं सोचा कि तत्त्वार्थकर्ता उमास्वाति का गोत्र तो कौभीषणि है और स्वाति का हारीत, इसके सिवाय दोनों के गुरु भी अलग-अलग हैं। पिछले समय की रची हुई, जो अनेक श्वेताम्बर पट्टावलियाँ हैं उनमें अवश्य उमास्वाति का नाम आता है, परन्तु एकवाक्यता का वहाँ भी अभाव है।"^{१३}

‘दुःषमाकालश्रमणसंघस्तोत्र’ (विक्रम की ११वीं सदी) में हरिभद्र और जिनभद्रगणि के बाद उमास्वाति को लिखा है जबकि स्वयं हरिभद्र तत्त्वार्थभाष्य के एक टीकाकार हैं और जिनभद्रगणि ने अपना विशेषा-वश्यक भाष्य वि० सं० ६६० में समाप्त किया है ।

धर्मसागर उपाध्यायकृत तपागच्छपट्टावली (वि० सं० १६४६) में जिनभद्र, विबुधप्रभ, जयानन्द और रविप्रभ के बाद उमास्वाति को युग-प्रधान बतलाया है और उनका समय वीर नि० सं० ७२०, फिर उनके बाद यशोदेव का नाम है । इसके विरुद्ध देवविमल की महावीर-पट्टपरम्परा (वि० सं० १६५६) में रविप्रभ और यशोदेव के बीच उमास्वाति का नाम ही नहीं है और न आगे कहीं है ।

विनयविजयगणि ने अपने लोकप्रकाश (वि० सं० १७०८) में उमास्वाति को ग्यारहवाँ युगप्रधान बतलाया है, जो जिनभद्र के बाद और पुष्यमित्र के पहले हुए ।

रविवर्द्धनगणि (वि० सं० १७३१) ने पट्टावलीसारोद्धार में उमास्वाति को युगप्रधान कहकर उनका समय वीर नि० सं० ११९० लिखा है । उनके बाद वे जिनभद्र को बतलाते हैं, जबकि धर्मघोषसूरि उमास्वाति को जिनभद्र के बाद रखते हैं ।

धर्मसागर ने तो अपनी तपागच्छ पट्टावली (सटीक) में दो उमास्वाति खड़े कर दिये हैं, एक तो विक्रम संवत् ७२० में रविप्रभ के बाद होने वाले, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है और दूसरे आर्य महागिरि के बहुल और बलिस्सह नामक दो शिष्यों में से दूसरे बलिस्सह के शिष्य, जिनका समय वीर नि० ३७६ से कुछ पहले पड़ता है और उन्हें ही तत्त्वार्थादि का कर्ता अनुमान कर लिया है ।

गरज यह कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लेखक भी उमास्वाति की परम्परा और समयदि के सम्बन्ध में अँधेरे में हैं । उन्होंने भी बहुत पीछे उन्हें अपनी परम्परा में कहीं न कहीं बिठाने का प्रयत्न किया है ! ”

अब हम सम्माननीय प्रेमी जी के इन तर्कों की समीक्षा करेंगे और देखेंगे कि उनके तर्कों में कितना बल है । उनका यह कथन सत्य है कि जहाँ प्राचीन श्वेताम्बर और दिगम्बर पट्टावलियाँ उमास्वाति के सन्दर्भ में मौन है वहाँ परवर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर पट्टावलियों में उनका

उल्लेख होते हुए भी उनके सन्दर्भ में इतने मत-वैमिन्य हैं कि किसी निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव है। पं० नाथूराम जी प्रेमी के साथ हमें भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि इन पट्टावलियों के आधार पर उमास्वाति की परम्परा का निर्धारण नहीं किया जा सकता, किन्तु इस आधार पर उनका उमास्वाति को यापनीय मान लेना हमें समुचित प्रतीत नहीं होता है। यदि जिनसेन ने हरिवंशपुराण में सभी प्रमुख ग्रन्थकर्ताओं की स्तुति की, तो फिर उन्होंने उमास्वाति को क्यों छोड़ दिया? क्या मात्र इसीलिए कि वे उनकी परम्परा से भिन्न थे। आश्चर्य तो यह है कि जब जिनसेन अपने से भिन्न परम्परा के सिद्धसेन का उल्लेख कर सकते हैं, तो फिर उमास्वाति का उल्लेख क्यों नहीं कर सकते हैं? यदि हम कुछ समय के लिए यह भी मान लें कि सिद्धसेन यापनीय थे, जैसा कि कुछ विद्वानों ने माना है, तो यह आश्चर्य और अधिक बढ़ जाता है। यदि प्रेमी जी के अनुसार सिद्धसेन और उमास्वाति दोनों ही यापनीय हैं तो फिर जिनसेन ने एक यापनीय आचार्य का तो उल्लेख किया और दूसरे को क्यों छोड़ दिया? पुनः हम पूर्व में यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि जिनसेन का हरिवंशपुराण भी उसी पुन्नाटसंघ का ग्रन्थ है, जो यापनीयों के 'पुन्नागवृक्षमूलगण' से निकला है। अतः उन्हें अपनी पूर्वज परम्परा के किसी आचार्य का उल्लेख करने में क्या आपत्ति हो सकती थी? पुनः जब उसमें वीर निर्वाण सं० ६८३ के पश्चात् के अपनी परम्परा के आचार्यों की एक लम्बी सूची दी गई है, जिसमें अनेक यापनीय आचार्य भी हैं तो उस सूची में उमास्वाति का नाम क्यों नहीं है? एक संभावना यह व्यक्त की जा सकती है कि जिनसेन उमास्वाति को यापनीय एवं दिगम्बर दोनों न मानकर संभवतः श्वेताम्बर मानते होंगे और इसी कारण उनका उल्लेख नहीं किया होगा, किन्तु उन्होंने श्वेताम्बर होने के कारण उमास्वाति का उल्लेख नहीं किया, यह मानने में भी एक कठिनाई यह है कि जब उन्होंने श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य के रूप में ही सुविख्यात सिद्धसेन का स्मरण किया तो फिर उमास्वाति को क्यों छोड़ दिया? हमारी दृष्टि में जिनसेन के द्वारा उमास्वाति का स्मरण नहीं किये जाने का कारण उनका यापनीय होना नहीं हो सकता है।

मेरी दृष्टि में वास्तविकता इससे भिन्न है। यह स्पष्ट है कि महावीर के संघ में भद्रबाहु के पश्चात् गण, कुल और शाखाओं के भेद प्रारम्भ हुए और फिर निर्ग्रन्थ संघ अनेक विभागों और उपविभागों में बँटता ही गया। जो स्थविरावलियाँ और पट्टावलियाँ हमें उपलब्ध हैं वे सभी परम्परा

विशेष के साथ जुड़ी हुई हैं। जब एक समय में अनेक आचार्य हों तो उन सभी का परम्परा विशेष की पट्टावलियों में उल्लेख नहीं होता है। प्रत्येक चर्चा अपनी-अपनी परम्परा के आचार्यों का उल्लेख करता है और दूसरों को छोड़ देता है। पुनः जिस आचार्य की पट्टा परम्परा दीर्घजीवी नहीं होती, वे प्रायः विस्मृत कर दिये जाते हैं। आज अनेक ऐसे गण, कुल और शाखाओं के उल्लेख उपलब्ध हैं, जिनकी आचार्य परम्परा के सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं जानते। उनके ग्रन्थों में उपलब्ध सूचनाओं के अतिरिक्त हम उनके सम्बन्ध में अज्ञान में होते हैं। उच्चनागरी शाखा को आचार्य परम्परा से सम्बन्धित विवरण भी उसी प्रकार लुप्त हो गये जैसे भद्रबाहु से निकले गोदासगण और उसकी कोटिवर्षिया, ताम्रलिप्तिका, षोण्ड्र-वर्धनिका आदि शाखाओं और उनमें हुए आचार्यों के विवरण आज अनुपलब्ध या लुप्त हैं।

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि उमास्वाति जिस उच्चनागरी शाखा में हुए हैं वह शाखा अधिक दीर्घजीवी नहीं रहीं। विक्रम की दूसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी के बीच मात्र कुछ अभिलेखों और साहित्यिक सूचनाओं से ही इसके अस्तित्व का बोध होता है। कल्पसूत्र स्थविरावलि भी इसके संस्थापक शान्तिश्रेणिक के अलावा इस परम्परा के किसी आचार्य का उल्लेख नहीं करती है।

अतः श्वेताम्बर और दिगम्बर प्राचीन स्थविरावलियों में उमास्वाति का उल्लेख न होना केवल इस बात का सूचक है कि उनकी उच्चनागरी शाखा और उसका वाचक वंश अधिक दीर्घजीवी नहीं रहा है और कालक्रम में तत्सम्बन्धी सामग्री लुप्त हो गई। कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों में उमास्वाति का उल्लेख इसलिए नहीं हुआ कि ये स्थविरावलियाँ परवर्तीकाल में मुख्य रूप से कोटिकगण की वज्जी शाखा से सम्बन्धित रही हैं। उसमें आर्य शान्तिश्रेणिक से निकले कोटिकगण की उच्चनागरी शाखा के शान्तिश्रेणिक के आगे की आचार्य परम्परा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, जबकि मथुरा के अभिलेखों में इस शाखा के अन्य आचार्यों के उल्लेख हैं। अतः श्वेताम्बर और दिगम्बर प्राचीन पट्टावलियों में उमास्वाति के उल्लेख का अभाव होने से और परवर्ती पट्टावलियों में उल्लेख होते हुए भी एक वाक्यता का अभाव होने से हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि वे यापनीय परम्परा के थे। जब उन्होंने स्वयं ही अपनी उच्चनागरी शाखा का उल्लेख कर दिया है तो उसमें सन्देह करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उनकी यह उच्चनागरी शाखा न तो श्वेता-

म्बर है और न यापनीय, अपितु दोनों की ही पूर्वज है। अतः उमास्वाति श्वेताम्बर और यापनीय दोनों के पूर्व पुरुष हैं। पुनः उमास्वाति उस काल में हुए हैं जबकि निर्ग्रन्थ संघ में श्वेताम्बर, दिग्म्बर और यापनीय जैसे भेद अस्तित्व में ही नहीं आये थे। अतः परवर्ती काल को इन साम्प्रदायिक पट्टावलियों में उनके सम्बन्ध में एकरूपता नहीं होना स्वाभाविक है। उनके तत्त्वार्थसूत्र को स्वीकृति और उसकी प्रसिद्धि के बाद ही श्वेताम्बर एवं दिग्म्बर दोनों परम्पराओं ने उन्हें अपने पट्टावलियों स्थान देने का प्रयास किया और फलतः उनमें एकरूपता का अभाव रहा।

भाष्य में यापनीयत्व सिद्ध करने के लिए पं० नाथूरामजी प्रेमी ने एक तर्क यह दिया है कि तत्त्वार्थभाष्य में अचौर्य व्रत की जो भावनाएँ उल्लेखित की गई हैं, वे सर्वार्थसिद्धि के अनुसार नहीं हैं, अपितु भगवती आराधना के अनुसार हैं। भगवती आराधना यापनीय ग्रन्थ है, निष्कर्ष रूप में वे कहते हैं कि—‘इससे भी यह मालूम होता है कि भाष्यकार और भगवती आराधना के कर्ता एक ही सम्प्रदाय के हैं।’

इस आधार पर भाष्य को यापनीय मानना आवश्यक नहीं, क्योंकि भाष्य में अचौर्य व्रत की जो भावनाएँ उल्लेखित हैं, वे आचारांग और समवायांग में भी मिलती हैं।^१ वस्तुतः आगम साहित्य से ही ये भावनाएँ भाष्य और भगवती आराधना में गई हैं। अतः यह कथन भाष्य के यापनीयत्व का प्रमाण नहीं है। इससे केवल इतना ही फलित होता है कि भाष्य और भगवती आराधना दोनों में आगमों का अनुसरण हुआ है। इससे भाष्य और उसके कर्ता को आगम की उस परम्परा का अनुसरण कर्ता कहा जा सकता है, जो आगे चलकर यापनीयों में भी उपलब्ध होती है। यापनीय ग्रन्थों से भाष्य की यह समानता मात्र इसी बात की सूचक है कि भाष्यकार यापनीय परम्परा का पूर्वज है न कि वह यापनीय है। महाव्रतों की भावनाओं का यह उल्लेख श्वेताम्बर मान्य आगमों—आचारांग, समवायांग, आचारांगचूर्ण, आवश्यकचूर्ण आदि में मिलता है। शब्द एवं क्रम में कहीं थोड़ा-बहुत अन्तर है किन्तु मूल भावना में कहीं कोई अन्तर नहीं है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तत्त्वार्थ के भाष्यमान्य मूल पाठ में भावनाओं का कोई उल्लेख नहीं है। उसमें केवल इतना ही कहा गया है कि इन महाव्रतों की स्थिरता के लिए पाँच-पाँच भावनाएँ कही गयी हैं। लेकिन सर्वार्थसिद्धि और भगवती आराधना

१. जैनसाहित्य और इतिहास—पं० नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ५३५

का यह अन्तर उनकी परम्परा भिन्नता का सूचक है। सर्वार्थसिद्धिकार के लिए भावनाओं को मूलपाठ के अन्तर्गत रखना इसलिए भी आवश्यक था कि उसके पास आगम या आगमतुल्य कोई ग्रन्थ नहीं था। यही कारण है कि उसने उसे मूलपाठ में सम्मिलित किया। इससेसर्वार्थसिद्धि के मूलपाठ के विकसित होने की और भाष्यमान्य पाठ से परवर्ती होने की सूचना भी मिल जाती है। सर्वार्थसिद्धि में पाँचों महाव्रतों की जिन भावनाओं का विवेचन है वे आगमों से आंशिक ही समानता रखती हैं। जबकि तत्त्वार्थ-भाष्य को विवेचना आगम एवं भगवतीआराधना के अनुकूल ही है। अन्त में पुनः हम यही कहना चाहेंगे कि तत्त्वार्थभाष्य और भगवती आराधना में जो साम्य है वह आगमिक मान्यताओं के अनुसरण के कारण है, भाष्य के यापनीय होने के कारण नहीं, भाष्य तो यापनीय परम्परा के पूर्व का है। भाष्य तीसरी-चौथी शती का है और यापनीय सम्प्रदाय चौथी-पाँचवीं शती के पश्चात् ही कभी अस्तित्व में आया है।

भाष्य में यापनीयत्व को सिद्ध करने के लिए आदरणीय प्रेमी जी ने एक तर्क यह भी दिया है कि नवें अध्याय के सातवें सूत्र में अनित्य, अक्षरण आदि १२ अनुप्रेक्षाओं के नाम दिये गये हैं, भाष्य में कहा गया है 'एताद्वादशानुप्रेक्षाः' (ये बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं)। प्रेमी जी, डॉ० एन० एन० उपाध्ये के सन्दर्भ से यह भी बताते हैं कि आगमों में कहीं भी १२ अनुप्रेक्षाएँ नहीं मिलतीं, कहीं चार कहीं दो और कहीं एक मिलती हैं जबकि भगवती आराधना को गाथा ७१५-७८ में इन्हीं १२ भावनाओं का खूब विस्तार से वर्णन है, इससे भी उमास्वाति और भगवती आराधना के कर्ता एक ही परम्परा के माझूम पड़ते हैं। कम से कम उमास्वाति उस परम्परा के नहीं जान पड़ते जो इस समय उपलब्ध आगमों की अनुयायी नहीं है। मूलाचार में भी द्वादश अनुप्रेक्षाओं का विस्तृत विवरण है और वह भी आराधना की परम्परा का ग्रन्थ है।”

इस सन्दर्भ में आदरणीय प्रेमीजी को उपाध्ये जी द्वारा जो सूचना मिली है वह भ्रान्तिपूर्व है। यह कहना कि आगम में कहीं पूरी बारह अनुप्रेक्षाएँ नहीं मिलती हैं, श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य का सम्यक् अनुशीलन न होने का ही परिणाम है। आगम साहित्य में न केवल १२ अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख है अपितु उनका क्रमबद्ध विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। श्वे० मान्य आगमों का एक वर्ग प्रकीर्णक कहा जाता है। प्रकीर्णकों

के अन्तर्गत मरणविभक्ति एक प्राचीन प्रकीर्णक हैं, इसकी ५७० से लेकर ६४० तक की ७१ गाथाओं में बारह भावनाओं का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।^१ मरणविभक्ति की भावना सम्बन्धी इन ७१ गाथाओं में भी अनेक भगवती-आराधना और मूलाचार में उपलब्ध होती हैं। अतः तत्त्वार्थ-भाष्य, भगवती-आराधना और मूलाचार में, जो साम्य परिलक्षित होता है, वह इन तीनों के कर्ताओं द्वारा का आगमिक ग्रन्थों के अनुसरण के कारण ही है। भगवती-आराधना और मूलाचार यापनीय ग्रन्थ हैं और यापनीय आगम मानते थे। मरणविभक्ति तत्त्वार्थ-भाष्य से प्राचीन है, वस्तुतः यापनीय और तत्त्वार्थ-भाष्य में जो समरूपता है, उसका कारण यह है कि उन दोनों का मूल स्रोत एक ही है। इसलिए दोनों को निकटता से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि तत्त्वार्थ-भाष्य यापनीय है। भावनाओं की चर्चा के आधार पर उन्हें जिस प्रकार यापनीय सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार श्वेताम्बर भी सिद्ध किया जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि वे इन दोनों सम्प्रदायों के पूर्वज हैं।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने इसके अतिरिक्त भाष्य का श्वेताम्बर सम्प्रदाय से किन बातों में विरोध आता है और जिसे भाष्य के वृत्तिकार सिद्धसेनगणि आगम विरोधी मानते हैं, इसकी चर्चा की है, इस सन्दर्भ में उन्होंने निम्न सात प्रश्न उपस्थित किये हैं^२ जिन्हें हम अविकल रूप में नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं—

१—अध्याय २, सूत्र १७ के भाष्य में उपकरण के दो भेद किये हैं, बाह्य और अभ्यन्तर। इसपर सिद्धसेन कहते हैं कि आगम में ये भेद नहीं मिलते। यह आचार्य का ही कहीं का सम्प्रदाय है^३।

२—अध्याय ३, सूत्र के भाष्य में रत्नप्रभा के नारकीयों के शरीर की ऊँचाई ७ धनुष, ३ हाथ और ६ अंगुल बतलाई है^४। सिद्धसेन कहते हैं—

१. देखें—पद्मपुत्रसुत्ताहं-प्रथम भाग-सं० मुनि श्री पुष्पविजय जी, प्रकाशक श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई—मरणविभक्ति पद्मपुत्र-गाथा ५७०—६४० (पृ० १५१ से १५७ तक)।

२. देखें—जैन साहित्य और इतिहास-पं० नाथूरामजी प्रेमी पृ० ५३७-५३८

३. “आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तर्बहिर्भेद उपकरणस्येत्याचार्यस्यैव कुतोऽपि सम्प्रदाय इति।”

४. तिलोपपण्क्ति में तत्त्वार्थ-भाष्य के ही समान अवगाहना बतलाई गई है—
सत्त-ति-छ-हृत्पंगुलाणि कमसो ह्वन्ति धम्माए । अ० २, ११६

कि भाष्यकार ने यह अतिदेश से कही है। मैंने तो आगम में कहीं यह प्रतरादि भेद से नारकीयों की अवगाहना नहीं देखी।

३—अ० ३, सू० ९ के भाष्य में जो परिह्राणि बतलाई है, उसके विषय में सिद्धसेन कहते हैं कि यह परिह्राणि गणित प्रक्रिया के साथ जरा भी ठीक नहीं बैठती। आर्षानुसारी गणितज्ञ इसे अन्यथा ही वर्णन करते हैं^२। हरिभद्रसूरि को भी इसमें कुछ संदेह हुआ है^३।

४—अ० ३, सूत्र १५ के भाष्य की टीका करते हुए सिद्धसेन लिखते हैं, इस अन्तरद्वीपक भाष्य को दुर्विदग्धों ने प्रायः नष्ट कर दिया है जिससे भाष्य-पुस्तकों में (भाष्येषु) १६ अन्तरद्वीप मिलते हैं^४। पर यह अनार्थ है। वाचकमुख्य सूत्र का उल्लंघन नहीं कर सकते। यह असंभव है^५।

५—अ० ४, सूत्र ४२ के भाष्य पर सिद्धसेन कहते हैं कि भाष्यकार ने सर्वार्थसिद्ध में भी जघन्य आयु वत्तीस सागरोपम बतलाई है, सो न जाने किस अभिप्राय से, आगम में तो तेतीस सागरोपम है।^६

१. “उक्तमिदमतिदेशतो भाष्यकारेणास्ति चैतत् न तु मया क्वचिदागमे वृष्टं प्रतरादिभेदेन नारकाणां धरीरावगाहनमिति ।”
२. “एषा च परिह्राणिः आचार्योक्ता न मनामपि गणितप्रक्रियया संगच्छते । गणितशास्त्रविदो हि परिह्राणिमन्यथा वर्णयन्त्यागमानुसारिणः ।”
३. गणितज्ञा एवात्र प्रमाणं ।
४. सर्वार्थसिद्धि और तिलोपपण्णत्ति आदि दिग्म्बर-ग्रन्थों में भी ९६ ही अन्तर-द्वीप बतलाये हैं। भाष्य में भी ९६ का ही पाठ रहा होगा। परन्तु आश्चर्य है कि मुद्रित भाष्यपाठों में ५६ ही अन्तरद्वीप मुद्रित हैं और उक्त भाष्यांश के नीचे ही ५६ अन्तरद्वीपों की सूचना देनेवाली सिद्धसेन की तथा हरिभद्र की टीका मौजूद है। प्रतिलिपिकारों अथवा मुद्रित करानेवालों का यह अपराध अक्षम्य है।
५. “एतच्चान्तरद्वीपकभाष्यं प्रायो विनाशितं सर्वत्र कैरपि दुर्विदग्धैर्येन षण्णव-तिरन्तरद्वीपिका भाष्येषु दृश्यन्ते । अनार्थं चैतदध्यवसीयते जीवाभिगमादिषु षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाध्ययनात् । नापि च वाचकमुख्याः सूत्रोत्लंघनेनाभि-दघत्यसम्भाव्यमानत्वात् ।....”
(हरिभद्रोपवृत्ति में भी बिल्कुल यही पाठ है ।)
६. “भाष्यकारेण तु सर्वार्थसिद्धेऽपि जघन्या द्वात्रिंशत्सागरोपमान्यधीता, तन्न विदुः केन अभिप्रायेण । आगमस्तावदयं....”।”

६—अ० ४, सूत्र २६ के भाष्य में लोकान्तिक देवों के आठ भेद हैं । परन्तु भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, स्थानांगादि में नौ बतलाये हैं ।^१

७—अ० ९, सूत्र ६ के भाष्य में भिक्षुप्रतिमाओं के जो १२ भेद किये हैं, उनको ठीक न मानकर सिद्धसेन कहने हैं कि यह भाष्यांश परम ऋषियों के प्रवचन के अनुसार नहीं है किन्तु पागल का प्रलाप है । वाचक तो पूर्ववित् होते हैं, वे ऐसा आर्षविरोधो कैसे लिखते ? आगम को ठीक न समझने से जिसे भ्रान्ति हो गई है ऐसे किसी ने यह रच दिया है ।^२

इस तरह और भी अनेक स्थानों में वृत्तिकार ने आगम-विरोध बतलाया है, जिसका स्थान भाव से उल्लेख नहीं किया जा सका । इस विरोध से स्पष्ट समझ में आ जाता है कि भाष्यकार का सम्प्रदाय सिद्धसेनगणिके सम्प्रदाय से भिन्न है और वह यापनीय हो सकता है ।

यह सत्य है कि उपर्युक्त तथ्य श्वेताम्बर परम्परा की इन मान्यताओं के विरोध में जाते हैं जो भाष्य पर वृत्ति लिखे जाने के काल में स्थिर हो चुकी थी, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आगमों का संकलन होने तक अर्थात् विक्रम की छठीं शताब्दी तक श्वेताम्बर परम्परा में और यापनीय परम्परा में भी सैद्धान्तिक प्रश्नों पर आन्तरिक एकरूपता नहीं थी । आगमों का लेखन हो जाने के बाद भी श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं में जितने अधिक मतभेद और मान्यता भेद रहे हैं, उतने दिगम्बर परम्परा में नहीं थे । श्वेताम्बर आगम साहित्य में ये अन्तर्विरोध आज भी परिलक्षित होते हैं । यही स्थिति कसायपाहुड एवं षट्खण्डागम आदि यापनीय साहित्य की भी है । कल्पसूत्र की स्थविरावलि से यह स्पष्ट है कि भद्रबाहु के काल से उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा जो श्वेताम्बर और यापनीयों की पूर्वज है, अनेक गणों, शाखाओं और कुलों में विभाजित होती गई । ये विविध गण, कुल एवं शाखाएँ न केवल शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा के आधार पर बने थे, अपितु इनमें मान्यता भेद भी था । तब तत्त्व स्वरूप एवं कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी मान्यताओं के सन्दर्भ में अनेक मतभेद अस्तित्व में आ गये थे । उपलब्ध आग-

१. “भाष्यकृता चाष्टविधा इति मुद्रितः । आगमे तु नवधैवाधीता ।”

२. “नेदं पारमर्षप्रवचनानुसारि भाष्यं किं तर्हि प्रमत्तगीतमेतत् । वाचको हि पूर्ववित् कथमेवविधं आर्षविसंवादिनिबन्धीयात् । सूत्रानवबोधाद्गुपजाता-भ्रान्तिना केनापि रचितमेतत् ।”

मिक व्याख्या साहित्य में आगमों की अनेक वाचनाओं एवं वाचनाभेदों के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। बलभी वाचना और माथुरी वाचना में भी अन्तर था। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में आगमों के जो उदाहरण उपलब्ध होते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि उन्हें जो आगम ग्रन्थ या उनके अंश उपलब्ध थे, वे सम्भवतः माथुरी वाचना के रहे हैं। हमें यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि श्वेताम्बर परम्परा में वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं वे वज्जीशाखा के हैं। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के कर्ता उमास्वाति उच्चनागर शाखा के हैं, अतः यह सम्भव है कि उच्चनागरशाखा और वज्जी शाखा में कुछ मान्यता भेद रहा हो। पं० नाथूरामजी प्रेमी ने जिन मतभेदों की चर्चा की है उनमें से कुछ मान्यताएँ तिलोयपण्णत्ति नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होती है। तिलोयपण्णत्ति अपने मूल स्वरूप में यापनीय परम्परा का ग्रंथ रहा है।

यद्यपि बाद में उसे परिवर्तित कर दिया गया। तिलोयपण्णत्ति का आधार भी आगम ही है और इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उमास्वाति के समक्ष आगम सम्बन्धी विभिन्न वाचनाएँ थीं और उनमें से वे किसी एक का अनुसरण कर रहे थे।

नारकियों के शरीर की ऊँचाई तथा अन्तर्दीपों की संख्या के सम्बन्ध में भाष्यकार का मत तिलोयपण्णत्ति के समान है। जहाँ तक लोकान्तिक देवों को संख्या का प्रश्न है श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगम स्थानांग और भगवती में आठ और नौ दोनों ही तरह की मान्यताएँ मिलती हैं। अतः सिद्धसेनगणिके द्वारा दिखाये गये इन मतभेदों के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उमास्वाति उस पूर्वज धारा के नहीं थे, जिससे यापनीय और श्वेताम्बर धाराएँ विकसित हुई हैं।

यह स्मरण रखना ही होगा कि उमास्वाति बलभीवाचना (वीर ति० संवत् ९८०) के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व हुए—अतः यह स्वाभाविक था कि उनके मन्तव्यों का बलभीवाचना के आगमों से आंशिक मतभेद हो। यह भी सम्भव है कि बलभीवाचना के समय मध्य देश में स्थित उच्चनागर शाखा के प्रतिनिधि उपस्थित नहीं रहे हों और उनके मन्तव्यों का संकलन न हो पाया हो।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने उमास्वाति के यापनीय होने के लिए एक तर्क यह भी दिया है कि उनके गुरु घोषनन्दो और शिव भी उनके यापनीय होने का संकेत देते हैं। क्योंकि नन्दचन्त नाम यापनीय परम्परा में

मिलते हैं जैसे शिवार्य के गुरु मित्रनन्दि, जिननन्दि आदि। उन्होंने यह भी सम्भावना प्रकट की है कि उमास्वाति के वाचनाप्रगुरु शिव श्री आर्य शिव ही हों। यह भी सम्भव है कि वाचनागुरु मूल का भी पूरा नाम मूलनन्दी हो।^१

आदरणीय प्रेमी जो इस सम्भावना को स्वीकार करने में कतिपय कठिनाईयाँ हैं। सर्व प्रथम आदरणीय प्रेमी जो की यह मान्यता कि नन्दी नामान्त नाम केवल यापनीय नन्दीसंघ में रहे हैं, समुचित नहीं है। कल्पसूत्र स्थविरावली या नन्दीसूत्र स्थविरावली के अतिरिक्त मथुरा के अभिलेखों में भी नन्दी नामान्त नाम मिलते हैं। दूसरे यह कि जब प्रेमी जो स्वयं तत्त्वार्थभाष्य को उमास्वाति की कृति मानते हैं और यह भी मानते हैं कि भाष्य में किये गये उनके दीक्षा गुरु और प्रगुरु तथा वाचनागुरु और प्रगुरु के नाम यथार्थ हैं तो फिर उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि उसमें जो उच्चनागर शाखा और वाचक वंश का उल्लेख है वह भी प्रामाणिक है। स्पष्ट है कि यापनीयों में किसी भी उच्चनागर शाखा का उल्लेख नहीं मिलता है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य कल्पसूत्र को स्थविरावली में स्पष्ट रूप से उच्चनागर शाखा का उल्लेख है। उच्चनागर शाखा के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी के नौ अभिलेख भी मथुरा से प्राप्त होते हैं। यह स्पष्ट है कि न तो दिग्म्बर परम्परा में किसी उच्चनागर शाखा का उल्लेख है और न यापनीय परम्परा में उच्चनागर शाखा का उल्लेख है। जबकि श्वेताम्बरों की पूर्वज धारा में इसका उल्लेख है। नागरशाखा का अस्तित्व हमें अभिलेखों के आधार पर तृतीय शताब्दी तक मिलता है। यही काल उमास्वाति का भी सिद्ध होता है। इस काल तक यापनीय परम्परा स्पष्ट रूप से अस्तित्व में नहीं आ पायी थी। यदि हम महावीर का निर्वाण विक्रम संवत् के ४१० वर्ष पूर्व मानते हैं तो कल्पसूत्र की सूचनानुसार उच्चनागर शाखा विक्रम संवत् के लगभग ४० वर्ष पूर्व अस्तित्व में आयी। तथा वस्त्रपात्र सम्बन्धी विवाद भी विक्रम संवत् की लगभग द्वितीय शती के अन्तिम दशक एवं तृतीय शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ होगा। आवश्यक मूलभाष्य की सूचना के अनुसार भी उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में शिवार्य और आर्य-कृष्ण के बीच वस्त्र एवं पात्र के प्रश्न पर विवाद प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि आर्यकृष्ण और शिवभूति के मध्य वीर निर्वाण संवत् ६०९ तदनुसार

विक्रम संवत् १९९ अर्थात् विक्रम की द्वितीय शताब्दी के अन्त तथा तृतीय शताब्दी के प्रारम्भ में वस्त्र, पात्र को लेकर विवाद हुआ था। तथापि संघभेद नहीं हुआ था, वह तो उनके शिष्य-प्रशिष्यों के काल में अर्थात् तीसरी शती के उत्तरार्ध में हुआ।^१ आदरणीय प्रेमी जो इस मान्यता में कुछ सत्यता हो सकती है कि ये हो आर्य शिवभूति उमास्वाति के प्रगुरु शिवश्रो रहे हों, क्योंकि दोनों ही उसी कोटिकगण के हैं। उन्हें प्रगुरु मानने पर उमास्वाति का काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के अन्त और चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्ध तक भी माना जा सकता है। इससे यही फलित होता है कि संघ भेद की घटना और उमास्वाति समकालिक ही है यह भी संभव है कि उमास्वाति के गुरुमूल या मूलनन्दी के नाम मूलगण निकला हो, जो दक्षिण में मूलसंघ के नाम से जाना गया हो और जैसा कि हम लिख चुके हैं इसी मूलगण/मूलसंघ से यापनीयों का विकास हुआ है।^३ मूलसंघ के ये अभिलेख भी विक्रम सं० ४२७ (ई० सन् ३७०) और विक्रम सं० ४७२ (ई० सं० ४२५) के लगभग के अनुमानित है किन्तु ये भी उमास्वाति के बाद के हैं। अतः यह निश्चित है कि श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय संघ उमास्वाति के कुछ बाद के हैं। यदि बोटिक यापनीयों के पूर्वज हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि उमास्वाति की उच्चनागरी शाखा भी यापनीयों की पूर्वज है। वस्तुतः उमास्वाति उस काल में हुए हैं जब उत्तर भारत में मान्यता भेद अपनी जड़ें तो जमा रहे थे, किन्तु उनके आधार पर सम्प्रदायों का ध्रुवीकरण नहीं हो पाया था। उनका काल सम्प्रदायगत मान्यताओं एवं स्पष्ट संघभेद के स्थिरीकरण के पूर्व का है।

मेरी दृष्टि में उमास्वाति दिगम्बर परम्पा के तो बिल्कुल ही नहीं हैं, वे यापनीय भी नहीं हैं, अपितु उत्तर भारत को उस निर्ग्रन्थ परम्परा में

१. बोडिय सिवभूईओ बोडियॉलिगस्स होइ उत्पत्ती ।
कोडिण्ण कोद्वीरा परंपरा फासमुप्पणा ॥
—आवश्यक मूलभाष्य १४८ आवश्यकनियुक्ति हरिभद्रीय वृत्ति उद्धृत
पृ० २१५ ।
२. देखें—महावीर का निर्माण-काल—डॉ० सागरमल जैन, श्रमण, अक्टूबर-दिसम्बर ९२ ।
३. देखें—श्वेताम्बर मूलसंघ एवं माथुरसंघ : एक विमर्श, डॉ० सागरमल जैन, श्रमण-जुलाई-सितम्बर ९२ ।

हुए है जिससे एक ओर बोटिक (यापनीयों) का विकास हुआ, तो दूसरी ओर श्वेताम्बरों का । वे उस कोटिकगण और उच्चनागर शाखा में हुए हैं जिससे विभक्त होकर उत्तर भारतीय सचेल-अचेल परम्पराएँ विकसित हुई हैं । चाहे उमास्वाति को आगमों का अनुसरण करने वाली एवं अपवाद मार्ग में वस्त्र-पात्र की समर्थक परम्परा के होने के कारण और कल्पसूत्र को स्थविराली में उनकी उच्च नागरी शाखा का उल्लेख होने के कारण श्वेताम्बर कहा जा सकता है, किन्तु वे उस अर्थ में श्वेताम्बर नहीं हैं, जिस अर्थ में आज हम उन्हें श्वेताम्बर समझ रहे हैं । मात्र वे वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा के पूर्वज हैं । पाटलिपुत्र में तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की रचना भी यही सिद्ध करती है कि वे उत्तर भारत के उस निर्ग्रन्थ संघ के सदस्य थे, जिसके उत्तराधिकारी श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही हैं और इस दृष्टि से वे श्वेताम्बरों एवं यापनीयों के पूर्वज हैं ।

तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में आगमों का अनुसरण तथा श्वेताम्बर और यापनीयों द्वारा मान्य अनेक अवधारणाओं की उपस्थिति यही सिद्ध करती है, कि आगमों की तरह श्वेताम्बर और यापनीयों को तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य भी उत्तराधिकार में प्राप्त हुए हैं और इसीलिए दोनों ही उसे अपनी परम्परा का कहें, तो उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए । हाँ इतना अवश्य है कि दिग्म्बर परम्परा को तत्त्वार्थसूत्र से उत्तराधिकार में नहीं मिला है । उसने उसे यापनीयों से प्राप्त किया है । सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक पर तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है । भाष्य और दिग्म्बर परम्परा में मान्य सर्वार्थसिद्धि की टीका में कितनी साम्यता है, इसे पं० नाथूरामजी प्रेमी ने स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है और उन्होंने यह भी बताया है कि भाष्य की लेखन शैली प्रसन्न एवं गम्भीर होते हुए भी दार्शनिकता की दृष्टि से परिशीलित है । जैन साहित्य में दार्शनिक शैली के विकास के पश्चात् सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है, ऐसा विकास भाष्य में नहीं दिखाई देता । भाष्य कम विकसित है । अर्थकी दृष्टि से भी सर्वार्थसिद्धि (भाष्य की अपेक्षा) अर्वाचीन मालूम होती है । जो बात भाष्य में है, सर्वार्थसिद्धि में उसको विस्तृत करके और उस पर अधिक चर्चा करके निरूपण किया गया है । व्याकरण और जैनेतर दर्शनों की चर्चा भी उसमें अधिक है । जैन परिभाषाओं का जो विशदीकरण और वक्तव्य का पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि में है, वह भाष्य में कम से कम है । भाष्य की अपेक्षा उसमें तार्किकता

अधिक है और अन्य दर्शनों का खण्डन भी जोर पकड़ता है। ये सब बातें सर्वार्थसिद्धि से भाष्य को प्राचीन सिद्ध करती हैं।”

“यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिस तरह से तत्त्वार्थसूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य के अतिरिक्त श्वेताम्बर और दिगम्बर टीकाएँ उपलब्ध होती हैं उस तरह से यद्यपि आज कोई यापनीय टीका उपलब्ध नहीं है किन्तु उसकी यापनीय टीकाएँ भी रही हैं और ये टीकायें भाष्य से परवर्ती होकर भी श्वेताम्बर सिद्धसेनगणि और हरिभद्र की टीकाओं से तथा दिगम्बर पूज्यपाद की टीकाओं से प्राचीन है। क्योंकि इनको उपस्थिति के संकेत सर्वार्थसिद्धि और सिद्धसेन को वृत्ति में उपलब्ध होते हैं।”

सर्वार्थसिद्धि के माध्यम से ही तत्त्वार्थसूत्र का प्रवेश दिगम्बर परंपरा में हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि यापनीय और श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र-सौधे उत्तराधिकारी है जबकि दिगम्बरों को यह यापनीयों के द्वारा प्राप्त हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य में जो यापनीय और श्वेताम्बर तथ्य परिलक्षित होते हैं वे वस्तुतः उन दोनों की एक ही पूर्वज परंपरा के कारण हैं।

तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य के यापनीय होने का सबसे महत्त्वपूर्ण जो तर्क दिया जा सकता है वह यह कि उसमें पुरुषवेद, हास्य, रति और सम्यक्त्व मोहनीय को पुण्य प्रकृति कहा गया है, जबकि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय इन्हें पुण्य-प्रकृति नहीं मानते हैं। सिद्धसेन-गणि ने तो इस सूत्र की टीका करते हुए लिखा है कि “कर्म प्रकृति ग्रन्थ का अनुसरण करने वाले तो ४२ प्रकृतियों को ही पुण्य रूप मानते हैं, उनमें सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद नहीं हैं। सम्प्रदाय विच्छेद होने के कारण मैं नहीं जानता कि इनमें भाष्यकार का क्या अभिप्राय ही और कर्म प्रकृति ग्रन्थ प्रणेताओं का क्या अभिप्राय है। चौदह पूर्वधारी है इसकी ठीक-ठीक व्याख्या कर सकते हैं।” इसके विपरीत भगवती आराधना की

१. जैनसाहित्य और इतिहास, पं० नाथुरामजी प्रेमी, पृ० ५२८

२. वही पृ० ४४१

३. “कर्मप्रकृतिग्रन्थानुसारिणस्तु द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतोः पुण्याः कथयन्ति ।” “आसां च मध्ये सम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदा न सन्त्येवेति । कोऽभिप्रायो भाष्यकृतः को वा कर्मप्रकृतिग्रन्थप्रणयिनामितिसम्प्रदायविच्छेदान्मया तावन्न व्यजायोति । चतुर्दशपूर्वधरादयस्तु संविद्यते यथावदिति निर्दोषं व्याख्यातम् ।”

—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य टीका (सिद्धसेन) ८ ६.

विजयोदया टीका में अपराजित ने इन चारों प्रकृतियों को पुण्य रूप माना है।^१ भाष्य में इन चार प्रकृतियों को पुण्य रूप मानना वस्तुतः इस बात सूचक है कि पूर्व में कोई एक परम्परा ऐसी थी, जो इन्हें पुण्यरूप मानती थी। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि यापनीयों ने इस सन्दर्भ में भाष्य की परम्परा का अनुसरण किया है, किन्तु कर्म ग्रन्थों पर बल देने वाली श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं ने उन्हें स्वीकृति नहीं दी। यही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से तीसरी शताब्दी के बीच उत्तर भारत के जैनों में अनेक ऐसी धारणाएँ उपस्थित थी, जिनमें से कुछ यापनीय परम्परा में जीवित रही, कुछ श्वेताम्बरों में म्रान्य रही। वस्तुतः तत्त्वार्थ का काल जैन दर्शन के विकास का काल था। अन्य दृष्टि से उसे दर्शन व्यवस्था का काल भी कहा जाता है। उस काल में उपस्थित अनेक धारणाओं में से कुछ ऐसी भी हैं जो किसी के द्वारा स्वीकृत नहीं होने से विलुप्त हो गई, जैसे काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानने वाली परम्परा अथवा षट्जीवनिकाय में तीन त्रस और तीन स्थावर मानने वाली परम्परा आदि। उस युग में इनके अस्तित्व के संकेत तो मिलते हैं, किन्तु आगे चलकर ये विलुप्त हो जाती हैं। आज न तो श्वेताम्बर में ऐसा कोई है जो काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता हो और न कोई ऐसा है जो तीन त्रस और तीन स्थावर को स्वीकार करता हो। यद्यपि श्वेताम्बर आगमों एवं तत्त्वार्थसूत्र में उनके अस्तित्व की सूचना है। अतः इस समग्र चर्चा से हम इसी निर्णय पर पर पहुँचते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ता उत्तर भारत को उस निर्ग्रन्थ धारा में हुए हैं, जिससे आगे चलकर श्वेताम्बर (उत्तर भारत की सचेल धारा) और यापनीय (उत्तर भारत की अचेल धारा) परम्पराएँ विकसित हुई हैं। वे श्वेताम्बर और यापनीय दोनों के पूर्वज हैं। हाँ इतना अवश्य है कि वे दक्षिण भारतीय अचेल-धारा से जिसे हम दिगम्बर कहते हैं, सीधे रूप से सम्बद्ध नहीं हैं।

तत्त्वार्थसूत्र का काल

इस प्रकार हम देखते हैं कि उमास्वाति और उनका तत्त्वार्थ जैनधर्म

१. सद्देद्य सम्यक्त्वं रति हास्यपु'वेदाः शुभेः नाम गोत्रे शुभं आयु पुष्यं, एतेभ्यो अन्यानि पापानि ।

(भगवती आरावना १६४३ पंक्ति ४)

उद्धृत जैनसाहित्य और इतिहास पं० नाथूराम प्रेमी पृ० ५४३

की श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परम्पराओं में से मूलतः किससे सम्बन्धित रहा है, यह प्रश्न विद्वानों के मस्तिष्क को झकझोरता रहा है। श्वेताम्बर परम्परा के विद्वानों ने मूलग्रन्थ के साथ-साथ उसके भाष्य और प्रशमरति को उमास्वाति की ही कृति मानकर उन दोनों में उपलब्ध श्वेताम्बर समर्थक तथ्यों के आधार पर उन्हें श्वेताम्बर सिद्ध करने का प्रयास किया, वहीं दिगम्बर परम्परा के विद्वानों ने भाष्य और प्रशमरति के कर्ता को तत्त्वार्थ के कर्ता से भिन्न बताकर तथा मूलग्रन्थ में श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओं से कुछ भिन्नता दिखाकर उन्हें दिगम्बर परम्परा का सिद्ध करने का प्रयास किया है। जबकि पं० नाथूराम प्रेमी जैसे कुछ सतस्य विद्वानों ने ग्रन्थ में उपलब्ध श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं से विरुद्ध तथ्यों को उभारकर और यापनीय मान्यताओं से निकटता दिखाकर उन्हें यापनीय परम्परा का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

वस्तुतः ये समस्त प्रयास तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के सन्दर्भ में किसी भी निश्चित अवधारणा को बनाने में तब तक सहायक नहीं हो सकते, जब तक कि हम उमास्वाति के काल का और इन तीनों धाराओं के उत्पन्न होने के काल का निश्चय नहीं कर लेते हैं। अतः सबसे पहले हमें यही देखना होगा कि उमास्वाति किस काल के हैं, क्योंकि इसी आधार पर उनकी परम्परा का निर्धारण संभव है। उमास्वाति के काल निर्णय के सन्दर्भ में जो भी प्रयास हुए हैं वे सभी उन्हें प्रथम से चौथी शताब्दी के मध्य का सिद्ध करते हैं। उमास्वाति के ग्रन्थों में हमें सप्तभंगी और गुणस्थान सिद्धान्त का सुनिश्चित स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि गुणस्थान सिद्धान्त से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि ये अवधारणायें अपने स्वरूप-निर्धारण की दिशा में गतिशील थी। इससे हम इस निष्कर्ष पर तो पहुँच ही सकते हैं कि उमास्वाति इन अवधारणाओं के सुनिर्धारित एवं सुनिश्चित होने के पूर्व ही हुए हैं। तत्त्वार्थसूत्र की जो प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं उनमें श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ भाष्य को और दिगम्बर परम्परा में सर्वार्थ-सिद्धि को प्राचीनतम माना जाता है। इनमें से तत्त्वार्थ भाष्य में गुणस्थान और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा उपलब्ध नहीं है जबकि सर्वार्थसिद्धि में गुणस्थान का स्पष्ट एवं विस्तृत विवरण है।^१ तत्त्वार्थसूत्र की परवर्ती

१. देखें सर्वार्थसिद्धि—सं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री; सूत्र १।८ की टीका।

टीकाओं में सर्वप्रथम अकलंक तत्त्वार्थ राजवार्तिक में चौथे अध्याय के अन्त में सप्तभंगी का तथा ९वें अध्याय के प्रारम्भ में गुणस्थान सिद्धान्त का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वार्थ की टीकाओं के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में श्वे० आगमों में समवायांग में जीव-ठाण के नाम से^१ यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम में जीव समास के नाम से^२ और दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों गुणठाण के नाम से^३ इस सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। ये सभी ग्रन्थ लगभग पाँचवीं शती के आसपास के हैं। इसलिए इतना तो निश्चित है कि तत्त्वार्थ की रचना चौथी पाँचवीं शताब्दी के पूर्व की है। यह सही है कि ईसा दूसरी शताब्दी से वस्त्र-पात्र के प्रश्न पर विवाद प्रारम्भ हो गया फिर भी यह निश्चित है कि पाँचवीं शताब्दी में पूर्व श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बर), श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ और यापनीय संघ का सर्व प्रथम उल्लेख हल्सी के पाँचवीं शती के अभिलेखों में ही मिलता है^४।

मूलसंघ का उल्लेख उससे कुछ पहले ई० सन् ३७० एवं ४२१ का है^५। तत्त्वार्थ के मूलपाठों की कहीं दिगम्बर परम्परा से, कहीं श्वेताम्बर परम्परा से और कहीं यापनीय परम्परा से संगति होना और कहीं विसंगति होना यही सूचित करता है कि वह संघभेद के पूर्व की रचना है। मुझे जो संकेत सूत्र मिले हैं उससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थ उस काल की रचना है जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय स्पष्ट रूप से विभाजित होकर अस्तित्व में नहीं आये थे। श्री कापड़िया जी ने तत्त्वार्थ को प्रथम शताब्दी के पश्चात् चौथी शताब्दी के पूर्व की रचना माना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में ऐसे भी अनेक तथ्य हैं जो न तो सर्वथा वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा से और न ही दिगम्बर परम्परा से

१. समवायांग (सं० मधुकर मुनि) १४/१५
२. षट्खण्डागम (सत्परूपाणा) १/१/५, ९-२२
३. नियमसार गा० ७७ (लखनऊ, अंग्रेजी अनुवाद सह) और समयसार गा० ५५; उद्धृत गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास—प्रो० सागरमल्ल जैन, तुलसीप्रज्ञा खण्ड १८ अंक १, अप्रैल-जून ९२, पृ० १५-२९
४. जैन शिलालेख संग्रह (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला) भाग २, लेख क्रमांक ९८, ९९
५. वही, लेख क्रमांक ९० एवं ९४

मेल खाते हैं। 'हिस्ट्री ऑफ मिडिल स्कूल ऑफ इण्डियन लाजिक' में तत्त्वार्थसूत्र की तिथि 1-85 A D. स्वीकार की गई है। प्रो० विटरनिट्ज मानते हैं कि उमास्वाति उस युग में हुए जब उत्तर भारत में श्वेताम्बर और दिग्म्बर सम्प्रदाय एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं हुए थे^१। उनका ग्रन्थ तत्त्वार्थ स्पष्टतः सम्प्रदाय भेद के पूर्व का है। सम्प्रदाय भेद के संबंध में सर्वप्रथम हमें जो साहित्यिक सूचना उपलब्ध होती है वह आवश्यक मूलभाष्य की है, जो आवश्यक नियुक्ति और विशेषावश्यक के मध्य निर्मित हुआ था। उसमें वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् ही बोटिकों-की उत्पत्ति अर्थात् उत्तर भारत में अचेल और सचेल परम्पराओं के विभाजन का उल्लेख है। साथ ही उसमें यह भी उल्लेख है कि मुनि के सचेल या अचेल होने का विवाद तो आर्यकृष्ण और आर्य शिव के बीच वीर नि० सं० ६०९ में हुआ था, किन्तु परम्परा भेद उनके शिष्य कौडिष्य और कोट्टवीर से हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि स्पष्ट रूप से परम्परा भेद वीर नि० सं० ६०९ के पश्चात् हुआ है। सामान्यतया वीर निर्वाण विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व माना जाता है किन्तु इसमें ६० वर्ष का विवाद है, जिसकी चर्चा आचार्य हेमचन्द्र से लेकर समकालीन अनेक विद्वान भी कर रहे हैं^२। इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त, अशोक और सम्प्रति आदि का जो काल निर्धारित किया है उसमें चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की तथा सम्प्रति और सुहस्ति की समकालिकता वीर निर्वाण को विक्रम संवत् ४१० वर्ष पूर्व मानने पर ही अधिक बैठती है^३। यदि वीर निर्वाण विक्रम संवत् के ४१० वर्ष पूर्व हुआ है तो यह मानना होगा कि संघभेद ६०९-४१० अर्थात् विक्रम संवत् १९९ में हुआ। यदि इसमें भी हम कौडिष्य और कोट्टवीर का काल ६० वर्ष जोड़े तो यह संघभेद लगभग विक्रम संवत् २५९ अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी उत्तरार्ध में हुआ होगा। इस संघभेद के फलस्वरूप श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा का स्पष्ट विकास तो इसके भी लगभग सौ वर्ष पश्चात् ही हुआ होगा। क्योंकि, पाँचवीं शती के पूर्व इन नामों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

१. History of Indian Literature by M. Winternitz, vol. II P-579

२. देखें—जालं चार्वेटियर का लेख—दी डेट ऑफ महावीर, इण्डियन एण्टि-क्वेरी, जिल्द जून, जुलाई, अगस्त १९१४

३. देखें—महावीर का निर्वाण काल—डॉ० सागरमल जैन

तीसरी-चौथी शताब्दी के समवायांग जैसे श्वेताम्बर मान्य आगमों और यापनीय परम्परा के कसायपाहुड एवं षट्खण्डागम जैसे ग्रन्थों से तत्त्वार्थसूत्र की कुछ निकटता और कुछ विरोध यही सिद्ध करता है कि उसकी रचना इनके पूर्व हुई है।

तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता के काल का निर्णय करने का आज एकमात्र महत्त्वपूर्ण साधन है। उस प्रशस्ति के अनुसार तत्त्वार्थ के कर्ता उच्चैर्नागर शाखा में हुए। उच्चैर्नागर शाखा का उच्च-नागरी शाखा के रूप में कल्पसूत्र में उल्लेख है।^१ उसमें यह भी उल्लेख है कि यह शाखा आर्य शान्तिश्रेणिक से प्रारम्भ हुई। कल्पसूत्र स्वविरावली के अनुसार शान्तिश्रेणिक आर्यवज्र के गुरु सिंहगिरि के गुरुभ्राता थे। श्वे० पट्टावलियों में आर्यवज्र का स्वर्गवास काल वीर निर्वाण सं० ५८४ माना जाता है, यद्यपि मैं इससे सहमत नहीं हूँ। अतः आर्यशान्तिश्रेणिक का जीवन काल वीर निर्वाण ४७० से ५५० के बीच मानना होगा। फलतः आर्यशान्तिश्रेणिक से उच्च नागरी की उत्पत्ति विक्रम की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध और द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में किसी समय हुई। इसकी संगति मथुरा के अभिलेखों से भी होती है उच्चैर्नागर शाखा का प्रथम अभिलेख शक सं० ५ अर्थात् विक्रम संवत् १४० का है, अतः उमास्वाति का काल विक्रम की द्वितीय शताब्दी के पश्चात् ही होगा। उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य में उन्हें उच्चैर्नागर शाखा का बताया गया गया है। इस शाखा के नौ अभिलेख हमें मथुरा से उपलब्ध होते हैं।^२ जिन पर कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव का उल्लेख भी है। यदि इनपर अंकित सम्वत् शक संवत् ही तो यह काल शक सं० ५ से ८७ के बीच आता है, इतिहासकारों के अनुसार कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव ई० सन् ७८ से १७६ के बीच हुए हैं। विक्रम संवत् की दृष्टि से उनका यह काल सं० १३५ से २३३ के बीच आता है अर्थात् विक्रम संवत् की द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध और तृतीय शताब्दी का पूर्वार्ध। अभिलेखों के काल की संगति आर्य शान्ति श्रेणिक और उनसे उत्पन्न उच्चनागरी शाखा के

१. धेरेहितो णं अज्जसत्तिसेणिए हितो णं माठरसगोत्तोहितो एत्य उच्चनागरी साहानिगगया। कल्पसूत्रं (कल्पसुत्तं), २१८, प्राकृत भारती जयपुर।

२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ लेख क्रमांक १९, २०, २२, २३, ३१, ३५, ३६, ५०, ६४; उच्चैर्नागर शाखा का प्रथम लेख कनिष्क वर्ष ५ का अन्तिम लेख हुविष्क वासुदेव वर्ष ८७ का है।

काल से ठीक बैठती है। उमास्वाति इसके पश्चात् ही कभी हुए हैं। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने अपने प्रगुरु घोषनन्दी श्रमण और गुरु शिवश्री का उल्लेख किया है। मुझे मथुरा के अभिलेखों में खोज करने पर स्थानिक कुल के गणी उग्गाहिणी के शिष्य वाचक घोषक का उल्लेख उपलब्ध हुआ है। स्थानिककुल भी उसी कोटिकगण का कुल है, जिसकी एक शाखा उच्चनागरी है। कुछ अभिलेखों में स्थानिक कुल के साथ वज्जी शाखा का भी उल्लेख हुआ है। यद्यपि उच्चनागरी और वज्जी दोनों ही शाखाएँ कोटिकगण की हैं। मथुरा के एक अन्य अभिलेख में 'निवर्तना शीवद' ऐसा उल्लेख भी मिलता है। निवर्तना सम्भवतः समाधि स्थल की सूचक है, यद्यपि इससे ये आर्यघोषक और आर्य शिव निश्चित रूप से ही उमास्वाति के गुरु एवं प्रगुरु हैं, इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, फिर भी सम्भावना तो व्यक्त की जा सकती है।

आर्य कृष्ण और आर्य शिव जिनके बीच वस्त्र-पात्र सम्बन्धी विवाद वीर नि० सं० ६०९ में हुआ था। उन दोनों के उल्लेख हमें मथुरा के कुषाणकालीन अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि आर्य शिव के सम्बन्ध में जो अभिलेख उपलब्ध हैं, उसके खण्डित होने से संवत् का निर्देश तो स्पष्ट नहीं है, किन्तु 'निवर्तनाशीवद' ऐसा उल्लेख है^१ जो इस तथ्य का सूचक है कि उनके समाधि स्थल पर कोई निर्माण कार्य किया गया था। आर्य कृष्ण का उल्लेख करने वाला लेख स्पष्ट है और उसमें शक संवत् ९५ निर्दिष्ट है। इस अभिलेख में कोट्टोयगण स्थानीय कुल और वैरी शाखा का उल्लेख भी है। इस आधार पर आर्य शिव और आर्य कृष्ण का काल वि० सं० २२० के लगभग आता है। वस्त्र-पात्र विवाद का काल वीर नि० सं० ६०९ तदनुसार ६०९ - ४१० = वि० सं० १९९ मानने पर इसकी संगति उपर्युक्त अभिलेख से हाँ जाती है क्योंकि आर्य कृष्ण की यह प्रतिमा उनके स्वर्गवास के ३०-४० वर्ष बाद ही कभी बनो होगी। उससे यह बात भी पुष्ट होती है कि आर्य शिव आर्य कृष्ण से ज्येष्ठ थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में भी उन्हें ज्येष्ठ कहा गया है, किन्तु कतिपय परवर्ती रचनाओं में उन्हें आर्य कृष्ण का शिष्य कहा गया है। हालाँकि यह बात उचित प्रतीत नहीं होती। सम्भावना यह भी है ये दोनों गुरुभाई हों और

१. जैनशिलालेख संग्रह, भाग २, लेख क्रमांक ८५।

2. The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura, Vincent A. Smith, -Indological Bookhouse 1969, p. 24.

उनमें आर्य शिव ज्येष्ठ और आर्य कृष्ण कनिष्ठ हों या आर्य शिव आर्य कृष्ण के गुरु हों ।

इन आर्य शिव को उमास्वाति का प्रगुरु मानने पर उनका काल तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध से चौथी शताब्दी पूर्वार्ध तक माना जा सकता है । चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध तक के जो भी जैन शिलालेख उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता । वस्त्र, पात्र आदि के उपयोग को लेकर विक्रम संवत् की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध से विवाद प्रारंभ हो गया था, किन्तु स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय परंपराओं के भेद स्थापित नहीं हुए थे । वि० सं० की छठी शताब्दी के पूर्वार्ध के अर्थात् ई० सन् ४७५ से ४९० के अभिलेखों में सर्वप्रथम श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ (श्वेताम्बर), निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ (दिगम्बर) और यापनीय संघ के उल्लेख मिलते हैं । प्रो० मधुसूदन ढाकी ने उमास्वाति का काल चतुर्थ शती निर्धारित किया है । यह उचित ही है । चाहे हम उमास्वाति का काल प्रथम से चतुर्थ शती के बीच कुछ भी माने किन्तु इतना निश्चित है कि वे संघ भेद के पूर्व के हैं । यदि हम उमास्वाति के प्रगुरु शिव का समीकरण आर्य शिव, जिनका उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में भी है और जो उत्तर भारत में वस्त्र-पात्र संबंधी विवाद के जनक थे, से करते हैं तो समस्या का समाधान मिलने में सुविधा होती है । आर्य शिव वीर निर्वाण सं०६०९ अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध में उपास्थित थे । इस आधार पर उमास्वाति तीसरी के उत्तरार्ध और चौथी के पूर्वार्ध में हुए होंगे, ऐसा माना जा सकता है । यह भी संभव है कि वे इस परंपरा भेद में भी कौडिण्य और कोट्टवीर के साथ संघ से अलग न होकर मूलधारा से जुड़े रहे हो । फलतः उनकी विचारधारा में यापनीय और श्वेताम्बर दोनों ही परंपरा की मान्यताओं को उपस्थिति देखी जाती है । वस्त्र-पात्र को लेकर वे श्वेताम्बरों और अन्य मान्यताओं के सन्दर्भ में यापनीयों के निकट रहे हैं ।

इस समस्त चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उमास्वाति का काल वि० सं० की तीसरी और चौथी शताब्दी के मध्य है और इस काल तक वस्त्र-पात्र संबंधी विवादों के बावजूद भी श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीयों का अलग-अलग साम्प्रदायिक अस्तित्व नहीं बन पाया था । स्पष्ट सम्प्रदाय भेद, सैद्धान्तिक मान्यताओं का निर्धारण और श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे नामकरण पाँचवीं शताब्दी के बाद ही अस्तित्व में आये हैं । उमास्वाति निश्चित ही स्पष्ट संप्रदाय भेद और साम्प्रदायिक

मान्यताओं के निर्धारण के पूर्व के आचार्य हैं। वे उस संक्रमण काल में हुए हैं, जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय संप्रदाय और उनकी साम्प्रदायिक मान्यताएँ और स्थिर हो रही थी।

वे उस अर्थ में श्वेताम्बर या दिगम्बर नहीं हैं, जिस अर्थ में आज हम इन शब्दों का अर्थ लेते हैं। वे यापनीय भी नहीं हैं, क्योंकि यापनीय सम्प्रदाय का सर्वप्रथम अभिलेखीय प्रमाण भी विक्रम की छठीं शताब्दी के पूर्वार्ध और ईसा की पाँचवीं शती के उत्तरार्ध (ई० सन् ४७५) का मिलता है। अतः वे श्वेताम्बर और यापनीयों की पूर्वज उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा की कोटिकगण की उच्चनागरी शाखा में हुए हैं। उनके संबंध में इतना मानना ही पर्याप्त है। उन्हें श्वेताम्बर, दिगंबर या यापनीय सम्प्रदाय से जोड़ना उचित नहीं है।

उमास्वाति का जन्म-स्थल एवं कार्यक्षेत्र

तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति ने तत्त्वार्थ-भाष्य को अन्तिम प्रशस्ति में अपने को उच्चैर्नागर शाखा का कहा है तथा अपना जन्म-स्थान न्यग्रोधिका बताया है। अतः उच्चैर्नागर शाखा के उत्पत्ति-स्थल एवं उमास्वाति के जन्म-स्थल का अभिज्ञान (पहचान) करना आवश्यक है। उच्चैर्नागर शाखा का उल्लेख न केवल तत्त्वार्थ-भाष्य^१ में उपलब्ध होता है, अपितु श्वेताम्बर परम्परा में मान्य कल्पसूत्र की स्थविरावली^२ में तथा मथुरा के अभिलेखों^३ में भी उपलब्ध होता है। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार उच्चैर्नागर शाखा कोटिकगण की एक शाखा थी। मथुरा के २० अभिलेखों में कोटिकगण तथा नौ अभिलेखों में उच्चैर्नागर शाखा का उल्लेख मिलता है। कोटिकगण कोटिवर्ष के निवासी आर्य सुस्थित से निकला था^४। कोटिवर्ष की पहचान पुरातत्त्वविदों ने उत्तर बंगाल के फ़रीदपुर से की है^५। इसी कोटिकगण के आर्य शान्ति श्रेणिक से उच्चैर्नागर शाखा के निकलने का उल्लेख है। कल्पसूत्र के गण, कुल और शाखाओं का सम्बन्ध व्यक्तियों या स्थानों (नगरों) से रहा है जैसे—

१. तत्त्वार्थभाष्य अन्तिम-प्रशस्ति, श्लोक सं० ३, ५

२. कल्पसूत्र, स्थविराली २१८

३. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-२ लेखक्रमांक, १०, २०, २२, २३, ३१, ३५, ३६, ५०, ६४, ७१

४. कल्पसूत्र स्थविरावली, २१६

५. ऐतिहासिक स्थानावली (ले० विजयेन्द्र कुमार माथुर) पृ० सं० २३१

वारणगण, वारणावर्त से सम्बन्धित था, कोटिकगण कोटिवर्ष से संबंधित था, यद्यपि कुछ गण व्यक्तियों से भी सम्बन्धित थे। शाखाओं में कौशम्बिया, कोडम्बानी, चन्द्रनागरी, माध्यमिका, सौराष्ट्रिका, उच्चैनगिर आदि शाखाएँ मुख्यतया नगरों से सम्बन्धित रही हैं।

उच्चैनगिर शाखा का उत्पत्ति स्थल ऊँचेहरा (म० प्र०)

यहाँ हम उच्चैनगिर शाखा के सन्दर्भ में ही चर्चा करेंगे। विचारणीय प्रश्न यह है कि वह उच्चैनगिर कहाँ स्थित था, जिससे यह शाखा निकली थी। मुनि श्री कल्याणविजय जी और हीरालाल कापड़िया ने कनिधम को आधार बनाते हुए, इस उच्चैनगिर शाखा का सम्बन्ध वर्तमान बुलन्दशहर पूर्वनाम वरण से जोड़ने का प्रयत्न किया है। पं० सुखलाल जी ने भी तत्त्वार्थ को भूमिका में इसी का अनुसरण किया है। कनिधम लिखते हैं कि "वरण या बारण यह नाम हिन्दू इतिहास में अज्ञात है। 'वरण' के चार सिक्के बुलन्दशहर से प्राप्त हुए हैं। मुसलमान लेखकों ने इसे वरण कहा है। मैं समझता हूँ कि यह वही जगह होगी और इसका नामकरण राजा अहिबरण के नाम के आधार पर हुआ होगा जो कि तोमर वंश से सम्बन्धित था और जिसने यह किला बहुत पुराना है और एक ऊँचे टीले पर बना हुआ है जिसके आधार पर हिन्दुओं द्वारा यह ऊँचा गाँव या ऊँचा नगर कहा गया है और मुसलमानों ने उसे बुलन्दशहर कहा है।" यद्यपि कनिधम ने कहीं भी इसका सम्बन्ध उच्चैनगिर शाखा से नहीं बताया, किन्तु उनके द्वारा बुलन्दशहर का ऊँचानगर के रूप में उल्लेख होने से मुनि कल्याणविजय जी और कापड़िया जी ने तथा बाद में पं० सुखलाल जी ने उच्चैनगिर शाखा को बुलन्दशहर से जोड़ने का प्रयास किया। प्रो० कापड़िया ने यद्यपि अपना कोई स्पष्ट अभिमत नहीं दिया है। वे लिखते हैं "इस शाखा का नामकरण किसी नगर के आधार पर होना हुआ होगा, किन्तु इसकी पहचान अपेक्षाकृत कठिन है, क्योंकि बहुत सारे ऐसे ग्राम और शहर हैं जिनके अन्त में 'नगर' नाम पाया जाता है। वे आगे भी लिखते हैं कि कनिधम का विश्वास है कि यह ऊँचानगर से सम्बन्धित होगी।" चूँकि कनिधम ने आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया के १४वें खण्ड में बुलन्दशहर का समीकरण ऊँचा नगर से किया था। इसी

1. Archaeologica! Survey of India. Vol/. 14, p, 47

२. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् (द्वितीय विभाग) प्रस्तावना, हीरालाल कापड़िया,
पृ० ६

आधार पर मुनि कल्याणविजय जो ने यह लिख दिया है “ऊँचा नगरी शाखा प्राचीन ऊँचा नगरी से प्रसिद्ध हुई थी। ऊँचा नगरी को आजकल बुलन्दशहर कहते हैं।” इस सम्बन्ध में पं० मुखलाल जो का कथन है— ‘उच्चैर्नगर’ शाखा का प्राकृत नाम ‘उच्चानागर’ मिलता है। यह शाखा किसी ग्राम या शहर के नाम पर प्रसिद्ध हुई होगी, यह तो स्पष्ट दीखता है; परन्तु यह ग्राम कौन-सा था, यह निश्चित करना कठिन है। भारत के अनेक भागों में ‘नगर’ नाम से या अन्त में ‘नगर’ शब्दवाले अनेक शहर तथा ग्राम हैं। ‘बड़नगर’ गुजरात का पुराना तथा प्रसिद्ध नगर है। बड़ का अर्थ मोटा (विशाल) और मोटा का अर्थ कदाचित् ऊँचा भी होता है। लेकिन गुजरात में बड़नगर नाम भी पूर्वदेश के उस अथवा उस जैसे नाम के शहर से लिया गया होगा, ऐसी भी विद्वानों की कल्पना है। इससे उच्चनागर शाखा का बड़नगर के साथ ही सम्बन्ध है, यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त जब उच्चनागर शाखा उत्पन्न हुई, उस काल में बड़नगर था या नहीं और था तो उसके साथ जैतों का कितना सम्बन्ध था, यह भी विचारणीय है। उच्चनागर शाखा के उद्भव के समय जैनाचार्यों का मुख्य विहार गंगा-यमुना को तरफ होने के प्रमाण मिलते हैं। अतः बड़नगर के साथ उच्चनागर शाखा के सम्बन्ध का कल्पना सबल नहीं रहती। इस विषय में कनिंघम का कहना है “यह भौगोलिक नाम उत्तर-पश्चिम प्रान्त के आधुनिक बुलन्दशहर के अन्तर्गत ‘उच्चनगर’ नाम के किले के साथ मेल खाता है^२।”

किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ऊँचानागर शाखा का सम्बन्ध बुलन्दशहर से तभी जोड़ा जा सकता है जब उसका अस्तित्व ई०पू० प्रथम शताब्दी के लगभग रहा हो। मात्र यही नहीं उस काल में वह ऊँचानगर कहलाता भी हो। इस नगर के प्राचीन ‘वरण’ नाम का उल्लेख तो है, किन्तु यह भी ९-१०वीं शताब्दी से पूर्व का ज्ञात नहीं होता है। वारण (वरण) नाम से कब इसका नाम बुलन्दशहर हुआ, इसके सम्बन्ध में उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त की है। यह हिन्दुओं द्वारा ऊँचागाँव या ऊँचानगर कहा जाता था—मुझे तो यह भी उनकी कल्पना सी प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में वे कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर

१. पट्टावली पराग संग्रह (मुनि कल्याण विजय), पृ० ३७

२. तत्त्वार्थसूत्र, (विवेक पं० मुखलाल संघवी), प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, पृ० सं० ४

सके हैं। बरन नाम का उल्लेख भी मुस्लिम इतिहासकारों ने दसवीं सदी के बाद ही किया है^१। इतिहासकारों ने इस ऊँचागाँव किले का सम्बन्ध तोमर वंश के राजा अहिवरण से जोड़ा है, अतः इसकी अवस्थिति ईसा के पाँचवीं-छठीं शती से पूर्व तो सिद्ध ही नहीं होती है। यहाँ से मिले सिक्कों पर 'गोवितसवाराणये' ऐसा उल्लेख है^२। स्वयं कनिष्क ने भी यह सम्भावना व्यक्त की है कि इन सिक्कों का सम्बन्ध वारणाव या वारणावत से रहा होगा^३। वारणावत का उल्लेख महाभारत में भी है जहाँ पाण्डवों ने हस्तिनापुर से निकलकर विश्राम किया था तथा जहाँ उन्हें जिन्दा जलाने के लिये कौरवों द्वारा लाक्षागृह का निर्माण करवाया गया था^४। वारणावा (वारणावत) मेरठ से १६ मील और बुलन्दशहर (प्राचीन नाम बरन) से ५० मील की दूरी पर हिंडोन और कृष्णा नदी के संगम पर स्थित है। मेरी दृष्टि में यह वारणावत वहीं है जहाँ से जैनों का 'वारणगण' निकला था। 'वारणगण का उल्लेख भी कल्पसूत्र स्थविरावली एवं मथुरा के अभिलेखों में उपलब्ध होता है'^५ अतः वारणावत (वारणावत) का सम्बन्ध वारणगण से हो सकता है त कि उच्चैनगिरो शाखा से, जो कि कोटिगण की शाखा थी। अतः अब हमें इस भ्रान्ति का निराकरण कर लेना चाहिए, कि उच्चैनगर शाखा का सम्बन्ध किसी भी स्थिति में बुलन्दशहर से नहीं हो सकता है।

यह सत्य है कि उच्चैनगर शाखा का सम्बन्ध किसी ऊँचानगर से ही हो सकता है। इस सन्दर्भ में हमने इससे मिलते-जुलते नामों की खोज प्रारंभ की। हमें ऊँचाहार, ऊँचडीह, ऊँचीबस्ती, ऊँचीलिया, ऊँचाना, ऊँचेहरा आदि कुछ नाम प्राप्त हुए।^६ हमें इन नामों में ऊँचहार (३० प्र०) और ऊँचेहरा (१० प्र०) ये दो नाम अधिक निकट प्रतीत हुए। ऊँचाहार की सम्भावना भी इस लिए हमें उचित नहीं लगी

१. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० सं० ६०८, ६४०
२. कनिष्क-अभिलेखिकल सर्वे आफ इण्डिया, वाल्यू० १४, पृ० १४७
३. वही,
४. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० सं० ८४३-४४
५. कल्पसूत्र, स्थविरावली, २१२
६. ऊँछ नामक अन्य नगरों के लिए देखिए--The Ancient Geography of India (Cunningham) pp. 204-205

कि उसकी प्राचीनता के सन्दर्भ में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। अतः हमने ऊँचेहरा को ही अपनी गवेषणा का विषय बनाना उचित समझा। ऊँचेहरा मध्यप्रदेश के सतना जिले में सतना रेडियो स्टेशन से ११ कि०मी० दक्षिण की ओर स्थित है। ऊँचेहरा से ७ कि०मी० उत्तर-पूर्व की ओर भरहुत का प्रसिद्ध स्तूप स्थित है, इससे इस स्थान की प्राचीनता का भी पता लग जाता है। वर्तमान ऊँचेहरा से लगभग २ कि०मी० की दूरी पर पहाड़ के पठार पर यह प्राचीन नगर स्थित था, इसी से इसका ऊँचानगर नामकरण भी सार्थक सिद्ध होता है। वर्तमान में यह बीरान स्थल 'खोह' कहा जाता है। वहाँ के नगर निवासियों ने मुझे यह भी बताया कि पहले यह उच्चकल्पनगरी कहा जाता था और यहाँ से बहुत सी पुरातात्विक सामग्री भी निकली थी। यहाँ से गुप्त काल अर्थात् ईसा की पाँचवीं शती के राजाओं के कई दानपत्र प्राप्त हुए हैं। इन ताम्र-दानपत्रों में उच्चकल्प (उच्छकल्प) का स्पष्ट उल्लेख है, ये दान-पात्र गुप्त सं० १५६ से गुप्त सं० २०९ के बीच के हैं। (विस्तृत विवरण के लिये देखें ऐतिहासिक स्थानावली—विजयेन्द्र कुमार माथुर, पृ० २६०-२६१)। इससे इस नगर की गुप्तकाल में तो अवस्थिति स्पष्ट हो जाती है। पुनः जिस प्रकार विदिशा के समीप सांची का स्तूप निर्मित हुआ है उसी प्रकार इस उच्चैनगर (ऊँचेहरा) के समीप भरहुत का स्तूप निर्मित हुआ था और यह स्तूप ई० पू० दूसरी या प्रथम शती का है। इतिहासकारों ने इसे शुंग काल का माना है। भरहुत के स्तूप के पूर्वी तोरण पर 'वाच्छिपुत्त धनभूति का उल्लेख है।^१ पुनः अभिलेखों में 'सुगनं रजे' ऐसा उल्लेख होने से शुंग काल में इसका होना सुनिश्चित है।^२ अतः उच्चैनगर शाखा का स्थापना काल (लगभग ई० पू० प्रथम शती) और इस नगर का सत्ताकाल समान ही है। अतः इसे उच्चैनगर शाखा का उत्पत्ति स्थल मानने में काल दृष्टि से कोई बाधा नहीं है। ऊँचेहरा (उच्चकल्पनगर) एक प्राचीन नगर था, इसमें अब कोई संदेह नहीं रह जाता है। यह नगर वैशाली या पाटलिपुत्र से वाराणसी होकर भरुकच्छ को जाने वाले अथवा श्रावस्ती से कौशाम्बी होकर विदिशा, उज्जयिनी और भरुकच्छ जाने वाले मार्ग में स्थित है। इसी

१. भरहुत (डॉ० रमानाथ मिश्र), प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, (म० प्र०) भूमिका पृ० १८

२. वही, पृ० १८-१९

प्रकार वैशाली-पाटलिपुत्र से पद्मावती (पँवाया), गोपाद्रि (ग्वालियर) होते हुए मथुरा जाने वाले मार्ग पर भी इसकी अवस्थिति थी। उस समय पाटलीपुत्र से गंगा और यमुना के दक्षिण से होकर जाने वाला मार्ग ही अधिक प्रचलित था, क्योंकि इसमें बड़ी नदियाँ नहीं आती थीं, मार्ग पहाड़ी होने से कीचड़ आदि भी अधिक नहीं होता था। जैन साधु प्रायः यही मार्ग अपनाते थे।

प्राचीन यात्रा मार्गों के अधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि ऊँचानगर की अवस्थिति एक प्रमुख केन्द्र के रूप में थी। यहाँ से कौशाम्बी, प्रयाग, वाराणसी आदि के मार्ग थे। पाटलिपुत्र को गंगा-यमुना आदि बड़ी नदियों को बिना पार किये जो प्राचीन स्थल मार्ग था, उसके केन्द्र-नगर के रूप में उच्चकल्प नगर (ऊँचानगर) की स्थिति सिद्ध होती है। यह एक ऐसा मार्ग था, जिसमें कहीं भी कोई बड़ी नदी नहीं आती थी। अतः सार्थ निरापद समझकर इसे ही अपनाते थे। प्राचीन काल से आज तक यह नगर धातुओं के मिश्रण के बर्तनों हेतु प्रसिद्ध रहा है। आज भी वहाँ कांसे के बर्तन सर्वाधिक मात्रा में बनते हैं। ऊँचेहरा का उच्चैर् शब्द से जो ध्वनि-साम्य है वह भी हमें इसी निष्कर्ष के लिए बाध्य करता है कि उच्चैनगर शाखा की उत्पत्ति इसी क्षेत्र से हुई थी।

उमास्वाति का जन्म स्थान नागोद (म० प्र०)

उमास्वाति ने अपना जन्म स्थान न्यग्रोधिका बताया है। इस संबंध में भी विद्वानों ने अनेक प्रकार के अनुमान किये हैं। चूँकि उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य की रचना कुसुमपुर (पटना) में की थी।^१ अतः अधिकांश लोगों ने उमास्वाति के जन्मस्थल को पहचान उसी क्षेत्र में करने का प्रयास किया है। न्यग्रोध को वट भी कहा जाता है। इस आधार पर पहाड़पुर के निकट बटगोहलो, जहाँ से पंचस्तूपान्वय का एक ताम्र-लेख मिला है, से भी इसका समीकरण करने का प्रयास किया है। मेरी दृष्टि में ये धारणाएँ समुचित नहीं हैं। उच्चैनगर शाखा, ऊँचेहरा से सम्बन्धित थी, उसमें उमास्वाति के दोषित होने का अर्थ यही है कि वे उसके उत्पत्ति स्थल के निकट ही कहीं जन्मे होंगे। उच्चैनगर या ऊँचेहरा से मथुरा जहाँ उच्चनागरी शाखा के अधिकतम उल्लेख प्राप्त हुए हैं तथा पटना जहाँ उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य की रचना की, दोनों ही लगभग समान दूरी पर अवस्थित रहे हैं। वहाँ से दोनों लगभग ३५० कि० मी०

१. तत्त्वार्थसूत्र, भूमिका (प्र० सुखलालजी), पृ० ५

की दूरी पर अवस्थित हैं और किसी जैन साधु के द्वारा यहाँ से एक माह की पदयात्रा कर दोनों स्थलों पर आसानी से पहुँचा जा सकता था। स्वर्ण उमास्वाति ने ही लिखा है कि वे विहार (पदयात्रा) करते हुए कुमुमपुर (पटना) पहुँचे थे (विहरतापुरवरेकुमुमनाम्नि)।^१ इससे यही लगता है कि न्यग्रोध, (नागोद) कुमुमपुर (पटना) के बहुत समोप नहीं था। डॉ० हीरालाल जैन ने संघ विभाजन स्थल रहुवीरपुर की पहचान दक्षिण में महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले के राहुरी ग्राम से और उमास्वाति के जन्मस्थल की पहचान उसी के समोप स्थित 'निधोज' से की, किन्तु यह ठीक नहीं है।^२ प्रथम तो व्याकरण की दृष्टि से न्यग्रोध का प्राकृत रूप नागोद होता है, निधोज नहीं। दूसरे उमास्वाति जिस उच्चैर्नागर शाखा के थे, वह शाखा उत्तर भारत की थी, अतः उनका सम्बन्ध उत्तर भारत से ही है। अतः उनका जन्म स्थल भी उत्तर भारत में ही होगा। उच्चानगरी शाखा के उत्पत्ति स्थल ऊँचेहरा से लगभग ३० कि० मी० पश्चिम की ओर 'नागोद' नाम का कस्बा आज भी है। आजादी के पूर्व यह एक स्वतन्त्र राज्य था और ऊँचेहरा इसी राज्य के अधीन आता था। नागोद के आस-पास भी जो प्राचीन सामग्री मिली है उससे यही सिद्ध होता है कि यह भी एक प्राचीन नगर था। प्रो० के० डी० बाजपेयी ने नागोद से २४ कि० मो० दूर नचना के पुरातात्विक महत्त्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है।^३ नागोद को अवस्थिति पन्ना (म० प्र०), नचना और ऊँचेहरा के मध्य है। इस क्षेत्रों में शुककाल से लेकर ९वीं-१०वीं शती तक को पुरातात्विक सामग्री मिलती है, अतः इसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। नागोद न्यग्रोध का ही प्राकृत रूप है, अतः सम्भावना यही है कि उमास्वाति का जन्म स्थल यही नागोद था और जिस उच्चानगरी शाखा में वे दीक्षित

१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, स्वोपज्ञ भाष्य, अन्तिम प्रशस्ति, श्लोक सं० ३
२. दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्शन, प्रका० दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई, दिगम्बर १९४४ में मुद्रित 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' नामक प्रो० हीरालाल जैन का लेख, पृ० ७
३. संस्कृति संन्धान (सम्पा० डॉ० क्षिनकू यादव) प्रका० राष्ट्रीय मानव-संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी बाल्यूम III, १९९० में मुद्रित 'बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक धरोहर, : नचना नामक प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी का लेख, पृ० ३१

हुए थे, वह भी उसी के समीप स्थित ऊँचेहरा (उच्चकल्प नगर) से उत्पन्न हुई थी। तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति में उमास्वाति की माता को वात्सी कहा गया है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान नागोद और ऊँचेहरा दोनों ही प्राचीन वत्स देश के अधीन ही थे। भरहुत और इस क्षेत्र के आस-पास जो कला का विकास देखा जाता है, वह कौशाम्बी अर्थात् वत्सदेश के राजाओं के द्वारा ही किया गया था। ऊँचेहरा वत्सदेश के दक्षिण का एक प्रसिद्ध नगर था। भरहुत के स्तूप के निर्माण में भी वात्सी गोत्र के लोगों का महत्त्वपूर्ण योगदान था, ऐसा वहाँ से प्राप्त अभिलेखों से प्रमाणित होता है। भरहुत के स्तूप के पूर्वी तोरणद्वार पर वाच्छोपुत्त घनभूति का उल्लेख है।^१ अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उमास्वाति का जन्मस्थल नागोद मध्य प्रदेश (न्यग्रोध) और उनकी उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल ऊँचेहरा (म० प्र०) ही है। तथा उन्होंने वर्तमान पटना (कुसुमपुर) में अपना तत्त्वार्थ भाष्य लिखा था अतः वे उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में हुए हैं।

उपसंहार

तत्त्वार्थसूत्र के संदर्भ में उपर्युक्त विस्तृत विवेचन के पश्चात् में जिन निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ, वे निम्न हैं—

१. जहाँ तक ग्रन्थ के नाम का प्रश्न है चाहे हम उसे तत्त्वार्थसूत्र माने या तत्त्वार्थाधिगमसूत्र माने, इससे उसकी परम्परा के निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिलती है। यदि पं० फूलचन्दजी शास्त्री के अनुसार एक बार यह भी मान लिया जाय कि तत्त्वार्थाधिगमसूत्र यह नाम भाष्य का है मूलसूत्र का नहीं, तो भी इससे उसके स्वरूप और परम्परा में कोई अन्तर नहीं आता है। वैसे तो तत्त्वार्थसूत्र के दोनों परम्परा में ये दोनों और दूसरे अनेक नाम प्रचलित रहे हैं। अतः ग्रन्थ नाम का विवाद सार्थक नहीं है।

२. जहाँ तक तत्त्वार्थ के कर्ता के नाम का प्रश्न है वह उमास्वाति ही है। गृध्रपिच्छ या वाचक उमास्वाति के विशेषण हो सकते हैं, किन्तु उनके नाम नहीं। उनके नाम के साथ गृध्रपिच्छ विशेषण होने से ही न तो वे दिगम्बर या यापनीय सिद्ध होते हैं और न वाचक विशेषण होने से श्वेताम्बर सिद्ध होते हैं। फिर भी विद्वानों ने ऐसी अवधारणा बनाई है। मेरो दृष्टि में ये दोनों ही विशेषण उत्तर भारत की अविभक्त उस निग्रन्थधारा

में दिये जाना संभव है, जिससे एक ओर यापनीय परम्परा का और दूसरी ओर श्वेताम्बर परम्परा का विकास हुआ। वाचक विशेषण के प्रमाण तो नन्दिसूत्र स्थविराली में मिलते ही हैं। क्योंकि इस कालतक उत्तर भारत के मुनि ऊनी रजोहरण के स्थान पर पिच्छि (प्रतिलेखन) रखते थे, अतः गृध्रपिच्छ विशेषण से भी उन्हें उत्तर भारत की निर्ग्रन्थधारा का मानने से कोई बाधा नहीं आती है।

३. काल की दृष्टि से उमास्वति ईस्वी सन् को प्रथम शताब्दी के पश्चात् और चतुर्थ शताब्दी के पूर्व हुए हैं। प्रो० ढाकी के द्वारा उनका काल ईस्वी सन् ३७५-४०० माना गया है। उनके इस काल के आधार पर उन्हें न तो श्वेताम्बर, न दिगम्बर और न यापनीय ही कहा जा सकता है। वस्तुतः वे उस काल में हुए हैं जब उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में आचार एवं विचार सम्बन्धी अनेक मतभेद अस्तित्व में आ गये थे, किन्तु उस युग तक साम्प्रदायिक ध्रुवोत्करण होकर श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय परम्पराओं का जन्म नहीं हुआ था। हमें पाँचवीं शताब्दी के पूर्व न तो अभिलेखों में और न साहित्यिक स्रोतों में ऐसे कोई संकेत मिलते हैं, जिसके आधार पर यह माना जा सके कि उस काल तक श्वेताम्बर (श्वेतपट्ट) दिगम्बर या यापनीय ऐसे नाम अस्तित्व में आ गये थे। यद्यपि वस्त्र पात्रादि को लेकर विवाद का प्रादुर्भाव हो चुका था, किन्तु संघ स्पष्ट रूप से खेमों में विभाजित होकर श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर ऐसे नामों से अभिहित नहीं हुआ था। उस काल तक मान्यता भेद और आचारभेद को लेकर विभिन्न गण, कुल और शाखाएँ तो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती थीं, किन्तु सम्प्रदाय नहीं बने थे। अतः काल की दृष्टि से उमास्वति न तो श्वेताम्बर थे और न यापनीय ही थे, अपितु वे उस पूर्वज धारा के प्रतिनिधि हैं जिससे ये दोनों परम्पराएँ विकसित हुई हैं। हाँ इतना अवश्य है कि दक्षिण भारत की अचेल धारा जो आगे चलकर दिगम्बर नाम से जानी गई, उससे वे सीधे रूप में सम्बन्धित नहीं थे।

४. यह सत्य है कि तत्त्वार्थसूत्र की कुछ मान्यताएँ श्वेताम्बर आगमों के और कुछ मान्यताएँ दिगम्बरमान्य आगमों के विरोध में जाती हैं। यह भी सत्य है कि उनकी कुछ मान्यताएँ यापनीय ग्रन्थों में यथावत् रूप में पायी जाती हैं, किन्तु इस सबसे हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते कि वे श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय परम्परा के थे। जैसा कि हमने पूर्व में

संकेत किया है—उमास्वाति उस काल में हुए हैं जब वैचारिक एवं आचारगत मतभेदों के होते हुए भी साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण नहीं हुआ था। इसी का यह परिणाम है कि उनके ग्रन्थों में कुछ तथ्य श्वेताम्बरों के अनुकूल और कुछ प्रतिकूल, कुछ तथ्य दिगम्बरों के अनुकूल और कुछ प्रतिकूल तथा कुछ तथ्य यापनीयों के अनुकूल एवं कुछ उनके प्रतिकूल पाये जाते हैं। वस्तुतः उनकी जो भी मान्यताएँ हैं, उच्चनागर शाखा की मान्यताएँ हैं। अतः मान्यताओं के आधार पर वे कोटिकगण की उच्चनागर शाखा के थे। उन्हें श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय मान लेना संभव नहीं है।

५. उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के आधार के रूप में जहाँ श्वेताम्बर विद्वान् श्वेताम्बर मान्य आगमों को प्रस्तुत करते हैं, वहीं दिगम्बर विद्वान् षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को तत्त्वार्थसूत्र का आधार बताते हैं। किन्तु ये दोनों ही मान्यताएँ भ्रांत हैं, क्योंकि उमास्वाति के काल तक न तो षट्खण्डागम और न कुन्दकुन्द के ग्रन्थ अस्तित्व में आये थे और न श्वेताम्बर मान्य आगमों की बलभी वाचना ही हो पायी थी। षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थ जिनमें गुणस्थान सिद्धान्त का विकसित रूप उपलब्ध है, तत्त्वार्थ के पूर्ववर्ती नहीं हो सकते हैं। गुणस्थान सिद्धान्त और सप्तभंगी की अवधारणाएँ जो तत्त्वार्थ में अनुपस्थित हैं वे लगभग पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अस्तित्व में आयीं। अतः उनसे युक्त ग्रन्थ तत्त्वार्थ के आधार नहीं हो सकते हैं। बलभी की वाचना भी विक्रम की छठीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ही सम्पन्न हुई है अतः बलभी वाचना में सम्पादित आगम-पाठ भी तत्त्वार्थसूत्र का आधार नहीं माने जा सकते हैं, किन्तु यह मानना भी भ्रांत होगा, कि तत्त्वार्थ का आधार आगम ग्रन्थ नहीं थे। बलभी वाचना में आगमों का संकलन एवं सम्पादन तो हुआ तथा उन्हें लिपि बद्ध भी किया गया। किन्तु उसके पूर्व उन आगम ग्रन्थों का अस्तित्व तो था ही, क्योंकि बलभी में कोई नये आगम नहीं बने थे। उमास्वाति के सम्मुख जो आगम ग्रन्थ उपस्थित थे, वे न तो देवधि की बलभी (वीर० सं० ९८०) के थे और न स्कन्दिल की माथुरी वाचना वीर नि० सं० ८४० के थे, अपितु उसके पूर्व की आर्यरक्षित की वाचना के थे। यही कारण है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र की अवधारणाओं में भी कहीं-कहीं बलभी वाचना से भिन्नता परिलक्षित होती है। ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में जो आगम ग्रन्थ उपस्थित थे, वे ही उमास्वाति

के तत्त्वार्थसूत्र का उपजोव्य बने है। साथ ही यह भी सत्य है कि उन प्राचीन आगमों का माथुरी और बलभी वाचनाओं में संकलन एवं सम्पादन हुआ है, नव-निर्माण नहीं, अतः यह मानना भी बिल्कुल गलत होगा कि तत्त्वार्थ के कर्ता उमास्वाति के सम्मुख जो आगम उपस्थित थे, वे वर्तमान श्वेताम्बर मान्य आगमों से बिल्कुल ही भिन्न थे। वे मात्र इनका पूर्व संस्करण थे।

६. तत्त्वार्थ के भाष्यमान्य और सर्वार्थसिद्धिमान्य ऐसे दो पाठ प्रचलित हैं। इनमें कौन-सा पाठ प्राचीन और मौलिक है तथा कौन-सा विकसित है? यह विषय विवादास्पद रहा है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जहाँ सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ भाषा, व्याकरण और विषयवस्तु तीनों की दृष्टि से अपेक्षाकृत शुद्ध, व्याकरण सम्मत और विकसित है, वहीं भाष्यमान्य मूलपाठ उसको अपेक्षा भाषायी दृष्टि से पूर्ववर्ती और कम विकसित प्रतीत होता है। अतः भाष्यमान्यपाठ की प्राचीनता सुस्पष्ट है। सुजिका ओहिरो आदि विदेशी विद्वानों का भी यही मन्तव्य है।

७. इसी से सम्बद्ध ही एक प्रश्न यह उठता है कि इस पाठ परिवर्तन का उत्तरदायी कौन है? सामान्यतया श्वेताम्बर विद्वानों की यह मान्यता रही है कि यह पाठ परिवर्तन दिगम्बर आचार्यों के द्वारा किया गया, किन्तु पूर्व चर्चा में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि भाष्यमान्यपाठ का संशोधन करके जो सर्वार्थसिद्धिमान्यपाठ निर्धारित हुआ है, उस परिवर्तन का दायित्व दिगम्बर आचार्यों पर नहीं जाता है। यदि पूज्यपाद देवन्दी ने ही इस पाठ का संशोधन किया होता तो वे 'एकादश जिने' आदि उन सूत्रों को निकाल देते या संशोधित कर देते जो दिगम्बर परम्परा के पक्ष में नहीं जाते हैं। इस सम्बन्ध में मेरा निष्कर्ष यह है कि सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ किसी यापनीय आचार्य द्वारा संशोधित है। पूज्यपाद देवन्दी को जिस रूप में उपलब्ध हुआ है उन्होंने उसी रूप में उसको टीका लिखी है। पुनः यह संशोधित पाठ भी स्वयं तत्त्वार्थभाष्य पर आधारित है। इसमें अनेक भाष्य के वाक्य या वाक्यांश सूत्र के रूप में ग्रहीत कर लिए गये हैं। जहाँ तक भाष्यमान्य पाठ का प्रश्न है, वही तत्त्वार्थसूत्र का मूल पाठ रहा है और श्वेताम्बर आचार्यों ने भी कोई पाठ संशोधन नहीं किया है—सिद्धसेन गणि को वह पाठ जिस रूप में उपलब्ध हुआ है, उन्होंने उसे वैसा ही रखा है यदि वे उसे संशोधित करते या सर्वार्थसिद्धि के पाठ के आधार

पर उसे अपनी परम्परानुसार नया रूप देते, तो फिर मूल एवं भाष्य में जिन मूल भेदों की चर्चा वे करते हैं, वह सम्भव ही नहीं होती, अतः पाठ संशोधन न तो दिग्म्बरों ने किया है और न श्वेताम्बरों ने। उसका उत्तरदायित्व तो यापनीय आचार्यों पर जाता है।

८. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य की स्वोपज्ञता भी एक विवाद का विषय रही है। इस सन्दर्भ में समस्त विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भाष्य की स्वोपज्ञता निर्विवाद है। भाष्य तत्त्वार्थसूत्र की अन्य टीकाओं की अपेक्षा अविकसित है उसमें गुणस्थान, स्याद्वाद, सप्तभंगी जैसे विषयों का स्पष्ट अभाव है। पं० नाथूरामजी प्रेमी आदि कुछ दिग्म्बर विद्वानों ने भी उसकी स्वोपज्ञता स्वीकार किया है, अतः भाष्य की स्वोपज्ञता निर्विवाद है।

९. भाष्य में जो वस्त्र-पात्र सम्बन्धी उल्लेख है, वे वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा के पोषक न होकर उस स्थिति के सूचक है, जो ई० सन् की दूसरी-तीसरी शती में उत्तरभारत के निर्ग्रन्थ संघ की थी और जिनका अंकन मथुरा की मुनि प्रतिमाओं में भी हुआ है। मथुरा के इस काल के अंकनों में मुनि नग्न है, किन्तु उसके हाथ में कम्बल और मुखवस्त्रिका है। कुछ मुनि नग्न होकर भी पात्र युक्त झोली हाथ में लिए हुए हैं, तो कुछ झोली रहित मात्र पात्र लिए हुए हैं। यह सब उस संक्रमण काल का सूचक है जिसके कारण विवाद हुआ और फलतः श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा (उत्तरभारत की अचेल धारा) का विकास हुआ।

भाष्य में मुनि वस्त्र के लिए चीवर शब्द का प्रयोग हुआ। कल्प-सूत्र में भी महावीर जिस एक वस्त्र को लेकर दोक्षित हुए और एक वर्ष और एक माह पश्चात् जिसका परित्याग कर दिया था—उसे चीवर कहा गया है। जिस प्रकार महावीर लगभग एक वर्ष तक एक वस्त्र को रखते हुए भी नग्न रहे। यही स्थिति उमास्वाति के काल के सचेल निर्ग्रन्थ श्रमणों की है—वे सचेल होकर भी नग्न है। पाली त्रिपिटिक में निर्ग्रन्थों को जो एक शाटक कहा गया है, वह स्थिति भी तत्त्वार्थ भाष्य के काल तक उत्तर भारत में यथावत चल रही थी। मथुरा में एक ओर वस्त्र धारण किये एक भी मुनि प्रतिमा नहीं मिली, तो दूसरी ओर पूर्णतः निर्वस्त्र प्रतिमा भी नहीं मिली है। क्योंकि उनके गण, कुल, शाखायें श्वेताम्बर मान्य कल्पसूत्र के अनुसार हैं। अतः वे श्वेताम्बरों के पूर्वज आचार्य हैं, इसमें भी सन्देह नहीं रह जाता है।

१०. उमास्वाति को यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम आदि का अनुसरण-कर्ता मानकर यापनीय कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि यापनीय परम्परा पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् ही अस्तित्व में आई है और षट्खण्डागम आदि में गुणस्थान सिद्धान्त का विस्तृत विवरण होने से वे तत्त्वार्थसूत्र से पर-वर्ती है। वस्तुतः उमास्वाति श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही धाराओं की पूर्वज उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा की उच्चनागर शाखा में हुए हैं। यह सम्भव है कि वे सचेल पक्ष के समर्थक रहे हों, किन्तु इस आधार पर उन्हें श्वेताम्बर नहीं कहा जा सकता। अपवाद रूप में सचेलता तो यापनीयों को भी मान्य थी। हम देखते हैं कि मथुरा के शिल्प में मुनियों की मूर्तियों के जो अंकन हैं, उसमें वे सचेल और सपात्र होकर भी नग्न हैं। इन मूर्तियों के अंकन का काल और उमास्वाति का काल लगभग एक ही है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि चाहे उमास्वाति अपवाद मार्ग में मुनि के द्वारा वस्त्र और पात्र ग्रहण करने के विरोधी भले न हो किन्तु वे उस अर्थ में सचेलता के समर्थक भी नहीं हैं, जिस अर्थ में आज श्वेताम्बर उसका अर्थ ग्रहण करते हैं।

११. वे श्वेताम्बर और यापनीय दोनों के पूर्वज हैं। यद्यपि इतना निश्चित है कि वे दक्षिण भारत की प्राचीन निर्ग्रन्थ धारा से सीधे सम्बद्ध नहीं थे, क्योंकि वे उत्तर भारत में हुए हैं। उनका जन्म-स्थान न्यग्रोधिका और उनकी उच्चनागरशाखा का उत्पत्ति स्थल उच्च-कल्पनगर आज भी उत्तर-पूर्व मध्यप्रदेश में सतना के निकट नागोद और ऊँचेहरा के नाम से अवस्थित हैं। उनका विहार-क्षेत्र भी मुख्य रूप से पटना से मथुरा तक रहा है। इस सबसे यही फलित होता है कि वे दक्षिण भारत की अचेल धारा से सम्बद्ध न होकर उत्तर भारत की उस धारा से सम्बद्ध रहे हैं जिससे आगे चलकर श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं का विकास हुआ है। दक्षिण भारत की निर्ग्रन्थ परम्परा, जो आगे चलकर दिगम्बर नाम से अभिहित हुई, उनसे यापनीयों के माध्यम से ही परिचित हुई है।



यापनीय संघ की विशिष्ट मान्यताएँ

जहाँ तक नव या सप्त तत्त्व, षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, षट्जोवनिकाय, अष्टकर्म, त्रिरत्न, पंचमहाव्रत, रात्रिभोजननिषेध, पंचसमिति, तोनगुप्ति श्रावक के द्वादशव्रत एवं ग्यारह प्रतिमाएँ आदि जैन धर्म के सामान्य सिद्धान्तों का प्रश्न है; यापनीय संघ की मान्यताओं तथा श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं की मान्यताओं में क्रम आदि को छोड़कर कोई मूल-भूत अन्तर नहीं है। अतः यापनीय संघ की धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं के प्रसंग में उनको चर्चा करना मुख्य आवश्यक प्रतीत नहीं होता है। यहाँ हम केवल उन्हीं विशिष्ट मान्यताओं की चर्चा करेंगे, जिनमें यापनीय संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं से मतवैभिन्य रखता है।

हम पूर्व में ही यह सूचित कर चुके हैं कि यापनीय संघ श्वेताम्बरों एवं दिगम्बरों की अतिवादी धाराओं के बीच एक योजक कड़ी है। वह कुछ बातों में दिगम्बर परम्परा के और कुछ बातों में श्वेताम्बर परम्परा के निकट प्रतीत होता है। यदि हम निष्पक्ष रूप से विचार करें तो यापनीय संघ वह मध्यकेन्द्र प्रतीत होता है, जहाँ से वर्तमान श्वेताम्बर और दिगम्बर धाराएँ आचार के कुछ प्रश्नों को लेकर दो भिन्न दिशाओं में प्रस्थान करती हैं। महत्त्वपूर्ण यह है कि वस्त्र-पात्र आदि के विवादास्पद प्रश्नों पर, यापनीय सम्प्रदाय जो दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है—वह आज भी श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं के मध्य योजक कड़ी बन सकता है।

वस्तुतः जब उत्तर भारत में प्रवर्तित महावीर के श्रमणसंघ में वस्त्र-पात्र रखने का आग्रह जोर पकड़ने लगा, भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट एवं आचरित अचेलकत्व अर्थात् जिनकल्प का विच्छेद बता कर उसका उन्मूलन किया जाने लगा और वस्त्र-पात्र के आपवादिक मार्ग (स्थविर-कल्प) को ही तत्कालीन परिस्थितियों में एकमात्र मार्ग माना जाने लगा, तो शिवभूति प्रभृति कुछ प्रबुद्ध मुनियों ने उसका विरोध किया। इस विरोध की फलश्रुति स्वरूप ही उस सम्प्रदाय का जन्म हुआ, जो यापनीयों की पूर्व अवस्था थी और जिसे श्वेताम्बरों ने बोटिक या बोडिय

कहा था। वस्तुतः वस्त्र-पात्र आदि के प्रश्नों पर महावीर की श्रमण-परम्परा को यापनीयों की इस पूर्व परम्परा ने एक यथार्थ दिशा देने का प्रयत्न किया था, किन्तु आग्रही वृत्तियों ने उसकी बात अनसुनी कर दी और संघ विभक्त हो गया। दुर्भाग्य तो यह है कि महावीर की मूल विचारधारा और आचार परम्परा के निकट होते हुए भी यापनीयों को अपने-अपने अतिवादी आग्रहों के कारण श्वेताम्बरों ने मिथ्यादृष्टि, प्रभूत-तर विसंवादी और सर्वापलापी तक कहा और दिग्गम्बरों ने भ्रष्ट एवं जैना-भास बताया। आएँ—सर्वप्रथम तो श्वेताम्बर और दिग्गम्बर परम्पराओं की दृष्टि में यापनीयों की क्या मान्यताएँ थीं, इसे देखें और फिर निष्पक्ष भाव से उनके ग्रन्थों के आधार पर उनकी मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण एवं मूल्यांकन करें।

श्वेताम्बर साहित्य में उल्लिखित यापनीय संघ की मान्यताएँ—

जैसा कि हम पूर्व में देख चुके हैं, श्वेताम्बर साहित्य में यापनीय परम्परा सम्बन्धी प्राचीन उल्लेख बोटिक के नाम से हुए हैं। आवश्यक मूलभाष्य ई० सन् लगभग पाँचवी शती में मात्र यह उल्लेख है कि वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् रथवीरपुर नगर के दीपक उद्यान में आर्य-कृष्ण और शिवभूति के बीच उपधि सम्बन्धी चर्चा के फलस्वरूप बोटिक दृष्टि और बोटिक लिङ्ग की उत्पत्ति हुई और उनके शिष्य कोडिष्ण और कोट्टवीर से एक अलग परम्परा चली।^१ किन्तु यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि वह बोटिक दृष्टि और बोटिक लिङ्ग क्या था? मात्र इतना ही संकेत है कि विवाद का कारण उपधि अर्थात् परिग्रह ही था। उसके पश्चात्कालीन ग्रन्थ विशेषावश्यक भाष्य (ई० सन् छठी शती उत्तरार्ध) में विवाद का विषय वस्त्र और पात्र बतलाये गये हैं।^२ विशेषावश्यकभाष्य में जहाँ शिवभूति वस्त्रादि परिग्रह को कषाय का हेतु बताकर अचेलकत्व या जिनकल्प का समर्थन करते हैं, वहाँ आर्यकृष्ण जिनकल्प के विच्छेद का उद्घोष करते हैं। इससे फलित होता है कि यापनीय (बोटिक) अचेलता पर बल देते थे। अन्य साक्ष्यों से यह भी फलित होता है कि वे पाणीतल भोजी थे अर्थात् पात्र में भोजन ग्रहण नहीं करते थे। इस प्रकार विशेषा-

१. आवश्यकमूलभाष्य, गाथा १४७

(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २५५२ के पूर्व)

२. विशेषावश्यक भाष्य २५५२-२६०९

(आगमोदय समिति-बम्बई) १९२७

वश्यकभाष्य के अनुसार बोटिक भिन्नमत और भिन्नलिङ्ग थे। अभयदेव, स्थानाङ्ग^१ की टीका में वेश और धर्म साधना की दृष्टि से चार प्रकार के पुरुषों की चर्चा करते हुए लिखते हैं, “बोटिकों में स्थित मुनि कारण-वशात् साधु के वेश (लिङ्ग) का त्याग करते हैं किन्तु धर्म अर्थात् चरित्र का त्याग नहीं करते, जबकि निह्वव वेश वही रखते हैं किन्तु धर्म का त्याग कर देते हैं।” दूसरे शब्दों में अभयदेव के अनुसार बोटिकों का बाह्यवेश तो श्वेताम्बर परम्परा के अनुरूप नहीं था, किन्तु उनमें मुनिभाव यथार्थ था। बोटिकों के प्रति यह उदार और सम्मानपूर्ण दृष्टि अभयदेव की अपनी विशिष्टता है। श्वेताम्बर परम्परा में बोटिक को भी निह्वव माना गया है फिर भी अभयदेव जहाँ अन्य निह्ववों को धर्म या चारित्र्यच्युत मानते हैं, वहाँ बोटिकों को चारित्र्यच्युत नहीं मानते हैं। इस प्रकार वे अन्य निह्ववों की अपेक्षा बोटिकों को विशेष सम्मान देते थे। उनकी दृष्टि में बोटिक धर्मच्युत नहीं थे। सम्भवतः अभयदेव के समक्ष बोटिक सम्प्रदाय के कुछ ऐसे मुनि रहे होंगे, जिनमें उन्होंने यथार्थ रूप में मुनि-भाव पाया होगा अन्यथा वे जिनभद्र जैसे समर्थ आचार्य से भिन्न मत कैसे प्रकट करते? अभयदेव के पूर्व हरिभद्र ने आवश्यकनियुक्ति टीका में सभी निह्ववों को मिथ्यादृष्टि कहा है^२ अर्थात् उन्हें मान्यता की दृष्टि से भिन्न बताया है। किन्तु अन्य किसी के मत का सन्दर्भ देते हुए वे कहते हैं कि बोटिक तो द्रव्यलिङ्ग की दृष्टि से भी भिन्न हैं।^३ इस प्रकार हम देखते हैं कि बोटिकों के लिङ्ग अर्थात् मुनिवेश की भिन्नता की चर्चा अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने की है।

बोटिकों के लिङ्ग (बाह्यवेश) की चर्चा के प्रसंग में उन्हें अचेल (वस्त्ररहित) और पाणोत्तलभोजी (पात्ररहित) कहा गया है। हम आवश्यकभाष्य आदि अपेक्षाकृत प्राचीन स्तर के ग्रन्थों में मात्र इतना ही उल्लेख मिलता है। वे संयमोपकरण के रूप में पिच्छी (रजोहरण) और शौचोपकरण के रूप में कमण्डलू (पात्र) रखते थे या नहीं इसकी स्पष्ट चर्चा विशेषावश्यकभाष्य में नहीं है किन्तु पात्र के अभाव में शौच या अंशुद्धि कैसे करते थे, यह विचाराणोय प्रश्न है ? इसके दो ही विकल्प थे—या तो वे शौच के लिए सूखे पत्तों का अथवा नदी, झरने आदि के जल का उपयोग करते होंगे या फिर शौचोपकरण के रूप में पात्र रखते।

१. स्थानाङ्गटीका, अभयदेव—स्थान ४, पृ० २४१

२. आवश्यकनियुक्ति—हरिभद्रटीका

होंगे। यापनीय ग्रन्थ मूलाचार के मूलपाठ में शौचोपकरण के रूप में पात्र (कमण्डल) का उल्लेख भी मुझे नहीं मिला, यद्यपि टीकाकार वसुनन्दी ने इसका उल्लेख किया है, जबकि संयमोपकरण के रूप में पिच्छो रखे जाने का स्पष्ट उल्लेख मूलाचार के मूलपाठ में है। परवर्ती श्वेताम्बर साहित्य में इनके द्वारा प्रतिलेखन, (धम्मकुच्चग) कमण्डलु, सादड़ी (चटाई) एवं आसन रखे जाने की सूचना उपलब्ध होती है।

आचारांगचूर्णि (७वीं शती) में यापनीयों / बोटिको की उपधि के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से उल्लेख उपलब्ध होता। उसमें कहा गया है 'तेण जे इमे सरीरमत्तपरिग्गहा, पाणिपुडभोइणो ते णाम अपरिग्गहा तं जहा उडुं डु बोडिया सारक्खमादि असणादो वा तत्थेव भुंजति जहा बोडिय।' '....जहा बोडिएण धम्मकुच्चगकडसागरादि सेच्छया गहिया'— / अर्थात् बोटिक शरीर मात्र परिग्रह धारी पाणिपुट भोजी थे, उन्होंने स्वेच्छा से धर्म-कूर्चक, कटासन और सादड़ी को ग्रहण किया। इस प्रकार आचारांगचूर्णि के अनुसार बोटिक / यापनीय धर्मकूर्चक अर्थात् प्रतिलेखन या पिच्छी, कट अर्थात् आसन और सादड़ी अर्थात् चटाई ये तीन उपकरण तो रखते ही थे, किन्तु आचारांगचूर्णि के मूलपाठ में इनके आगे 'आदि' शब्द का प्रयोग है। अतः सम्भावना यही है कि इसके अतिरिक्त कमण्डलु आदि भी वे रखते रहे होंगे, किन्तु उसका प्रयोग मात्र शौच के लिए होता रहा होगा क्योंकि इसी ग्रन्थ में उन्हें पाणीतलभोजी भी कहा गया है।

आचारांगचूर्णि के पश्चात् शोलाङ्क की आचारांगटोका में बोटिकों के उपकरणों की सूची के प्रसंग में कुण्डिका, तट्टिका, लम्बणिका, अश्ववालाधिवालादि का उल्लेख हुआ है।^१ यहाँ कुण्डिका—कमण्डलु की तट्टिका आसन की और लम्बणिका चटाई की और अश्ववालाधिवाल पिच्छो या प्रतिलेखन के सूचक माने जा सकते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में स्पष्टरूप से यापनीय शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हरिभद्रसूरि के टीका ग्रंथ ललितविस्तरा (आठवीं शती) में उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में यापनियों के स्त्रीमुक्ति के समर्थन के सम्बन्ध में क्या तर्क थे, इसका उल्लेख हुआ है।

१. मूलाचार, समयसाराधिकार (ज्ञानपोठ) ११२-११६ एवं ११६ की टीका—कुण्डिकादिग्रहण।
२. आचारांगचूर्णि, पृ० १६९
३. वही, पृ० ८२
४. आचारांग शोलाङ्कवृत्ति, पृ० १२२

यापनियों की अन्य मान्यताओं के सम्बन्ध में हरिभद्र ने इस ग्रन्थ में कोई चर्चा नहीं की है। इस उल्लेख से मात्र इतना ही फलित होता है कि यापनीय स्त्री की तद्भव मुक्ति के समर्थक थे। हरिभद्रसूरि ने यापनीय तन्त्र से एक उद्धरण देकर उसकी विस्तृत व्याख्या भी की है। यहाँ उनकी व्याख्या में न जाकर मात्र उनके मूल कथन का ही उल्लेख किया जा रहा है। यापनियों का तर्क था कि स्त्री न तो अजीव (जड़) है, न अभव्य है, वह दर्शन विरोधी भी नहीं है, वह न तो अमनुष्य है और न अनार्य है। वह असंख्य आयु वाली भी नहीं है; वह न तो अतिक्रूर प्रकृति की है और न अनुपशांत मोह (अदमित कषाय) है और न शुद्धाचार से रहित है, वह अशुद्ध शरीर भी नहीं है, न वह व्यवसाय वर्जित है, न अपूर्वकरण की विरोधिनी है, न वह नवमगुणस्थान से रहित है और न लब्धि के अयोग्य है। वह अकल्याण को भाजन भी नहीं है तो फिर वह उत्तम धर्म की साधक क्यों नहीं हो सकती है? हरिभद्र ने यापनीय परम्परा के जिस प्राकृत ग्रन्थ से यह संदर्भ दिया है, वह ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है, विद्वानों को इस दिशा में खोज करना चाहिए, शायद किसी शास्त्र-भण्डार में वह उपलब्ध हो जाये।

हरिभद्रसूरि के उपर्युक्त विवरण के पश्चात् हरिभद्र के ही ग्रन्थ षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्न ने दिगम्बरों के काष्ठासंघ, मूलसंघ, माथुरसंघ और गोप्य (यापनीय) संघ का विवरण देते हुए यापनीयों की मान्यता का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि यापनीय संघ के मुनि नग्न रहते हैं, मयूरपिच्छी रखते हैं और पाणितलभोजी होते हैं। वे नग्न प्रतिमा को पूजते हैं तथा वन्दन करने वाले श्रावकों को धर्मलाभ देते हैं। उनकी ये सब बातें दिगम्बरों के समान हैं, किन्तु वे यह भी मानते हैं कि स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष प्राप्त हो सकता है, केवली भोजन करते हैं और सग्रन्थ अवस्था (सवस्त्र या गृहीवेश) एवं परशासन

१. यापनीयतन्त्रे—“ णो खलु इत्थी अजीवो ण यावि अभव्या ण यावि दंस-
णविरोहिणी णो अमाणुसा अणारिउप्पत्ती णो असंखेज्जाउया णो अइकूरमई
णो ण उवसन्तमोहा णो ण सुद्धाचारा णो असुद्धबोदी णो ववसायवज्जिया
णो अपुव्वकरणविरोहिणी णो णवगुणठाणरहिया णो अजोगा लद्धीए णो
अकल्लाणमायणं ति कइं न उत्तमधम्मसाहिया ।”

—हरिभद्रसूरि, श्री ललितविस्तरा, पृ० ५६

अर्थात् अन्य धर्म परम्परा के वेश से भी मुक्ति सम्भव है।^१ उनके ये विचार श्वेताम्बर परम्परा के अनुकूल हैं। श्वेताम्बर साहित्य में यापनीय मान्यताओं पर अन्य कोई विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं होता है। मात्र कुछ ग्रन्थों में स्त्री-मुक्ति और केवलीभुक्ति के सन्दर्भ में शाकटायन के स्त्रीमुक्ति प्रकरण एवं केवलीभुक्ति प्रकरण की कुछ कारिकायें उद्धृत की हुई मिलती हैं।

दिगम्बर साहित्य में उल्लेखित यापनियों की मान्यताएँ

यद्यपि दक्षिण भारत के जैन अभिलेखों में ईस्वी सन् की ५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से यापनीयों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु दिगम्बर साहित्य में दसवीं शताब्दी में पूर्व यापनीयों का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। इस सम्बन्ध में पूर्ववर्ती दिगम्बर साहित्य—विशेष रूप से तत्त्वार्थ की टीकाओं का और अन्य दार्शनिक ग्रन्थ का अध्ययन किया जाना चाहिए। यह सहसा विश्वास नहीं होता कि इन पाँच शताब्दियों में दिगम्बर परम्परा में यापनीयों पर कुछ भी नहीं लिखा गया होगा। मेरी जानकारी में दिगम्बर साहित्य में सर्वप्रथम यापनीयों का उल्लेख बृहत्कथाकोश^१ एवं दर्शनसार^२ (दोनों ही विक्रम की १०वीं शताब्दी का अन्तिम चरण) में मिलता है। उसमें मात्र यही विवरण है कि यापनीयों की उत्पत्ति श्री कलश नामक श्वेताम्बर साधु से हुई है। प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के कर्ताओं ने अनुश्रुति के आधार पर लगभग सात सौ वर्ष पूर्व की घटना का प्रस्तुतीकरण किया है, क्योंकि इसको पुष्टि किसी अन्य स्रोत से नहीं होती है। इन ग्रन्थों में यापनीय मान्यताओं का कोई स्पष्ट संकेत नहीं है, मात्र श्वेताम्बरों के साथ-साथ यापनीय, काष्ठा, द्राविड़ और माथुर (निष्पिच्छिक) संघ को जेनाभास बताया गया है। इसमें यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि यापनीय क्यों जेनाभास हैं? और उनकी क्या मान्यताएँ हैं?

दिगम्बर परम्परा में रत्ननन्दी के भद्रबाहुचरित^३ में भी यापनीयों के

१. बृहत्कथाकोश-हरिभद्रसूरि, कारिका ४४। —गुणरत्नटीका (भारतीय ज्ञानपीठ) पृ० १६१
२. बृहत्कथाकोश (भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४३) कथाक्रमांक १३१, पृ० ३१९
३. दर्शनसार (देवसेन), भाषा २९ उद्धृत जैनसाहित्य का इतिहास पूर्व-पीठिका, पृ० ३७२
४. अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० १३४

उत्पत्ति की कथा दी गयी है, किन्तु यह कथा भी परवर्ती काल की है और पूर्णतः काल्पनिक लगती है। प्रो० उपाध्वे ने भी इसे प्रामाणिक नहीं माना है। मेरी दृष्टि में इस कथा में सत्यांश यही है कि वस्त्रधारी साधुओं द्वारा पुनः अचेलकत्व ग्रहण करने से इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई, जो मान्यताओं की दृष्टि से श्वेताम्बरों के निकट होते हुए भी बाह्यवेष की दृष्टि से दिगम्बरों के निकट था।

श्रुतसागर ने दर्शनप्राभृत (दंसणपाहुड) की टीका में यापनीयों की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि "यापनीय खच्चर के समान दोनों अर्थात् श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं को स्वीकार करते हैं। रत्नत्रय की पूजा भी करते हैं और कल्पसूत्र का वाचन भी करते हैं। साथ ही स्त्री की तद्भवमुक्ति, केवलो-कवलाहार, सग्रन्थ (वस्त्रयुक्त) की मुक्ति और परशासन (अन्य तैथिक) से मुक्ति का कथन करते हैं।^१ अन्यत्र श्रुतसागर ने अपनी टीका में यह भी लिखा है कि "जैनाभासों द्वारा जिसमें यापनीय भी सम्मिलित हैं, नग्न मूर्तियों की प्रतिष्ठा की जाती है, वे मूर्तियाँ न तो बन्दनीय हैं और न पूजनीय।^२ इससे यह फलित होता है कि यापनीय भी नग्न मूर्तियों की ही पूजा करते थे।

इन सामान्य कथनों के अतिरिक्त दिगम्बर साहित्य में यापनीयों का कोई विस्तृत उल्लेख नहीं मिलना आश्चर्यजनक है। इतना अवश्य है कि अधिकांश दिगम्बर आचार्यों ने स्त्रीमुक्ति एवं केवलोभुक्ति के खण्डन में पूर्वपक्ष के रूप में शाकटायन के तर्कों को ही आधार बनाया है। आगे हम यापनीयों की प्रमुख मान्यताओं की चर्चा करेंगे।

स्त्री मुक्ति, अन्यतैथिकमुक्ति एवं सवस्त्रमुक्ति का प्रश्न

यापनीय परम्परा के विशिष्ट सिद्धान्तों में स्त्रीमुक्ति, सग्रन्थमुक्ति, (गृहस्थमुक्ति) और अन्यतैथिक मुक्ति ऐसी अवधारणाएँ हैं, जो उसे दिगम्बर परम्परा से पृथक् करती है। एक ओर यापनीय संघ अचेलकत्व (दिगम्बरत्व) का समर्थक है, तो दूसरी ओर वह स्त्रीमुक्ति, सग्रन्थ (गृहस्थ) मुक्ति अन्यतैथिक (अन्य लिङ्ग) मुक्ति आदि का भी समर्थक है। यही बात उसे श्वेताम्बर आगमिक परम्परा के निकट लाकर खड़ा

१. देखें—दंसणपाहुड, श्रुतसागर की टीका।

२. वही।

कर देती है। यद्यपि स्त्री मुक्ति की अवधारणा श्वेताम्बर मान्य उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा आदि प्राचीन आगम साहित्य में भी उपस्थित रही है, फिर भी तार्किक रूप से स्त्रीमुक्ति का समर्थन सर्वप्रथम यापनीयों ने ही किया है। स्त्रीमुक्ति के निषेध के स्वर सर्वप्रथम ५वीं-६वीं शती में दक्षिण भारत में ही मुखर हुए और चूँकि वहाँ आगामिक परम्परा को मान्य करने वाला यापनीय संघ उपस्थित था, अतः उसे ही उनका प्रत्युत्तर देना पड़ा। श्वेताम्बरों को स्त्री-मुक्ति सम्बन्धी विवाद की जानकारी यापनीयों से प्राप्त हुई। श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र (८वीं शती) ने सर्वप्रथम इस चर्चा को अपने ग्रन्थ ललितविस्तरा में 'यापनीय तन्त्र' के उल्लेख के साथ उठाया है। इसके पूर्व भाष्य और चूर्णि साहित्य में यह चर्चा अनुपलब्ध है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो हमें यह देखना होगा कि इस तार्किक चर्चा के पहले स्त्रीमुक्ति के समर्थक और निषेधक निर्देश किन ग्रन्थों में मिलते हैं।

सर्वप्रथम हमें उत्तराध्ययनसूत्र के अन्तिम अध्यायन (ई०पू०द्वितीय-प्रथम शती) में स्त्री को तद्भव मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है^१। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा के अतिरिक्त यापनीय परम्परा में भी उत्तराध्ययन को मान्यता थी और उसके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा उसमें लगभग ९वीं शती तक जीवित रही है क्योंकि अपराजित ने अपने भगवतो-आराधना का टीका में उत्तराध्ययन से अनेक गाथाएँ उद्धृत की हैं, जो क्वचित पाठभेद के साथ वर्तमान उत्तराध्ययन में भी उपलब्ध है। समवायांग, नन्दोसूत्र आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में, तत्त्वार्थभाष्य के साथ-साथ तत्त्वार्थसूत्र की दिग्म्बर टीकाओं में एवं षट्खण्डागम की ध्वलाटीका में भी अंगबाह्य ग्रन्थ के रूप में उत्तराध्ययन का उल्लेख पाया जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने उत्तराध्ययन को ई० पूर्व तृतीय से ई० पू० प्रथम शती के मध्य को रचना माना है। उत्तराध्ययन की अपेक्षा किञ्चित् परवर्ती श्वेताम्बर मान्य आगम ज्ञाताधर्मकथा (ई० पू० प्रथम शती) के मल्लि नामक अध्याय (ई० सन् प्रथमशती) में तथा अन्तकृत-दशांग के अनेक अध्यायनों में स्त्री मुक्ति के उल्लेख हैं।^२ आगामिक

१. उत्तराध्ययन, ३६।४, साध्वी चन्द्रना, वीरायतन प्रकाशन।

इत्थो पुरिसंसिद्धा य त्हेव य नपुंसणा।

सल्लिगे अन्तल्लिगे य गिर्हल्लिगे त्हेव य ॥

२. ज्ञाताधर्मकथा, अष्टम् अध्यायन

व्याख्याओं में आवश्यक चूर्णि (७वीं शती) में भी मरुदेवी की मुक्ति का उल्लेख पाया जाता है। इसके अतिरिक्त दिग्म्बर परम्परा द्वारा मान्य यापनीय ग्रन्थ कषायप्राभृत एवं षट्खण्डागम भी स्त्री मुक्ति के समर्थक हैं।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ई० सन् की पाँचवीं-छठीं शताब्दी तक जैन परम्परा में कहीं भी स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं था। स्त्रीमुक्ति एवं सग्रन्थ (सबस्त्र) की मुक्ति का सर्वप्रथम निषेध आचार्य कुन्दकुन्द ने सुत्तपाहुड में किया है।^२ यद्यपि यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम को सुत्तपाहुड का समकालीन ग्रन्थ माना जा सकता है, फिर भी उसमें स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं है, अपितु मूलग्रन्थ में तो पर्याप्त मनुष्यनी (स्त्री) में चौदह गुणस्थानों को सम्भावना मानकर प्रकारान्तर से उसको तद्भूव मुक्ति स्वीकार की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रीमुक्ति के निर्देश हमें ई० पूर्व के आगमिक ग्रन्थों से लेकर ई० की सातवीं शती तक की आगमिक व्याख्याओं में मिलते हैं। फिर भी उनमें कहीं भी स्त्रीमुक्ति की तार्किक सिद्धि का कोई प्रयत्न नहीं देखा जाता है। इसकी तार्किक सिद्धि की आवश्यकता तो तब होती, जब किसी ने उसका निषेध किया होता। स्त्रीमुक्ति का निषेध कुन्दकुन्द के पूर्व किसी भी आचार्य ने किया हो, ऐसा एक भी प्रमाण नहीं है। यद्यपि यह विवाद का विषय ही रहा कि सुत्तपाहुड कुन्दकुन्द की रचना है या नहीं, फिर भी एक बार हम यह मान लें कि सुत्तपाहुड कुन्दकुन्द की ही रचना है तो भी उस ग्रन्थ एवं उसके कर्ता का काल छठीं शताब्दी के पूर्व का तो नहीं हो सकता है, क्योंकि कुन्दकुन्द की रचनाओं में गुणस्थान और सप्तभंगो की अवधारणाएँ स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं जो लगभग पाँचवीं-छठीं शती में अस्तित्व में आई हैं। प्रो० एम० ए० ढाकी ने कुन्दकुन्द के समय सम्बन्धी पूर्व मान्यताओं को समीक्षा करते हुए इस पर विस्तार से विचार किया है और वे उन्हें छठीं शताब्दी के पूर्व का किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं करते हैं।^३

तत्त्वार्थभाष्य (लगभग चतुर्थ शती) में सिद्धों के अनुयोगद्वारा को

१. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृष्ठ १८१ एवं भाग २, पृष्ठ २१२।

२. सुत्तपाहुड, गाथा २३-२६।

३. देखें—आसपेवट औफ जनालीजो, वाल्यूम ३, पेज १८७ पर प्रो० एम० ए० ढाकी का लेख—The Date of Kund Kudacharya.

चर्चा करते हुए लिगानुयोगद्वार की दृष्टि से भी विचार किया गया है। भाष्य की विशेषता यह है कि वह लिग शब्द पर उसके दोनों अर्थों की दृष्टि से विचार करता है। अपने प्रथम अर्थ में लिग का तात्पर्य है—पुरुष, स्त्री या नपुंसक रूप-शारीरिक रचनाएँ। लिग के इस प्रथम अर्थ की दृष्टि से उसमें उत्तराध्ययन के समान ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों लिगों से मुक्ति होने का उल्लेख है। साथ ही यह भी उल्लेख है कि प्रत्युत्पन्न भाव अर्थात् वर्तमान में काम वासना की उपस्थिति की दृष्टि से तो 'अवेद' अर्थात् कामवासना से रहित व्यक्ति को ही मुक्ति होता है, किन्तु पूर्व भाव को अपेक्षा से तो तीनों वेदों से सिद्धि होती है। साथ ही उसमें लिग का अर्थ वेश करते हुए कहा गया है प्रत्युत्पन्न भाव अर्थात् वर्तमान भाव को अपेक्षा से तो अलिग अर्थात् लिग के प्रति ममत्व से रहित आत्मा ही सिद्ध होती है। भार्वालिग की अपेक्षा से स्वलिग ही सिद्ध होते हैं, किन्तु द्रव्यलिग अर्थात् बाह्य वेश को अपेक्षा से स्वलिग, अन्यलिग और गृहीलिग तीनों ही विकल्प से सिद्ध होते हैं^१।

तत्त्वार्थभाष्य के पश्चात् को तत्त्वार्थ को दिग्म्बर परम्परा को टोकाओं में सर्वप्रथम सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि वेद को दृष्टि से तीनों वेदों के अभाव में ही सिद्धि होती है। किन्तु द्रव्य-लिग अर्थात् शारीरिक-संरचना की दृष्टि से पुलिग ही सिद्ध होते हैं। बाह्यवेश को अपेक्षा से निर्ग्रन्थ लिग ही सिद्ध हाते हैं किन्तु भूतपूर्व नय को अपेक्षा से तो सग्रन्थ लिग से भी सिद्धि होती है^२ इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वप्रथम सर्वार्थसिद्धि में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि मुक्ति पुरुष लिग से ही प्राप्त हो सकती है। इसके पश्चात् राजवार्तिककार अकलंक भी सर्वार्थसिद्धि के उल्लेख का हा समर्थन करके रह जाते हैं। उससे अधिक वे भी कुछ नहीं कहते हैं^३।

श्वेताम्बर परम्परा में आवश्यकमूठभाष्य (५वीं शती) और विशेषावश्यकभाष्य (छठी शती) और आवश्यकचूर्णि (सातवीं शती) में हमें अचेलकत्व और सचेलकत्व के प्रश्न को लेकर आर्यशिवभूति और आर्य-कृष्ण के मध्य हुए विवाद के पक्ष और प्रतिपक्ष के विविध तर्कों का उल्लेख तो मिलता है किन्तु चूर्णि के काल तक अर्थात् सातवीं शताब्दी के अन्त तक

१. तत्त्वार्थभाष्य, १०।७।

२. सर्वार्थसिद्धि, १०।९।

३. राजवार्तिक, १०।९।

हमें एक भी संकेत ऐसा नहीं मिलता है जिसमें श्वे० आचार्यों ने स्त्रीमुक्ति का तार्किक समर्थन किया हो, इससे ऐसा लगता है कि सातवीं शताब्दी तक उन्हें इस तथ्य की जानकारी भी नहीं थी कि स्त्रीमुक्ति के सन्दर्भ में कोई प्रतिपक्ष भी है। स्त्री की प्रव्रज्या (महाव्रतारोपण) और स्त्रीमुक्ति का निषेध सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने लगभग छठीं शताब्दी में किया और उस सम्बन्ध में अपने कुछ तर्क भी दिये। उनके पूर्व पूज्यपाद ने स्त्रीमुक्ति का निषेध तो किया था, फिर भी उन्होंने उस सन्दर्भ में कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किये। आचार्य कुन्दकुन्द ने ही सर्वप्रथम सुत्तपाहुड में यह कहा है कि जिन-मार्ग में सर्वस्व को मुक्ति नहीं हो सकती चाहे वह तीर्थंकर ही क्यों न हो ?^१ सर्वस्व को मुक्ति के निषेध में स्त्रीमुक्ति का निषेध गर्भित है, क्योंकि स्त्री निर्वस्व नहीं हो सकती है। स्त्री का महाव्रतारोपण अर्थात् प्रव्रज्या क्यों नहीं हो सकती इसके सन्दर्भ में उन्होंने यह कहा कि इसके कुक्षि (गर्भाशय), नाभि और स्तन में सूक्ष्म जीव होते हैं। इसलिए उसको प्रव्रज्या कैसे हो सकती है ?^२ ज्ञातव्य है यहाँ कुक्षी शब्द गर्भाशय के हेतु ही प्रयुक्त हुआ है। पुनः यह भी कहा गया है कि उसमें मन की पवित्रता नहीं होती वे अस्थिरमना होती हैं तथा उनमें रजस्त्राव होता रहता है, इसलिए उनका ध्यान चिन्ता रहित नहीं हो सकता है।^३ इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के सुत्तपाहुड में ही स्त्रीमुक्ति का तार्किक खण्डन उपलब्ध होता है। दूसरे शब्दों में दिगम्बर परम्परा में स्त्रीमुक्ति का तार्किक निषेध छठीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व इस परम्परा में इस सम्बन्ध में क्या मान्यता थी, यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व का कोई दिगम्बर साहित्य ही उपलब्ध नहीं है।

श्वेताम्बर परम्परा में सातवीं शताब्दी तक स्त्रीमुक्ति के तार्किक निषेध का कहीं कोई खण्डन किया गया हो, ऐसी सूचना भी उपलब्ध नहीं होती है। संभवतः सातवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर आचार्य इस मत से कि कोई ऐसी परम्परा है, जो स्त्री मुक्ति का निषेध करती है, अवगत ही नहीं थे। स्त्री मुक्ति के निषेधक तर्कों का सर्वप्रथम उत्तर श्वेताम्बरों

१. सुत्तपाहुड, गाथा २३।
२. वही, गाथा २४।
३. वही, गाथा २५-२६।

ने नहीं, अपितु अचेलकत्व की समर्थक यापनीय परम्परा ने ही दिया। चूँकि कुन्दकुन्द दक्षिण में हुए थे और यापनीय भी दक्षिण में ही उपस्थित थे; अतः पहली चोट भी उन्हीं पर ही हुई थी और पहला प्रत्युत्तर भी उन्हें ही देना था। सर्वप्रथम लगभग ७वीं शती में यापनीयों ने इसका प्रत्युत्तर दिया। यापनीय सम्प्रदाय के इन तर्कों का अनुसरण परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों ने भी किया। श्वेताम्बर आचार्यों में सर्वप्रथम आठवीं शती में हरिभद्र ने ललितविस्तरा में स्त्री मुक्ति का समर्थन किया किन्तु उन्होंने भी अपनी ओर से कोई तर्क नहीं देकर इस सम्बन्ध में 'यापनीय-तन्त्र' नामक वर्तमान में अनुपलब्ध किसी यापनीय प्राकृत ग्रन्थ को उद्धृत मात्र किया है। इससे ऐसा लगता है कि कुन्दकुन्द ने लगभग ६वीं शताब्दी में स्त्री मुक्ति के निषेध के सन्दर्भ में जो तर्क दिये थे, उसका खण्डन यापनीयों ने लगभग ७वीं शताब्दी में किया और यापनीयों के तर्कों को ग्रहित करके ही आठवीं शताब्दी से श्वेताम्बर परम्परा में भी स्त्री मुक्ति निषेधक तर्कों का खण्डन किया जाने लगा। 'यापनीय तन्त्र' के पश्चात् स्त्री मुक्ति के समर्थन में सर्वप्रथम यापनीय आचार्य शाकटायन ने लगभग नवीं शती में 'स्त्री-निर्वाण-प्रकरण' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की और उस पर स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी। इसके बाद दोनों ही परम्पराओं में स्त्री मुक्ति के पक्ष एवं विपक्ष में लिखा जाने लगा। स्त्री मुक्ति के पक्ष में श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र (आठवीं शती) के पश्चात् अभयदेव (ई० सन् १०००), शान्तिमूर्ति (ई० ११२०), मलयगिरी (ई० ११५०), हेमचन्द्र (ई० ११६०), वादिदेव (ई० ११७०), रत्नप्रभ (ई० १२५०), गुणरत्न (ई० १४००), यशोविजय (ई० १६६०) और मेघविजय (ई० १७००) ने अपनी कलम चलाई। दूसरी ओर स्त्री मुक्ति के विपक्ष में दिग्म्बर परम्परा में वीरसेन (लगभग ई० ८००), देवसेन (ई० ९८०), नेमिचन्द्र (ई० १०५०), प्रभाचन्द्र (ई० ९८०-१०६५), जयसेन (ई० ११५०), भावसेन (ई० १२७५) आदि ने अपनी लेखनी चलाई।^१ यहाँ हमारे लिए उन सब को विस्तृत चर्चा करना संभव नहीं है। इस सन्दर्भ में हम यापनीय आचार्यों के कुछ प्रमुख तर्कों का उल्लेख करके इस विषय को विराम देंगे। जो पाठक इस सम्बन्ध में विशेष जानने को इच्छुक हो, उन्हें प्रा० पद्मनाभ जैनी के ग्रन्थ Gender & Salvation को देखना चाहिए।

१. जैनी पद्मनाभ—जेन्डर एण्ड साल्वेशन, पेज ४।

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है—श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य में स्त्री मुक्ति के उल्लेख तो मिलते हैं किन्तु उनमें कहीं भी उसका तार्किक समर्थन नहीं हुआ है। दिगम्बर परम्परा में स्त्री मुक्ति का तार्किक खण्डन सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलता है। कुन्दकुन्द ने इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो यही तर्क दिया था कि जिन शासन में वस्त्रधारी सिद्ध नहीं हो सकता, चाहे वह तोर्थकर हो क्यों न हो।^१ इससे ऐसा लगता है कि स्त्री मुक्ति के निषेध की आवश्यकता तभी हुई जब अचेलता को ही एक मात्र मोक्षमार्ग मान लिया गया। हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि अचेलता के एकान्त आग्रह ने ही इस अवधारणा को जन्म दिया। क्योंकि शारीरिक एवं सामाजिक मर्यादा के कारण स्त्री नग्न नहीं रह सकती है और नग्न हुए बिना मुक्ति नहीं होती, इसलिए स्त्री मुक्त नहीं हो सकती। इसी आग्रह के कारण गृहस्थलिंगसिद्ध एवं अन्य लिंगसिद्ध अर्थात् सग्रन्थमुक्ति की आगमिक अवधारणा का निषेध भी आवश्यक हो गया। आगे चलकर जब स्त्री को प्रव्रज्या के अयोग्य बताने के लिए तर्क आवश्यक हुए, तो यह कहा गया कि यद्यपि स्त्री दर्शन से शुद्ध हो तथा मोक्षमार्ग से युक्त होकर घोर चरित्र का पालन कर रही हो, तो भी उसे प्रव्रज्या नहीं दी जा सकती।^२ वास्तविकता यह है कि जब प्रव्रज्या को अचेलता से जोड़ दिया गया, तब यह कहना आवश्यक हो गया कि स्त्री पंचमहाव्रत रूप दोक्षा की अधिकारी नहीं है। यह भी प्रतिपादन किया कि जो सवस्त्रलिंग है वह श्रावकों का है। अतः क्षुल्लक एवं ऐलक के साथ-साथ आर्यिका की गणना भी क्रमशः श्रावक—श्राविका के वर्ग में की गई। ज्ञातव्य है कि अचेरु परम्परा में भी कुन्दकुन्द के पूर्व स्त्रियाँ दोक्षित होती थी और उनको महाव्रत भी प्रदान किये जाते थे। दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द ही ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप से स्त्री को प्रव्रज्या का निषेध किया था और यह तर्क दिया कि स्त्रियाँ स्वभाव से ही शिथिल

१. णवि सिञ्जह वत्थवरो जिणसासणे जइवि होइ तिरथयो ।

णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥

—अष्टप्राभृत, सुत्तपाहुड, गाथा २३

प्रकाशक-परम श्रुत प्रभावक मंडल, अगास ।

२. जह वंसणेण सुद्धा उता मग्गेण सावि संजुता ।

घोरं चरियं चरिस्सं इत्थीसु ण पावया भणिया ॥

—वही, गाथा २५

परिणाम वाली होती हैं। इसलिए उनको चित्त की विशुद्धि संभव नहीं है। साथ ही यह भी कहा गया कि स्त्रियाँ मासिक धर्म से होती हैं, अतः स्त्रियों में निःशंक ध्यान संभव नहीं है।^३ यह सत्य है कि शारीरिक तथा सामाजिक कारणों से पूर्ण नग्नता स्त्री के लिये संभव नहीं है और जब सवस्त्र को प्रव्रज्या एवं मुक्ति का निषेध कर दिया गया तो स्त्री मुक्ति का निषेध तो उसका अनिवार्य परिणाम था ही। पुनः आचार्य कुन्दकुन्द ने अपरिग्रह के साथ-साथ स्त्री के द्वारा अहिंसा का पूर्णतः पालन भी असम्भव माना, उनका तर्क है कि स्त्रियों के स्तनों के अन्तर में, नाभि एवं कुक्षि (गर्भाशय) में सूक्ष्मकाय जीव होते हैं, इसलिए उसकी प्रव्रज्या कैसे हो सकती है ?^४ यहाँ यह स्मरणीय है कि कुन्दकुन्द ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे वस्तुतः तो स्त्री की प्रव्रज्या के निषेध के लिए हो हैं। स्त्री मुक्ति का निषेध तो उसका अनिवार्य फलित अवश्य है। क्योंकि जब अचेलताही एक मात्र मोक्ष-मार्ग हो और स्त्री के लिए अचेलता सम्भव नहीं हो तो फिर उसके लिए न तो प्रव्रज्या संभव होगी और नहीं मुक्ति हो।

हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द के इन तर्कों का सर्वप्रथम उत्तर संभवतः यापनीय परम्परा के 'यापनीयतन्त्र' (यापनीय-आगम) नामक ग्रन्थ में दिया गया है। वर्तमान में यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है किन्तु इसका वह अंश जिसमें स्त्री मुक्ति का समर्थन किया गया है, हरिभद्र के ललितविस्तरा में उद्धृत होने से सुरक्षित है। उसमें कहा गया है कि स्त्री अजीव नहीं है, न वह अभव्य है, न सम्यक्दर्शन के अयोग्य है, न अमनुष्य है, न अनार्य क्षेत्र में उत्पन्न है, न असंख्यात आयुष्य वाली है, न वह अतिक्रूरमति है, न अउपशान्त मोह है, न अशुद्धाचारो है, न अशुद्धशरीर है, न वह वर्जित व्यवसाय वाली है, न अयुर्वकरण को विरोधी है, न नवें गुणस्थान से रहित है, न लब्धि से रहित है, न अकल्याण भाजन है, तो फिर वह उत्तम धर्म अर्थात् मोक्ष को आराधक क्यों नहीं हो सकती ?^१

१. चितासोहि ण तेषि द्विल्लं भावं तथा सहावेण ।
विज्जदि भासा तेषि इत्थोसु णऽसंकया ज्ञाणं ॥

—सुत्तपाहुड, गाथा २६

२. लिगम्मि य इत्थीणं धणंतरे णाहिकम्बदेसेसु ।
भणियो सुहमो काओ तासि कह होइ पव्वज्जा ॥

—वही, गाथा २४

३. ललितविस्तरा, पृ० ५७-५९

आचार्य हरिभद्र ने उक्त यापनीय सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या भी की है। वे लिखते हैं जोव ही सर्वोत्तम धर्म मोक्ष को साधना कर सकता है और स्त्री जोव है, इसलिए वह सर्वोत्तम धर्म को आराधक क्यों नहीं हो सकती? यदि कहा जाय कि सभी जोव तो मुक्ति के अधिकारी नहीं हैं जैसे अभव्य, तो इसका उत्तर यह है कि सभी स्त्रियाँ तो अभव्य भी नहीं होती हैं। पुनः यह तर्क भी दिया जा सकता है कि सभी भव्य भी तो मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं—जैसे मिथ्यादृष्टि-भव्यजीव, तो इसका उत्तर यह है कि सभी स्त्रियाँ तो सम्यग्दर्शन के अयोग्य भी नहीं कही जा सकती हैं। यदि इस पर यह कहा जाय कि स्त्री के सम्यग्दृष्टि होने से क्या होता है, पशु भी सम्यग्दृष्टि हो सकता है, किन्तु वह तो मोक्ष का अधिकारी नहीं होता है? इसका प्रत्युत्तर यह है कि स्त्री पशु नहीं, मनुष्य है, यहाँ पुनः यह आपत्ति उठायो जा सकती है कि सभी मनुष्य भी ता मिद्ध नहीं होते, जैसे अनार्य क्षेत्र में या भोगभूमि में उत्पन्न मनुष्य, तो इसका प्रत्युत्तर यह है कि स्त्रियाँ आर्य देश में भी तो उत्पन्न होती हैं। यदि यह कहा जाय कि आर्य देश में उत्पन्न होकर भी असंख्यातवर्ष की आयुष्य वाले अर्थात् यौगलिक मुक्ति के योग्य नहीं होते हैं, तो इसका प्रत्युत्तर यह है कि सभी स्त्रियाँ असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाली भी नहीं होती हैं। पुनः यदि यह तर्क दिया जाय कि संख्यातवर्ष की आयुवाल होकर भी जो अति क्रूरमति हो, वे भी मुक्ति के पात्र नहीं होते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि सभी स्त्रियाँ अतिक्रूरमति भी नहीं होती। क्योंकि स्त्रियों में तो सप्तम नरक की आयुष्य बाँधने योग्य तीव्र रौद्र ध्यान का अभाव होता है। यह तो उसमें अतिक्रूरता के अभाव का तथा उसके करुणामय स्वभाव का प्रमाण है और इसलिए उसमें मुक्ति के योग्य प्रकृष्ट शुभभाव का अभाव नहीं माना जा सकता। पुनः यदि यह कहा जाय कि स्वभाव से करुणामय होकर भी जो मोह को उपशान्त करने में समर्थ नहीं होता है वह भी मुक्ति का अधिकारी नहीं होता है, किन्तु ऐसा भी नहीं है, कुछ स्त्रियाँ मोह को उपशान्त करती हुई देखी जाती हैं। यदि यह कहा जाय कि मोह का उपमर्शन करने पर भी यदि कोई व्यक्ति अशुद्धाचारी है, तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। इसके निराकरण के लिए कहा गया है कि सभी स्त्रियाँ अशुद्धाचारी (दुराचारी) नहीं होती हैं। इस पर यदि कोई यह तर्क करे कि शुद्ध आचार वाली होकर भी स्त्रियाँ शुद्ध शरीर वाली नहीं होती इसलिए वे मोक्ष की अधिकारी नहीं हैं; तो इसके प्रत्युत्तर में यह कहा गया कि सभी स्त्रियाँ तो अशुद्ध

बालो नहीं होती हैं। पूर्वकर्मों के कारण कुछ स्त्रियों और वृद्धाओं की कुक्षी, स्तनप्रदेश आदि अशुचि से रहित भी होते हैं। यह तर्क कुन्दकुन्द की अवधारणा का स्पष्ट प्रत्युत्तर है। पुनः शुद्ध शरीर वाली होकर भी यदि स्त्री परलोक हितकारी प्रवृत्ति से रहित हो तो मोक्ष की अधिकारी नहीं हो सकती, परन्तु ऐसा भी नहीं देखा जाता। कुछ स्त्रियाँ परलोक सुधारने के लिए प्रयत्नशील भी देखी जाती हैं। यदि यह कहा जाय कि परलोक हिताथ प्रवृत्ति करने वाली स्त्री भी यदि अपूर्वकरण आदि से रहित हो, तो मुक्ति के योग्य नहीं है। किन्तु शास्त्र में स्त्री भाव के साथ अपूर्वकरण का भी कोई विरोध नहीं दिखलाया गया है, इसके विपरीत शास्त्र तो स्त्री में भी अपूर्वकरण का सद्भाव प्रतिपादित करता है। पुनः यदि यह कहा जाय कि अपूर्वकरण से युक्त होकर भी यदि कोई नवम गुणस्थान को प्राप्त करने में अयोग्य हो तो वह मुक्ति की अधिकारी नहीं हो सकती। किन्तु आगम में तो स्त्री में नवम गुणस्थान का भी सद्भाव प्रतिपादित किया गया है। यदि यह तर्क दिया जाय कि नवमगुणस्थान को प्राप्त करने में समर्थ होने पर भी, यदि स्त्री में लब्धि प्राप्त करने की योग्यता नहीं हो तो, वह कैवल्य आदि को प्राप्त नहीं कर पाती है। इसके प्रत्युत्तर में कहा गया है कि वर्तमान में भी स्त्रियों में आमर्षलब्धि अर्थात् शरीर के मलों का औषधि रूप परिवर्तित हो जाना आदि स्पष्ट रूप से देखी जाती है। अतः वह लब्धि से रहित नहीं है। यदि यह कहा जाय कि स्त्री लब्धि योग्य होने पर कल्याण-भाजन न हो तो वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकेगी। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा गया है कि स्त्रियाँ कल्याणभाजन होती हैं, क्योंकि वे तीर्थकरों को जन्म देती हैं। अतः स्त्री उत्तम धर्म अर्थात् मोक्ष की अधिकारी हो सकती है।

हरिभद्र ने इसके अतिरिक्त सिद्धों के पन्द्रह भेदों की चर्चा करते हुए 'सिद्धप्राभृत' का भी एक सन्दर्भ प्रस्तुत किया है। सिद्धप्राभृत में कहा गया है कि सबसे कम स्त्री-तीर्थकर (तीर्थकरा) सिद्ध होते हैं। उनको अपेक्षा स्त्री-तीर्थकर के तीर्थ में नोतीर्थकर सिद्ध असंख्यातगुणा अधिक होते हैं। उनको अपेक्षा स्त्री-तीर्थकर के तीर्थ में नोतीर्थकरोसिद्ध (स्त्री शरीर से सिद्ध) असंख्यात गुणा अधिक होती हैं। सिद्धप्राभृत (सिद्धपाहुड) एक पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमें सिद्धों के विभिन्न अनुयोगद्वारों की

१. सन्धत्थोभा तित्थयरिसिद्धा, तित्थयरित्थे णोतित्थयरिसिद्धा असंखेज्जगुण तित्थयरित्थे णोतित्थयरिसिद्धा असंखेज्जगुणो ।

पृ० ५६, ललितविस्तरा

चर्चा हुई है। ज्ञातव्य है कि हरिमद्र के समकालीन सिद्धसेनगणि ने अपनी तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति में भी सिद्धप्राभूत का एक सन्दर्भ दिया है^१। यह ग्रन्थ नन्दोसूत्र के पश्चात् एवं छठीं-सातवीं शती के पूर्व निमित्त हुआ होगा।

इस प्रकार यापनीय परम्परा द्वारा ही सर्वप्रथम स्त्री-मुक्ति का तार्किक समर्थन करने का प्रयास हुआ है। यह हम पूर्व में ही कह चुके हैं कि श्वेताम्बर आचार्यों ने स्त्री-मुक्ति के समर्थन में जो तर्क दिये गये हैं, वे यापनीयों का ही अनुसरण है। ललितविस्तरा में अपनी ओर से एक भी नया तर्क नहीं दिया गया है, मात्र यापनीयों के तर्कों का स्पष्टीकरण किया है। इसका कारण यह है कि श्वेताम्बरों को स्त्री-मुक्ति निषेधक परंपरा का ज्ञान यापनीयों के माध्यम से ही हुआ था। क्योंकि कुन्दकुन्द की स्त्री-मुक्ति निषेधक परम्परा सुदूर दक्षिण में ही प्रस्थापित हुई थी, अतः उसका उत्तर भी दक्षिण से अपने पैर जमा रही यापनीय परम्परा को ही देना पड़ा।

यापनीय आचार्य शाकटायन ने तो स्त्री-निर्वाण प्रकरण नामक स्वतंत्र ग्रन्थ की ही रचना की है। वे ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि मुक्ति प्रदाता विमल अर्हत् के धर्म को प्रणाम करके मैं संक्षेप में स्त्री-निर्वाण और केवली-भुक्ति को कहूँगा^२। इसी ग्रन्थ में आगे शाकटायन कहते हैं कि "रत्नत्रय की सम्पदा से युक्त होने के कारण पुरुष के समान ही स्त्री का भी निर्वाण संभव है। यदि यह कहा जाय कि स्त्रीत्व रत्नत्रय की उपलब्धि में वैसे ही बाधक है, जैसे देवत्व आदि, तो यह तुम्हारा अपना कथन हो सकता है। आगम में और अन्य ग्रन्थों में इसका कोई प्रमाण नहीं है। एक साध्वी जिन वचनों को समझती है, उन पर श्रद्धा रखती है और उनका निर्दोषरूप से पालन करती है, इसलिए रत्नत्रय को साधना का स्त्रीत्व से कोई भी विरोध नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि रत्नत्रय को साधना स्त्री के लिए अशक्य है, क्योंकि जो अदृष्ट है उसके साथ

१. अतिथ तित्थकरसिद्ध तित्थकरतित्थे, नोतित्थसिद्धा तित्थकरतित्थे, तित्थ-सिद्धा तित्थकरतित्थे, तित्थसिद्धाओ तित्थकरो सिद्धा तित्थकरो तित्थे णोतित्थसिद्धा तित्थकरोतित्थे तित्थसिद्धा तित्थकरोतित्थे।

—तत्त्वार्थविभागसूत्र, स्वोपज्ञभाष्येण श्रो सिद्धसेनगणिकृत टीका च सम-लंकृतम् द्वितीयो विभागो, १०/७, पृ० ३०८

२. शाकटायन व्याकरणम्, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन के प्रारम्भ में परिशिष्ट के रूप में।

असंगति बताने का कोई अर्थ नहीं है। यदि यह कहा जाय कि स्त्री में सातवें नरक में जाने की योग्यता का अभाव है, इसलिए वह निर्वाण प्राप्ति के योग्य नहीं है, किन्तु ऐसा अविनाभाव या व्याप्ति सम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि चरमशरीरी जीव भी तद्भव में सातवें नरक में नहीं जा सकते हैं, किन्तु तद्भव मोक्ष जाते हैं। पुनः ऐसा कोई नियम नहीं है जो जितना निम्न गति में जा सकता है, उतना ही उच्च गति में जा सकता है। कुछ प्राणी ऐसे हैं जो निम्न गति में बहुत निम्न स्थिति तक नहीं जाते हैं, किन्तु उच्च गति में समानरूप से जाते हैं, जैसे सम्मूर्च्छित जीव प्रथम नरक से आगे नहीं जा सकते, परिसर्प आदि द्वितीय नरक से आगे नहीं जा सकते, पक्षी तृतीय नरक से आगे नहीं जा सकते, चतुष्पद चौथो नरक से आगे नहीं जा सकते, सर्प पाँचवो नरक से आगे नहीं जा सकते। इस प्रकार निम्न गति में जाने में इन सब में भिन्नता है, किन्तु उच्चगति में ये सभी सहस्रार स्वर्ग तक बिना किसी भेदभाव के जा सकते हैं। इसलिए यह कहना कि जो जितनी निम्न गति तक जाने में सक्षम होता है, वह उतनी ही उच्च गति तक जाने में सक्षम होता है, तर्कसंगत नहीं है। अधोगति में जाने की अयोग्यता से उच्च गति में जाने की अयोग्यता सिद्ध नहीं होती।

यदि यह कहा जाय कि स्त्री वाद आदि की लब्धि से रहित, दृष्टिवाद के अध्ययन से वंचित, जिनकल्प को धारण करने में और मनःपर्याय ज्ञान को प्राप्त कर पाने में असमर्थ होने के कारण स्त्री मुक्त नहीं हो सकती; तो फिर यह मानना होगा कि जिस प्रकार आगम में जम्बू स्वामी के पश्चात् जिन बातों के विच्छेद का उल्लेख किया है, उसी प्रकार स्त्री के लिए मोक्ष के विच्छेद का भी उल्लेख होना चाहिए था।

यदि यह माना जावे कि स्त्री दीक्षा की अधिकारी नहीं होने के कारण मोक्ष की अधिकारी भी नहीं है, तो फिर आगमों में दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों की सूची में जिस प्रकार शिशु को दूध पिलाने वाले स्त्री तथा गर्भिणी स्त्री आदि का उल्लेख किया गया, उसी प्रकार सामान्य स्त्री का भी उल्लेख किया जाना चाहिए था।

पुनः यदि यह कहा जाये कि वस्त्र धारण करने के कारण स्त्री मोक्ष प्राप्ति की अधिकारी नहीं है, दूसरे शब्दों में वस्त्ररूपी परिग्रह हो उसकी मुक्ति में बाधक है तो फिर प्रतिलेखन का ग्रहण आदि भी मुक्ति में बाधक क्यों नहीं होंगे? यदि प्रतिलेखन का ग्रहण उसके संयमोपकरण होने के

कारण परिग्रह के अन्तर्गत नहीं माना जाता तो फिर स्त्री के लिए तो वस्त्र भी जिनोपदिष्ट संयमोपकरण है, अतः उसे परिग्रह कैसे माना जा सकता है ?

यद्यपि वस्त्रपरिग्रह है, फिर भी भगवान ने साध्वियों के लिये संयमोपकरण के रूप में उसको ग्रहण करने की अनुमति दी है, क्योंकि वस्त्र के अभाव में उनके लिए सम्पूर्ण चरित्र का ही निषेध हो जाएगा। जबकि वस्त्र धारण करने में अल्प दोष होते हुए भी संयम पालन हेतु उसकी अनुमति दी गई है, जो संयम के पालन में उपकारी होता है, वह धर्मोपकरण या संयमोपकरण कहा जाता है, परिग्रह नहीं। अतः निर्ग्रन्थी का वस्त्र संयमोपकरण है, परिग्रह नहीं।

आगमों में साध्वी के लिये निर्ग्रन्थी शब्द का प्रयोग सर्वत्र हुआ है। यदि यह माना जाये कि वस्त्र ग्रहण परिग्रह ही है तो फिर आगम में उसके लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाना था क्योंकि निर्ग्रन्थ का अर्थ है, परिग्रह से रहित। यदि संयमोपकरण ही परिग्रह ही तो फिर कोई मुनि भी निर्ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। यदि एक व्यक्ति वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित भी है किन्तु उसके मन में उनके प्रति कोई ममत्व नहीं हो, तो वह अपरिग्रही कहा जायेगा। इसके विपरीत एक व्यक्ति जो नग्न रहता है किन्तु उसमें ममत्व और मूर्च्छा का भाव है तो वह अचेल होकर भी परिग्रही की कहा जायेगा। साध्वी इसलिए वस्त्र धारण नहीं करती हैं कि उसमें वस्त्र के प्रति कोई ममत्व है अपितु वह वस्त्र को जिन आज्ञा मानकर ही धारण करती है। पुनः वस्त्र उसके लिए उसी प्रकार परिग्रह नहीं है, जिस प्रकार यदि किसी ध्यानास्थ नग्न मुनि के शरीर पर उपसर्ग के निमित्त से डाला गया वस्त्र उस मुनि के लिए परिग्रह नहीं होता। इसके विपरीत एक नग्न व्यक्ति भी यदि अपने शरीर के प्रति भी ममत्व भाव रखता है तो वह परिग्रही ही कहा जायेगा और ऐसा व्यक्ति नग्न होकर भी मोक्ष प्राप्ति के अयोग्य ही होता है। जबकि वह व्यक्ति, जिसमें ममत्व भाव का पूर्णतः अभाव है, शरीर धारण करते हुए भी अपरिग्रही ही कहा जायेगा। अतः जिनाज्ञा के कारण संयमोपकरण के रूप में वस्त्र धारण करते हुए भी नियमवान स्त्री अपरिग्रही ही है और मोक्ष की अधिकारी भी।

जिस प्रकार जन्तुओं से व्याप्त इस लोक में मुनि के द्वारा द्रव्य हिंसा होती रहने पर भी कषाय के अभाव में वह अहिंसक ही माना जाता है, उसी प्रकार वस्त्र के सद्भाव में भी निर्ममत्व के कारण साध्वी अपरिग्रही

माना जाती है। यह ज्ञातव्य है कि यदि हम हिंसा और अहिंसा को व्याख्या बाह्य घटनाओं अर्थात् द्रव्य-हिंसा (जीवघात) के आधार पर न करके व्यक्ति के मनोभावों अर्थात् कषायों की उपस्थिति के आधार पर करते हैं, तो फिर परिग्रह के लिए भी यही कसौटी माननी होगी। यदि हिंसा को घटना घटित होने पर भी कषाय एवं प्रमाद का अभाव होने से मुनि अहिंसक हो रहता है, तो फिर वस्त्र के होते हुए भी मूर्च्छा के अभाव में साधु अपरिग्रही क्यों नहीं माना जा सकता है ?

स्त्री का चरित्र वस्त्र के बिना नहीं होता ऐसा अर्हत् ने कहा है, तो फिर स्थविरकल्पी आदि के समान उसकी मुक्ति क्यों नहीं होगी ? ज्ञातव्य है कि स्थविरकल्पी मुनि भी जिनाज्ञा के अनुरूप वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण करते हैं। पुनः अर्ष, भगन्दर आदि रोगों में जिनकल्पी अचेल मुनि को भा वस्त्र ग्रहण करना होता है फिर तो उनकी भी मुक्ति सम्भव नहीं होगी।

पुनः अचेलकत्व उत्सर्ग मार्ग है, यह बात जब तक सिद्ध नहीं होगी तब तक सचेल मार्ग को अपवाद मार्ग नहीं माना जावेगा। उत्सर्ग भी अपवाद सापेक्ष है। अपवाद के अभाव में उत्सर्ग-उत्सर्ग नहीं रूढ़ जाता। यदि अचेलता उत्सर्ग मार्ग है, तो सचेलता भी अपवाद मार्ग है, दोनों ही मार्ग हैं अमार्ग कोई भी नहीं। अतः दोनों से ही मुक्ति मानना होगा।

पुनः जिस तरह आगमों में आठ वर्ष के बालक आदि की दीक्षा का निषेध किया गया है, उसी प्रकार आगमों में यह भी कहा गया है कि जो व्यक्ति तीस वर्ष की आयु को पारकर चुका हो और जिसको दीक्षा को उन्नीस वर्ष व्यतीत हो गए हो, वही जिनकल्प की दीक्षा का अधिकारी है। यदि मुक्ति के लिए जिनकल्प अर्थात् नग्नता आवश्यक होती, तो यह भी कहा जाना चाहिए था कि तीस वर्ष से कम उम्र का व्यक्ति मुक्ति के अयोग्य है। किन्तु सभी परम्परायें एकमत से यह मानती ही हैं, कि मुक्ति के लिए तीस वर्ष की आयु होना आवश्यक नहीं है। सामान्यतः इसका अर्थ हुआ कि जिनकल्प अर्थात् नग्नता के बिना भी मुक्ति सम्भव है, अतः स्त्री मुक्ति सम्भव है।

आगमों में संवर और निर्जरा के हेतु रूप बहुत प्रकार की तप विधियों का निर्देश किया गया है। जिस प्रकार योग और चिकित्सा की अनेक विधियाँ होती हैं और किसी व्यक्ति को उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार उनमें से कोई एक ही विधि उपकारी सिद्ध होती है। सबके लिए

एक ही विधि उपकारी सिद्ध नहीं होती है, इसी प्रकार आचार में भी कोई जिनकल्प साधना के योग्य होता है तो कोई स्थविरकल्प की साधना के। इसलिए वस्त्र का त्याग नहीं होने से स्त्री के लिए मोक्ष का अभाव नहीं है। क्योंकि मोक्ष के लिए तो रत्नत्रय के अतिरिक्त अन्य कोई भी बात आवश्यक नहीं है।

पुनः स्त्री को नग्नदीक्षा (प्रव्रज्या) का निषेध कर देने का अर्थ भी उसकी मुक्ति की योग्यता का निषेध नहीं है। क्योंकि जिनशासन की प्रभावना के लिए उन व्यक्तियों की प्रव्रज्या का निषेध भी किया जाता है जो रत्नत्रय के पालन में सक्षम होते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी के अचेल-दीक्षा के निषेध से उसकी मुक्ति का निषेध सिद्ध नहीं होता है।

यदि यह कहा जाए कि स्त्रियाँ इसलिए भी सिद्ध नहीं हो सकती हैं कि वे मुनियों के द्वारा वन्दनीय नहीं होती है। आगम में कहा गया है कि सौ वर्ष की दीक्षिता साध्वी भी एक दिन के नव-दीक्षित मुनि को वन्दन करे। इसके प्रत्युत्तर को शाकटायन कहते हैं कि मुनि के द्वारा वन्दनीय नहीं होने से उन्हें मोक्ष के अयोग्य मानोगे तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि अर्हत् (तीर्थंकर) के द्वारा वन्दनीय नहीं होने से कोई भी व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नहीं होगा, क्योंकि अर्हत् किसी को भी वन्दन नहीं करता है। इसी प्रकार स्थविरकल्पी मुनि जिनकल्पी मुनि के द्वारा वन्दनीय नहीं है, अतः यह भी मानना होगा कि स्थविरकल्पी मुनि भी मोक्ष के अधिकारी नहीं है। इसी प्रकार जिन गणधर को वन्दन नहीं करते हैं अतः गणधर भी मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं। वन्दन एक लौकिक व्यवहार है। वह मुक्ति का कारण नहीं है। मुक्ति का कारण तो व्रत पालन है और व्रत पालन में स्त्री पुरुष समान ही माने गए हैं।

सभी सांसारिक विषयों में तो स्त्रियाँ पुरुषों से निम्न ही मानो जाती हैं। अतः मोक्ष के सम्बन्ध में भी उन्हें निम्न ही क्यों नहीं माना जाना चाहिए? तीर्थंकर पद भी तो केवल पुरुष को ही प्राप्त होता है। इसलिए पुरुष ही मुक्ति का अधिकारी है। इसके प्रत्युत्तर में यापनीयों का तर्क यह है कि तीर्थंकर तो केवल क्षत्रिय होते हैं, ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य तो तीर्थंकर नहीं होते, तो फिर क्या यह माना जाये कि ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र मुक्ति के अधिकारी नहीं होते? पुनः सिद्ध न तो स्त्री है, न पुरुष। अतः सिद्ध का लिंग से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

यदि यह तर्क दिया जाए कि स्त्रियाँ कपटवृत्ति वाली या मायावृत्ति

होतो है तो इसका प्रत्युत्तर यह है कि व्यवहार में तो पुरुष भी मायावी देखे जाते हैं ।

पुनः यदि यह कहा जाये कि पुरुष के समान स्त्रियों के कोई भी सिद्ध क्षेत्र उल्लिखित नहीं है तो यह बात तो अनेक पुरुषों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । सभी पुरुषों के सिद्ध क्षेत्र तो प्रसिद्ध नहीं है !

यदि यह तर्क प्रस्तुत किया जाये कि स्त्रियों में पुरुषार्थ की कमी होती है इसलिए वे मुक्ति की अधिकारी नहीं है । किन्तु हम देखते हैं कि आगमों में ब्राह्मी, सुन्दरी, राजमति, चन्दना आदि अनेक स्त्रियों के उल्लेख हैं, जो पुरुषार्थ और साधना में पुरुषों से कम नहीं थी । अतः यह तर्क भी युक्ति संगत नहीं है ।

पुनः एक तर्क यह भी दिया जा सकता है कि जो व्यक्ति बहुत पापो और मिथ्या दृष्टिकोण से युक्त होता है वही स्त्री के रूप में जन्म लेता है । सम्यक्-दृष्टि प्राणी स्त्री के रूप में जन्म ही नहीं लेता । तात्पर्य यह है कि स्त्री-शरीर का ग्रहण पाप के परिणाम स्वरूप होता है इसलिए स्त्री-शरीर मुक्ति के योग्य नहीं है । साथ ही दिगम्बर परम्परा यह भी कहती है कि एक सम्यक् दृष्टि व्यक्ति स्त्री, पशु-स्त्री, प्रथम नरक के बाद के नरक, भूत-पिशाच आदि और देवी के रूप में जन्म नहीं लेता । पापी आत्मा ही इन शरीरों का धारण करता है । अतः स्त्री शरीर मुक्ति के योग्य नहीं है । इस सम्बन्ध में यापनीयों का कथन है कि दिगम्बर परम्परा की यह मान्यता प्रमाण रहित है । दूसरे जब सम्यक्-दर्शन का उदय होता है, तब सभी कर्म मात्र एक कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति के रह जाते हैं, ६९ कोटाकोटि सागरोपम स्थिति के कर्म तो मिथ्यादृष्टि व्यक्ति भी समाप्त कर सकता है । अतः सम्यक्-दर्शन का उदय होने पर स्त्रियाँ अवशिष्ट मात्र एक कोटाकोटि सागरोपम के कर्मों को क्यों क्षय नहीं कर सकती हैं ? स्त्री में कर्म क्षय करने की शक्ति का अभाव मानना युक्ति-संगत नहीं है ।

पुनः आगमों में स्त्री-मुक्ति के उल्लेख भी हैं । मथुरागम में कहा गया है कि एक समय में अधिकतम १०८ पुरुष, २० स्त्रियाँ और १० नपुंसक सिद्ध हो सकते हैं ।^१ ज्ञातव्य है कि यह उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र का है,

१. दस चैव नपुंसेषु वीसं इत्थियासु य ।

पुरिसेसु य अट्ठसयं समएणेणेण सिज्झइ ॥

—उत्तराध्ययन, ३६।५१, पृ० ३८७, साध्वी चबना, वीरायतन प्रकाशन

जिसकी माथुरीवाचना यापनियों को भी मान्य थी। इसके अतिरिक्त आगम में स्त्री के १४ गुणस्थान कहे गये हैं। संभवतः शाकटायन का यह निर्देश षट्खण्डागम के प्रसंग में है। ज्ञातव्य है कि षट्खण्डागम दिगम्बरों को भी मान्य है। इस वचन के प्रति दिगम्बर परम्परा का यह कहना है कि यहाँ स्त्री से तारुण्य भाव-स्त्री (स्त्रीवेदी जोव) अर्थात् उस पुरुष से है जिसका स्वभाव स्त्रैण हो। इस सम्बन्ध में शाकटायन का प्रत्युत्तर यह है कि किसी शब्द का दूसरा गौण अर्थ होते हुए भी, जब तक उस सन्दर्भ में उसका प्रथम मुख्य अर्थ उपयुक्त हो तब तक दूसरा गौण अर्थ नहीं लिया जा सकता। प्रत्येक शब्द का अपना एक निश्चित रूढ़ अर्थ होता है और बिना पर्याप्त कारण के उस निश्चित रूढ़ अर्थ का त्याग नहीं किया जा सकता। पुनः जब तक व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ या रूढ़ अर्थ ग्राह्य है, तब तक दूसरा अर्थ लेने की आवश्यकता नहीं है। स्त्री शब्द स्त्री शरीर-धारो अर्थात् स्तन, गर्भाशय आदि से युक्त प्राणी के लिए ही प्रयुक्त होता है। यहाँ (षट्खण्डागम के प्रस्तुत प्रसंग में) स्त्री शब्द का अन्य कोई अर्थ उसी प्रकार निरर्थक है, जैसे कोई अग्निपुत्र नामक व्यक्ति का अर्थ अग्नि से उत्पन्न पुत्र करें। पुनः जब आगमों में यह कहा जाता है कि स्त्री छटे नरक से आगे नहीं जाती, तो वहाँ स्त्री शब्द को उसके मुख्य अर्थ में लें और आगे जब आगम में यह कहा जाये कि स्त्री में १४ गुण-स्थान होते हैं, तो वहाँ स्त्री शब्द को उसके गौण अर्थ अर्थात् भाव-स्त्री के रूप में ले तो यह उचित नहीं है।

शाकटायन यहाँ स्पष्ट रूप से वीरसेन की षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणा खण्ड के ९३वें सूत्र की व्याख्या पर कटाक्ष करते हुए प्रतीत होते हैं। षट्खण्डागम में सत्प्ररूपणा की गतिमार्गणा में यह कहा है कि पर्याप्त मनुष्यनी में संयतासंयत, संयत आदि गुणस्थान होते हैं। वीरसेन की यह मनुष्यनी शब्द को भावस्त्री या स्त्रीवेदी पुरुष ऐसी जो व्याख्या की है, वह शाकटायन को स्वोकार्य नहीं है। शाकटायन का स्पष्ट मत है कि आगम (षट्खण्डागम) में जो मनुष्यनी शब्द प्रयुक्त हुआ है वहाँ उसका मुख्य अर्थ ही ग्राह्य है। ज्ञातव्य है कि यहाँ मनुष्यनी का अर्थ—स्त्रीवेदी पुरुष (स्त्रैण-पुरुष) यह इसलिए भो ग्राह्य नहीं हो सकता है, क्योंकि यह चर्चा गति-मार्गणा के सन्दर्भ में है, वेद-मार्गणा के सम्बन्ध में नहीं है। वेद-मार्गणा की चर्चा तो आगे को हो गई है। अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में 'मनुष्यनी' का अर्थ स्त्रीवेदी मनुष्य/भाव-स्त्री नहीं किया जा सकता है।

पुनः भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेद की उपस्थिति में तो मुक्ति संभव नहीं होती है, वेद (कामवासना) तो नवें गुणस्थान में ही समाप्त हो जाता है। मुक्ति शरीर की उपस्थिति में सम्भव है, क्योंकि शरीर तो चौदहवें गुणस्थान अर्थात् मुक्ति के क्षण तक रहता है।

पुनः पुरुष शरीर में स्त्रीवेद अर्थात् पुरुष द्वारा भोगे जाने सम्बन्धी कामवासना अथवा स्त्री शरीर में पुरुष वेद अर्थात् स्त्री को भोगने सम्बन्धी कामवासना का उदय मानना भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से युक्ति संगत नहीं। यदि यह माना जायेगा कि पुरुष को आंगिक संरचना में स्त्री रूप से भोगा जाना और स्त्री को शारीरिक संरचना में पुरुष रूप से स्त्री को भोग करना सम्भव है तो फिर समलिंगी विवाह व्यवस्था को भी मानना होगा। साथ ही यदि पुरुष में स्त्री वेद का उदय अर्थात् दूसरे पुरुष के द्वारा स्त्री रूप में भोगे जाने सम्बन्धी कामवासना का उदय संभव मानेंगे, तो फिर मुनियों का परस्पर साथ में रहना भी सम्भव नहीं होगा क्योंकि किसी श्रमण में कब स्त्री वेद का उदय हो जाय यह कहना कठिन होगा और स्त्री वेदी श्रमण के साथ पुरुष वेदी श्रमण का रहना श्रमण के आचार नियमों के विरुद्ध होगा। किसी भी व्यक्ति में भिन्न लिंगी कामवासना को मानना संभव नहीं है। व्यवहार में तो बाह्य शरीर रचना के आधार पर ही निर्णय लिये जाते हैं अतः मनुष्यनी शब्द का अर्थ स्तन, योनि आदि से युक्त मनुष्यनी (मानव स्त्री) ही है न कि स्त्री सम्बन्धी कामवासना से युक्त पुरुष।

पुनः इस कथन का कोई प्रमाण भी नहीं है कि पुरुष शरीर-रचना में स्त्रैय कामवासना का उदय होता है। ऐसी स्थिति में यह भी मानना होगा कि स्त्री शरीर में भी पुरुष सम्बन्धी कामवासना अर्थात् स्त्री को भोगने का इच्छा उत्पन्न होती होगी। ऐसी स्त्री भाव-पुरुष होगी, जब द्रव्य पुरुष भाव-स्त्री हो सकता है तो द्रव्य-स्त्री भी भाव-पुरुष हो सकेगी और पुरुष मुक्ति मानने पर द्रव्य स्त्री रूपी भाव-पुरुष को मुक्ति माननी होगी अर्थात् स्त्री-मुक्ति भी सिद्ध हो जायगी। वस्तुतः यह तर्क समीचीन नहीं है। ज्ञातव्य है कि जैन परंपरा में वेद और लिंग दो अलग-अलग शब्द रहे हैं। लिंग का तात्पर्य शारीरिक संरचना अथवा बाह्य चिह्नों से होता है जबकि वेद का तात्पर्य कामवासना सम्बन्धी मनाभावों से होता है। सामान्यतया जैसी शरीर रचना होती है, तद्वत् रूप ही वेद अर्थात् कामवासना का उदय होता है। यदि किसी व्यक्ति में अपनी शरीर रचना से भिन्न प्रकार

की कामवासना पाई जाती तो यह मानना होगा कि उस व्यक्ति में पुरुष और स्त्री अर्थात् दोनों प्रकार की कामवासना है। परन्तु आगम की दृष्टि से ऐसा व्यक्ति नपुंसक लिंगो कहा गया है। जैन परम्परा में नपुंसक शब्द का तात्पर्य पुरुषत्व से होन अर्थात् स्त्री का भोग करने में असमर्थ व्यक्ति—ऐसा नहीं है। जैन परम्परा के अनुसार नपुंसक वह है, जिसमें उभय लिंग की कामवासनाएँ उपस्थित हों। पुनः शाकटायन का यह भी कहना है कि यदि किसी पुरुष का काम-व्यवहार दूसरे पुरुष के साथ स्त्रीवत् हो अथवा किसी स्त्री का काम-व्यवहार दूसरी स्त्री के साथ पुरुषवत् हो तो यह उसकी अपनी विकृत कामवासना का ही रूप है। कभी-कभी तो मनुष्य पशुओं से भी अपनी कामवासना को पूति करते हुए देखे जाते हैं। क्या ऐसी स्थिति में यह मानेंगे कि उसमें पशु सम्बन्धी कामवासना है? वस्तुतः यह उसकी अपनी कामवासना का ही एक विकृत रूप है।

पुनः यदि यह कहा जाय कि आगम में विगत वेद या भव की अपेक्षा से स्त्री में १४ गुणस्थान माने गये हैं तो फिर तो विगत भव की अपेक्षा से देव में भी १४ गुणस्थान संभव होंगे। किन्तु आगम में उनमें तो १४ गुणस्थान नहीं कहे गये हैं। वस्तुतः आगम में जो मनुष्यनी में १४ गुणस्थानों की संभावना स्वीकार की गई है, वह स्त्री-वेद के आधार पर नहीं, अपितु स्त्रीलिंग (स्त्री रूपी शरीर रचना) के आधार पर ही है। आगम में गतिमार्गणा के सन्दर्भ में पर्याप्त मनुष्यनी में गुणस्थानों की चर्चा हुई है और गति की चर्चा वर्तमान भव की अपेक्षा से ही की जाती है। अतः मनुष्यनी का अर्थ भाव-स्त्री अर्थात् स्त्रैण वासना से युक्त पुरुष करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि भाव या वेद की चर्चा तो भिन्न अनुयोग द्वार में की गई है। अतः आगम अर्थात् षट्खण्डागम में मनुष्यनी का अर्थ भाव-स्त्री न होकर द्रव्य-स्त्री ही है और यदि आगमानुसार मनुष्यनी में १४ गुणस्थान सम्भव है तो फिर उसकी मुक्ति भी सम्भव है। इस प्रकार यापनीय परम्परा आगमिक आधारों पर स्त्री मुक्ति की समर्थक रही है।^{११}

अन्यतैथिक और गृहस्थ मुक्ति का प्रश्न

स्त्री-मुक्ति के साथ-साथ दो अन्य प्रश्न भी जुड़े हुए हैं, वे हैं, अन्य-तैथिक की मुक्ति एवं सवस्त्र की मुक्ति (गृहस्थ-मुक्ति)। यह स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन जैन आगमों में स्त्री-मुक्ति के साथ-साथ अन्य तैथिकों (अन्यलिंग) और गृहस्थों की मुक्ति को भी स्वीकार किया

१. विस्तृत विवरण हेतु देखें—स्त्री निर्वाण प्रकरण, शाकटायन। सभी तर्क उसी ग्रन्थ पर आधारित हैं।

गया है। उसको मान्यता यह थी कि व्यक्ति चाहे किसी अन्य परम्परा में दीक्षित हुआ हो या गृहस्थ ही हो, यदि वह समभाव की साधना में पूर्णता प्राप्त कर लेता है, राग-द्वेष से ऊपर उठ कर कोतराग दशा का प्राप्त हो जाता है, तो वह अन्य तैथिक के या गृहस्थ के वेश में भी मुक्ति को प्राप्त हो सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में शरीर की अपेक्षा से स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक की तथा वेश की अपेक्षा से स्वर्लिंग (निग्रथ मुनिवेश में) अन्य लिंग (तापस आदि अन्यतैथिक के वेश) एवं गृहीलिंग (गृहस्थवेश) से मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार किया गया है।^१ सूत्रकृतांग में नमि, बाहुक, असित देवल, नारायण आदि ऋषियों के द्वारा अन्य परम्परा के आचार एवं वेष-भूषा का अनुसरण करते हुए भी सिद्धि प्राप्त करने के स्पष्ट उल्लेख हैं।^२ ऋषिभाषित में औपनिषदिक, बौद्ध एवं अन्य श्रमणपरम्पराओं के ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर सम्मानित किया गया है।^३ वस्तुतः मुक्ति का सम्बन्ध आत्मा को विमुक्ति से है, उसका बाह्य वेश या स्त्री-पुरुष आदि के शरीर से कोई संबंध नहीं है। श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि व्यक्ति चाहे श्वेताम्बर हो, दिग्म्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी धर्म परंपरा का हो, यदि वह समभाव से युक्त है तो अवश्य मोक्ष को

१. इत्थी पुरिसिद्धा य तहेव य नपुंससा ।

सङ्गि अन्नङ्गि य गिर्हिलिगे तहेव य ॥

उत्तराध्ययन सूत्र, (संपा०) साध्वी श्री चन्दना, ३६/९९,

२. आहंसु महापुरिसा पुब्बि तत्ततपोषणा ।

उदएण सिद्धिमावन्ना तत्थ मंदो विसोयति ॥

अभुंजिया नमि विदेही, रामपुत्ते य भुंजिया ।

बाहुए उदगं भोच्चा तहा नारायणे रिसो ॥

असिते दविले जेव दीवायण महारिसो ।

पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि य ॥

एते पुब्बं महापुरिसा आहिता इह सम्मता ।

भोच्चा बीओदगं सिद्धा इति मेयमणुस्सुअं ॥

—सूत्रकृतांग, १/३/४/१-४

३. देवनारदेण अरहता इसिणा बुद्धयं ।

इसिगासियाइ, १/१ संपा० महोपाध्याय विनयसागर जी,

प्रकाशक प्राकृत भारती अकादमी जयपुर

४. सेयंबरो वा आसंबरो वा बुद्धो वा तहेव अन्नो वा ।

समभाव भाविप्पा लहइ मोक्खं ण सदेहो ॥

प्राप्त करेगा। चूँकि यापनीय भी आगमिक परम्परा के अनुयायी थे। यापनीय शाकटायन ने इस संबंध में आगम-प्रमाण का उल्लेख भी किया है अतः वे स्त्री-मुक्ति के साथ-साथ अन्य तैथिक की मुक्ति के समर्थक थे। किन्तु जब अचेतता को ही एक मात्र मोक्ष-मार्ग स्वीकार करके मूर्च्छादि भाव परिग्रह के साथ-साथ वस्त्र-पात्रादि द्रव्य-परिग्रह का भी पूर्ण त्याग आवश्यक मान लिया गया तो यह स्वाभाविक ही था कि स्त्री-मुक्ति के निषेध के साथ ही साथ अन्यतैथिकों और गृहस्थों की मुक्ति का भी निषेध कर दिया जाय।

दिगम्बर परम्परा में चूँकि अचेतता को ही एकमात्र मोक्षमार्ग माना गया था, इसलिए उसने यह माना कि अन्य-तैथिक या गृहस्थ वेश में कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता। इसके विपरोत श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही स्पष्ट रूप से यह मानते रहे कि यदि व्यक्ति को रागात्मकता या ममत्व वृत्ति समाप्त हो गयी है तो बाह्य रूप से वह चाहे गृहस्थ वेश धारण किये हुए हो या अन्यतैथिक श्रमण या तापस आदि का वेश धारण किये हुए हो, उसकी मुक्ति में कोई बाधा नहीं है। तत्त्वार्थभाष्य^१ में तत्त्वार्थसूत्र के दशवें अध्याय के सातवें सूत्र का भाष्य करते हुए उमास्वाति ने वेश की अपेक्षा द्रव्यलिग के तीन भेद किये— १. स्वलिग २. गृहलिग और ३. अन्यालिग और यह बताया कि इन तीनों लिगों से मुक्ति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। इस प्रकार उमास्वाति ने अन्यतैथिकों एवं गृहस्थों की मुक्ति को विकल्प से स्वीकार करते हैं, किन्तु इसी सूत्र की व्याख्या में पूज्यपाद 'सर्वार्थसिद्धि' में द्रव्यलिग की दृष्टि से निर्ग्रन्थ लिग से ही सिद्धि मानते हैं यद्यपि उन्होंने यह माना है कि भूतपूर्व नय को अपेक्षा से सग्रन्थलिग से भी सिद्धि होती है।^२ किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के प्रस्तुत सूत्र (१०/७) में सिद्धि जोवों का

१. लिगे पुनरन्यो विकल्प उच्यते द्रव्यलिगभावालिगअलिगमिति । प्रत्युत्पन्ने-भावप्रज्ञापनीयस्यालिग सिध्यति । पूर्वभाव प्रज्ञापनीयस्य भावलिग प्रति-स्वलिगे सिध्यति । द्रव्यलिग त्रिविधं-स्वलिगभन्यालिग गृहलिगमिति । तत् प्रतिभाज्यम् । सर्वस्तु भावलिगप्राप्त सिध्यति ॥

—तत्त्वार्थभाष्य, १०/७ का भाष्य

२. लिगेन केन सिद्धिः ? अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदभ्यः सिद्धिर्भावता न द्रव्यतः पुल्लिगेनैव अथवा निर्ग्रन्थ लिगेन । सग्रन्थलिगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्व-नयापेक्षया ।

—पूज्यपादविरचित सर्वार्थसिद्धि, संपा० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री पृष्ठ ४७२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ आदि को अपेक्षा से जो विचार किया गया है, वह उनकी मुक्ति प्राप्त करने के समय की स्थिति के सन्दर्भ में है। अतः भूतपूर्व नय का यहाँ कोई प्रयोजन हो नहीं है। क्योंकि यदि भूतपूर्व नय से कहना होता तो उसमें तो सभी लिंग, सभी गति, सभी क्षेत्र आदि से मुक्ति मानो जा सकती थी। सर्वार्थसिद्धि में भूतपूर्व नय का कथन मात्र आगम और अपनी परम्परा के मध्य संगति बिठाने हेतु किया गया है। इससे यह भी फलित होता है कि पूज्यपाद के समय में दिगम्बर परम्परा में अन्यतैथिक और गृहस्थमुक्ति के निषेध की अवधारणा स्पष्ट रूप से आ गयी थी। पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि-टीका से पहले हमें श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के किसी भी ग्रन्थ में स्त्री, अन्यतैथिक एवं गृहस्थ की मुक्ति के स्पष्ट निषेध सम्बन्धी कोई भी उल्लेख नहीं मिले हैं। श्वेताम्बर मान्य आगम सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में तो स्पष्ट रूप से इन दोनों की मुक्ति का उल्लेख हुआ है यह हम पूर्व में बता चुके हैं। कुन्दकुन्द और पूज्यपाद के समय से ही जैन विद्वानों में यह मतभेद हुआ है। हमारी दृष्टि में कुन्दकुन्द भी पूज्यपाद के समकालीन लगभग छठे शती के ही है। अतः पूज्यपाद के साथ-साथ उन्होंने भी सूत्रप्राभृत में 'वस्त्रधारी' की मुक्ति का निषेध किया है। वे कहते हैं कि "यदि तीर्थंकर भी वस्त्रधारी हो तो वह भी मुक्त नहीं हो सकता।" इस निषेध में स्त्री, अन्यतैथिक एवं गृहस्थ तीनों की मुक्ति का ही निषेध हो जाता है क्योंकि ये तीनों ही वस्त्रधारी हैं। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द एवं पूज्यपाद के काल से स्त्री मुक्ति के साथ-साथ अन्यतैथिक एवं गृहस्थ की मुक्ति का भी निषेध कर दिया गया। वस्तुतः कोई भी धर्म परम्परा जब साम्प्रदायिक संकीर्णताओं में सिगटती जाती है, तो उसमें अन्य परम्पराओं प्रति उदारता समाप्त होती जाती है। अन्यतैथिकों एवं गृहस्थों की मुक्ति का निषेध इसी का परिणाम था।

परवर्ती श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में जो भी चर्चा हुई वह मुख्य रूप से स्त्री मुक्ति के प्रश्न को लेकर ही हुई। गृहस्थ एवं अन्यतैथिक की मुक्ति का प्रश्न वस्तुतः स्त्रीमुक्ति के प्रश्न से ही जुड़ा हुआ था। अतः परवर्ती साहित्य में इन दोनों के सम्बन्ध में पक्ष व

१. ण्वि सिज्जाइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो ।

णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥

—सूत्रप्रागुत, २३

विपक्ष में कुछ लिखा हो, ऐसा मुझे ज्ञात नहीं है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक^१ में विद्यानन्द ने एकमात्र तर्क यह दिया है कि यदि सग्रन्थ अवस्था में मुक्ति होती है तो फिर परिग्रह-स्याग की क्या आवश्यकता है? जिस प्रकार यापनीय आचार्य 'शाकटायन' ने और श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र आदि ने स्त्री मुक्ति के समर्थन में विविध तर्क दिये उसी प्रकार के तर्क गृहस्थ या अन्य तैथिक की मुक्ति के सम्बन्ध में यापनीय एवं श्वेताम्बर आचार्यों ने नहीं दिये हैं। सम्भवतः इसका कारण यही रहा कि जब एक बार सचेल स्त्री की मुक्ति की सम्भावना स्वीकार की जाती है तो फिर गृहस्थ और अन्यतैथिक की मुक्ति की सम्भावना स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रहती, क्योंकि गृहस्थ और अन्यतैथिक की मुक्ति का प्रश्न सीधा स्त्री-मुक्ति की समस्या के साथ जुड़ा हुआ था। अतः उस पर स्वतन्त्र रूप से पक्ष व विपक्ष में अधिक चर्चा नहीं हुई है।

जहाँ तक यापनीय परम्परा का प्रश्न है वे स्त्री-मुक्ति के साथ-साथ गृहस्थ एवं अन्य तैथिक की मुक्ति स्वीकार करते थे। यापनीय ग्रन्थों से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। आचार्य हरिषेण के 'बृहत्कथाकोश'^२ में स्पष्ट रूप से गृहस्थ मुक्ति का उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत से अन्वित और मौनव्रत से समन्वित साधक सिद्धि को प्राप्त होता है। इसी प्रकार हरिवंशपुराण^३ (जिनसेन और हरिषेण) में भी अन्य तैथिक की मुक्ति का उल्लेख किया गया है। उसमें बयालीसवें सर्ग में नारद को 'अन्त्यदेह' कहा गया है। पुनः उसके पैंसठवें सर्ग में तो स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि—“नरश्रेष्ठ नारद ने प्रवर्जित होकर तपस्या के बल से भव-परम्परा का क्षय करके अक्षय मोक्ष को प्राप्त किया^४।” इसके विपरीत दिगम्बर ग्रन्थों में नारद को नरकगामी

१. साक्षान्निग्रन्थलिगेन पारंपर्यात्ततोन्वितः। साक्षात्सग्रन्थलिगेन सिद्धौ निर्ग्रन्थता वृथा।
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् १०/९, सम्पा० मनोहरलाल

२. अणुव्रतधरः कश्चित् गुणशिक्षाव्रतान्वितः।
सिद्धिभक्तो व्रजेत् सिद्धि मौनव्रतसमन्वितः ॥

—बृहत्कथाकोश, ५७/५६७

३. अन्त्यदेहः प्रकृत्यैव निःकषायोऽभ्यसी क्षितौ।

—हरिवंशपुराण, ४२/२२

४. नारदोऽपि नरश्रेष्ठः प्रब्रज्य तपसो बलात्।

कृत्वा भवक्षयं मोक्षमक्षयं समुपेयिवान् ॥

—हरिवंशपुराण, ६५/२४

कहा गया है इससे यह फलित होता है कि यापनीय परम्परा श्वेताम्बर परम्परा की ही तरह उदार थी और स्त्री मुक्ति के साथ-साथ अन्यतैथिक एवं गृहस्थों की मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करती थी।

केवली-भुक्ति का प्रश्न

(अ) केवली कवलाहार और आगमिक परम्परा :

केवली के कवलाहार का प्रश्न भी यापनीय और दिगम्बर परम्परा के बीच विवाद का विषय रहा है। जहाँ एक ओर श्वेताम्बर और यापनीय परम्परार्ये केवली का कवलाहार स्वीकार करती हैं, वहाँ दिगम्बर परम्परा केवली के कवलाहार का निषेध करती हैं। केवली के कवलाहार सम्बन्धी विवाद की यह चर्चा हमें ईस्वी सन् के छठवीं शती के पहले के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलती है। सामान्यतया दोनों ही परम्पराओं के मान्य ग्रन्थों में एकेन्द्रिय से लेकर सयोगी केवली तक सभी आहारक होते हैं, ऐसा उल्लेख उपलब्ध होता है। श्वेताम्बर परम्परा के भगवतीसूत्र में भगवान महावीर को केवलज्ञान के पश्चात् नित्य-भोजो कहा गया है।^१ इसके उल्लिखित एक अन्य प्रसंग में भगवतीसूत्र में भगवान के द्वारा भोजन ग्रहण करने का भी निर्देश है।^२ समवायांगसूत्र में तोर्थकर के अतिशयो के प्रसंग में यह कहा गया है कि केवली के आहार और निहार चक्षुओं से दिखाई नहीं देते।^३ इसके अतिरिक्त आगमों में यह भी उल्लेख है ऋषभ आदि ने मुक्ति प्राप्त करने के पूर्व कितने दिनों का उपवास

१. "तेणं कालेणं तेणं समयेणं समणे भगवं महावीरे 'वियडभोई' या वि होत्या। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स वियट्टभोगियस्स सरीरं ओरालं सिगारं कल्लाणं सिणं धन्नं मंगल्लं सस्सिरीयं अणलंक्रियविभूसियं सिरीय अतीव-अतीव उवसोभमाणे चिट्ठह।"^१

—भगवतीसूत्र, २/१ (स्कन्दक तापस अधिकार)

२. तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारं आहारियस्स समणस्स से विपुले रोगायंके खिप्पामेव उवसंते, हट्ठे जाए, अरोगे, बलियसरीरे।

—भगवतीसूत्र, १५/१६३

३. पच्छन्ने आहारनिहारे-अविस्से मंसच्चक्षुणा

—समवायाग, सू० ३४/१७५

किया था, यदि वे कवलाहार नहीं करते थे तो फिर यह उल्लेख कैसे होता। कवलाहारी के ही उपवास आदि का उल्लेख होता है। दिगम्बर परंपरा द्वारा मान्य मूलतः यापनीय ग्रन्थ 'षट्खण्डागम' में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि एकेन्द्रिय जीवों से लेकर सयोगीकेवली तक सभी जीव आहारक होते हैं, मात्र विग्रहगति करने वाले, केवली समुद्धात करने वाले, अयोगी केवली और सिद्ध ये चार प्रकार के जीव अनाहारक होते हैं।^२ इस तथ्य की पुष्टि दिगम्बर ग्रन्थ गोम्मटसार और श्वेताम्बर ग्रन्थ 'जीव-समास' से भी होती है। ज्ञातव्य है कि दोनों परम्परा के ग्रन्थों में यह गाथा समान रूप में उपलब्ध होती है। इसमें कहा गया है कि विग्रह गति को प्राप्त, केवलो समुद्धात करने वाले अयोगी केवलो और सिद्ध ये अनाहारक हैं, शेष सभी जीव आहारक होते हैं।^३ मूलाचार में भी कहा गया है आहारमार्गणा में तेरह गुणस्थान होते हैं। अनाहारमार्गणों में मिथ्यात्व, सास्वादन, अविरत, सयोगीकेवली और अयोगीकेवली ये पाँच की गुणस्थान होती है।^४

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं द्वारा मान्य मूल आगमों में केवली के आहारक होने के उल्लेख हैं।

१. पासे अरहा...मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं कालगए...सव्वकुक्ख पहीणे ।
अरहाअरिट्ठनेमी...सद्धिमासिएणं भत्तेण अमाणएणं...कालगए...सव्व
दुक्खपहीणे । —कल्पसूत्र १८८
उसभे अरहा...चोहसमेणं भत्तेणं अपाणएणं...कालगए...सव्वदुक्खपहीणे ।
—कल्पसूत्र २३१.
२. आहारा एइंदियप्पड्डि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।
अणाहारा चट्टसु ट्ठाणेषु विग्गहगइसमावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदाण
अजोगिकेवलि सिद्धा चेदि ।
—षट्खण्डागम, १/१/१९६-७७
३. (अ) विग्गहगइमावण्णा केवल्लिणो समुग्घदो अजोगी या ।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा ॥
—गोम्मटसार. आगास, गाथा ६६६
(ब) विग्गहगइमावण्णा केवल्लिणो समुह्हो अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा ॥
—भाग २ (पृ० ३२९)
४. अहारस्स य तेरस पंचेव हवंति जाण इयरस्स ।
मिच्छासासण अविरद सजोगी अजोगी य बोद्धव्वा ॥
—जीवसमास, गाथा ८२

(ब) कुन्दकुन्द द्वारा केवली कवलाहार का निषेध :

दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम कुन्दकुन्द ने 'बोध-पाहुड' में केवली के आहार-निहार का निषेध किया है, वे लिखते हैं कि केवली वृद्धावस्था, व्याधि और दुःख से रहित होते हैं। उनमें आहार और निहार का भी अभाव होता है। वे श्लेष्म (कफ) स्वेद और दुर्गंध के दोष से भी रहित होते हैं।^१

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ आगमिक परम्परा में केवली के आहार-निहार को स्वीकार करके भी उनका अतिशय बताने की दृष्टि से उनके आहार-निहार को अदृश्य माना, वहीं कुन्दकुन्द ने उनमें आहार-निहार का निषेध हो कर दिया।

(स) आगमिक परम्परा और कुन्दकुन्द के मध्य समन्वय :

इन दो विरोधी मान्यताओं के कारण एक नयी समस्या उत्पन्न हुई, प्रथम तो यह कि यापनीय ग्रन्थ 'षट्खण्डागम', जिसे कुन्दकुन्द की दिगम्बर परम्परा ने भी आगम रूप में स्वीकार कर लिया था, में आये हुए इस कथन का क्या अर्थ किया जाय कि 'एकेन्द्रिय से लेकर सयोगी केवली तक के सभी जीव आहारक होते हैं'।^२ ज्ञातव्य है कि सयोगी केवली तक जीव आहारक होते हैं—यह मान्यता षट्खण्डागम से किञ्चित् परवर्ती पूज्यपाद की तत्त्वार्थ की सर्वार्थसिद्धि टीका^३ और गोम्मट-सार^४ में भी मिलती है। क्योंकि यदि सयोगीकेवली को सामान्य अर्थ में आहारक मान लिया जाता है तो फिर कुन्दकुन्द की इस मान्यता से विरोध होता है कि केवली आहार-निहार से रहित होते हैं।^५ अतः

१. जरावाहिदुक्खरहियं आहारनिहारवज्जियं विमलं ।

सिहाणखलेसेओ नत्थि दुग्गुञ्छा य दोसो य ॥

—बोधपाहुड, ३७

२. आहारा एइदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि स्ति ।

—षट्खण्डागम, १/१/१७६

३. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगी केवल्यान्तानि ।

—सर्वार्थसिद्धि, १/८

४. धावरकायप्पहुदी सजोगिचरमोत्ति होदि आहारी ।

—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६९८

५. आहारनिहारवज्जियं ।

—बोधपाहुड, ३७

दोनों मान्यताओं में समन्वय स्थापित करने हेतु धवला-टीका में सर्वप्रथम छः प्रकार के आहारों की कल्पना की गयी है—

१. नोकर्माहार २. कर्माहार ३. कवलाहार ४. लेप्याहार ५. ओजाहार (ओष्म) और ६. मन-आहार और यह माना गया कि केवली नो-कर्माहार करते हैं।^१ ज्ञातव्य है कि जहाँ न्यायकुमुदचन्द्र में केवली के नोकर्माहार और कर्माहार ऐसे दो आहार माने गये हैं, वहाँ धवला में मात्र एक नोकर्माहार ही माना गया है। छः प्रकार के इन आहारों का उल्लेख सर्वप्रथम धवलाटीका में ही हुआ है। उससे पूर्व के किसी भी श्वेताम्बर, दिगम्बर ग्रंथ में यह उल्लेख नहीं मिलता है। वस्तुतः धवलाकार की समस्या यह थी कि एक ओर षट्खण्डागम में सयोगी केवली को जो आहारक माना गया था उसकी संगति आचार्य कुन्दकुन्द की इस मान्यता से बैठानी थी, जिसके अनुसार केवली में आहार-निहार नहीं है। परवर्ती दिग्म्बर आचार्य देवसेन आदि ने भाव संग्रह में धवला का अनुसरण करते हुए इन्हीं ६ आहारों का उल्लेख किया है^२, किन्तु इससे पूर्व के श्वेताम्बर मान्य आगमों में यथा—सूत्र-कृतांग, निर्युक्ति आदि में तीन प्रकार के आहारों का ही उल्लेख मिलता है। उसमें कहा गया है कि आहार तीन प्रकार के हैं—ओजाहार,

१. अत्र कवललेपोष्ममनः कर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः,
अन्यथाहारकालविरहाम्यां सह विरोधात् ।

—षट्खण्डागम, १/१/१७६ की धवलाटीका (९वीं शती)

२. (अ) णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पहारो य ।
उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो पेओ ॥
णोकम्मकम्महारो जीवाणं होइ चउगइगयाणं ।
कवलाहारो णरपसु रुक्खेसु य लेप्पमाहारो ॥
पक्खीणुज्जाहारो अडंयमज्जेसु वट्टमाणाणं ।
देवेसु मणाहारो चउव्विहो णत्थि केवल्लिणो ॥
णोकम्मकम्महारो उवयारेण तस्स आयमे भाणिओ ।
ण ह्णु णिच्छएण सो वि ह्णु स वीयराओ परो जम्हा ॥

—भाव संग्रह, ११०-११३

(ब) नोकर्मकर्मनामा च लेपाहारोऽथ मानसः ।

ओजश्च कवलाहारश्चेत्याहारो हि षड्विधः ॥

—भावसंग्रह, २२६

लोमाहार और प्रक्षेपाहार । इस प्रक्षेपाहार को ही कवलाहार कहा जाता है । सभी अपर्याप्तक जीव ओजाहार करते हैं जबकि पर्याप्तक जीव लोमाहार या प्रक्षेपाहार ग्रहण करते हैं । देव, नारक और एकेन्द्रिय जीवों में प्रक्षेपाहार नहीं होता, शेष द्वीन्द्रिय से लेकर सयोगी केवली तक प्रक्षेप आहार करते हैं । केवली को छोड़कर शेष जीव विग्रह गति में दो समय तक अनाहारक रहते हैं, किन्तु केवली समुद्घात करते समय तीन समय तक अनाहारक होते हैं । शैलेषी अवस्था को प्राप्त केवली अर्द्ध अन्तर्मुहूर्त तक अनाहारक होते हैं और सिद्ध-सादि अनन्तकाल तक अनाहारक होते हैं ।^१ इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन श्वेताम्बर मान्य आगमों में नोकर्म-आहार, कर्म-आहार और मन-आहार का कोई उल्लेख नहीं है । नोकर्म-आहार और कर्म-आहार की कल्पना वस्तुतः केवली को एक ओर आहारक मानकर भी उसमें आहार-निहार का अभाव सिद्ध करने के लिए की गयी । ज्ञातव्य है कि जहाँ षट्खण्डागम स्पष्टतः सयोगी केवली में आहार का सद्भाव मानता है, वहाँ कुन्दकुन्द स्पष्टतः आहार का अभाव मानते हैं । दोनों एक दूसरे के विरोधी कथन हैं, क्योंकि षट्खण्डागम यापनीय है और कुन्दकुन्द दिग्म्बर । दोनों मान्यताओं में समन्वय करने का प्रयत्न तब किया गया जब कुन्दकुन्द

१. दब्बे सच्चित्तादी खेत्ते नगरस्स जणवओ होइ ।
 भावाहारो तिविहो ओए लोमे य पक्खेवे ॥
 सरीरेणैयाहारो तयाय फासेण लोमआहारो ।
 पक्खेवाहारो पुण कावलओ होइ नायव्वो ॥
 ओयाहारा जीवा सव्वे अप्पजत्तगा मुण्यव्वा ।
 पजत्तगा य लोमे पक्खेवे होइ (होंति) नायव्वा ॥
 एगिदियदेवाणं नेरइयाणं च नत्थि पक्खेवो ।
 सेसाणं पक्खेवो संसारत्थाण जीवाणं ॥
 एक्कं च दो व समए तिन्नि व समए मुहुत्तमद्धं वा ।
 सादीयमनिहणं पुण कालमणाहारगा जीवा ॥
 एक्कं च दो व समए केवल्लिपरिवज्जिया अणाहारा ।
 संथमि दोण्णि लोए य पूरिए तिन्नि समयया उ ॥
 अंतोमुहुत्तमद्धं सेलेसीए भवे अणाहारा ।
 सादीयमनिहणं पुण सिद्धा अणहारगा होंति ॥

—सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा १७०-१७६

की परम्परा ने षट्खण्डागम को अपना लिया और उस पर धवला-टीका लिखी गयी।

(४) केवली कवलाहार का निषेध क्यों ?

सत्य तो यह है कि जब केवली / तीर्थंकर अलौकिक व्यक्ति मान लिया गया तो सामान्य व्यक्ति से उसका वैशिष्ट्य दिखाने के लिए यह माना गया कि उसके आहार-निहार अदृश्य होते हैं, नख, केश आदि में वृद्धि नहीं होती आदि। इस क्रम में केवली के अतिशयों की चर्चा के प्रसंग में कुन्दकुन्द ने यह मान लिया कि उसके आहार-निहार होते ही नहीं। जहाँ श्वेताम्बर एवं यापनीय परम्परा केवली के शरीर को सामान्य मानवों के समान ही औदारिक (हाड़-मांस से युक्त) मान कर उसमें आहार ग्रहण की सम्भावना मान रही थी, वहाँ दिगम्बर परम्परा में उसके शरीर को परम औदारिक मानकर उसमें आहार-निहार की आवश्यकता को ही समाप्त कर दिया गया।

यापनीय आचार्य जो आगमों को मान्य कर रहे थे और जिन्होंने अपनी परम्परा में षट्खण्डागम का निर्माण किया था, वे आगमिक उल्लेखों के होते हुए, केवली के कवलाहार का निषेध नहीं कर सके, किन्तु दक्षिण भारत में विकसित दिगम्बर परम्परा ने जब आगमों को ही अस्वीकार कर दिया तो उनके लिए स्त्री-मुक्ति के साथ-साथ केवली के कवलाहार का भी निषेध करने में कोई बाधा नहीं रही। इस प्रकार केवली के कवलाहार का निषेध मूलतः तो उसे अतिशय युक्त (अलौकिक) दिखाने का ही परिणाम था। इसके अतिरिक्त कुछ तार्किक कारण भी थे। जैसे जब एक बार यह मान लिया गया कि केवली में कोई आकांक्षा, इच्छा आदि नहीं रहती है तो फिर उसमें आहार की इच्छा भी कैसे मानी जा सकती थी? पुनः जब केवली में भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा का निषेध मान लिया गया, तो फिर उसमें आहार संज्ञा को भी क्यों माना जाय ?

ज्ञातव्य है कि स्त्री-मुक्ति सम्बन्धी-विवाद के समान ही कवलाहार सम्बन्धी विवाद से भी श्वेताम्बर आचार्य प्रायः ८वीं शती के प्रारम्भ तक अपरिचित ही रहे हैं, क्योंकि उस काल तक के किसी भी श्वेताम्बर ग्रन्थ में इस विवाद की कोई चर्चा नहीं है। केवलीभुक्ति के उल्लेख आगमों में हैं, वहाँ वह विवादित प्रश्न नहीं है। उसका निषेध तो सर्वप्रथम कुन्दकुन्द ने (लगभग ४ठीं शती) किया है। उसके बाद ही

खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई जिसका प्रारम्भिक रूप पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि टीका में मिलता है। ज्ञातव्य है पूज्यपाद एक ओर सयोगी केवली को आहारक मानते हैं (१।८) तो दूसरी ओर उसमें क्षुधा का अभाव कहते हैं। ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थ के टीकाकारों में पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा अकलंक के राजवार्तिक और उनकी अपेक्षा भी विद्यानन्दी के श्लोकवार्तिक में केवली के कवलाहार के निषेधक तर्क क्रमशः विकसित होते हुए प्रतीत होते हैं। यह भी स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र, उसके स्वोपज्ञ भाष्य, यहाँ तक कि षट्खण्डागम के रचना काल तक भी इस समस्या का अस्तित्व ही नहीं था।

(५) विगम्बर परम्परा का पूर्वपक्ष :

दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम केवली के आहार-निहार का स्पष्ट निषेध उसमें अतिशय दिखाने के प्रसंग में ही किया परन्तु उसकी पुष्टि में कोई भी तर्क प्रस्तुत नहीं किया। सर्वप्रथम केवली के कवलाहार-निषेध के तर्क कषाय-पाहुड़ की जयधवलाटीका में प्राप्त होते हैं। उसमें कहा गया है कि—यदि यह कहा जाय कि केवली तृष्णा के वशीभूत होकर भोजन करते हैं तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर वे मोही होंगे। पुनः यदि यह कहा जाय कि केवली रत्नत्रय की साधना के लिये भोजन करते हैं तो यह कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि केवली को रत्नत्रय अर्थात् ज्ञान, संयम एवं ध्यान की साधना के लिये भोजन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इन तीनों में कुछ भी उनके लिये प्राप्तव्य रह ही नहीं गया। केवली ज्ञान प्राप्ति के लिये भोजन करते हों यह मानना उचित नहीं, क्योंकि उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और उससे बड़ा कोई ज्ञान है ही नहीं, जिसकी प्राप्ति के लिये वे भोजन करें। संयम के लिये वे भोजन करते हैं, ऐसा कथन भी उचित नहीं, क्योंकि उन्हें यथाख्यात संयम की प्राप्ति हो चुकी है। वे ध्यान के लिये भी भोजन करते हों, यह भी आवश्यक नहीं, क्योंकि उन्होंने सब कुछ जान लिया है; अतः उनके ध्यान करने योग्य कोई पदार्थ ही नहीं रहा।^१ यदि यह कहा जाय कि केवली सांसारिक जीवों के समान

१. घाइकम्मे णट्ठे संते वि जइ वेयणीयं दुक्खमुप्पायइ तो सत्तिसो सभुक्खो केवली होज्ज ? ण च एवं; भुक्खातिसासु कूर-जलविसयतण्हासु संतीसु केवलस्स समोहदावत्तीदो । तण्हाए ण भुंजइ, कितु तिरयणट्ठमिदि ण वोत्तुं; जुत्तं; तत्थ वत्तासेससरुवम्मि तदसंभवादो । तं जहा, ण ताव णाणट्ठं भुंजइ;

बल, आयु, स्वाद, शरीर की वृद्धि, तेज या सुख के लिये भोजन करते हैं, तो ऐसा मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि यह मानने पर वे मोहयुक्त हो जायेंगे। मोहयुक्त होने पर उनमें केवलज्ञान का अभाव होगा, ऐसी स्थिति में उनके वचन आगम नहीं रह जायेंगे और आगम का अभाव होने से रत्नत्रय की प्रवृत्ति नहीं होगी और तीर्थ का विच्छेद हो जायेगा।^१

इस प्रकार कवलाहार के निषेध का मुख्य प्रयोजन यही था कि केवली को ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है जिसके लिये वे भोजन करें। ज्ञातव्य है कि जयधवलाटीका में जो तर्क दिये गये हैं वे तर्क तत्त्वार्थ की टीकाओं में दिये गये तर्कों से भिन्न हैं। वस्तुतः तत्त्वार्थ की टीकाओं के तर्कों का मुख्य प्रयोजन केवली में ग्यारह-परीषहों के सद्भाव सम्बन्धी मूल पाठ में जो सूत्र था, उसका ही निषेध करना था, न कि केवली के कवलाहार का निषेध दिखाना।

उमास्वाति ने तो 'एकादशजिने' कहकर स्पष्ट रूप से केवली में क्षुधादि परीषहों का सद्भाव मान लिया था। क्षुधा-परीषह मानने का फलितार्थ यह भी था कि केवली क्षुधा के निवारणार्थ भोजन ग्रहण भी करते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा (३/९३) में वीतराग में दैहिक दुःखों को सम्भावना स्वीकार की है। दूसरे शब्दों में वे केवली में क्षुधावेदनीय का उदय मानते हैं। किन्तु उनके पश्चात् पूज्यपाद से लेकर तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार तक सभी दिग्म्बर आचार्यों ने न तो केवली में

पत्तकेवलणाणभावादो । ण च केवल णाणादो अहियमण्णं पत्थणिज्जं णाण-
मत्थि जेण तददट्ठं केवली भुजेज्ज । ण संजमदट्ठं; पत्तजहाक्खादसंजमादो ।
ण ज्जाणदट्ठं; विसईकयासेसतिहुवणस्स ज्जेयाभावादो । ण भुंजइ केवली
भुक्तिकारणाभावादो त्ति सिद्धं ।

१. अह जइ सो भुंजइ तो बलाउ-साहु-सरीखवचय-तेज-सुहदट्ठं चेव भुंजइ संसारि-
जीवो त्व; ण च एवं, समोहस्स केवलणाणाणुववत्तीदो । ण च अकेवलि-
वयणमागमो, रागदोसमोहकलंकंकिए हरि-हर हिरणगग्भेसु व सच्चाभा-
वादो । आगमाभावे ण तिरयणपडत्ति त्ति तित्थवोच्छेदो चेव होज्ज, ण च
एवं तित्थस्स णिब्बाहबोहविसयीकयस्स उवलंभादो । तदो ण वेयणीयं घाह-
कम्मणिखेक्खं फलं देदि त्ति सिद्धं ।

जयधवलासहितं कसायपाहुडं, भाग १, प्रका० भा० दि० जैनसंघ,
चौरासी, मथुरा, ई० स० १९४४, १/१/५२-५३, पृ० ६९-७१

क्षुधा-वेदनीय की संभावना को स्वीकार किया है और न केवली के कवलाहार को मान्य किया। तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं^१ कि चार घाती कर्मों को नष्ट करने वाले जिन भगवान में वेदनीय कर्म का सद्भाव होने से उसके निमित्त से होने वाले ग्यारह-परीषहों का भी सद्भाव माना जाता है। किन्तु सहकारी मोहनीय कर्म का उदय न होने से केवली में क्षुधादि की वेदना मानना उचित नहीं है। यह सत्य ही है, फिर भी यहाँ द्रव्य कर्मों की अपेक्षा से परीषह का वैसे ही उपचार किया गया है जैसे केवल ज्ञानी में चित्तवृत्ति के विकल्पों का अभाव होने पर भी कर्मों के नाश रूप फल की अपेक्षा से ध्यान का उपचार किया जाता है अथवा फिर यह मानना चाहिये कि जिन में ग्यारह-परीषह नहीं होते, क्योंकि सूत्र उपस्कार अध्याहार सहित होते हैं। तत्त्वार्थवार्तिक में अकलंकदेव^२ ने भी लगभग पूज्यपाद को इसी

१. एकादश जिने ॥ ९११ ॥

निरस्तघातिकर्मचतुष्टये जिने वेदनीयसद्भावात्तदाश्रया एकादशपरिषहाः सन्ति । ननु च मोहनीयोदयसहायाभावात्क्षुधादिवेदनाभावे परिषहव्यपदेशो न युक्तः ? सत्यमेवमेतत्—वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परिषहोपचारः क्रियते, निरवशेषनिरस्तज्ञानातिशये चिन्तानिरोधाभावेऽपि तत्फल-कर्मनिर्हरणफलपेक्षया ध्यानोपचारवत् । अथवा—एकादश जिने 'न सन्ति' इति वाक्यशेषः कल्पनीयः; सोपस्कारत्वात्सूत्राणाम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धिटीका ९/११

२. एकादश जिने ॥ ९११ ॥

'कैश्चित्कल्प्यन्ते' इति वाक्यशेषः ।

वेदनीयोदयभावात् क्षुधादिप्रसङ्ग इति चेत्; न; घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् ॥ १ ॥ स्यान्मतम्—घातिकर्मप्रक्षयान्निमित्तोपरमे सति नामग्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनालाभसत्कारपुरस्कारप्रज्ञानानदर्शनानि भा भूवन्, अमी पुनर्वेदनीयाश्रयाः खलु परीषहाः प्राप्नुवन्ति भगवति जिने इति; तन्न; किं कारणम् ? घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् । यथा विषद्रव्यं मन्त्रौषधिवलादुपक्षीणमारणशक्तिमुपयुज्यमानं न मरणाय कल्प्यते तथा ध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मैन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरा-याभावान्निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेदनीयाख्यं कर्म सदपि प्रक्षीण-सहायबलं स्वयोग्यप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थमिति क्षुधाद्यभावः, तत्सद्भावो-पचाराद् ध्यानकल्पनवत् । अथवा, नायं वाक्यशेषः 'एकादश जिनेकैश्चित्क-ल्प्यन्ते' इति । किं तर्हि ? एकादश सन्तीति । कथम् १ उपचारात् ।

—तत्त्वार्थवार्तिक, ९/११ ।

बात को दोहराया है। वे कहते हैं कि मंत्र और औषधि के बल से जिस विष द्रव्य की मारण शक्ति समाप्त हो गई उसे उपचार से ही विष कहा जाता है। उसी प्रकार जिन में ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की उपस्थिति, अन्तराय कर्म का अभाव तथा निरन्तर शुभ पुद्गलों के आगमन होने से वस्तुतः तो क्षुधादि का अभाव ही होता है, तथापि ध्यान के समान ही उपचार से उनमें उनका सद्भाव कहा जाता है। अथवा फिर यहाँ 'नाय' अर्थात् ऐसा नहीं है—इस वाक्य शेष की कल्पना करना चाहिये। अकलंक के पश्चात् विद्यानन्दी ने भी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में इन्हीं आधारों पर अपने तर्कों को विकसित किया है।^१ वे लिखते हैं केवली में जो

१. एकादश जिने

तत्र केचित् संतीति व्याचक्षते, परे तु न संतीति । तदुभयव्याख्यानाविरोध-
मुपदर्शयन्नाह;—

एकादश जिने संति शक्तितस्ते परीषहाः ।

व्यक्तितो नेति सामर्थ्याव्याख्यानद्वयमिष्यते ॥ १ ॥

वेदनीयोदयभावात् क्षुदादिप्रसंग इति चेन्न, घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् । तद्भावोपचाराव्याख्यानकल्पनवच्छक्तित एव केवलिन्येका-
दशपरीषहाः संति न पुनर्व्यक्तितः, केवलाद्वेदनीयाव्यक्तक्षुदाद्यसंभवादित्युप-
चारतस्ते तत्र परिज्ञातव्याः । कुतस्ते तत्रोपचर्यते इत्याह—

लेश्यैकदेशयोगस्य सद्भावादुपचर्यते ।

यथा लेश्या जिने तद्वद्वेदनीयस्य तत्त्वतः ॥ २ ॥

घातिहृत्युपचर्यते सत्तामात्रात् परीषहाः ।

छद्मस्थवीतरागस्य यथेति परिनिश्चितं ॥ ३ ॥

न क्षुदादेरभिव्यक्तिस्तत्र तद्वेतुभावतः ।

योगशून्ये जिने यद्वदन्यथातिप्रसंगतः ॥ ४ ॥

नैकं हेतुः क्षुदादीनां व्यक्तौ चेदं प्रतीयते ।

तस्य मोहोदयाव्यक्तेरसद्वेद्योदयेपि च ॥ ५ ॥

क्षामोदरत्वसंपत्तौ मोहापाये न सेक्ष्यते ।

सत्याहाराभिलाषेपि नासद्वेद्योदयादृते ॥ ६ ॥

न भोजनोपयोगस्यासत्त्वेनाप्यनुदीरणा ।

असातावेदनीयस्य न चाहारेक्षणाद्विना ॥ ७ ॥

क्षुदित्यशेषसामग्रीजन्याभिव्यज्यते कथं ।

तद्वैकल्ये सयोगस्य पिपासादेरयोगतः ॥ ८ ॥

एकादश परीषद् कहे गये हैं, वे सत्ता की अपेक्षा से हैं, अनुभूति/अभिव्यक्ति की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि घाती कर्मों के सहकार के बिना उनमें अभिव्यक्ति (वेदना) सामर्थ्य नहीं है। पुनः जिस प्रकार केवली में लेश्या का अभाव होने पर भी लेश्या का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार परीषद् का भी उपचार किया जाता है। मोह रूप हेतु का अभाव होने से केवली में क्षुधादि की अनुभूति (अभिव्यक्ति) मानना उचित नहीं है, अन्यथा फिर अयोगी केवली में भी उनकी अनुभूति माननी होगी, क्योंकि उस दशा में भी वेदनीय कर्म का सद्भाव तो रहता ही है। पुनः मोह का क्षय होने पर आहार की अभिलाषा (इच्छा) सम्भव नहीं है। साथ ही अनन्तशक्ति सम्पन्न होने पर निराहार दशा में अशक्तता मानना भी उचित नहीं है। सत्य तो यह है कि आत्म स्वरूप में उपयोग होने से केवली में भोजन की आकांक्षा तथा तद्रूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इस प्रकार सभी दिगम्बर आचार्यों ने केवली में क्षुधा-वेदनीय और उसके निवारणार्थ कवलाहार का निषेध किया था।

(६) यापनीयों का उत्तरपक्ष :

दिगम्बर परम्परा के तत्त्वार्थ के टीकाकारों एवं जयधवलाकार के तर्कों का प्रत्युत्तर देने के लिये यापनीय आचार्य शाकटायन ने केवली भुक्ति प्रकरण नामक ३७ श्लोकों का एक लघुग्रंथ निर्मित किया है, जिसमें उन्होंने मुख्यतः जयधवलाकार एवं तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर टीकाकारों के तर्कों को ही अपनी समालोचना का आधार बनाया है। उसका सार निम्न है—

(१) भोजन ग्रहण करने के निमित्त कारण रूप आहारादि षट्-पर्याप्तियाँ, वेदनीय कर्म, तेजस शरीर और दीर्घ आयुष्यकर्म का पूर्व में जो उदय था, वह कैवल्यदशा में भी रहता है। अतः केवली में क्षुधा-वेदनीय का उदय और कवलाहार मानने में कोई बाधा नहीं है।

(२) पुनः केवली में आयुष्यादिकर्म नष्ट नहीं हुए हैं, अतः उन्हें जीवन जीना ही पड़ता है और जोवन-जीने के लिये भोजन आवश्यक

क्षुधादिवेदनीद्भूतौ नाहंतोऽनंतशर्मता ।

निराहारस्य चाशक्तौ स्थातुं नानंतशक्तित्ता ॥९॥

नित्योपयुक्तबोधस्य न च संज्ञास्ति भोजने ।

पाने चेति क्षुधादीनां नाभिव्यक्तिजिनाधिपे ॥१०॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ९।११

है। अतः उनमें क्षुधा-वेदनीय एवं कवलाहार मानना होगा, क्योंकि उसके अभाव में आयुष्य पर्यन्त उनको दैहिक स्थिति भी सम्भव नहीं होगी जैसे तेल के अभाव में दीपक की, जलागम के अभाव में जलधारा की स्थिति नहीं होती है, वैसे ही-भोजन के अभाव में केवली के औदारिक शरीर की स्थिति भी नहीं है।

(३) पुनः केवली के ज्ञानादि गुण भी क्षुधा वेदनीय एवं कवलाहार के विरोधी नहीं हैं। जैसे प्रकाश के होने पर अंधकार नष्ट होता है, वैसे ही ज्ञानादि गुणों की वृद्धि के साथ क्षुधा भी नष्ट होती हो, ऐसा नियम नहीं है। प्रकाश एवं अन्धकार के समान ज्ञान और क्षुधा में विलोम सम्बन्ध नहीं है, किशोर एवं युवावस्था में क्षुधा और ज्ञान दोनों में ही समान रूप से वृद्धि होती है।

(४) यदि यह कहा जाय कि क्षुधा दुःख रूप है, अनन्तसुख की विरोधी है, अतः अनन्तसुख से युक्त केवली में क्षुधावेदनीय या आहार की आकांक्षा मानना उचित नहीं है। तो इसका उत्तर यह है कि ज्ञानादि गुणों की तरह सुख का भी क्षुधा से पूर्णतः विरोध नहीं है। भोजन करने से सुख होता है, अतः अनन्त सुख से युक्त व्यक्ति भोजन नहीं करे, यह नियम नहीं बनता है।

(५) जिस प्रकार सर्दी, गर्मी आदि की अनुभूति मोह का परिणाम नहीं होती, उसी प्रकार क्षुधा की अनुभूति भी मोह का परिणाम नहीं है। आहार पर्याप्त का कारण तेजस एवं औदारिक शरीर है और केवली में उनकी उपस्थिति होती है, अतः उन्हें क्षुधा की अनुभूति होती है। वस्तुतः सभी शारीरिक अनुभूतियाँ मोह जनित ही होती हों, ऐसा नियम नहीं है। स्वसन, पाचन आदि अनेक शारीरिक अनुभूतियाँ एवं क्रियाएँ ऐसी हैं जो मोह का परिणाम नहीं हैं। अतः मोह के अभाव में भी क्षुधा वेदनीय और आहार ग्रहण सम्भव है। जिस प्रकार स्वसन सहज शारीरिक क्रिया है, उसी प्रकार भूख-प्यासादि भी सहज शारीरिक क्रियाएँ हैं।

(६) केवलो में क्षुधादि को संवेदना नहीं है, यह कथन आगम का विरोधी है क्योंकि आगम में केवली के क्षुधादि को संवेदना एवं कवलाहार के उल्लेख हैं। यापनीय अर्धमागधी एवं शौरसेनी आगमों को मान्य करते थे; इस लिये शाकटायन पाल्यकीर्ति ने स्त्री-भुक्ति और केवली-भुक्ति प्रकरण में स्थान-स्थान पर आगम-प्रामाण्य का उल्लेख किया।

(७) क्षुधादि का उदय मानकर भी उसका विपाक (क्षुधा-वेदना)

नहीं मानने वालों को आयु कर्म के उदय में भी उसका फल-विपाक अर्थात् जीवन धारण नहीं मानना होगा ।

(८) यदि यह मानें कि अनन्तशक्ति सम्पन्न केवली भगवान को भोजन की क्या आवश्यकता है ? तो यह मानना भी उचित नहीं है । क्योंकि यदि भोजन के बिना केवल अनन्तशक्ति के कारण शरीर स्थिति मानोगे तो फिर अनन्तशक्ति के कारण आयुष्यकर्म के बिना देह-स्थिति भी माननी होगी ।

(९) केवली के भोजन का उद्देश्य भूख की बेदना को शांत करना नहीं, अपितु स्व-पर कल्याण होता है । जिस प्रकार उनका वचन-व्यवहार एवं विहार स्व-पर कल्याण के निमित्त होता है, उसी प्रकार उनका आहार भी स्व-पर कल्याण के निमित्त होता है ।

(१०) केवली में क्षुधादि ग्यारह-परीषहों का सद्भाव ध्यान या लेश्या के समान ही उपचार से है, यह तर्क भी उचित नहीं है । केवली में ध्यान का सद्भाव है, उपचार नहीं । केवली को चाहे एकाग्र चिन्ता निरोध रूप ध्यान नहीं होता हो, किन्तु योग निरोध रूप ध्यान तो होता ही है, क्योंकि योग निरोध रूप ध्यान तो चौदहवें गुणस्थान तक रहता ही है । केवली यथार्थ में ही मन, वाक् और काय योग का निरोध करता है । समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपातिध्यान तो चरम समय में होता है । उसके पूर्व तो योग निरोध रूप ध्यान होता है ।

(११) यदि कहा जाय कि जिस प्रकार देवों को कवलाहार (प्रक्षेप-हार) की अपेक्षा नहीं होती है, उसी प्रकार केवली को भी कवलाहार की अपेक्षा नहीं होती, तो यह तर्क भी उचित नहीं है, क्योंकि देवों का शरीर औदारिक नहीं, अपितु वैक्रिय होता है, जबकि केवली का शरीर औदारिक ही होता है । औदारिक शरीर के लिये ओज, लोम और प्रक्षेप—ये तीनों ही आहार माने गये ।

(१२) चरमदेहधारी को भी मुक्ति रत्नत्रय की साधना की पूर्णता के बिना नहीं होती और बिना भोजन के आयुष्य पर्यन्त शरीर स्थिति नहीं हो सकती ।

(१३) जिस प्रकार नख, केश आदि का न बढ़ना अथवा पसीना आदि न आना अथवा पूर्वाभिमुख होकर बैठने पर भी सभी ओर मुख का दिखाई देना आदि विशेषताएँ तीर्थंकर के पुण्य कारण होती हैं, उसी प्रकार केवली में भूख का नहीं-लगना उनकी देहगत विशेषता हो सकती

है—यह मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि आगम में इन अतिशयों का तो उल्लेख है, किन्तु भूख के अभाव नामक अतिशय का उल्लेख नहीं है।

(१४) वेदनीय कर्मजन्य रोगादि के समान ही केवली में क्षुधा-वेदना मानने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि 'जिन' में सामान्य रूप से एकादश परिषहों का सद्भाव तो माना ही गया है।

(१५) तत्त्वार्थसूत्र में 'एकादश जिने' नामक सूत्र में वाक्य शेष के अध्याहार की कल्पना तभी की जा सकती है जबकि उस सूत्र को अधूरा मानें या उसमें बिना कुछ जोड़े उसका अर्थ नहीं निकलता हो। प्रो० हीरालाल जैन के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में यदि वाक्य शेष की कल्पना करनी है, तो एकादश के साथ 'परीषहः' का और वाक्यपूर्ति के लिए अन्त में 'सन्ति' का अध्याहार करना होगा। जिससे परिपूर्ण वाक्य होगा—एकादशः परीषहाः जिने सन्ति। प्रस्तुत सूत्र में 'न सन्ति' जोड़ने का अथवा 'केचित् कल्पयन्ते' का अध्याहार करने का कोई आधार नहीं बनता है। यदि हम इसमें 'न सन्ति' जोड़ते हैं तो इसका अर्थ होगा—जिन भगवान में ग्यारह परीषह नहीं होते। जिसका स्पष्ट फलित यह है कि शेष ग्यारह होते हैं। इस प्रकार 'न सन्ति' जोड़ने से यह सूत्र केवली में परीषह का अभाव सूचक नहीं बन पाता है। यदि हम इसके स्थान पर 'केचित् कल्पयन्ते' जोड़ते हैं तो इसका अर्थ होगा कि कुछ आचार्य 'जिन' में एकादश परीषह मानते हैं। इसके फलितार्थ के रूप में चाहे एकादश परीषह नहीं मानने वालों की कल्पना भी कर ली जाए किन्तु उससे जिन में एकादश परीषह होते हैं, इस मान्यता का निषेध तो नहीं होता है। अतः यह वाक्य शेष की कल्पना ही निराधार प्रतीत होती है। यदि 'जिन' में एकादश परिषहों का सद्भाव माना जाता है, तो उसमें क्षुधा वेदनीय का उदय भी मानना होगा और इस प्रकार केवली के कवलाहार की पुष्टि होगी।

(१६) यदि कहा जाए कि केवली भगवान के सर्वज्ञ होने के कारण भोजन के समय उन्हें रक्त, मांस आदि का दर्शन भी होगा और केवली भगवान इन अन्तरायों को देखते हुए कैसे भोजन ग्रहण कर सकते हैं ? किन्तु जिस प्रकार परम अवधि ज्ञान के धारक छद्मस्थ मुनियों को भी रुधिर-मांस आदि का दर्शन होता है किन्तु इन्द्रिय ज्ञान का विषय न होने से उसे अन्तराय नहीं माना जाता है, उसी प्रकार केवली को भी

अन्तरायों का दर्शन होने पर भी वे अन्तराय रूप नहीं माने जा सकते ।

वीतराग को कायक्लेश रूप दुःख होते हैं—इस तथ्य को तो दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र ने भी आप्तमीमांसा (३।९३) में स्वीकार किया है ।^१ इससे यह फलित होता है कि—श्वेताम्बर मान्य आगम तत्त्वार्थ-सूत्र, तत्त्वार्थभाष्य, षट्खण्डागम और समन्तभद्र की आप्तमीमांसा के रचना काल तक अर्थात् लगभग ५ वीं शती तक केवली-भुक्ति को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता था । सर्व प्रथम कुन्दकुन्द ने (लगभग छठीं शती) तीर्थंकर के अतिशयों की चर्चा के प्रसंग में केवली के आहार-निहार का निषेध किया । ज्ञातव्य है कि इसके पूर्व श्वेताम्बर परम्परा में उनका आहार-निहार मानते हुए भी उसे चर्म चक्षुओं से अगोचर मान लिया था,—इस कल्पना में कुन्दकुन्द उससे एक कदम आगे निकल गये । केवली में अतिशयों की कल्पना जब और अधिक विकसित हुई तो उनमें रोगादि का अभाव के साथ-साथ और उनका शरीर—हाड़, मांस, रुधिर, मल-मूत्र आदि अशुचियों से रहित परम औदारिक मान लिया गया; फलतः उमास्वाति ने केवली में जो ग्यारह परीषह माने थे, उसमें बाधा प्रतीत होने लगी । अतः तत्त्वार्थसूत्र की ७वीं-८वीं शती में लिखी गई दिगम्बर टीकाओं में केवली में ग्यारह परीषह का अभाव दिखाने हेतु पूज्यपाद, अकलंक एवं विद्यानन्दि द्वारा तर्क दिये गये । इनका प्रत्युत्तर तो यापनीय आचार्यों ने दिया होगा, किन्तु इस सम्बन्ध में उनको कोई कृति आज उपलब्ध नहीं है । जयधवला टीका (९वीं शती) से ऐसा लगता है कि जयधवलाकार ने अपने युग के यापनीय आचार्यों के तर्कों का ही उत्तर दिया है—इसके पश्चात् लगभग १०वीं शती में यापनीय आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने इन सबका उत्तर देने हेतु केवली भुक्ति-प्रकरण नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा । ग्यारहवीं शती के लगभग रचित प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुद-चन्द्र एवं कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की टीकाओं में जहाँ दिगम्बर आचार्यों ने शाकटायन के केवली भुक्ति प्रकरण का खण्डन किया, वहाँ श्वेताम्बर

१. पुण्य ध्रुवं स्वतो दुःखात्पार्श्वं च सुखं तो यदि ।

वीतरागो मुनिर्विद्वास्ताभ्यां युज्यरान्निमित्ततः ॥

—आप्तमीमांसा ३।९३

४३० : जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय

आचार्यों ने उसका अनुसरण करते हुए केवली भुक्ति का समर्थन किया। शाकटायन के पश्चात् किसी यापनीय आचार्य ने इस सम्बन्ध में कुछ लिखा हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता है। ज्ञातव्य है लगभग १०वीं शती तक यह समस्या यापनीयों और दिगम्बरों के बीच विवाद का विषय रही— इसके पश्चात् यह समस्या श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के बीच भी विवाद का मुख्य मुद्दा बन गयी और दोनों परम्पराओं में इसके खण्डन-मण्डन हेतु विपुल लेखन हुआ, जिसकी चर्चा प्रस्तुत प्रसंग में अपेक्षित नहीं है।



जैनधर्म में अचेलकत्व और सचेलकत्व का प्रश्न

निर्ग्रन्थ परम्परा में सचेलकत्व और अचेलकत्व का प्रश्न अति प्राचीनकाल से ही विवाद का विषय रहा है। जैनों के वर्तमान में जो श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय हैं, उनके बीच भी विवाद का प्रमुख बिन्दु यही है। पहले भी इसी विवाद के कारण उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ विभाजित हुआ था और यापनीय सम्प्रदाय अस्तित्व में आया था। दूसरे शब्दों में इसी विवाद के कारण जैनों में विभिन्न सम्प्रदाय अर्थात् श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय निर्मित हुए हैं। यह समस्या मूलतः मुनि-आचार से ही सम्बन्धित है, क्योंकि गृहस्थ उपासक, उपासिकाएँ और साध्वियाँ तो तीनों ही सम्प्रदायों में सचेल (सवस्त्र) ही मानी गयी हैं।

मुनि के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा की मान्यता यह है कि मात्र अचेल (नग्न) ही मुनि पद का अधिकारी है। जिसके पास वस्त्र है, चाहे वह लंगोटी मात्र ही क्यों न हो, वह मुनि नहीं हो सकता है।^१ इसके विपरीत श्वेताम्बरों का कहना है कि मुनि अचेल (नग्न) भी होता है और सचेल (सवस्त्र) भी।^२ साथ ही वे यह भी मानते हैं कि वर्तमान-काल की परिस्थितियाँ ऐसी हैं जिसमें मुनि का अचेल (नग्न) रहना उचित नहीं है। इन दोनों परम्पराओं से भिन्न यापनीयों की मान्यता यह है कि अचेलता ही श्रेष्ठ मार्ग है, किन्तु आपवादिक स्थितियों में मुनि वस्त्र रख सकता है।^३ इस प्रकार जहाँ दिगम्बर परम्परा एकान्तरूप से अचेलकत्व को ही मुनि-मार्ग या मोक्ष-मार्ग मानती है, वहाँ श्वेताम्बर परम्परा वर्तमान में जिनकल्प (अचेल-मार्ग) का उच्छेद दिखाकर सचेलता पर ही बल देती है। यापनीय परम्परा का दृष्टिकोण इन दोनों अतिवादिताओं के मध्य समन्वय करता है। वह मानती है कि सामान्यतया तो मुनि को अचेल या नग्न ही रहना चाहिये, क्योंकि वस्त्र

१. णिञ्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिण वरिदेहि ।

एकको वि भोक्खम्मो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥ सूत्रप्राभृत-१०

२. (ब) एगयाञ्चेलए होइ सचेले यावि एगया । उत्तराध्ययन-२/१३

३. उत्सग्गियल्लिगकवस्स लिगमुत्सग्गियं तयं चैव ।

ब्रह्मवाधियल्लिगस्स वि पसत्त्वमुवसग्गियं लिगं ॥ भगवतीवाराधना-७६

भी परिग्रह ही है, किन्तु आपवादिक स्थितियों में संयमोपकरण के रूप में वस्त्र रखा जा सकता है। उसकी दृष्टि में अचेलकत्व (नगनत्व) उत्सर्ग मार्ग है और सचेलकत्व अपवाद मार्ग है।

प्रस्तुत परिचर्चा में सर्वप्रथम हम इस विवाद को इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न करेंगे, कि यह विवाद क्यों, कैसे और किन परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ ?

प्रस्तुत अध्ययन की स्रोत सामग्री

इस प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने हेतु हमारे पास जो प्राचीन स्रोत सामग्री उपलब्ध है, उनमें प्राचीन स्तर के अर्धभागधी आगम, पालित्रिपिटक और मथुरा से प्राप्त प्राचीन जिन-प्रतिमाओं की पाद-पीठ पर अंकित मुनि-प्रतिमाएँ ही मुख्य हैं। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य अर्धभागधी आगमों में आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिन्हें इस चर्चा का आधार बनाया जा सकता है, क्योंकि प्रथम तो ये प्राचीन (ई. पू. के) हैं और दूसरे इनमें हमें सम्प्रदायातीत दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी इनकी प्राचीनता एवं सम्प्रदाय-निरपेक्षता को स्वीकार किया है। शौरसेनी आगम साहित्य में कसायपाहुड ही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है, जो अपेक्षाकृत प्राचीन स्तर का है, किन्तु दुर्भाग्य से इसमें वस्त्र-पात्र सम्बन्धी कोई भी विवरण उपलब्ध नहीं है। शेष शौरसेनी आगम ग्रन्थों में भगवतीआराधना, मूलाचार और षट्खण्डागम मूलतः यापनीय परम्परा के हैं। साथ ही गुणस्थान-सिद्धान्त आदि की परवर्ती अवधारणाओं की उपस्थिति के कारण ये ग्रन्थ विक्रम की छठीं शती के पूर्व के नहीं माने जा सकते हैं, फिर भी प्रस्तुत चर्चा में इनका उपयोग इसलिये आवश्यक है कि अचेल पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए इनके अतिरिक्त अन्य कोई प्राचीन स्रोत सामग्री हमें उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें सुत्तपाहुड एवं लिंगपाहुड को छोड़कर यह चर्चा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है। ये ग्रन्थ भी छठीं शती के पूर्व के नहीं हैं। दुर्भाग्य यह है कि अचेल परम्परा के पास सचेलकत्व और अचेलकत्व की इस परिचर्चा के लिये छठीं शती के पूर्व की कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है।

जहाँ तक अन्य परम्पराओं के प्राचीन स्रोतों का प्रश्न है, वेदों में नग्न श्रमणों या ब्राह्मणों के उल्लेख तो मिलते हैं, किन्तु वे स्पष्टतः निर्ग्रन्थ

(जैन) परम्परा के हैं—यह कहना कठिन है। यद्यपि अनेक हिन्दू पुराणों में नग्न जैन श्रमणों के उल्लेख हैं, किन्तु अधिकांश हिन्दू पुराण तो विक्रम की पाँचवीं-छठी शती या उसके भी बाद के हैं अतः उनमें उपलब्ध साक्ष्य अधिक महत्त्व के नहीं हैं। दूसरे उनमें सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनों प्रकार के जैन मुनियों के उल्लेख मिल जाते हैं, अतः उन्हें इस परिचर्चा का आधार नहीं बनाया जा सकता।

इस दृष्टि से पालित्रिपिटक के उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और किसी सीमा तक सत्य के निकट भी प्रतीत होते हैं। इस परिचर्चा के हेतु जो आधारभूत प्रामाणिक सामग्री हमें उपलब्ध होती है, वह है मथुरा से उपलब्ध प्राचीन जैन मूर्तियाँ और उनके अभिलेख। प्रथम तो यह सब सामग्री ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी की है। दूसरे इसमें किसी भी प्रकार के प्रक्षेप आदि की सम्भावना भी नहीं है। अतः यह प्राचीन भी है और प्रामाणिक भी क्योंकि इसकी पुष्टि अन्य साहित्यिक स्रोतों से भी हो जाती है। अतः इस परिचर्चा में हमने सर्वाधिक उपयोग इसी सामग्री का किया है।

महावीर के पूर्व निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र की स्थिति

जैन अनुश्रुति के अनुसार इस अवसर्पिणीकाल में भगवान महावीर से पूर्व तेवीस तीर्थंकर हो चुके थे। अतः प्रथम विवेच्य बिन्दु तो यही है कि अचेलता के सम्बन्ध में इन पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की क्या मान्यताएँ थीं? यद्यपि सम्प्रदाय भेद स्थिर हो जाने के पश्चात् निर्मित ग्रन्थों में जहाँ दिग्म्बर ग्रन्थ एक मत से यह उद्घोष करते हैं कि सभी जिन अचेल होकर ही दीक्षित होते हैं^१, वहाँ श्वेताम्बर ग्रन्थ यह कहते हैं कि सभी जिन एक देव-दुष्य वस्त्र लेकर ही दीक्षित होते हैं^२। मेरी दृष्टि में ये

१. णवि सिज्जइ वत्थधरो जिणसासणे जइयि होइ तित्थयरो।

णमो विमोक्ख मग्गो सेसाउम्मगया सव्वे ॥ सूत्रप्राभृत, २३।

२. (अ) से बेमि जे य अईया जे य पडुप्पन्ना जे य आगमेस्सा अरहंता भगवन्तो जे य पव्वयन्ति जे उन पव्वइस्सन्ति सव्वे ते सोवही धम्मो देसिअव्वोत्ति कट्टु तिथ्यधम्मयाए एसाऽणुधम्मिगत्ति एवं देवसूसमायाए पव्वहंसु वा पव्वयन्ति वा पव्वइस्सन्ति व।

आचारांग, १/९/१-१ (शीलांक टीका) भाग १, पृ० २७३, श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत-१९३५।

(ब) सव्वेऽपि एगदूसेण निग्गया जिनवरा चउवीसं। आवश्यकनियुत्ति, २२७, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला—लाखावावल शांतिपुरी (सौराष्ट्र), १९८९।

दोनों ही दृष्टिकोण साम्प्रदायिक अभिनिवेश से युक्त हैं। श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा के अपेक्षाकृत प्राचीन स्तर के ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभ और अन्तिम तीर्थंकर महावीर की आचार व्यवस्था मध्यवर्ती बावीस तीर्थंकरों की आचार व्यवस्था से भिन्न थी।^१ यापनीय ग्रन्थ मूलाचार प्रतिक्रमण आदि के सन्दर्भ में उनकी इस भिन्नता का तो उल्लेख करता है किन्तु मध्यवर्ती तीर्थंकर सचेल धर्म के प्रतिपादक थे, यह नहीं कहता है। जबकि श्वेताम्बर आगम उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से यह भी उल्लेख है कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर ने अचेल धर्म का प्रतिपादन किया, जबकि तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने सचेलधर्म का प्रतिपादन किया था।^२ यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि बृहत्कल्पभाष्य में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को अचेल धर्म का और मध्यवर्ती बावीस तीर्थंकरों को सचेल-अचेल धर्म का प्रतिपादक कहा गया है।^३ यद्यपि उत्तराध्ययन स्पष्टतया पार्श्व के धर्म को "सचेल" अथवा सांतरोत्तर ही कहता है, सचेल-अचेल नहीं। मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासन में भी अचेल मुनि होते थे—बृहत्कल्पभाष्य को यह स्वीकारोक्ति उसकी सम्प्रदाय निरपेक्षता की ही सूचक है। यद्यपि दिग्म्बर और यापनीय परम्परा श्वेताम्बर मान्य आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं के इन कथनों को मान्य नहीं करते हैं, किन्तु हमें श्वेताम्बर आगमों के इन कथनों में सत्यता परिलक्षित होती है, क्योंकि अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से भी इन कथनों की बहुत कुछ पुष्टि हो जाती है।

यहाँ हमारा उद्देश्य सम्प्रदायगत मान्यताओं से ऊपर उठकर मात्र प्राचीन ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ही इस समस्या पर विचार करना है। अतः इस परिचर्चा में हम परवर्ती अर्थात् साम्प्रदायिक मान्यताओं के दृढ़ीभूत होने के बाद के ग्रन्थों को आधार नहीं बना रहे हैं।

महावीर से पूर्ववर्ती तीर्थंकरों में मात्र ऋषभ, अरिष्टनेमि और पार्श्व के कथानक ही ऐसे हैं, जो ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। यद्यपि इनमें भी

१. (अ) आवश्यकनियुक्ति, गाथा-१२५८।

(ब) वही, गाथा-१२६०।

२. अचेलगो य जो धम्मो जो इमोसंतरुत्तरो।

देसिबो वद्धमाणेण पासेण य महाजसा ॥ उत्तराध्ययन, २३/२९

३. वही, २३/२४।

ऋषभ और अरिष्टनेमि प्रागैतिहासिक काल के हैं। वेदों में इनके नामों के उल्लेखों के अतिरिक्त हमें इनके सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। वेदों में ये नाम भी किस सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं और किसके वाचक हैं, ये तथ्य आज भी विवादास्पद ही हैं। इन दोनों के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में जैन एवं जैनेतर स्रोतों से जो भी सामग्री उपलब्ध होती है वह ईसा की प्रथम शती के पूर्व की नहीं है।

वेदों एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में ब्राह्मणों एवं वातरशना मुनियों के जो उल्लेख हैं,^१ उनसे इतना तो अवश्य फलित होता है कि प्रागैतिहासिक काल में नग्न अथवा मलिन एवं जीर्णवस्त्र धारण करने वाले श्रमणों की एक परम्परा अवश्य थी। सिन्धुघाटी-सभ्यता की मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा से जो नग्न योगियों के अंकन वाली सोलें प्राप्त हुई हैं उनसे भी इस तथ्य की ही पुष्टि होती है कि नग्न एवं मलिन वस्त्र धारण करने वाले श्रमणों/योगियों/ब्राह्मणों की एक परम्परा प्राचीन भारत में अस्तित्व रखती थी। उस परम्परा के अग्र-पुरुष के रूप में ऋषभ या शिव को माना जा सकता है। किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि इन सीलों में उस योगी को मुकुट और आभूषणों से युक्त दर्शाया गया है जिससे उसके नग्न निर्ग्रन्थमूनि होने के सम्बन्ध में बाधा आती है।^२ यद्यपि ये अंकन श्वेताम्बर तीर्थंकर मूर्तियों से आंशिक साम्यता रखते हैं, क्योंकि वे अपनी मूर्तियों को आभूषण पहनाते हैं।

ऋषभ का अचेल धर्म

प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगमों में उत्तराध्ययन में ऋषभ के नाम का उल्लेख मात्र है उनके जीवन के सन्दर्भ में कोई विवरण नहीं है। इससे अपेक्षाकृत परवर्ती कल्पसूत्र एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ही सर्वप्रथम उनका जीवनवृत्त मिलता है, फिर भी इनमें उनकी साधना एवं आचार-व्यवस्था का कोई विशेष विवरण नहीं है। परवर्ती श्वेताम्बर, दिगम्बर ग्रन्थों में और उनके अतिरिक्त हिन्दू-पुराणों तथा विशेष रूप से भागवत में ऋषभभेदे के द्वारा अचेलकत्व के आचरण के जो उल्लेख मिलते हैं,

१. मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मलाः ।

वातस्यानु ध्राजिम यन्ति यद्देवासो अविक्षत् ॥ ऋग्वेद, १०/१३६/२

२. ऋग्वेद में अर्हत् और ऋषभवाची ऋचाएँ : एक अध्ययन, डॉ० सागरमल जैन, संस्कृति संघान-Vol. VI, पृ० २२ राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी-१९९३, १।

उन सबके आधार पर यह विश्वास किया जा सकता है कि ऋषभदेव अचेल परम्परा के पोषक रहे होंगे।^१ ऋषभ अचेल धर्म के प्रवर्तक थे, यह मानने में सचेल श्वेताम्बर परम्परा को भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि उसकी भी मान्यता यही है कि ऋषभ और महावीर दोनों ही अचेल धर्म के सम्पोषक थे।^२

ऋषभ के पश्चात् और अरिष्टनेमि के पूर्व मध्य के २० तीर्थंकरों के जीवनवृत्त एवं आचार-विचार के सम्बन्ध में छठी शती के पूर्व अर्थात् सम्प्रदायों के स्थिरीकरण के पूर्व की कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। मात्र अर्धमागधी आगमों में समवायांग में और शौरसेनी आगम-तुल्य ग्रन्थ तिलोपपण्णत्ति में नाम, माना-पिता, जन्म-नगर आदि सम्बन्धी छिटपुट सूचनाएँ हैं, जो प्रस्तुत चर्चा की दृष्टि से उपयोगी नहीं है।

इस प्रकार मध्यवर्ती बावीस तीर्थंकरों में से मात्र बावीसवें अरिष्टनेमि एवं तेवीसवें पार्श्व ही ऐसे हैं जिनसे सम्बन्धित सूचनाएँ उत्तराध्ययन के क्रमशः बावीसवें एवं तेवीसवें अध्याय में मिलती हैं, किन्तु उनमें भी बावीसवें अध्याय में अरिष्टनेमि की आचार-व्यवस्था का और विशेष रूप से वस्त्र ग्रहण सम्बन्धी परम्परा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उत्तराध्ययन के बावीसवें अध्याय में राजीमति के द्वारा गुफा में वर्षा के कारण भोगा हुआ अपना वस्त्र सुखाने का उल्लेख होने से केवल एक ही तथ्य की पुष्टि होती है कि अरिष्टनेमि की परम्परा में साध्वियाँ सबस्त्र होती थीं।^३ उस गुफा में साधना में स्थित रथनेमि सबस्त्र थे या निर्वस्त्र थे, ऐसा कोई स्पष्ट संकेत इसमें नहीं है। अतः वस्त्र सम्बन्धी विवाद में केवल पार्श्व एवं महावीर इन दो ऐतिहासिक काल के तीर्थंकरों के सम्बन्ध में ही जो कुछ साक्ष्य उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर ही चर्चा की जा सकती है।

पार्श्व का सचेल धर्म

पार्श्व के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ हमें उपलब्ध हैं उनमें भी प्राचीनता की दृष्टि से ऋषिभाषित (लगभग ई० पू० चौथी-पाँचवीं शती), सूत्र-

१. श्रीमद्भागवत, २/७/१० ।

२. (अ) उत्तराध्ययनसूत्र, २३/२६ ।

(ब) यथोक्तम्... पुरिम पच्छिमाणं अरहंताणं भगवंताणं अचेलये पसत्थे भवइ । उत्तराध्ययन, नेमिचन्द की टीका २/१३, श्री आत्मबल्लभ, ग्रंथांक-२२, बालापुर-१९३७, पृ० २२ में उद्धृत ।

३. उत्तराध्ययन, २२/३३-३४ ।

कृतांग (लगभग तीसरी-चौथी शती), उत्तराध्ययन (ई० पू० दूसरी शती), आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध (ई० पू० दूसरी शती) एवं भगवती (ई० पू० दूसरी शती से लेकर ईसा की दूसरी शती तक) के उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी ऋषिभाषित और सूत्रकृतांग में पार्श्व की वस्त्र सम्बन्धी मान्यताओं की स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती। उत्तराध्ययन का तेवीसवाँ अध्ययन ही एक मात्र ऐसा आधार है जिसमें महावीर के धर्म को अचेल एवं पार्श्व के धर्म को सचेल या सान्तरोत्तर कहा गया है।^१ इससे यह स्पष्ट है कि वस्त्र के सम्बन्ध में महावीर और पार्श्व की परम्पराएँ भिन्न थीं। उत्तराध्ययन की प्राचीनता निर्विवाद है और उसके कथन को अप्रमाण नहीं माना जा सकता। पुनः निर्युक्ति, भाष्य आदि परवर्ती आर्गमिक व्याख्याओं से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। अतः इस कथन की सत्यता में सन्देह करने का कोई स्थान शेष नहीं रहता है। किन्तु पार्श्व की परम्परा के द्वारा मान्य "संतरुत्तर" शब्द का क्या अर्थ है—यह विचारणीय है। संतरुत्तर शब्द का अर्थ परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों ने विशिष्ट, रंगीन एवं बहुमूल्य वस्त्र किया है। उत्तराध्ययन की टीका में नेमिचन्द्र लिखते हैं—सान्तर अर्थात् वर्धमान स्वामी की अपेक्षा परिमाण और वर्ण में विशिष्ट तथा उत्तर अर्थात् महामूल्यवान होने से प्रधान, ऐसे वस्त्र जिस परम्परा में धारण किये जावें वह धर्म सान्तरोत्तर है।^२ किन्तु सान्तरोत्तर (संतरुत्तर) शब्द का यह अर्थ समुचित नहीं है। वस्तुतः जब श्वेताम्बर आचार्य अचेल का अर्थ कुरिसतचेल या अल्पचेल करने लगे,^३ तो यह स्वाभाविक था कि सांतरोत्तर का अर्थ विशिष्ट, महामूल्यवान रंगीन वस्त्र किया जाय, ताकि अचेल के परवर्ती अर्थ में और संतरुत्तर के अर्थ में किसी

१. वही, २३/२९।

२. "जो इमो" त्ति पश्चायं सान्तराणि वर्धमानस्वामियत्यपेक्षया मानवर्ण-विशेषतः सविशेषाणि उत्तराणि—महामूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमाद् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्मः पार्श्वेन देशित इतीहाज्यपेक्ष्यते।

उत्तराध्ययन, नेमिचन्द्र कृत सुखबोधावृत्ति सहित २३/१२ पृ० २९५, बाला-पुर, बीर सं० २४६३।

३. परिसुद्ध जुष्णं कुच्छित्त थोवाणियत डण्ण भोग भोगेहि।

मुणयो मुच्छारहिता संतेहि अचेलया होंति ॥

विशेषावश्यकभाष्य, ३०८२, मंपादक-दलसुख मालवणिया, लालभाई, दलपत-भाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, बहमदाबाद, १९६८।

प्रकार से संगति स्थापित की जा सके। किन्तु संतरुत्तर का यह अर्थ शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से उचित नहीं है। इससे इन टीकाकारों की अपनी साम्प्रदायिक मानसिकता ही प्रकट होती है। संतरुत्तर के के वास्तविक अर्थ को आचार्य शीलांक ने अपनी आचारांग टीका में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।^१ ज्ञातव्य है कि संतरुत्तर शब्द उत्तराध्ययन के अतिरिक्त आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में भी आया है।^२ आचारांग में इस शब्द का प्रयोग उन निर्ग्रन्थ मुनियों के सन्दर्भ में हुआ है, जो दो वस्त्र रखते थे। उसमें तीन वस्त्र रखने वाले मुनियों के लिए कहा गया है कि हेमन्त के बीत जाने पर एवं श्रोष्म ऋतु के आ जाने पर यदि किसी भिक्षु के वस्त्र जीण हो गये हों तो वह उन्हें स्थापित कर दे अर्थात् छोड़ दे और सांतरोत्तर (संतरुत्तर) अथवा अल्पचेल (ओमचेल) अथवा एकशाटक अथवा अचेलक हो जाये।^३ यहाँ संतरुत्तर की टीका करत हुए शीलांक कहते हैं कि अन्तर सहित है उत्तरीय (ओढ़ना) जिसका, अर्थात् जो वस्त्र की आवश्यकता होने पर कभी ओढ़ लेता है और कभी पास में रख लेता है।^४

पं० कैलाशचन्द्रजी ने संतरुत्तर की शीलांक की उपरोक्त व्याख्या से यह प्रतिफलित करना चाहा कि पार्श्व के परम्परा के साधु रहते तो नग्न ही थे, किन्तु पास में वस्त्र रखते थे, जिसे आवश्यकता होने पर ओढ़ लेते थे।^५ किन्तु पण्डितजी की यह व्याख्या युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि

१. अहपुण एवं जाणिज्जा—उवाइक्कते खलु हेमंते गिम्हं पडिबन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले ।

अपगते शीते वस्त्राणि त्याज्यानि अथवा क्षेत्रादिगुणाद्धिम-
कणिनि वाते वाति सत्यात्मपरितुलनार्थं शीतपरोक्षार्थं च सांतरोत्तरो
भवेत्—सान्तरमुत्तरं—प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित्प्रावृणोति क्वचित्पा-
श्वं वृत्तिं विभक्तिं, शीताशङ्कया नाद्यापि परित्यजति, अथवाऽजमचेल एक-
कल्पपरित्यागात्, द्वि कल्पवारीत्यर्थः अथवा शनैः-शनैः शीतेऽपगच्छति सति
द्वितीयमपि कल्पं परित्यजेत् तत् एकशाटकः संवृत्तः अथवाऽऽत्यन्तिके शीता-
भावे तदपि परित्यजेदतोऽचेलो भवति ।

२. देखें उपरोक्त ।

३. देखें उपरोक्त ।

४. देखें उपरोक्त ।

५. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास (पूर्वपीठिका), श्री गणेश-
प्रसाद वर्मा जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वी० नि० सं० २४८९, पृ० ३९९ ।

संतरुत्तर से नग्नता किसी भी प्रकार फलित नहीं होती है। वस्तुतः संतरुत्तर शब्द का प्रयोग आचारांग में तीन वस्त्र रखने वाले साधुओं के सन्दर्भ में हुआ है और उन्हें यह निर्देश दिया गया कि शीष्म ऋतु के आने पर वे एक जीर्ण-वस्त्र को छोड़कर संतरुत्तर अर्थात् दो वस्त्र धारण करने वाले हो जायें। अतः संतरुत्तर होने का अर्थ अन्तरवासक और उत्तरोय ऐसे दो वस्त्र रखना है। अन्तरवस्त्र आजकल का Under wear अर्थात् गुह्यांग को ढकने वाला वस्त्र है। उत्तरीय शरीर के ऊपर के भाग को ढकने वाला वस्त्र है। "संतरुत्तर" का शीलांक की यह व्याख्या भी हमें यही बताती है कि उत्तरोय कभी ओढ़ लिया जाता था और कभी पास में रख लिया जाता था, क्योंकि गर्मी में सदैव उत्तरीय ओढ़ा नहीं जाता था। अतः संतरुत्तर का अर्थ कभी सचेल हो जाना और कभी वस्त्र को पास में रखकर अचेल हो जाना नहीं है। यदि संतरुत्तर होने का अर्थ कभी सचेल और कभी अचेल (नग्न) होना होता तो फिर अल्पचेल और एकशाटक होने की चर्चा इसी प्रसंग में नहीं की जाती। तीन वस्त्रधारी साधु एक जीर्ण-वस्त्र का त्याग करने पर संतरुत्तर होता है। एक जीर्ण-वस्त्र का त्याग और दूसरे जीर्ण-वस्त्र के जीर्ण भाग को निकालकर अल्प आकार का बनाकर रखने पर अल्पचेल, दोनों जीर्ण वस्त्रों का त्याग करने पर अचेल होता है। वस्तुतः आज भी दिग्म्बर परम्परा का क्षुल्लक सान्त्रोत्तर है और ऐलक एकशाटक और मुनि नग्न (अचेल) होता है। अतः पार्श्व को सचेल सान्त्रोत्तर परम्परा में मुनि दो वस्त्र रखते थे—अधोवस्त्र और उत्तरोय। उत्तरीय आवश्यकता-नुसार शीतकाल आदि में ओढ़ लिया जाता था और शीष्मकाल में अलग रख दिया जाता था।

आचारांग के नवें उपधानश्रुत नामक अध्याय में महावीर का जीवन-वृत्त वर्णित है। ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर की जीवन-गाथा के सम्बन्ध में इससे प्राचीन एवं प्रामाणिक अन्य कोई सन्दर्भ हमें उपलब्ध नहीं है। आचारांग-द्वितीय श्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र, भगवती और बाद के सभी महावीर के जीवन-चरित्र सम्बन्धी ग्रन्थ इससे परवर्ती हैं और उनमें महावीर के जीवन के साथ जुड़ी अलौकिकताएँ यही सिद्ध करती हैं कि वे महावीर की जीवन गाथा का अतिरंजित चित्र ही उपस्थित करते हैं। इसलिए महावीर के जीवन के सम्बन्ध में जो भी तथ्य हमें उपलब्ध है, वे प्रामाणिक रूप में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के इसी उपधानश्रुत में उपलब्ध हैं। इसमें महावीर के दीक्षित होने का जो विवरण है उसमें

यह ज्ञात होता है कि वे एक वस्त्र लेकर दीक्षित हुए थे और लगभग एक वर्ष के कुछ अधिक समय के पश्चात् उन्होंने उस वस्त्र का परित्याग कर दिया और पूर्णतः अचेल हो गये ।^१ महावीर के जीवन की यह घटना ही वस्त्र के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जैन परम्परा के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देती है । इसका तात्पर्य इतना ही है कि महावीर ने अपनी साधना का प्रारम्भ सचेलता से किया, किन्तु कुछ ही समय पश्चात् उन्होंने पूर्ण अचेलता को ही अपना आदर्श माना । परवर्ती आगम ग्रन्थों में एवं उनकी व्याख्याओं में महावीर के एक वर्ष पश्चात् वस्त्र-त्याग करने के सन्दर्भ में अनेक प्रवाद या मान्यतायें प्रचलित हैं । यापनीय ग्रन्थ भगवती-आराधना और श्वेताम्बर आगमिक व्याख्याओं में इन प्रवादों या मान्यताओं का उल्लेख है ।^२ यहाँ हम उन प्रवादों में न जाकर केवल

१. णो चेविमेण वत्थेण तंसि हेमंते ।

से पारए आवकहाए एयं खु अणुधम्मियं तस्स ।

संवच्छरं साहियं मासं जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं ।

अचेलए ततो चाई तं वोसज्ज वत्थमणगारे ॥

आयारो, १।९।१।२ एवं ३

२. (अ) यच्च भावनायामुक्तं—वरिसं चीवरधारी तेण परमचेलगो जिणोत्ति-
तदुक्तं विप्रतिपत्ति बहुलत्वात्—केचिद्वदन्ति तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं
वीर जिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति । अन्ये षण्मासाच्छिन्नं
तत्कण्टक शाखादिभिरिति । साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खण्डलक ब्राह्मणेन
गृहीतमिति केचित्कथयन्ति । केचिद् वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेति ।
अपरे वदन्ति विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति ।

भगवतीआराधना, सं० पं० कैलाशचन्द्रजी, भाग १, पृ० ३२५-३२६ ।

(ब) तच्च सुवर्णबालुकानदीपूराहृत कण्टकावलमनं धिरजातिना गृहीतमिति ।
आचारांग शीलांकवृत्ति, १।९।१।४४-४५ की वृत्ति ।

(स) तहावि सुवर्णबालुकानदीपूरे अवहिते कंटरालगं...। किमिति वुच्चति
चिरधरियत्ता सहसा व लज्जता थंडिले चुतं ण वित्ति विप्येण केपति
दिट्ठं...।

आचारांगचूर्णि, ऋषभदेव केसरीमल संस्था, रतलाम, पृ० ३०० ।

(द) सामी दविल्लणवाचालाओ उत्तरवाचालं वच्चति, तत्थ सुव्वणकुलाए
वुल्लिणे तं वत्थं कंटियाए लग्गं ताहे तं थितं सामी गतो पुणो य अवलोइत्तं,
किं निमित्तं ? केती भणंति—जहा ममत्तीए अन्ने भणंति मा अत्थंडिले
पडितं, अवलोइत्तं सुलभ वत्थं पत्तं सिस्साणं भविस्सति ? तं च

इतना ही बता देना पर्याप्त समझते हैं कि प्रारम्भ में महावीर ने वस्त्र लिया था और बाद में वस्त्र का परित्याग कर दिया। वह वस्त्र त्याग किस रूप में हुआ यह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

यदि हम महावीर के समकालीन अन्य श्रमण परम्पराओं की वस्त्र-ग्रहण सम्बन्धी अवधारणाओं पर विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि उस युग में सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनों प्रकार की श्रमण परम्पराएँ प्रचलित थीं। उनमें से पार्श्व के सम्बन्ध में उत्तराध्ययन और उसके परवर्ती साहित्य में जो कुछ सूचनाएँ उपलब्ध हैं, उन सबमें एक मत से पार्श्व की परम्परा, सवस्त्र परम्परा सिद्ध होती है। स्वयं उत्तराध्ययन का रवेवाँ अध्ययन इस बात का साक्षी है कि पार्श्व की परम्परा सचेल परम्परा थी। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा भी सचेल थी। दूसरी ओर आजीवक सम्प्रदाय पूर्णतः अचेलता का प्रतिपादक था। यह सम्भव है कि महावीर ने अपने वंशानुगत पार्श्वपत्तीय परम्परा के प्रभाव से एक वस्त्र ग्रहण करके अपनी साधना यात्रा प्रारम्भ की हो। कल्पसूत्र में उनके दीक्षित होते समय आभूषण त्याग का उल्लेख है वस्त्र त्याग का उल्लेख नहीं है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि महावीर उत्तर-बिहार के वैशाली जनपद में शीत-ऋतु के प्रथम मास (मार्गशीर्ष) में दीक्षित हुए थे। उस क्षेत्र की भयंकर सर्दी को ध्यान में रखकर परिवार के लोगों के अति-आग्रह के कारण सम्भवतः महावीर ने दीक्षित होते समय एक वस्त्र स्वीकार किया हो। मेरी दृष्टि में इसमें भी पारिवारिक आग्रह ही प्रमुख कारण रहा होगा। महावीर ने सदैव ही परिवार के वरिष्ठजनों को सम्मान दिया। यही कारण रहा कि माता-पिता के जीवित रहते उन्होंने प्रव्रज्या नहीं ली। पुनः बड़े भाई के आग्रह से दो वर्ष और गृहस्थावस्था में रहे। सम्भवतः शीत ऋतु में दीक्षित होते समय भाई या परिजनों के आग्रह से उन्होंने वह एक वस्त्र लिया हो। सम्भव है विदाई की उस वेला में परिजनों के इस छोटे से आग्रह को ठुकराना उन्हें उचित न लगा हो। किन्तु उसके बाद उन्होंने कठोर साधना का निर्णय लेकर उस वस्त्र का उपयोग

भगवता य तेरसमासे अहाभावेणं धारियं ततो वोसरियं पच्छा अचेलते ।
तं एतेण पितुवंतस धिज्जातितेण गहितं ।

आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० २७६।

इससे यह फलित होता है कि उनके वस्त्रत्याग के सम्बन्ध में जो विभिन्न प्रवाद प्रचलित थे—उनका उल्लेख न केवल यापनीय अपितु श्वेताम्बर आचार्य भी कर रहे थे।

शरीरादि ढकने के लिए नहीं कलैंगा, ऐसा निश्चय किया और दूसरे वर्ष के शीतकाल की समाप्ति पर उन्होंने उस वस्त्र का भी परित्याग कर दिया। आचारांग से इन सभी तथ्यों को पुष्टि होती है। उसके पश्चात् वे आजीवन अचेल ही रहे, इस तथ्य को स्वीकार करने में श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर तीनों में से किसी को भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। तीनों ही परम्पराएँ एक मत से यह भी स्वीकार करती हैं कि महावीर अचेल धर्म के ही प्रतिपालक और प्रवक्ता थे। महावीर का सचेल दोक्षित हाना भी स्वेच्छित नहीं था—वस्त्र उन्होंने लिया नहीं, अपितु उनके कंधे पर डाल दिया गया था। यापनीय आचार्य अपराजित-सूरि ने इस प्रवाद का उल्लेख किया है—वे कहते हैं कि यह तो उपसर्ग हुआ सिद्धान्त नहीं। आचारांग में उनके वस्त्र ग्रहण को “अनुधर्म” कहा गया है—अर्थात् यह परम्परा का अनुपालन मात्र था, हो सकता है कि उन्होंने मात्र अपना कुल परम्परा अर्थात् पार्श्वपितृ परम्परा का अनुसरण किया हो। श्वेताम्बर आचार्य उसकी व्याख्या में इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदुष्य वस्त्र ग्रहण करने की बात कहते हैं। यह मात्र परम्परागत विश्वास है, उस सम्बन्ध में कोई प्राचीन उल्लेख नहीं है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपधानश्रुत मात्र वस्त्र ग्रहण की बात कहता है। वह वस्त्र इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदुष्य था, ऐसा उल्लेख नहीं करता। मेरो दृष्टि में इस “अनुधर्म” में “अनु” शब्द का अर्थ वही है जो अणुव्रत में “अनु” शब्द का है अर्थात् आंशिक त्याग। वस्तुतः महावीर का लक्ष्य तो पूर्ण अचेलता था, किन्तु प्रारम्भ में उन्होंने वस्त्र का आंशिक त्याग ही किया था। जब एक वर्ष की साधना से उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया कि वे अपनी काम-वासना पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं और दो शीतकालों के व्यतीत हो जाने से यह अनुभव हो गया कि उनका शरीर उस शीत को सहने में पूर्ण समर्थ है, तो उन्होंने वस्त्र का पूर्ण त्याग कर दिया।^१ ज्ञातव्य है कि महावीर ने दोक्षित होते समय मात्र सामायिक चारित्र ही लिया था—महाव्रतों का ग्रहण नहीं किया था। श्वेताम्बर आगमों का कथन है कि सभी तीर्थंकर एक देवदुष्य लेकर सामायिक चारित्र की प्रतिज्ञा से ही दोक्षित होते हैं।^२ यह इसी तथ्य को पुष्ट

१. आचारांग शीलांकवृत्ति, १।९।१।१-४, पृ० २७३ !

२. (अ) सन्वेवि एगदूसेण, निग्गया जिणवरा च उब्बीसं ।

न य नाम अण्णलिंगे नो गिहिलिंगे कुलिंगे वा

भावश्यकनियुक्ति, २२७

करता है कि सामायिक चारित्र से दीक्षित होते समय एक वस्त्र ग्रहण करने की परम्परा रही होगी ।

निष्कर्ष यह है कि महावीर की साधना का प्रारम्भ सचेलता से हुआ किन्तु उसकी परिनिष्पत्ति अचेलता में हुई । महावीर की दृष्टि में सचेलता अणुधर्म था और अचेलता मुख्य धर्म था । महावीर द्वारा वस्त्र ग्रहण करने में उनके कुल-धर्म अर्थात् पार्श्वपत्य परम्परा का प्रभाव हो सकता है किन्तु पूर्ण अचेलता का उनका निर्णय या तो स्वतः स्फूर्त था या फिर आजीवक परम्परा का प्रभाव । यह सत्य है कि महावीर पार्श्वपत्य परम्परा से प्रभावित रहे हैं और उन्होंने पार्श्वपत्य परम्परा के दार्शनिक सिद्धान्तों को ग्रहण भी किया है, किन्तु वैचारिक दृष्टि से पार्श्वपत्यों के निकट होते हुए भी आचार की दृष्टि से वे उनसे संतुष्ट नहीं थे । पार्श्वपत्यों के शिथिलाचार के उल्लेख और उसकी समालोचना जैनधर्म की सचेल और अचेल दोनों परम्पराओं के साहित्य में मिलती है ।^१ यही कारण था कि महावीर ने पार्श्वपत्यों की आचार व्यवस्था में व्यापक सुधार किये । सम्भव है कि अचेलता के सम्बन्ध में वे आजीवकों से प्रभावित हुए हों । हर्मन जैकोबी आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस सन्दर्भ में महावीर पर आजीवकों का प्रभाव होने की सम्भावना को स्वीकार किया है ।

हमारे कुछ दिगम्बर विद्वान् यह मत रखते हैं कि महावीर की अचेलता से प्रभावित होकर आजीवकों ने अचेलता / नग्नता नग्नता को स्वीकार किया, किन्तु यह उनकी भ्रान्ति है और ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं है । चाहे गोशालक महावीर के शिष्य के रूप में उनके साथ लगभग छः वर्ष तक रहा हो, किन्तु न तो गोशालक से प्रभावित होकर महावीर नग्न हुए और न महावीर की नग्नता का प्रभाव गोशालक के माध्यम से आजीवकों पर ही पड़ा, क्योंकि गोशालक महावीर के पास उनके दूसरे भालन्दा चातुर्मास के मध्य पहुँचा था, जबकि महावीर

(ब) बावीसं तित्थयरा समाइयसंजम उवइसंति ।

छेओवट्ठावणयं पुण वयंति उसभो य वीरो य ।

भावश्यकनियुक्ति, १२६०

१. (अ) एवमेगे उ पासत्था । सूत्रकृतांग, १।३।४।९

(ब) पासत्थादीपणयं णिच्चं बज्जेह सव्वघा तुम्हें ।

हिंदि हु मेलण दोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा । -भगवतीआराधना, ३४१

उसके आठ मास पूर्व ही अचेल हो चुके थे। दूसरे यह कि आजीवकों की परम्परा गोशालक के पूर्व भी अस्तित्व में थी, गोशालक आजीवक परम्परा का प्रवर्तक नहीं था। न केवल भगवतीसूत्र में, अपितु पालि-त्रिपिटक में भी गोशालक के पूर्व हुए आजीवक सम्प्रदाय के आचार्यों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। यदि आजीवक सम्प्रदाय महावीर के पूर्व अस्तित्व में था, तो इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि उसकी अचेलता आदि कुछ आचार परम्पराओं ने महावीर को प्रभावित किया हो। अतः पार्श्वपत्य परम्परा के प्रभाव से महावीर के द्वारा वस्त्र का ग्रहण करना और आजीवक परम्परा के प्रभाव से वस्त्र का परित्याग करना मात्र काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। उसके पीछे ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार है। महावीर का दर्शन पार्श्वपत्यों से और आचार आजीवकों से प्रभावित रहा है।

जहाँ तक महावीर की शिष्य परम्परा का प्रश्न है यदि गोशालक को महावीर का शिष्य माना जाय, तो वह अचेल रूप में ही महावीर के पास आया था और अचेल ही रहा। जहाँ तक गौतम आदि गणधरों और महावीर के अन्य प्रारम्भिक शिष्यों का प्रश्न है मुझे ऐसा लगता है कि उन्होंने जिनकल्प अर्थात् भगवान महावीर की अचेलता को ही स्वीकार किया होगा, क्योंकि यदि गणधर गौतम सचेल होते या सचेल परम्परा के पोषक होते तो श्रावस्ती में हुई परिचर्चा में केशी उनसे सचेलता और अचेलता के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं करते। अतः श्रावस्ती में हुई इस परिचर्चा के पूर्व महावीर का मुनि संघ पूर्णतः अचेल ही रहा होगा। उसमें वस्त्र का प्रवेश क्रमशः किन्हीं विशेष परिस्थितियों के आधार पर ही हुआ होगा। महावीर के संघ में सचेलता के प्रवेश के निम्न कारण सम्भावित हैं—

१. सर्वप्रथम जब महावीर के संघ में स्त्रियों को प्रव्रज्या प्रदान की गई तो उन्हें सवस्त्र ही दीक्षित किया गया क्योंकि लोक-लज्जा और मासिक धर्म आदि शारीरिक कारणों से उन्हें नग्न रूप में दीक्षित किया जाना उचित नहीं था। अचेलता की सम्पोषक दिगम्बर परम्परा भी इस तथ्य को स्वीकार करती है कि महावीर के संघ में आर्यिकाएँ सवस्त्र ही होती थीं। जब एक बार आर्यिकाओं के संदर्भ में विशेष परिस्थिति में वस्त्र ग्रहण की स्वीकृति दी गई तो इसने मुनि संघ में भो आपवादिक परिस्थिति में जैसे भगन्दर आदि रोग होने पर वस्त्र ग्रहण का द्वार उद्घाटित कर दिया। सामान्यतया तो वस्त्र परिग्रह ही था किन्तु स्त्रियों

के लिए और अपवादमार्ग में मुनियों के लिए उसे संयमोपकरण मान लिया गया ।

२. पुनः जब महावीर के संघ में युवा दीक्षित होने लगे होंगे तो उन्हें भी महावीर को सवस्त्र रहने की अनुमति देनी पड़ी होगी, क्योंकि उनके जीवन में लिंगोत्थान और वीर्यपात की घटनाएँ सम्भव थीं । लिंगोत्थान और वीर्यपात ऐसी सामान्य मनोदैहिक घटनाएँ हैं जिनसे युवा मुनि का पूर्णतः बच पाना असम्भव है । मनोदैहिक दृष्टि से युवावस्था में चाहे कामवासना पर नियन्त्रण रखा जा सकता हो किन्तु लिंगोत्थान और वीर्यपात का पूर्ण निर्मूलन सम्भव नहीं होता है । निग्रन्थ संघ में युवा मुनियों में ये घटनाएँ घटित होती थीं, ऐसे आगमिक उल्लेख हैं । यदि ये घटनाएँ अरण्य में घटित हों, तो उतनी चिन्तनीय नहीं थीं किन्तु भिक्षा, प्रवचन आदि के समय स्त्रियों की उपस्थिति में इन घटनाओं का घटित होना न केवल उस मुनि की चारित्रिक प्रतिष्ठा के लिए घातक था, बल्कि सम्पूर्ण निग्रन्थ मुनि संघ की प्रतिष्ठा पर एक प्रश्न चिन्ह खड़ा करता था । अतः यह आवश्यक समझा गया कि जब तक वासना पूर्णतः मर न जाय, तब तक ऐसे युवा मुनि के लिए नग्न रहने या जिनकल्प धारण करने की अनुमति न दी जाय । श्वेताम्बर मान्य आगमिक व्याख्याओं में तो यह स्पष्ट निर्देश है कि ३० वर्ष की वय के पूर्व जिनकल्प धारण नहीं किया जा सकता है । सत्य तो यह है कि निग्रन्थ संघ में सचेल और अचेल ऐसे दो वर्ग स्थापित हो जाने पर यह व्यवस्था दी गई कि युवा मुनियों को छेदोपस्थापनीय चारित्र न दिया जाकर मात्र सामायिक चारित्र दिया जाय, क्योंकि जब तक व्यक्ति सम्पूर्ण परिग्रह त्याग करके अचेल नहीं हो जाता, तब तक उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र नहीं दिया जा सकता है । ज्ञातव्य है कि महावीर ने ही सर्वप्रथम सामायिक चारित्र एवं छेदोपस्थापनीय चारित्र (महाव्रतारोपण) ऐसे दो प्रकार के चारित्रों की व्यवस्था की, जो आज भी श्वेताम्बर परम्परा में छोटी-दीक्षा और बड़ी-दीक्षा के नाम से प्रचलित है । युवा मुनियों के लिए क्षुल्लक शब्द का प्रयोग किया गया और उसके आचार-व्यवहार के हेतु कुछ विशिष्ट नियम बनाये गये, जो आज भी उत्तराध्ययन और दशवैकालिक के क्षुल्लकाध्ययनों में उपस्थित है । महावीर ने छेदोपस्थापनीय चारित्र की व्यवस्था उन प्रौढ़ मुनियों के लिए की, जो अपनी वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर चुके थे और अचेल रहने में समर्थ थे । छेदोपस्थापना शब्द का तात्पर्य भी यही है कि पूर्व दीक्षा पर्याय को

समाप्त (छेद) कर नवीन दीक्षा (उपस्थापन) देना । आज भी श्वेताम्बर परम्परा में छेदोपस्थापना के समय ही महाव्रतारोपण कराया जाता है और तभी दीक्षित व्यक्ति की संघ में क्रम-स्थिति अर्थात् ज्येष्ठता-कनिष्ठता निर्धारित होती है और उसे संघ का सदस्य माना जाता है । सामायिक चारित्र ग्रहण करने वाला मुनि संघ में रहते हुए भी उसका सदस्य नहीं माना जाता है । इस चर्चा से यह फलित होता है कि निर्ग्रन्थ मुनि संघ में सचेल (क्षुल्लक) और अचेल (मुनि) ऐसे दो प्रकार के वर्गों का निर्धारण महावीर ने या तो अपने जीवन-काल में ही कर दिया होगा या उनके परिनिर्वाण के कुछ पश्चात् कर दिया गया होगा । आज भी दिगम्बर परम्परा में क्षुल्लक (दो वस्त्रधारी), ऐलक (एक वस्त्रधारी) और मुनि (अचेल) ऐसी व्यवस्था है । अतः प्राचीनकाल में भी ऐसी व्यवस्था रही होगी, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है । ज्ञातव्य है कि इन सभी सन्दर्भों में वस्त्र-ग्रहण का कारण लोक-लज्जा या लोकापवाद और शारीरिक स्थिति ही था ।

३. महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र के प्रवेश का तीसरा कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत के हिमालय के तराई क्षेत्र तथा राजस्थान में शीत का तीव्र प्रकोप था । महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में स्थित वे मुनि जो या तो वृद्धावस्था में ही दीक्षित हो रहे थे या वृद्धावस्था की ओर अग्रसर हो रहे थे, उनका शरीर इस भयंकर शीत प्रकोप का सामना करने में कठिनाई का अनुभव कर रहा था । ऐसे सभी मुनियों के द्वारा यह भी संभव नहीं था कि वे संथाराग्रहण कर उन शीतलहरों का सामना करते हुए अपने प्राणोत्सर्ग कर दें । ऐसे मुनियों के लिए अपवाद मार्ग के रूप में शीत-निवारण के लिए ऊनी वस्त्र रखने की अनुमति दी गई । ये मुनि रहते तो अचेल ही थे, किन्तु रात्रि में शीत-निवारणार्थ उस ऊनी-वस्त्र (कम्बल) का उपयोग कर लेते थे । यह व्यवस्था वृद्ध मुनियों के लिए थी और इसलिए इसे "स्थविरकल्प" का नाम दिया गया । मथुरा से प्राप्त ईस्वी सन् प्रथम-द्वितीय शती की जिन प्रतिमाओं की पाद-पीठ पर या फलकों पर जो मुनि प्रतिमाएँ अंकित हैं, वे नग्न होकर भी कम्बल और मुखवस्त्रिका लिए हुए हैं । मेरी दृष्टि में यह व्यवस्था भी आपवादिक ही थी ।

हम देखते हैं कि महावीर का जो मुनि-संघ दक्षिण भारत या दक्षिण मध्य भारत में रहा उसमें अचेलता सुरक्षित रह सकी, किन्तु जो मुनि-संघ उत्तर एवं पश्चिमोत्तर भारत में रहा उसमें शीत-प्रकोप की तीव्रता

की देश-कालगत परिस्थितियों के कारण वस्त्र का प्रवेश हो गया। आज भी हम देखते हैं कि जहाँ भारत के दक्षिण और दक्षिण-मध्य क्षेत्र में दिगम्बर परम्परा का बाहुल्य है, वहाँ पश्चिमोत्तर भारत में श्वेताम्बर परम्परा का बाहुल्य है। वस्तुतः इसका कारण जलवायु ही है। दक्षिण में जहाँ शीतकाल में आज भी तापमान २५-३० डिग्री सेल्सियस से नीचे नहीं जाता, वहाँ नग्न रहना कठिन नहीं है किन्तु हिमालय के तराई क्षेत्र, पश्चिमोत्तर भारत एवं राजस्थान जहाँ तापमान शून्य डिग्री से भी नीचे चला जाता है, वहाँ शीतकाल में अचेल रहना कठिन है। पुनः एक युवा-साधक को शीत सहन करने में उतनी कठिनाई नहीं होती जितनी वृद्ध-तपस्वी साधक को। अतः जिन क्षेत्रों में शीत की अधिकता थी, उन क्षेत्रों में वस्त्र का प्रवेश स्वाभाविक ही था। आचारांग में हमें ऐसे मुनियों के उल्लेख उपलब्ध हैं जो शीतकाल में सर्दों से थर-थर काँपते थे। जो लोग उनके आचार अर्थात् आग जलाकर शीतनिवारण करने के निषेध से परिचित नहीं थे, उन्हें यह शंका भी होती थी कि कहीं उनका शरीर कामावेग में तो नहीं काँप रहा है। यह ज्ञात होने पर कि इनका शरीर सर्दों से काँप रहा है, कभी-कभी वे शरीर को तपाने के लिए आग जला देने को कहते थे, जिसका उन मुनियों को निषेध करना होता था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उत्तरभारत के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र के प्रवेश लिये उत्तर भारत की भयंकर सर्दों भी एक मुख्य कारण रही है।

४. महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र के प्रवेश का तीसरा कारण पार्श्व की परम्परा के मुनियों का महावीर की परम्परा में सम्मिलित होना भी है। यह स्पष्ट है कि पार्श्व की परम्परा के मुनि सचेल होते थे। वे अधोवस्त्र और उत्तरीय दोनों ही धारण करते थे। हमें सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, भगवती और राजप्रश्नीय आदि में न केवल पार्श्व की परम्परा के मुनियों के उल्लेख मिलते हैं अपितु उनके द्वारा महावीर के संघ में पुनः दीक्षित होने के सन्दर्भ भी मिलते हैं। इन सन्दर्भों का सूक्ष्मता से विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि पार्श्व की परम्परा के कुछ मुनियों ने तो महावीर की परम्परा में सम्मिलित होत समय अचेलकत्व ग्रहण किया, किन्तु कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने अचेलता को ग्रहण नहीं किया। सम्भव है कुछ पार्श्वीपत्यों को सचेल रहने की अनुमति देकर सामायिक चारित्र के साथ महावीर के संघ में सम्मिलित किया गया होगा। इस प्रकार महावीर के जीवनकाल में या उसके कुछ पश्चात् निर्ग्रन्थ

संघ में सचेत-अचेत दोनों प्रकार की एक मिली-जुली व्यवस्था स्वीकार कर ली गयी थी और पार्श्व की परम्परा में प्रचलित सचेतता को भी मान्यता प्रदान कर दी गयी ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में प्रारम्भ में तो मुनि की अचेतता पर ही बल दिया गया था, किन्तु कालान्तर में लोक-लज्जा और शीत-परीषह से बचने के लिए आपवादिक रूप में वस्त्र ग्रहण को मान्यता प्रदान कर दी गयी ।

श्वेताम्बर मान्य आगमों और दिगम्बरों द्वारा मान्य यापनीय ग्रन्थों में उन आपवादिक स्थितियों का भी उल्लेख है, जिनमें मुनि वस्त्र ग्रहण कर सकता था ।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य स्थानांगसूत्र (३।३।३४७) में वस्त्र ग्रहण के निम्न तीन कारणों का उल्लेख उपलब्ध होता है—

१. लज्जा के निवारण के लिए (लिंगोत्थान होने पर लज्जित न होना पड़े इस हेतु) ।

२. जुगुप्सा (घृणा) के निवारण के लिए (लिंग या अण्डकोष विद्रूप होने पर लोग घृणा न करें इस हेतु) ।

३. परीषह (शीत-परीषह) के निवारण के लिए ।

स्थानांगसूत्र में वर्णित उपर्युक्त तीन कारणों में प्रथम दो का समावेश लोक-लज्जा में हो जाता है, क्योंकि जुगुप्सा का निवारण भी एक प्रकार से लोक-लज्जा का निवारण ही है । दोनों में अन्तर यह है कि लज्जा का भाव स्वतः में निहित होता है और घृणा दूसरों के द्वारा की जाती है, किन्तु दोनों का उद्देश्य लोकापवाद से बचना है ।

इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में मान्य, किन्तु मूलतः यापनीय ग्रन्थ भगवती-आराधना (७६) की टीका में निम्न तीन आपवादिक स्थितियों में वस्त्र-ग्रहण की स्वीकृति प्रदान की गयी है—

१. जिसका लिंग (पुरुष चिह्न) एवं अण्डकोश विद्रूप हो,

२. जो महान सम्पत्तिशाली अथवा लज्जालु है,

३. जिसके स्वजन मिथ्या दृष्टि हैं ।

यहां यह ज्ञातव्य है कि प्रारम्भ में निर्ग्रन्थसंघ मुनि के लिए वस्त्र ग्रहण एक आपवादिक व्यवस्था ही थी । उत्सर्ग या श्रेष्ठमार्ग तो अचेतता को ही माना गया था । श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आचारांग, स्थानांग और उत्तराध्ययन में न केवल मुनि की अचेतता के प्रतिपादक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं अपितु अचेतता की प्रशंसा भी उपलब्ध होती है ।

उनमें भी वस्त्र ग्रहण की अनुमति मात्र लोक-लज्जा के निवारण और शीत-निवारण के लिए ही है। आचारांग में चार प्रकार के मुनियों के उल्लेख हैं—१. अचेल २. एक वस्त्रधारी ३. दो वस्त्रधारी और ४. तीन वस्त्रधारी।

१. इनमें अचेल तो सर्वथा नग्न रहते थे। ये जिनकल्पो कहलाते थे।

२. एक वस्त्रधारी भी दो प्रकार के होते थे—

(अ) कुछ एक वस्त्रधारी रहते तो अचेल ही थे, किन्तु अपने पास एक ऊनी-वस्त्र रखते थे, जिसका उपयोग नगरादि में प्रवेश के समय लोक-लज्जा के निवारण के लिए और सर्दियों की रात्रियों में शीत-निवारण के लिए करते थे। ये स्थविरकल्पी कहलाते थे।

(ब) कुछ एक वस्त्रधारी मात्र अधोवस्त्र धारण करते थे, जैसे वर्तमान में दिगम्बर परम्परा के ऐलक धारण करते हैं। ऐलक एक चेलक (वस्त्रधारी) का ही अपभ्रंश रूप है। इसे आगम में एकशाटक कहा गया है।

३. दो वस्त्रधारी, जिन्हें सान्त्रोत्तर भी कहा गया है, एक अधोवस्त्र व एक उत्तरीय रखते थे जैसे वर्तमान में क्षुल्लक रखते हैं। अधोवस्त्र लोक-लज्जा हेतु और उत्तरीय शीत-निवारण हेतु। ये क्षुल्लक कहलाते थे।

४. तीन वस्त्रधारी अधोवस्त्र और उत्तरीय के साथ-साथ शीत-निवारणार्थ एक ऊनी कम्बल भी रखते होंगे। यह व्यवस्था आज के श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साधुओं में है।

आचारांग स्पष्ट रूप से यह उल्लेख करता है कि वस्त्रधारी मुनि वस्त्र के जीर्ण होने पर एवं ग्रीष्मकाल के आगमन पर जीर्ण वस्त्रों का त्याग करते हुए अचेलता की दिशा में आगे बढ़े। तीन वस्त्रधारी क्रमशः अपने परिग्रह को कम करते हुए सान्त्रोत्तर अथवा एकशाटक अथवा अचेल हो जाये। हम देखते हैं कि आचारांग में वर्णित वस्त्र सम्बन्धी यह व्यवस्था अचेलता का अति-आग्रह रखने वाली दिगम्बर परम्परा में मुनि, ऐलक और क्षुल्लक के रूप में आज भी प्रचलित है। उसका क्षुल्लक आचारांग का सान्त्रोत्तर है और ऐलक एकशाटक तथा मुनि अचेल है।

श्वेताम्बर परम्परा में परवर्तीकाल में भी जो वस्त्र-पात्र का विकास हुआ और वस्त्र ग्रहण को अपरिहार्य माना गया उसके पीछे मूल में परिग्रह या संचय वृत्ति न होकर देशकालगत परिस्थितियाँ, संघीय जीवन की

आवश्यकताएँ एवं संयम अर्थात् अहिंसा की परिपालना ही प्रमुख थी। निर्ग्रन्थ संघ में जब अपरिग्रह महाव्रत के स्थान पर अहिंसा महाव्रत की परिपालना पर अधिक बल दिया गया तो प्रतिलेखन या पिच्छी से लेकर क्रमशः अनेक उपकरण बढ़ गये। श्वेताम्बर परम्परा के मान्य कुछ परवर्ती आगमों में मुनि के जिन चौदह उपकरणों का उल्लेख मिलता है उनमें अधिकांश पात्र-पोंछन, पटल आदि के कारण होने वाली जीव हिंसा से बचने के लिए ही है। ओघनिर्युक्ति^१ में स्पष्ट उल्लेख है कि जिन ने षट्काय जीवों के रक्षण के लिए ही पात्र ग्रहण की अनुज्ञा दी है।

शारीरिक सुख-सुविधा और प्रदर्शन की दृष्टि से जो वस्त्रादि उपकरणों का विकास हुआ है वह बहुत ही परवर्ती घटना है और प्राचीन स्तर के मान्य आगमों से सम्मत नहीं है और मुनि आचार का विकृत रूप ही है। यह विकार यति परम्पराके रूप में—श्वेताम्बरों और भट्टारक परम्परा के रूप में दिगम्बरों—दोनों में आया है।

किन्तु जो लोग वस्त्र के सम्बन्ध में आग्रहपूर्ण दृष्टिकोण रखते हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि वस्त्र का ग्रहण एक मनोदैहिक एवं सामाजिक आवश्यकता थी और उससे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परायें प्रभावित हुई हैं। दिगम्बर परम्परा में ऐलक और क्षुल्लक की व्यवस्था तो इस आवश्यकता की सूचक है ही, किन्तु इसके साथ ही साथ उनमें जो सवस्त्र भट्टारक की परम्परा का विकास हुआ, उसके पीछे भी उपरोक्त मनोदैहिक कारण और लौकिक परिस्थितियाँ ही मुख्य रहीं। क्या कारण था कि अचेलता की समर्थक इस परम्परा में भी लगभग १००० वर्षों तक नग्न मुनियों का अभाव रहा। आज दिगम्बर परम्परा में शान्तिसागरजी से जो नग्न मुनियों की परम्परा पुनः जीवित हुई है, उसका इतिहास तो १०० वर्ष से अधिक का नहीं है। लगभग ग्यारहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक दिगम्बर मुनियों का प्रायः अभाव ही रहा है।

आज इन दोनों परम्पराओं में सचेलता और अचेलता के प्रश्न पर जो इतना विवाद खड़ा कर दिया गया है, वह दोनों की आगमिक व्यव-

१. छक्कायरवखणट्ठा पायगहणं जिणेहि पन्तत्तं ।

जे य गुणा संभोये ह्वंति ते पायगहणेवि ॥

—ओघनिर्युक्ति, ६९१ ।

स्थाओं और जीवित परम्पराओं के सन्दर्भ में ईमानदारी से विचार करने पर नगण्य ही रह जाता है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हम अपने मताग्रहों में न तो आगमिक व्यवस्थाओं को देखने का प्रयत्न करते हैं और न उन कारणों का विचार करते हैं, जिनसे किसी आचार-व्यवस्था में परिवर्तन होता है। दुर्भाग्य है कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा ने जिनकल्प के विच्छेद के नाम पर उस अचेलता का अपलाप किया, जो उसके पूर्वज आचार्यों के द्वारा लगभग ईसा की दूसरी शती तक आचरित रही और जिसके सन्दर्भ उनके आगमों में आज भी हैं। वहीं दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा में सचेल मुनि ही नहीं होता है, यह कहकर न केवल महावीर की मूलभूत अनेकान्तिक दृष्टि का उल्लंघन किया, अपितु अपने ही आगमों और प्रचलित व्यवस्थाओं को नकार दिया। हम पूछते हैं कि क्या ऐलक और क्षुल्लक गृहस्थ हैं? और यदि ऐसा माना जाय तो इनके मूल अर्थ का ही अपलाप होगा।

यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से देखें तो निर्ग्रन्थ संघ में प्राचीनकाल से ही क्षुल्लकों (युवा-मुनि) और स्थविरों (वृद्ध-मुनियों) के लिए वस्त्र ग्रहण की परम्परा मान्य रही है। क्षुल्लक लोक-लज्जा के लिए और स्थविर (वृद्ध) दैहिक आवश्यकता के लिए वस्त्र ग्रहण करता है। क्षुल्लक, मुनि नहीं है यह उद्घोष केवल एकांतता का सूचक है। क्षुल्लक शब्द अपने आप में इस बात का सूचक है कि वह प्रारम्भिक स्तर का मुनि है, गृहस्थ नहीं, क्योंकि “क्षुल्लक” का अर्थ छोटा होता है। वह छोटा मुनि ही हो सकता है, गृहस्थ नहीं। प्राचीन आगमों में वस्त्रधारी युवा मुनि के लिए ही क्षुल्लक शब्द का प्रयोग हुआ है। आचारांग तथा अन्य पुरातात्विक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्ग्रन्थ संघ में या तो महावीर के जीवनकाल में या निर्वाण के कुछ ही समय पश्चात् सचेल-अचेल मुनियों की एक मिली-जुली व्यवस्था हो गई थी। यह भी सम्भव है कि ऐसी दोहरी व्यवस्था मान्य करने पर परस्पर आलोचना के स्वर भी मुखरित हुए होंगे। यही कारण है कि आचारांग में स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया गया कि अचेल मुनि, एकशाटक, सान्त्रोत्तर अथवा तीन वस्त्रधारी मुनि परस्पर एक-दूसरे की निन्दा न करें। ज्ञातव्य है कि संघ भेद का कारण यह मिली-जुली व्यवस्था नहीं थी, अपितु इसमें अपनी-अपनी श्रेष्ठता का मिथ्या अहंकार ही आगे चलकर संघ भेद का कारण बना है। जब सचेलकों ने अचेलकों की साधना सम्बन्धी विशिष्टता को

अस्वीकार किया और अचेलकों ने सचेलक को मुनि मानने से इन्कार किया तो संघ भेद होना स्वाभाविक ही था।

ऐतिहासिक सत्य तो यह है कि महावीर के निर्वाण के पश्चात् जो निर्ग्रन्थ मुनि दक्षिण-बिहार, उड़ीसा और आन्ध्र-प्रदेश के रास्ते से तमिलनाडु और कर्नाटक में पहुँचे, वे वहाँ की जलवायुगत परिस्थितियों के कारण अपनी अचेलता को यथावत कायम रख सके, क्योंकि वहाँ सर्दी पड़ती ही नहीं है। यद्यपि उनमें भी क्षुल्लक और ऐलक दीक्षाएँ होती रही होंगी, किन्तु अचेलक मुनि को सर्वोपरि मानने के कारण उनमें कोई विवाद नहीं हुआ। दक्षिण भारत में अचेल रहना सम्भव था, इसलिये वहाँ अचेलता के प्रति आदरभाव बना रहा, किन्तु लगभग पाँचवीं-छठी शती के पश्चात् वहाँ भी हिन्दू-मठाधीशों के प्रभाव से सबस्त्र भट्टारक परम्परा का क्रमिक विकास हुआ और धीरे-धीरे दसवीं-न्यारहवीं शती से व्यवहार में अचेलता प्रायः समाप्त हो गयी। केवल अचेलता के प्रति सैद्धान्तिक आदर भाव बना रहा। आज वहाँ जो दिगम्बर हैं, वे इस कारण दिगम्बर नहीं हैं कि वे नग्न रहते हैं अपितु इस कारण हैं कि अचेलता/दिगम्बरत्व के प्रति उनमें आदर भाव है।

महावीर का जो निर्ग्रन्थ संघ बिहार से पश्चिमोत्तर भारत की ओर आगे बढ़ा उसमें जलवायु तथा मुनियों की बढ़ती संख्या के कारण वस्त्र-पात्र का विकास हुआ। प्रथम शक, हूण आदि विदेशी संस्कृति के प्रभाव से तथा दूसरे जलवायु के कारण से उत्तर-पश्चिम भारत में नग्नता को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा, जबकि दक्षिण भारत में नग्नता के प्रति हेय भाव नहीं था। प्रारम्भ में उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ रहता तो अचेल ही था, किन्तु अपने पास एक वस्त्र रखता था जिसका उपयोग नगरादि में प्रवेश करते समय लोक-लज्जा के निवारण के लिए और शीत ऋतु में सर्दी सहन न होने की स्थिति में ओढ़ने के लिए किया जाता था। मथुरा से अनेक ऐसे अचेल जैन मुनियों की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जिनके हाथ में यह वस्त्र (कम्बल) इस प्रकार प्रदर्शित है कि उनकी नग्नता छिप जाती है। उत्तर भारत में निर्ग्रन्थों, मुनियों की इसी स्थिति को ही ध्यान में रखकर सम्भवतः पालित्रिपिटक में निर्ग्रन्थों को एक शाटक कहा गया है। हमें प्राचीन अर्थात् ईसा की पहली-दूसरी शती के जो भी साहित्यिक और पुरातात्विक प्रमाण मिलते हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में शीत और लोक-लज्जा

के लिए वस्त्र ग्रहण किया जाता था। श्वेताम्बर मान्य आगमिक व्याख्याओं से जो सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं, उससे भी यह ज्ञात होता है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र का प्रवेश होते हुए भी महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग छः सौ वर्ष तक अचेलकत्व उत्सर्ग या श्रेष्ठमार्ग के रूप में मान्य रहा है।

श्वेताम्बर आगमिक व्याख्या साहित्य से ही हमें यह भी सूचना मिलती है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के अनेक आचार्यों ने समय-समय पर वस्त्र ग्रहण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के विरोध में अपने स्वर मुखरित किये थे। आर्य भद्रबाहु के पश्चात् भी उत्तर-भारत के निर्ग्रन्थ संघ में आर्यमहागिरि, आर्यशिवभूति, आर्यरक्षित आदि ने वस्त्रवाद का विरोध किया था। ज्ञातव्य है कि इन सभी को श्वेताम्बर परम्परा अपने पूर्वाचार्यों के रूप में ही स्वीकार करती है। मात्र यही नहीं, इनके द्वारा वस्त्रवाद के विरोध का उल्लेख भी करती है। इस सबसे यही फलित होता है कि उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ परम्परा में आगे चलकर वस्त्र को जो अपरिहार्य मान लिया गया और वस्त्रों की संख्या में जो वृद्धि हुई वह एक परवर्ती घटना है और वही संघ भेद का मुख्य कारण भी है।

जैन साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के अतिरिक्त निर्ग्रन्थ मुनियों के द्वारा वस्त्र-ग्रहण करने के सम्बन्ध में यथार्थ-स्थिति का ज्ञान जैनतर साक्ष्यों से भी उपलब्ध होता है, जो अति महत्त्वपूर्ण है। इनमें सबसे प्राचीन सन्दर्भ पालित्रिपिटक का है। पालित्रिपिटक में प्रमुख रूप से दो ऐसे सन्दर्भ हैं जहाँ निर्ग्रन्थ की वस्त्र सम्बन्धी स्थिति का संकेत मिलता है। प्रथम सन्दर्भ तो निर्ग्रन्थ का विवरण देते हुए स्पष्टतया यह कहता है कि निर्ग्रन्थ एकशाटक थे^१ इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के समय या कम से कम पालित्रिपिटक के रचनाकाल अर्थात् ई. पू. तृतीय-चतुर्थ शती में निर्ग्रन्थों में एक वस्त्र का प्रयोग होता था, अन्यथा उन्हें एकशाटक कभी नहीं कहा जाता। जहाँ आजीवक सर्वथा नग्न रहते थे, वहाँ निर्ग्रन्थ एक वस्त्र रखते थे। इससे यही सूचित होता है कि वस्त्र ग्रहण की परम्परा अति प्राचीन है। पुनः निर्ग्रन्थ के एकशाटक होने का यह उल्लेख पालित्रिपिटक में ज्ञातपुत्र महावीर की चर्चा के प्रसंग में हुआ है। अतः सामान्य रूप से इसे पार्श्व की परम्परा कह देना

१. निगंथा एकसाटका । मज्झिमनिकाय—महासिंहनादसुत्त, १/१/२

भी ठीक नहीं होगा। फिर भी यदि इसमें चातुर्याभि की अवधारणा के उल्लेख के आधार पर इसे पार्श्व की परम्परा से सम्बन्धित मानें तो भी इतना अवश्य है कि महावीर के संघ में पार्श्वपरियों के प्रवेश के साथ-साथ वस्त्र का प्रवेश हो गया था। चाहे निर्ग्रन्थ परम्परा पार्श्व की रही हो या महावीर की यह निर्विवाद है कि निर्ग्रन्थ संघ में प्राचीनकाल से ही वस्त्र के सम्बन्ध में वैकल्पिक व्यवस्था मान्य रही है, फिर चाहे वह अपवाद मार्ग के रूप में या स्थविरकल्प के रूप में ही क्यों न हो।

पालत्रिपिटक में एक अन्य प्रसंग में महावीर के स्वर्गवास के पश्चात् निर्ग्रन्थ संघ के पारस्परिक कलह और उनके दो भागों में विभाजित होने का उल्लेख मिलता है।

उनके बीच हुए इस विवाद का क्या रूप था इसका उल्लेख दीघनिकाय एवं मज्झिमनिकाय में निम्न रूप में हुआ है—

एक समय भगवान शाक्य (जनपद) में, सामगाम में विहार करते थे।

उस समय निगंठ नात-पुत्त (= जैन तीर्थङ्कर महावीर) अभी अभी पावा में मरे थे। उनके मरने पर निगंठ (= जैन साधु) लोग दो भाग हो, भंडन = कलह = विवाद करते, एक दूसरे को मुख रूपी शक्ति से छेदते विहार रहे थे—‘तू इस धर्म-विनय (= धर्म) को नहीं जानता, मैं इस धर्म-विनयको जानता हूँ’। ‘तू क्या इस धर्म-विनयको जानेगा, तू मिथ्यारूढ़ है, मैं सत्यारूढ़ हूँ’। ‘मेरा (कथन अर्थ-) सहित है, तेरा अ-सहित है’। ‘तूने पूर्व बोलने (की बात) को पीछे बोला; पीछे बोलने (की बात) को पहले बोला’। ‘तेरा (वाद) बिना-विचार का उलटा है’। ‘तूने वाद रोपा, तू निर्ग्रह-स्थान में आ गया’। ‘जा वाद से छूटने के लिये फिरता फिर’। ‘यदि समेट सकता है तो समेट’। नात-पुत्तीय निगंठों में मानों युद्ध (= वध) ही हो रहा था।

निगंठ के श्रावक (= शिष्य), जो गृही श्वेत (ओदात्त) वस्त्रधारी, (थे) वे भी नात-पुत्तीय निगंठों के प्रति (वैसे ही) उदासीन = विरक्त = प्रतिवाण-रूप थे, जैसे कि (नात-पुत्त के) दुरआख्यात (= ठीक से न कहे गये) दुष्प्रवेदित (= ठीक से न बतलाये गये), अनैर्याणिक (= पार न लगाने वाले), अन्-उपशम-संवर्तनिक (= न-शांति-गामी), असम्यक्-सम्बुद्ध-प्रवेदित (= किसी असम्यक्-सम्बुद्ध द्वारा न कहे

गये) प्रतिष्ठा (= नींव)-रहित = भिन्न-स्तूप, आश्रय-रहित धर्म-विनय के प्रति (थे) ।^१

इस विवाद के प्रति श्रावकों की उदासीनता से यही फलित होता है विवाद का मुद्दा श्रावकों से सम्बन्धित नहीं है। इस घटना को चाहे बौद्धों ने अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया हो, किन्तु इस तथ्य को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है। विवाद चाहे महावीर के निर्वाण के समय हुआ, या कुछ काल पश्चात् परन्तु-विवाद हुआ जरूर है। जैन संघ में आज भी महावीर के बाद संघ का आचार्य कौन हुआ इसे लेकर मतभेद है। जहाँ श्वेताम्बर परम्परा महावीर के पश्चात् प्रथम आचार्य के रूप में सुधर्मा को स्वीकार करती है, वहाँ दिगम्बर परम्परा प्रथम आचार्य के रूप में गौतम को ही मान्य करती है। हो सकता है कि भिक्षु-विनय के प्रति गौतम को महावीर के अति निकट होने से थोड़े कठोर-दृष्टि कोण रखते हों और सुधर्मा का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत उदार हो फिर भी इतना निश्चित है कि इस विवाद का मूल कारण श्रमणाचार ही रहा होगा।

इस विवाद के सम्बन्ध में विद्वानों में दो प्रकार के मत हैं। मुनि कल्याणविजयजी आदि कुछ विद्वानों के अनुसार यह विवरण महावीर के जीवन-काल में ही उनके और गोशालक के बीच हुए उस विवाद का सूचक है, जिसके कारण महावीर के निर्वाण का प्रवाद भी प्रचलित हो गया था। भगवतीसूत्र^२ में हमें इस विवाद का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसमें वस्त्रादि के सन्दर्भ में कोई चर्चा नहीं है। मात्र महावीर पर यह आरोप है कि वे पहले अकेले वन में निवास करते थे, अब संघ सहित नगर या गाँव के उपान्त में निवास करते हैं और तीर्थंकर न होकर भी अपने को तीर्थंकर कहते हैं। किन्तु इस विवाद के प्रसंग में, जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह कि पालित्रिपिटक में इसका सम्बन्ध धर्म-विनय से जोड़ा गया है और ओदात्त अर्थात् श्वेत वस्त्र धारण करने वाले निग्रन्थ श्रावकों को इस विवाद से उदासीन बताया गया है।^३

१. देखें—दीर्घनिकाय, अनु० भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीशकश्यप, महाबोधि सभा, बनारस १९३६, पासादिकसुत्त, ३/६, पृ० २५२
२. भगवई, पन्नरसं सत्तं, १०१-१५२, संपा० मुनिनयमल, जैनविश्वभारती छाबनू, वि० सं० २१३१, पृ० ६७७ से ६९४
३. देखें—दीर्घनिकाय—पासादिकसुत्तं, ३/६ पृ० २५२

इससे इतना तो अवश्य प्रतिफलित होता है कि विवाद का मूलभूत विषय धर्म-विनय अर्थात् श्रमणाचार से ही सम्बन्धित रहा होगा। अतः उसका एक पक्ष वस्त्र-पात्र रखने या न रखने से सम्बन्धित हो सकता है।

इन समस्त चर्चाओं से यह प्रतिफलित होता है कि सञ्चेलता और अञ्चेलता की समस्या निर्ग्रन्थ संघ की एक पुरानी समस्या है और इसका आविर्भाव पार्श्व और महावीर के निर्ग्रन्थ संघ के सम्मेलन के साथ हो गया था। साथ ही यह भी सत्य है कि जहाँ एक ओर आजीवकों की अञ्चेलता ने महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में स्थान पाया, वहीं पार्श्व की सञ्चेल परम्परा ने भी उसे प्रभावित किया। परिणामस्वरूप वस्त्र के सम्बन्ध में महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में एक मिली-जुली व्यवस्था स्वीकार की गई। उत्सर्ग मार्ग में अञ्चेलता को स्वीकार करते हुए भी आपवादिक स्थितियों में वस्त्र ग्रहण की अनुमति दी गयी। पालित्रिपिटक में आजीवकों को सर्वथा अञ्चेलक और निर्ग्रन्थ को एकशाटक कहा गया है और इसी आधार पर वे आजीवकों और निर्ग्रन्थ में अन्तर भी करते हैं और आजीवकों के लिए अञ्चेलक शब्द का भी प्रयोग करते हैं। धम्मपद की टीका में बुद्धघोष कहते हैं कि कुछ भिक्षु अञ्चेलकों की अपेक्षा निर्ग्रन्थ को वरेण्य समझते हैं क्योंकि अञ्चेलक तो सर्वथा नग्न रहते हैं, जबकि निर्ग्रन्थ प्रतिच्छादन रखते हैं।^१ बुद्धघोष के इस उल्लेख से भी यह प्रतिफलित होता है कि निर्ग्रन्थ नगर प्रवेश आदि के समय जो एक वस्त्र (प्रतिच्छादन) रखते थे, उससे अपनी नग्नता छिपा लेते थे। इस प्रकार मूल त्रिपिटक में निर्ग्रन्थ को एकशाटक कहना, पुनः बुद्धघोष द्वारा उनके द्वारा प्रतिच्छादन रखने का उल्लेख करना और मथुरा से प्राप्त निर्ग्रन्थ मुनियों के अंकन में उन्हें एक वस्त्र से अपनी नग्नता छिपाते हुए दिखाना—ये सब साक्ष्य यही सूचित करते हैं कि उत्तर भारत में निर्ग्रन्थ संघ में कम से कम ई. पू. चौथी-तीसरी शताब्दी से एक वस्त्र रखा जाता था और यह प्रवृत्ति बुद्धघोष के काल तक अर्थात् ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी तक भी प्रचलित थी।

वस्त्र के सम्बन्ध में यापनीय दृष्टिकोण

यापनीय परम्परा का एक प्राचीन ग्रन्थ भगवतीआराधना है। इसमें दो प्रकार के लिंग बताये गये हैं—१. उत्सर्गलिंग (अञ्चेल) और

१. धम्मपद अट्टकथा तित्तिओभागो, गाथा—४८९ की अट्टकथा।

२. अपवादलिंग (सचेल) । आराधनाकार स्पष्ट रूप से कहता है कि संलेखना ग्रहण करते समय उत्सर्गलिंगधारी अचेल श्रमण का तो उत्सर्गलिंग अचेलता ही होता है, अपवादलिंगधारी सचेल श्रमण का भी यदि लिंग प्रशस्त है तो उसे भी उत्सर्गलिंग अर्थात् अचेलकत्व ग्रहण करना चाहिये । टीकाकार अपराजित ने यहाँ उत्सर्गलिंग का अर्थ स्पष्ट करते हुए सकल परिग्रह त्याग रूप अचेलकत्व के ग्रहण को ही उत्सर्गलिंग कहा है । इसी प्रकार अपवाद की व्याख्या करते हुए कारण सहित परिग्रह को अपवादलिंग कहा है । अगली गाथा की टीका में उन्होंने स्पष्ट रूप से सचेललिंग को अपवादलिंग कहा है । इसके अतिरिक्त आराधनाकार शिवार्य एवं टीकाकार अपराजित ने यह भी स्पष्ट किया है कि जिनका पुरुष चिन्ह अप्रशस्त हो अर्थात् लिंग चर्म रहित हो, अतिदीर्घ हो, अण्डकोष अतिस्थूल हो तथा लिंग बार-बार उत्तेजित होता हो तो उन्हें सामान्यदशा में तो अपवादलिंग अर्थात् सचेल लिंग ही देना होता है, किन्तु ऐसे व्यक्तियों को भी संलेखना के समय एकान्त में उत्सर्गलिंग अर्थात् अचेलकत्व प्रदान किया जा सकता है । किन्तु उसमें सभी अपवादलिंगधारियों को संलेखना के समय अचेललिंग ग्रहण करना आवश्यक नहीं माना गया है । आगे वे स्पष्ट लिखते हैं कि जिनके स्वजन महान सम्पत्तिशाली, लज्जाशील और मिथ्यादृष्टि अर्थात् जैनधर्म को नहीं मानने वाले हों, ऐसे व्यक्तियों के लिए न केवल सामान्य दशा में अपितु संलेखना के समय भी अपवादलिंग अर्थात् सचेलता ही उपयुक्त होता है ।

इस समग्र चर्चा से स्पष्टतः यह फलित होता है कि यापनीय सम्प्रदाय उन व्यक्तियों को, जो समृद्धिशाली परिवारों से हैं, जो लज्जालु हैं तथा जिनके व्यक्ति परिजन मिथ्यादृष्टि हैं अथवा जिनके पुरुषचिन्ह अर्थात् लिंग चर्म रहित हैं, अतिदीर्घ हैं, अण्डकोष स्थूल हैं एवं लिंग बार-बार उत्तेजित होता है, को आपवादिक लिंग धारण करने का निर्देश करता है । इस प्रकार वह यह मानता है कि उपर्युक्त विशिष्ट परिस्थितियों में व्यक्ति सचेल लिंग धारण कर सकता है । अतः हम कह सकते हैं कि यापनीय परम्परा यद्यपि अचेलकत्व पर बल देती थी और यह भी मानती थी कि समर्थ साधक को अचेललिंग ही धारण करना चाहिए किन्तु उसके साथ-साथ वह यह मानती थी कि आपवादिक स्थितियों में सचेल लिंग भी धारण किया जा सकता है । यहाँ उसका श्वेताम्बर परम्परा से स्पष्ट भेद यह है कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा

जिनकल्प का विच्छेद बताकर अचेर्लिंग का निषेध कर रही थी, वहाँ यापनीय परम्परा समर्थ साधक के लिए हर युग में अचेरलता का समर्थन करती है। जहाँ श्वेताम्बर परम्परा वस्त्र ग्रहण को सामान्य नियम या उत्सर्ग मार्ग मानते लगी वहाँ यापनीय परम्परा उसे अपवाद मार्ग के रूप में ही स्वीकार करती रही, अतः उसके अनुसार आगमों में जो वस्त्र-पात्र सम्बन्धी निर्देश हैं, वे मात्र आपवादिक स्थितियों के हैं। दुर्भाग्य से मुझे यापनीय ग्रन्थों में इस तथ्य का कहीं स्पष्ट निर्देश नहीं मिला कि आपवादिक लिंग में कितने वस्त्र या पात्र रखे जा सकते थे।

यापनीय ग्रन्थ भगवतीआराधना^१ की टीका में यापनीय आचार्य अपराजित सूरि लिखते हैं कि चेल (वस्त्र) का ग्रहण, परिग्रह का उपलक्षण है अतः समस्त प्रकार के परिग्रह का त्याग ही आचेरलक्य है। आचेरलक्य के लाभ या समर्थन में आगे वे लिखते हैं—

१. अचेरलक्य के कारण त्याग धर्म (दस धर्मों में एक धर्म) में प्रवृत्ति होती है।

२. जो अचेरल होता है, वही अकिंचन धर्म के पालन में तत्पर होता है।

३. परिग्रह (वस्त्रादि) के लिये हिंसा (आरम्भ) में प्रवृत्ति होती है, जो अपरिग्रही है, वही हिंसा (आरम्भ) नहीं करता है। अतः पूर्ण अहिंसा के पालन के लिये अचेरलता आवश्यक है।

४. परिग्रह के लिए ही झूठ बोला जाता है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के अभाव में झूठ बोलने का कोई कारण नहीं होता, अतः अचेरल-मुनि सत्य ही बोलता है।

५. अचेरल में लाघव भी होता है।

६. अचेरल धर्म का पालन करने वाले का अदत्त का त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योंकि परिग्रह की इच्छा होने पर ही बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करने में प्रवृत्ति होती है।

७. परिग्रह के निमित्त कषाय (क्रोध) होता है अतः परिग्रह के अभाव में क्षमा भाव रहता है।

८. अचेरल को सुन्दर या सम्पन्न होने का मद भी नहीं होता, अतः उसमें आर्जव (सरलता) धर्म भी होता है।

१. भगवतीआराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, संपादक—कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९३८, पृ० ३२४

९. अचेल में माया (छिपाने की प्रवृत्ति) नहीं होती अतः उसमें आर्जव (सरलता) धर्म भी होता है ।

१०. अचेल शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि परीषहों को सहता है अतः उसे घोर तप भी होता है ।

संक्षेप में अचेलकत्व के पालन में सभी दस श्रमण धर्मों एवं पंच महाव्रतों का पालन होता है ।

पुनः अचेलकत्व की प्रशंसा करते हुए वे लिखते हैं^१—

१. अचेलता से शुद्ध संयम का पालन होता है, पसीने, धूल और मूत्र से युक्त वस्त्र में उसी योनि वाले और उसके आश्रय से रहने वाले तस जीव तथा स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं । वस्त्र धारण करने से उन्हें बाधा भी उत्पन्न होती है । जीवों से संसक्त वस्त्र धारण करने वाले के द्वारा उठने, बैठने, सोने, वस्त्र को फाड़ने, काटने, बाँधने, धोने, कूटने, धूप में डालने से जीवों को बाधा (पीड़ा) होती है, जिससे महान असंयम होता है ।

२. अचेलता से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है, जिस प्रकार सर्पों से युक्त जंगल में व्यक्ति बहुत सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह इन्द्रियों (कामवासना) पर विजय प्राप्त करने में पूर्णतया सावधान रहता है क्योंकि ऐसा नहीं करने पर शरीर में विकार (कामोत्तेजना) उत्पन्न होने पर लज्जित होना पड़ता है ।

३. अचेलता का तीसरा गुण कषाय रहित होना है, क्योंकि वस्त्र के सद्भाव में उसे चोरों से छिपाने के लिए मायाचार करना होता है । वस्त्र होने पर मेरे पास सुन्दर वस्त्र है, ऐसा अहंकार भी हो सकता है, वस्त्र के छीने जाने पर क्रोध तथा उसकी प्राप्ति में लोभ भी हो सकता है । जबकि अचेलक में ऐसे दोष उत्पन्न नहीं होते हैं ।

४. सवस्त्र होने पर सुई, धागा, वस्त्र आदि की खोज में तथा उसके सीने, धोने, प्रतिलेखना आदि करने में ध्यान और स्वाध्याय का समय नष्ट होता है । अचेल को ध्यान-स्वाध्याय में बाधा नहीं होती ।

५. जिस प्रकार बिना छिलके (आवरण) का धान्य नियम से शुद्ध होता है, किन्तु छिलके युक्त धान्य की शुद्धि नियम से नहीं होती, वह भाज्य होती है । उसी प्रकार जो अचेल है उसकी शुद्धि निश्चित होती

१. भगवती आराधना (पं० कैलाशचन्द्रजी) भाग १ गाथा २३ की टीका पृ० ३२१-३२२

है, किन्तु सचेल की शुद्धि भाज्य है (एवमचेलवतिनियमादेव भाज्या सचैले), अर्थात् सचेल की शुद्धि हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। यहाँ दिगम्बर परम्परा और यापनीय परम्परा का अन्तर स्पष्ट है। दिगम्बर परम्परा यह मानती है कि सचेल मुक्त (शुद्ध) नहीं हो सकता, चाहे वह तीर्थंकर ही क्यों न हो जबकि यापनीय परम्परा यह मानती है कि स्त्री, गृहस्थ और अन्य तीर्थिक सचेल होकर भी मुक्त हो सकते हैं। यहाँ भाज्य (विकल्प) शब्द का प्रयोग यापनीयों की उदार और अनेकांतिक दृष्टि का परिचायक है।

६. अचेलता में राग-द्वेष का अभाव होता है। राग-द्वेष बाह्य द्रव्य के आलम्बन से होता है। परिग्रह के अभाव में आलम्बन का अभाव होने से राग-द्वेष नहीं होते, जबकि सचेल को मनोज्ञ वस्त्र के प्रति राग-भाव हो सकता है।

७. अचेलक को शरीर के प्रति उपेक्षा भाव रहता है। तभी तो वह शीत और ताप के कष्ट सहन करता है।

८. अचेलता में स्वावलम्बन होता है और देशान्तर गमन में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। जिस प्रकार पक्षी अपने पंखों के सहारे चल देता है, वैसे ही वह भी प्रतिलेखन (पीछी) लेकर चल देता है।

९. अचेलता में चित्त-विशुद्धि प्रकट करने का गुण है—लंगोटी आदि से ढाँकने से भाव-शुद्धि का ज्ञान नहीं होता है।

१०. अचेलता में निर्भयता है, क्योंकि चोर आदि का भय नहीं रहता।

११. सर्वत्र विश्वास भी अचेलता का गुण है। न तो वह किसी पर शंका करता है और न कोई उस पर शंका करता है।

१२. अचेलता में प्रतिलेखना का अभाव होता है। चौदह प्रकार का परिग्रह रखने वालों को जैसी प्रतिलेखना करनी होती है वैसे अचेल को नहीं करनी होती।

१३. सचेल को लपेटना, छोड़ना, सीना, बाँधना, धोना, रंगना आदि परिकर्म करने होते हैं जबकि अचेल को ये परिकर्म नहीं करने होते।

१४. तीर्थंकरों के अनुरूप आचरण करना (जिनकल्प का आचरण) भी अचेलता का एक गुण है। क्योंकि संहनन और बल से पूर्ण सभी तीर्थंकर अचेल थे और भविष्य में भी अचेल ही होंगे। जिन प्रतिमा और

गणधर भी अचेल होते हैं और उनके शिष्य भी उन्हीं की तरह अचेल होते हैं। जो वस्त्र है वह जिन के अनुरूप नहीं है, अर्थात् जिनकल्प का पालन नहीं करता है।

१५. अचेल ही निर्ग्रन्थ कहला सकता है। यदि अपने शरीर को वस्त्र से वेष्टित करके भी अपने को निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है, तो फिर अन्य परम्परा के साधु निर्ग्रन्थ क्यों नहीं कहे जायेंगे अर्थात् उन्हें भी निर्ग्रन्थ मानना होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यापनीय परम्परा स्पष्ट रूप से अचेलकत्व की समर्थक है। किन्तु उनके सामने एक समस्या यह थी कि वे आज श्वेताम्बर परम्परा में स्वीकृत उन आगमों की माथुरी वाचना को मान्य करते थे, जिनमें वस्त्र-पात्रादि ग्रहण करने के स्पष्ट उल्लेख थे। अतः उनके समक्ष दो प्रश्न थे—एक ओर अचेलकत्व का समर्थन करना और दूसरी ओर आगमिक उल्लेखों की अचेलकत्व के सन्दर्भ में सम्यक् व्याख्या करना। अपराजितसूरि ने इस सम्बन्ध में भगवती-आराधना की विजयोदया टीका में जो सम्यक् दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है वह अचेलकत्व के आदर्श के सम्बन्ध में थापनीयों की यथार्थ दृष्टि का परिचायक है।

अपराजित ने सर्वप्रथम आगमों के उन सन्दर्भों को प्रस्तुत किया है, जिनमें वस्त्र-पात्र सम्बन्धी उल्लेख हैं, फिर उनका समाधान प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं—“आचारप्रणिधि” अर्थात् दशवैकालिक^१ के आठवें अध्याय में कहा गया है कि पात्र और कम्बल की प्रतिलेखना करनी चाहिए। यदि पात्रादि नहीं होते तो उनकी प्रतिलेखना का कथन क्यों किया जाता? पुनः आचारांग^२ के लोकविचय नामक दूसरे अध्ययन के पाँचवें उद्देशक में कहा गया है कि प्रतिलेखन (पडिलेहण) पाद-प्रौंढन (पायपुच्छन), अवग्रह (उगग्रह) और कटासन (कडासन)

१. धुवं च पडिलेहेज्जा जोगसा पायकंबलं ।

सेज्जमुच्चार भूमिं च संयारं अदुवासणं ॥

दशवैकालिक, ८/१७, नवसुत्ताणि, संपा० युवाचार्यमहाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती लाडनू, १९६७, पृ० ६८

२. आचारांग, १/५/८९ संपा०—युवाचार्य मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर ।

चटाई आदि की याचना करें। पुनः उसके वस्त्रैषणा^१ अध्ययन में कहा गया है कि जो लज्जाशील है वह एक वस्त्र धारण करे दूसरा प्रतिलेखना हेतु रखे। जुंगित (देश-विशेष) में दो वस्त्र धारण करे और तीसरा प्रतिलेखना हेतु रखे, यदि (शीत) परीषह सहन नहीं हो तो तीन वस्त्र धारण करे और चौथा प्रतिलेखना हेतु रखे। पुनः उसके पात्रैषणा^२ में कहा गया है कि लज्जाशील, जुंगित अर्थात् जिसके लिंग आदि का हीनाधिक हो तथा पात्रादि रखने वाले के लिए वस्त्र रखना कल्पता है। पुनः उसमें कहा गया है तुम्ब्री का पात्र, लकड़ी का पात्र अथवा मिट्टी का पात्र जीव एवं बीजादि से रहित हो तो ग्राह्य है। यदि वस्त्र-पात्र ग्राह्य नहीं होते तो फिर ये सूत्र आगम में क्यों आते ? पुनः आचारांग^३ के भावना नामक अध्ययन में कहा गया है कि भगवान एक वर्ष तक चोवरधारी रहे, उसके बाद अचेल हो गये। साथ ही सूत्रकृतांग^४ के पुण्डरीक नामक अध्ययन में कहा गया है कि भिक्षु वस्त्र

१. (अ) एसेहिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणं विदियं तत्थ एसे जुग्गि देसे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणं तदियं ।

आचारांग, वस्त्रैषणा, उद्धृत भगवतीआराधना (विजयोदयाटीका), गाथा ४२३, पृ० ३२४

(ब) जे णिग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके विरसंघयणे, से एगं वत्थं धारेज्जा, णो वितियं ।

आचारचूला, द्वितीयसूत्रस्कन्ध, २/५/१/२, पृ० १६१

२. (अ) हिरिमणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिकं पादचारित्तए इति ॥

आचारांग, वस्त्रैषणा, उद्धृत भगवतीआराधना (विजयोदयाटीका), गाथा ४२३, पृ० ३२४

(ब) जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके

धिरसंघयणे, से एगं पायं धारेज्जा, णो बीयं ।

आचारचूला, अचारांगसूत्र, २/६/१/२

३. संवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं ।

अचेलए ततो चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे ॥ आचारांग, १/९/१/४

४. (अ) ण कहेज्जो धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदुमिति ।

सूत्रकृतांग-पुण्डरीकअध्ययन, उद्धृत भगवतीआराधना (विजयोदयाटीका) गाथा ४२३, पृ० ३२४

और पात्र के लिए धर्मकथा न कहे। निशीथ^१ में कहा गया है कि जो भिक्षु अखण्ड-वस्त्र और कम्बल धारण करता है उसे मास-लघु (प्रायश्चित्त का एक प्रकार) प्रायश्चित्त आता है। इस प्रकार आगम में वस्त्र ग्रहण की अनुज्ञा होने पर भी अचेलता का कथन क्यों किया जाता है? इसका समाधान करते हुए स्वयं अपराजितसूरि कहते हैं^२ कि आगम में कारण की अपेक्षा से आर्यिकाओं को वस्त्र की अनुज्ञा है, यदि भिक्षु लज्जालु है अथवा उसकी जननेन्द्रिय त्वचारहित हो या अण्डकोष लम्बे हों अथवा वह परीषह (शीत) सहन करने में अक्षम हो तो उसे वस्त्र धारण करने की अनुज्ञा है। आचारांग^३ में ही कहा गया है कि संयमाभिमुख स्त्री-पुरुष दो प्रकार के होते हैं—सर्व श्रमणागत और नो-सर्वश्रमणागत। उनमें सर्वश्रमणागत स्थिरांग वाले पाणि पात्र भिक्षु को प्रतिलेखन के अतिरिक्त एक भी वस्त्र धारण करना या छोड़ना नहीं कल्पता है। बृहद्कल्पसूत्र^४ में भी कहा गया है कि लज्जा के कारण अंगों के ग्लानि-युक्त होने पर देह के जुगित (बीभत्स) होने पर अथवा परीषह (शीत-

(ब) णो पाणस्स (पायस्स) हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । णो वत्थस्स हेउं धम्म माइक्खेज्जा । सूयगढो, २/१/६८, पृ० ३६६

१. (अ) कसिणाइं वत्थकंबलाइं जो भिक्खू पडिग्गहिदि आपज्जदि मासिगं लहुगं । निशीथसूत्र, २/२३, उद्धृत भगवतीआराधना (विजयोदयाटीका) गाथा ४२३, पृ० ३२४

(ब) जे भिक्खू कसिणाइं वत्थाइं धरेंतं वा सातिज्जति । निशीथसूत्र, २/२३, उद्धृत भगवतीआराधना (विजयोदयाटीका) गाथा ४२३, पृ० ३२४

२. भगवतीआराधना (विजयोदयाटीका) गाथा ४२३, पृ० ३२४

३. भगवतीआराधना में उल्लिखित प्रस्तुत सन्दर्भ वर्तमान आचारांग में अनुपलब्ध है। उसमें मात्र स्थिरांग मुनि के लिए एक वस्त्र और एक पात्र से अधिक रखने की अनुज्ञा नहीं है। सम्भवतः यह परिवर्तन परवर्तीकाल में हुआ है।

४. (अ) हिरिहेतुकं व होइ देहदुगुच्छंति देहे जुग्गिदगे ।

धारेज्जसिया वत्थं परिस्सहाणं च ण विहासिति ॥

चोक्तं कल्पे, उद्धृत भगवतीआराधना (विजयोदयाटीका) गाथा ४२३, पृ० ३२४

(ब) प्रस्तुत सन्दर्भ उपलब्ध बृहत्कल्पसूत्र में प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि वस्त्र धारण करने के इन कारणों का उल्लेख स्थानांगसूत्र ३ में निम्न-रूप में मिलता है—

परीषद्) सहन करने में असमर्थ होने पर वस्त्र धारण करे। पुनः आचारांग^१ में यह भी कहा गया है यदि ऐसा जाने की शीतऋतु (हेमन्त) समाप्त हो गयी है तो जीर्ण वस्त्र प्रतिस्थापित कर दे अर्थात् उनका त्याग कर दे। इस प्रकार (आगमों में) कारण की अपेक्षा से वस्त्र का ग्रहण कहा है। जो उपकरण कारण की अपेक्षा से ग्रहण किया जाता है उसके ग्रहण करने की विधि और गृहीत उपकरण का त्याग अवश्य कहा जाता है। अतः आगम में वस्त्र-पात्र को जो चर्चा बतायी गयी है वह कारण की अपेक्षा से अर्थात् आपवादिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यापनीय संघ मात्र आपवादिक स्थिति में वस्त्रग्रहण को स्वीकार करता था और उत्सर्ग मार्ग अचेलता को ही मानता था। आचारांग के 'भावना' नामक अध्ययन में महावीर के द्वारा एक वर्ष तक वस्त्र युक्त होने के उल्लेख को वह विवादास्पद मानता था। अपराजित ने इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रवादों का उल्लेख भी किया है^२—जैसे कुछ कहते हैं कि वह छः मास में कांटे, शाखा आदि से भिन्न हो गया। कुछ कहते हैं कि एक वर्ष से कुछ अधिक होने पर उस वस्त्र को खण्डलक नामक ब्राह्मण ने ले लिया। कुछ कहते हैं कि वह वस्त्र वायु से गिर गया और भगवान ने उसकी उपेक्षा कर दी। कोई कहते हैं कि बिलम्बनकारी ने उसे जिन के कन्धे पर रख दिया आदि। इस प्रकार अनेक विप्रतिपत्तियों के कारण अपराजित की दृष्टि में इस कथन में कोई तथ्य नहीं है। पुनः अपराजित ने आगम से अचेलता के समर्थक अनेक सूत्र भी उद्धृत किये हैं^३ यथा—“वस्त्रों का त्याग कर देने पर भिक्षु पुनः वस्त्र ग्रहण नहीं करता तथा अचेल होकर जिन रूप धारण करता है। भिक्षु यह नहीं सोचे कि सचेलक सुखी होता है और अचेलक दुःखी होता है, अतः मैं सचेलक हो जाऊँ। अचेल को कभी शीत बहुत सताती है, फिर भी वह धूप का विचार न करे। मुझ निरावरण के

कपति णिग्गंधाण वा णिग्गंधीण वा तन्नो पायाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तंजहा—जगिए—भंगिए, खोमिए। ठाणांग, ३/३४५

१. आचारांग, शीलांकवृत्ति, १/७/४, सूत्र, २०९ पृ० २५१

२. (अ) भगवतीआराधना, विजयोदयटीका, पृ० ३२५-३२६

तुलनीय—आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० २७६

(ब) श्रीमदावश्यकसूत्र (उत्तरभाग) चूर्णसमेत, श्री ऋषभदेवजी, केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९२९

३. भगवतीआराधना (विजयोदयाटीका) पृ० ३२६-२७

पास कोई छादन नहीं है, अतः मैं अग्नि का सेवन कर लूँ ऐसा भी नहीं सोचे।” इसी प्रकार उन्होंने उत्तराध्ययन के २३वें अध्याय की गाथायें उद्धृत करके यह बताया कि पार्व्व का धर्म सान्तरोत्तर था। महावीर का धर्म तो अचेलक ही था। पुनः दशवैकालिक में मुनि को नरन और मुण्डित कहा गया है। इससे भी आगम में अचेलता ही प्रतिपाद्य है—यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार यापनीय उत्सर्ग मार्ग में अचेलता के समर्थक थे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता किन्तु अपवाद मार्ग में वे वस्त्र की ग्राह्यता को स्वीकार करते थे। भगवती आराधना के निम्न सन्दर्भ से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

उसमें कहा गया है कि साधना की दृष्टि से जब साधक को यह अनुभव होता है कि मैंने दीर्घकाल तक संयम पर्याय का शास्त्र के अनुसार पालन किया तथा शिष्यादि तैयार कर उन्हें वाचना दी, अब मुझे अपना हित करना ही श्रेय है, तब उसे संघ से अलग होकर अथालन्द विधि, भक्तपरिज्ञा, इग्निमरण, परिहार विशुद्ध चारित्र्य, पादोपउपगमन अथवा जिनकल्प धारण करके विचरण करना चाहिए। इसके पश्चात् भगवती आराधना टीका में अपराजित सूरि ने इन छहों विधियों के आचार-विचार का विस्तार से विवरण दिया है। उस चर्चा में उन्होंने परिहार समय की भी चर्चा की है। उसमें परिहार समय को एक उपधि धारण करने वाला बताया है। आगे यह भी कहा गया है कि वे संघ से उपकरण आदि के दान का संबंध नहीं रखते हैं मात्र गृहस्थ अथवा अन्य लिंग के द्वारा दिया गया उपकरण ही ग्रहण करते हैं। इसी की टीका के पश्चात् उन्होंने निम्न गाथा उद्धृत की है—

कप्पट्टि दो णुकप्पी भुंजणसंघाडदाण गहणे वि ।
सवासवंदणालावणाहि भुंजन्ति अण्णोण्णं ।

इस प्रसंग में विचारणीय यह है कि वे कल्पस्थित अनुकंपा करने वाले से भोजन और संघाटि का दान ग्रहण करते हैं। ज्ञातव्य है कि यहाँ भुंजन संघाड दान गहणे का अर्थ है भोजन और संघाटि का दान प्राप्त करना। लिंग विचार में उसको एक उपधि से युक्त कहना और प्रस्तुत प्रसंग में संघाटि का दान ग्रहण करना यही सूचित करता है कि

परिहार संयमी एक वस्त्र ग्रहण करते थे। प्रस्तुत प्रसंग में यह भी कहा गया है कि जो जिनकल्प को धारण करने में असमर्थ हो वही पर्याय संयम को धारण करता है। इसका अर्थ यही है कि पर्याय संयमी एक वस्त्र रखता था। आश्चर्य यह है कि पं० कैलाशचन्द्रजी ने इस टीका का अनुवाद करते समय मूल के निम्न भाग का कोई अर्थ ही नहीं किया।

‘एकोपधिकं अवसानं लिङ्गं परिहार संयतानाम्’ यदि इसका अर्थ करते तो उन्हें एक उपधि की व्याख्या करनी पड़ती। पुनः उन्होंने संघाट दान ग्रहण का अर्थ भी मूल शब्दों को यथावत् रखकर सहायता देना या लेना कर दिया तथा उसमें भी भुंजन शब्द का कोई अर्थ ही नहीं किया जबकि इसका स्पष्ट अर्थ है कि वे परिहार संयमी अनुकंपा करने वाले कल्पस्थित को भोजन और वस्त्र परस्पर देते भी हैं और लेते भी हैं। अगले चरण में और स्पष्ट करते हुए कहा है—वे आपस में एक ही स्थान पर रहते हैं, परस्पर एक दूसरे से वंदन, संलाप करते हैं और एक दूसरे की लाई भिक्षा को खाते भी हैं। परिहार संयमी को जिनकल्प में असमर्थ मानना उसके द्वारा एक उपधि का ग्रहण किया जाना और परस्पर एक दूसरे के वस्त्र, भोजनादि ग्रहण करना यह सब इस तथ्य का सूचक है कि वे अपवाद लिंग के धारक होते थे।

इस समग्र चर्चा के आधार पर यापनीय संघ का वस्त्र सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। उनके इस दृष्टिकोण को संक्षेप में निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. श्वेताम्बर परम्परा, जो जिनकल्प के विच्छेद की घोषणा के द्वारा वस्त्र आदि के सम्बन्ध में महावीर को वैकल्पिक व्यवस्था को समाप्त करके सचेलकत्व को ही एक मात्र विकल्प बना रही थी, यह बात यापनीयों को मान्य नहीं थी।

२. यापनीय यह मानते थे कि जिनकल्प का विच्छेद सुविधावादियों की अपनी कल्पना है। समर्थ साधक इन परिस्थितियों में या इस युग में भी अचेल रह सकता है। उनके अनुसार अचेलता (नग्नता) ही जिन का आदर्श मार्ग है, अतः मुनि को अचेल या नग्न ही रहना चाहिए।

३. यापनीय आपवादिक स्थितियों में ही मुनि के लिए वस्त्र की ग्राह्यता को स्वीकार करते थे उनकी दृष्टि में ये अपवादिक स्थितियाँ निम्न थीं—

(क) राज-परिवार आदि अतिकुलीन घराने के व्यक्ति जनसाधारण के समक्ष नग्नता छिपाने के लिए वस्त्र रख सकते हैं।

(ख) इसी प्रकार वे व्यक्ति भी जो अधिक लज्जाशील हैं अपनी नग्नता को छिपाने के लिए वस्त्र रख सकते हैं।

(ग) वे नवयुवक मुनि जो अभी अपनी काम-वासना को पूर्णतः विजित नहीं कर पाये हैं और जिन्हें लिंगोत्तेजन आदि के कारण निर्गन्ध संघ में और जनसाधारण में प्रवाद का पात्र बनना पड़े, अपवाद रूप में वस्त्र रख सकते हैं।

(घ) वे व्यक्ति जिनके लिंग और अण्डकोष विद्रूप हैं, वे संलेखना के अवसर को छोड़कर यावज्जीवन वस्त्र धारण करके ही रहें।

(ङ) वे व्यक्ति जो क्षीतादि परोषह सहन करने में सर्वथा असमर्थ हैं, अपवाद रूप में वस्त्र रख सकते हैं।

(च) वे मुनि जो अर्श, भगन्दर आदि की व्याधि से ग्रस्त हों, बीमारी की स्थिति में वस्त्र रख सकते हैं।

४. जहाँ तक साध्वियों का प्रश्न था यापनीय संघ में स्पष्ट रूप से उन्हें वस्त्र रखने की अनुज्ञा थी। यद्यपि साध्वियाँ भी एकान्त में संलेखना के समय जिन-मुद्रा अर्थात् अचेलता धारण कर सकती थीं।

इस प्रकार यापनीयों का आदर्श अचेलकत्व ही रहा, किन्तु अपवाद मार्ग में उन्होंने वस्त्र-पात्र की ग्राह्यता भी स्वीकार की। वे यह मानते हैं कि कषाय-त्याग और रागात्मकता को समाप्त करने के लिए सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग, जिसमें वस्त्रत्याग भी समाहित है, आवश्यक है, किन्तु वे दिगम्बर परम्परा के समान एकान्त रूप से यह घोषणा नहीं करते हैं कि वस्त्रधारी चाहे वह तीर्थंकर ही क्यों न हो, मुक्त नहीं हो सकता। वे सबस्त्र में भी आध्यात्मिक विशुद्धि और मुक्ति की भजनीयता अर्थात् सम्भावना को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अचेलकत्व सम्बन्धी मान्यता के सन्दर्भ में दिगम्बर परम्परा के निकट खड़े होकर भी अपना भिन्न मत रखते हैं। वे अचेलकत्व के आदर्श को स्वीकार करके भी सबस्त्र मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। पुनः मुनि के लिए अचेलकत्व का पुरजोर समर्थन करके भी वे यह नहीं कहते हैं कि जो आपवादिक स्थिति में वस्त्र धारण कर रहा है, वह मुनि नहीं है। जहाँ हमारी वर्तमान दिगम्बर परम्परा मात्र लंगोटीधारी ऐलक, एक-चेलक या दो वस्त्रधारी क्षुल्लक को मुनि न मानकर उत्कृष्ट श्रावक ही मानती

है, वहाँ यापनीय परम्परा ऐसे व्यक्तियों की गणना मुनि-वर्ग के अन्तर्गत ही करती है। अपराजित, आचारांग का एक सन्दर्भ देकर जो वर्तमान आचारांग में नहीं पाया जाता है कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति नो-सर्वश्रमणागत हैं। तात्पर्य यह है कि सवस्त्र मुनि अंशतः श्रमण भाव को प्राप्त है। इस प्रकार यापनीय आपवादिक स्थितियों में परिस्थितिबश वस्त्र ग्रहण करने वाले श्रमणों को श्रमण ही मानते हैं, गृहस्थ नहीं। यद्यपि यापनीय और दिगम्बर दोनों ही अचेलकत्व के समर्थक हैं, फिर भी वस्त्र के सम्बन्ध में यापनीयों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत उदार एवं यथार्थवादी रहा है। आपवादिक स्थिति में वस्त्र ग्रहण, सचेल की मुक्ति की सम्भावना, सचेल स्त्री और पुरुष दोनों में श्रमणत्व या मुनित्व का सद्भाव—उन्हें अचेलता के प्रश्न पर दिगम्बर परम्परा से भिन्न करता है, जबकि आगमों में वस्त्र-पात्र के उल्लेख मात्र आपवादिक स्थिति के सूचक हैं और जिनकल्प का विच्छेद नहीं है यह बात उन्हें श्वेताम्बरों से अलग करती थी।



निर्ग्रन्थ संघ में उपकरणों की विकासयात्रा

जैन परम्परा में मुनि के पात्रादि उपकरणों का विकास क्रमिक रूप से देशकालगत परिस्थितियों के आधार पर लोकोपवाद से बचने के लिए एवं अहिंसा के परिपालन के निमित्त ही हुआ है। सर्वप्रथम यदि हम जैनागम साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध को लें तो उसमें निर्ग्रन्थों के लिए मात्र पाँच उपकरणों का उल्लेख हुआ है—वस्त्र, पात्र, कम्बल, पात्रप्रोञ्छन और कटासन (चटाई)।^१ इसमें भी कटासन (चटाई), आवश्यकता होने पर माँगकर बिछायी जाती थी। यदि हम आचारांग के इसी श्रुतस्कन्ध में वस्त्र धारण करने की स्थिति को देखते हैं तो उसमें अचेल, एकशाटक, सान्तरोत्तर (दो वस्त्रधारी) और तीन वस्त्रधारी ऐसे चार प्रकार के निर्ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। पुनः इन सभी को भी क्रमशः वस्त्र कम करते हुए अन्त में अचेल रहने का ही निर्देश दिया गया है। जहाँ तक आर्यिकाओं का प्रश्न है उन्हें एक-दो हाथ विस्तार वाली, दो-तीन हाथ विस्तार वाली एवं एक चार हाथ विस्तार वाली ऐसी चार संघाटि रखने का निर्देश है।^२

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी यद्यपि वस्त्रादि उपकरणों को ग्रहण करने से सम्बन्धित विधि-निषेधों का विस्तार से उल्लेख हुआ है किन्तु उनमें कहीं भी वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की संख्या में वृद्धि का

१. वत्थं पडिग्गहं, कंबलं पायपुंछणं, उग्गहं च कडासनं । एतेसु चैव जाएज्जा । आयारो (आचारांग) १।२।५।११२, और भो देखें आयारो १।८।१।१।
२. क. जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिते पायचउत्थेहिं, तस्स णं णो एवं भवति-चउत्थं वत्थं जाइस्सामि । वही १।८।४।४३
- ख. जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिते पायतइएहिं, तस्स णं णो एवं भवति-तइयं वत्थं जाइस्सामि ॥ वही १।८।५।६२
- ग. जे भिक्खू एणेण वत्थेण परिवुसिते पायबिइएण, तस्स णो एवं भवइ-बिइयं वत्थं जाइस्सामि ॥ वही १।८।६।८५
- घ. अह पुण एवं जाणेज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिबन्ने, अहा-परिजुण्णं वत्थं परिट्ठवेज्जा, अहापरिजुण्णं वत्थं परिट्ठवेत्ता—वही १।८।६।९२
- ङ. अदुवा अचेले । वही १।८।६।९३

कोई निर्देश नहीं है अपितु यही कहा गया है कि जो भिक्षु तरुण, युवा, बलवान, निरोग एवं स्थिर संहननवाला है, वह एक ही वस्त्र रखे, दूसरा नहीं। यही वस्त्रधारी की सामग्री है^१। उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिलेखना के सन्दर्भ में मुख-वस्त्रिका, गोच्छग/पात्रकम्बल और वस्त्र इन तीनों का उल्लेख हुआ है^२। दशवैकालिक में भी वस्त्र-पात्र की संख्या में वृद्धि के कोई निर्देश नहीं हैं। मात्र इतना कहा गया है कि साधु-साध्वी जो वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोञ्छन रखते हैं वे केवल अहिंसा के परिपालन या लोक-लज्जा के निवारणार्थ रखते हैं, अतः उसे भगवान ने परिग्रह नहीं कहा है^३। सम्भवतः यह कथन वस्त्रधारी पर होने वाले आक्षेप के निवारणार्थ ही किया गया होगा।

वस्त्र आदि उपकरणों की संख्या में वृद्धि के सन्दर्भ सर्वप्रथम बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि छेदसूत्रों में ही मिलते हैं किन्तु उनमें सम्पूर्ण १४ उपकरणों का उल्लेख एक साथ नहीं मिलता है। व्यवहार सूत्र में उल्लेख है कि वृद्धावस्था को प्राप्त स्थविर को दण्ड, पात्र, छाता, मात्रक, लाठी, भिस्स (पीण-फलक), वस्त्र, चेल-चिलिमिलिका, चर्म, चर्मकोष और चर्म परिच्छेदक अविरहित स्थान में रखकर आना जाना

१. क. जे णिग्गंथो तरुणे जुगधं बलवं अप्पायके धिरसंघयणे, से एगं वत्थं धारेज्जा, णो वित्थियं ॥ आयारचूला, ५।१।२

ख. जा णिग्गंथो, सा चत्तारि संघाढीओ धारेज्जा-एगं दुहत्थवित्थारं, वो तिहत्थवित्थाराओ, एगं चउहत्थवित्थारं, तहम्पगारोहि वत्थोहि असं-विज्जमाणोहि अह पच्छा एगमेगं संसीवेज्जा ॥ वही ५।१।३

२. क. पडिलेहेइ पमसे अब्बसइ पायकंबलं ।

पडिलेहणाअणाउत्ते पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ उत्तरा० १७।९

ख मुहपोत्तियं पडिलेहित्ता पडिलेहिज्ज गोच्छगं ।

गोच्छगलइयंगुलिओ वत्थाइं पडिलेहए ॥ वही २६।२३

ग. जे भिक्खू णिग्गंधीणं आगमणपहंसि दंढगं वा लट्ठियं वा रयहरणं वा मुहपोत्तियं वा अण्णयरं वा उवगरणजायं ठवेत्ति, ठवेत्तं वा सातिज्जति ॥

—निशीथ, ४।२३

और भी देखें—भगवती—२।१०६, १५।१०, १५३,

ज्ञाताधर्मकथा, १।१४।४१, उपासकदशा, १।७०, अंतकृत्तदशा, ३।२२

३. जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुच्छणं ।

तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंतिय ॥ दशवैकालिक, ६।१९

कल्पता है^१। इन उपकरणों में दण्ड, मात्रक, पात्र तथा चिलिमिलिका का प्रचलन तो श्वेताम्बर परम्परा में आज भी देखा जाता है किन्तु शेष उपकरण विशेष रूप से छाता एवं चर्म श्वेताम्बर परम्परा में कभी प्रचलन में रहे हों ऐसा ज्ञात नहीं होता। सम्भवतः ये उपकरण प्राचीन काल में चैत्यवासियों के द्वारा रखे गये होंगे अथवा फिर ये पार्व्याप्तियों की परम्परा में रहे होंगे जो बाद में मान्य नहीं रहे।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी मात्रक के अलग रखने की व्यवस्था सर्वप्रथम आर्यरक्षित के समय में हुई। ऐसी स्थिति में यह संदेह होता है कि भद्रबाहु के द्वारा रचित छेदसूत्रों में उनका उल्लेख कैसे आ गया। लगता है कि छेदसूत्रों एवं ओघनियुक्ति में भी वलभी वाचना के समय कुछ संशोधन या प्रक्षेप हुए हैं। ओघनियुक्ति में जिनकल्पी के लिए १२, सामान्यमुनि के लिए १४ और साध्वी के लिए २५ उपकरणों का उल्लेख उपलब्ध होता है^२। सामान्य मुनि के लिए जो १४ उपकरण निश्चित हुये वे निम्न हैं—पात्र, पात्रबंध, पात्र-स्थापन, पात्र-पटल, रज-स्त्राण, गुच्छक, तीन प्रच्छादक, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, मात्रक और चोलपट्टक^३। इन उपकरणों की सर्वप्रथम चर्चा हमें अंग-आगम साहित्य में प्रश्नव्याकरण में मिलती है^४ किन्तु वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण-सूत्र लगभग सातवीं शती की रचना है। अतः उसका कथन ऐतिहासिक दृष्टि से परवर्ती है। इसलिए सर्वप्रथम ओघनियुक्ति में ही इनका उल्लेख

१. थेरारणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दंडए वा भंडए वा छत्तए वा मत्तए वा लट्ठिया वा चेले वा चेलचिलिमिलिया वा चम्मे वा चम्मकोसए वा चम्मपलिच्छेयणए वा...। व्यवहारसूत्र, ८।५

२. देखें—ओघनियुक्ति, गाथा ६६९, ६७१, ६७७

३. पत्तंपत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया।

पडलाई रयत्ताणं च गुच्छओ पायनिज्जोगो ॥

तिन्नेव य पच्छागा रयहरणं चेव होइ मुहपत्ती।

एसो दुवालसविहो उवही जिणकप्पियाणं तु ॥

एए चेव दुवालस मत्तग अइरेग चोलपट्टो य।

एसो चउदसविहो उवही पुण थेरकप्पम्मि ॥

ओघनियुक्ति, श्री हर्षपुष्पाभूत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावक, १९८९
गाथा—६६८, ६६९, ६७०

४. जपि य समणस्स सुविहियस्स तु पडिगहधारिस्स भवति मायण-भंभोवहि उवगरणं पडिगहो पायबंधणं पायकेसरिया पायठवणं च पडलाई तिण्णेव,

हुआ होगा, यही माना जा सकता है। मेरी दृष्टि में नियुक्तियों का रचनाकाल ईसा की लगभग दूसरी शती माना जा सकता है।

ईसा की प्रथम-दूसरी शती में निर्ग्रन्थ परम्परा के मुनियों में वस्त्रादि उपकरणों की स्थिति क्या थी, इसका पुरातात्विक प्रमाण हमें इसी काल के मथुरा के अंकनों से मिलता है। उसमें चतुर्विध संघ के अंकनों में मुनियों एवं साध्वियों के विविध अंकन हैं। उनमें निम्न उपकरणों का स्पष्ट अंकन है—१. कम्बल, २. मुखवस्त्रिका, ३. पात्र-प्रोञ्छन। प्रति-लेखन/रजोहरण, ४. पात्र और ५. पात्र रखने की झोली अर्थात् पात्रबंध। मुनियों के जो अंकन हैं उनमें उनके हाथ में मुखवस्त्रिका/वस्त्रखण्ड तथा कलाई पर तह किया हुआ कम्बल प्रदर्शित है जिससे किन्हीं अंकनों में उनकी गनता छिप गई है और किन्हीं में वह नहीं भी छिपी है (देखें चित्र संख्या)। किन्तु कोई भी मुनि वस्त्र धारण किये हुए प्रदर्शित नहीं है। अभिलेखों में इन मुनियों के नाम, गण, शाखा और कुल आदि का जो उल्लेख है उनकी पुष्टि कल्पसूत्र पट्टावली से होती है। अतः स्पष्ट है कि ये अंकन उत्तर-भारत में सचेल और अचेल परम्परा के विभाजन के पूर्व की स्थिति के सूचक हैं। उपरोक्त चौदह उपकरणों में से पाँच का स्पष्ट अंकन है—शेष पात्र-स्थापन, पात्रपटल, रजस्त्राण और गुच्छक/पात्र केसरिका—ये चार पात्र से ही सम्बन्धित और अस्यन्त छोटे-छोटे वस्त्र खण्ड ही होते हैं। इनका स्वतन्त्र अंकन या प्रदर्शन आवश्यक नहीं था। इनका विकास पात्र रखने की परम्परा के साथ ही हुआ होगा क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य पात्र में कोई जीव-जन्तु या रज-धूलि आदि को गिरने से रोकना, पात्र की सफाई तथा पानी को छानना आदि था। मात्रक मल-मूत्र विसर्जन हेतु रखा जाता है और इसे रखने की अनुमति आर्यरक्षित ने प्रथम दूसरी शती में ही दी थी। इस प्रकार ये कुल दस उपकरण हुए। शेष चार—तीन प्रच्छादक (चादर) और एक चूलपट्टक इन चार का अंकन मथुरा के स्थापत्य में पहली-दूसरी शती तक कहीं नहीं मिलता है। यद्यपि मथुरा की ग्यारहवीं-बारहवीं शती की एक जिन प्रतिमा की पादपीठ में अंकित मुनि प्रतिमा को सबस्त्र दिखाया गया है। किन्तु अभिलेख के आधार पर प्रतिमा स्पष्टतः

रयत्तारं च गोच्छओ, तिण्णैव य पच्छाका, रओहरण-चोलपट्क-मुहण-
तकमादीयं ।

पण्ढावागरणाई १०।१०

श्वेताम्बर माथुर संघ की है और परवर्ती है। अतः इसे वस्त्र पात्र की प्राचीनकाल की स्थिति को समझने में आधार भूत नहीं माना जा सकता है। किन्तु आचारांग में अधिकतम तीन वस्त्रों के रखने का उल्लेख होने और पालिन्निपिटक^१ में एकशाटक निर्ग्रन्थों का उल्लेख होने से यह माना जा सकता है कि वस्त्र रखने की परम्परा भी प्राचीन है। जहाँ तक चोलपट्टक का प्रश्न है प्रारम्भ में वह लंगोटी के समान एक छोटा सा वस्त्र खण्ड ही था जो मात्र नग्नता छिपाने के लिए उपयोग में लाया जाता था। आचारांग में इसे 'ओमचेल' अर्थात् छोटा वस्त्र कहा गया है।^२ चोलपट्टक मूलतः चूलपट्ट से बना है जिसका अर्थ भी छोटा कपड़ा या वस्त्र खण्ड ही होता है। हरिभद्र ने मुनियों के द्वारा अकारण ही जिस कटि वस्त्र के धारण करने की आलोचना की है वह भी इसी का सूचक है। वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा में जो घुटनों के नीचे तक के अधोवस्त्र धारण किये जाते हैं, यद्यपि उनका नाम भी चोलपट्टक ही है फिर भी उनके आकार-प्रकार में क्रमशः वृद्धि हुई है।

जहाँ तक यापनीय परम्परा का प्रश्न है भगवतो आराधना की टीका में अपराजित ने मुनि के चौदह उपकरणों का उल्लेख अवश्य किया है^३ किन्तु ज्ञातव्य है कि ये चौदह उपकरण उन्हें स्वीकार्य नहीं थे। यद्यपि उनके काल अर्थात् नवीं शताब्दी के पूर्व श्वेताम्बर परम्परा में ये स्वीकृत हो चुके थे। यापनीय परम्परा इनमें से मात्र प्रतिलेखन और पात्र—वह भी केवल शौच के लिए जल ग्रहण करने हेतु—स्वीकृत किया गया था। यापनीय ग्रन्थों में प्रतिलेखन को संयमोपधि और पात्र को शौचोपधि के रूप में मान्य किया गया है। शेष वस्त्र, पात्र आदि का ग्रहण उनके अनुसार आपवादिक स्थिति में ही स्वीकृत था। उनके अनुसार आगम और नियुक्ति आदि में जिन चौदह उपधियों (उपकरणों) की चर्चा है, वह केवल आपवादिक स्थिति की सूचक है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि वस्त्र, पात्र के विकास के साथ-साथ ही निर्ग्रन्थ परम्परा में जिन कल्प और स्थविरकल्प की दो भिन्न-भिन्न परम्पराओं का विकास हुआ जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

१. निर्गंधा एकसाटका।—मज्झिमनिकाय, महर्षिसंहनादसुत्त १।१।२

२. अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचले अदुवा एगसाडे अदुवा अचले। आचारांग-सूत्र (आत्मारामजी) १।८।५१ पृ० ५८५

३. चतुर्विध उपधि गृहणतां बहु प्रति लेखनता न तथा चेलस्य।

भगवती आराधना (विजमोदया टीका) गाथा ४२३, पृ० ३२२

जिनकल्प और स्थविरकल्प

यापनीय परम्परा में जिनकल्प का उल्लेख हमें भगवती आराधना और उसकी विजयोदया टीका में मिलता है। उसमें कहा गया है कि 'जो राग-द्वेष और मोह को जीत चुके हैं, उपसर्ग को सहन करने में समर्थ हैं, जिन के समान एकाको विहार करते हैं, वे जिनकल्पी कहलाते हैं। क्षेत्र आदि की अपेक्षा से विवेचन करते हुए आगे उसमें कहा गया है कि जिनकल्पी सभी कर्म भूमियों और सभी कालों में होते हैं। इसी प्रकार चारित्र्य की दृष्टि से वे सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र्य वाले होते हैं। वे सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में पाये जाते हैं और जन्म की अपेक्षा से ३० वर्ष की वय और मुनि जीवन की अपेक्षा से १९ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले होते हैं। ज्ञान की दृष्टि से नव-दस पूर्व के ज्ञान के धारी होते हैं। वे तीनों शुभ लेश्याओं से युक्त होते हैं और वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन के धारक होते हैं।'^१

अपराजित के अतिरिक्त जिनकल्प और स्थविरकल्प का उल्लेख यापनीय आचार्य शाकटायन के स्त्री-मुक्ति प्रकरण में भी है।^२ इससे यह प्रतीत होता है कि जिनकल्प की अवधारणा श्वेताम्बर एवं यापनीय दोनों परम्पराओं में लगभग समान ही थी। मुख्य अन्तर यह है कि यापनीय परम्परा में जिनकल्पी के द्वारा वस्त्र ग्रहण का कोई उल्लेख नहीं है। क्योंकि उसमें मुनि के लिए वस्त्र-पात्र की स्वीकृति केवल अपवाद मार्ग में है, उत्सर्ग मार्ग में नहीं और जिनकल्पी उत्सर्ग मार्ग का अनुसरण करता है। अतः यापनीय परम्परा के अनुसार वह किसी भी स्थिति में वस्त्र-पात्र नहीं रख सकता। वह अचेल ही रहता है और पाणि-पात्री होता है जबकि श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों के अनुसार जिनकल्पी अचेल भी होता है और सचेल भी। वे पाणि-पात्री भी होते हैं और सपात्र भी होते हैं। ओघनियुक्ति (गाथा ७८-७९) में उपधि के आधार पर जिनकल्प के भी अनेक भेद किये गये हैं।

इसी प्रकार निशीथभाष्य में भी जिनकल्पी की उपधि को लेकर

१. भगवती आराधना, भाग-१ (विजयोदया टीका)—गाथा-१५७ की टीका पृ० सं० २०५
२. (अ) शाकटायन व्याकरणम् (स्त्री मुक्ति प्रकरणम्)—७ सं० पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९७१ पृ० १
(ब) बृहत्कल्पसूत्र, संपा० मधुकर मुनि, ब्यावर, १९९२—६१९

विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। उसमें सर्वप्रथम यह बताया गया है कि पात्र की अपेक्षा से जिनकल्पी दो प्रकार के होते हैं—पाणिपात्र अर्थात् बिना पात्र वाले और पात्रधारी। इसी प्रकार वस्त्र की अपेक्षा से भी उसमें जिनकल्पियों के दो प्रकार बताए गये हैं—अचेलक और सचेलक। पुनः इनकी उपधि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो अचेलक और पाणिपात्रभोजी जिनकल्पी होते हैं वे रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण रखते हैं। जो सपात्र और सवस्त्र होते हैं उनकी उपधि की संख्या कम से कम तीन और अधिक से अधिक बारह होती है। स्थविरकल्पी को जिन १४ उपधियों का उल्लेख किया गया है उनमें मात्रक और चूलपट्टक ये दो उपधि जिनकल्पी नहीं रखते हैं।^१

यापनीयों की दूसरी विशेषता यह है कि वे श्वेताम्बरों के समान जिनकल्प का विच्छेद नहीं मानते। उनके अनुसार समर्थ साधक सभी कालों में जिनकल्प को धारण कर सकते हैं, जबकि श्वेताम्बरों के अनुसार जिनकल्पी केवल तीर्थंकर की उपस्थिति में ही होता है। यद्यपि यापनीयों की इस मान्यता में उनकी ही व्याख्यानुसार एक अन्तर्विरोध आता है, क्योंकि उन्होंने अपनी जिनकल्पी की व्याख्या में यह माना है कि जिनकल्पी नव-दस पूर्वधारी और प्रथम संहनन के धारक होते हैं। चूँकि उनके अनुसार भी वर्तमान में पूर्व ज्ञान और प्रथम संहनन (वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन) का अभाव है। अतः जिनकल्प सर्वकालों में कैसे संभव होगा। इन दो-तीन बातों को छोड़कर यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा में जिनकल्प के सम्बन्ध में विशेष अन्तर नहीं है। विशेष जानकारी के लिए भगवती आराधना की टीका और बृहत्कल्पभाष्य के तत्सम्बन्धी विवरणों को देखा जा सकता है।

ज्ञातव्य है कि दिगम्बर ग्रंथ गोम्मटसार और यापनीय ग्रंथ भगवती आराधना की टीका में जिनकल्प को लेकर एक महत्त्वपूर्ण अन्तर परिलक्षित होता है, वह यह कि जहाँ गोम्मटसार में जिनकल्पी मुनि को मात्र सामायिक चारित्र माना गया है, वहाँ भगवती आराधना में उनमें सामायिक और छेदोपस्थापनीय ऐसे दो चारित्र माने गये हैं। वस्तुतः यह अन्तर इसलिए आया कि जब दिगम्बर परम्परा में छेदोपस्थापनीय चारित्र का अर्थ महाव्रतारोपण से भिन्न होकर प्रायश्चित्त रूप पूर्व दीक्षा पर्याय के छेद के अर्थ में लिया गया तो, जिनकल्पी में प्रायश्चित्त रूप छेदो-

१. (अ) बृहत्कल्पसूत्र ६।२०

(ब) पंचकल्पभाष्य (आगमसुधासिन्धु) ८१६-८२२

पस्थापनीय चारित्र का निषेध मानना आवश्यक हो गया क्योंकि जिन-कल्पी की साधना निरपवाद होती है। हमें जिनकल्प और स्थविरकल्प का उल्लेख प्रायः श्वेताम्बर एवं यापनीय परम्परा में ही देखने को मिला है। दिगम्बर परम्परा में यापनीय प्रभावित ग्रन्थों को छोड़कर प्रायः इस चर्चा का अभाव ही है।

वस्तुतः यापनीय परम्परा ने जिनकल्प के पुनः प्रवर्तन का ही प्रयास किया था। जहाँ तक उसके उपकरणों का प्रश्न है, आदर्श स्थिति में श्वेताम्बर परम्परा उसके लिए दो उपकरण निश्चित करती है—एक रजोहरण और दूसरा मुखवस्त्रिका। यापनीय परम्परा में उत्सर्ग मार्ग में उसके लिए पिच्छी/प्रतिलेखन और कमण्डलु का उल्लेख मिलता है। आगे हम इन दोनों के सम्बन्ध में थोड़ी विस्तार से चर्चा करेंगे।

प्रतिलेखन/पिच्छी

जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों में रजोहरण अथवा प्रतिलेखन मुनि का एक आवश्यक उपकरण माना गया है। यहाँ तक कि जिनकल्प में या अचेल मुनि के लिए भी इसका रखना आवश्यक है। प्रतिलेखन रखने का मुख्य उद्देश्य सूक्ष्म जीवों को हिंसा से बचना है। यद्यपि इसे मुनि लिंग भी कहा गया है। प्राचीन ग्रंथों में इसके अनेक पर्यायवाची नाम प्रचलित हैं। दशवैकालिकसूत्र^१ में इसके रजोहरण, पायपुंछन और गोच्छा ऐसे तीन नाम मिलते हैं। यापनीय परम्परा के ग्रन्थ मूलाचार^२ और भगवती आराधना^३ में इसके लिए मात्र प्रतिलेखन (पडिलेहण) नाम मिलता है। परवर्ती दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में प्रतिलेखन के स्थान पर पिच्छी शब्द का उल्लेख मिलता है।^४ श्वेताम्बर परम्परा में उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, स्थानांग, बृहत्कल्प, निशीथ आदि में इसके स्वरूप कार्य आदि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।^५ याख्या ग्रन्थों—विशेष

१. दशवैकालिक—४।२३

२. मूलाचार—१०।१९

३. भगवती आराधना—९८

४. (अ) नीतिसार—४३

(ब) ठाणाणि सिज्जागमणे जीवाणं हंति अप्पणो देहं ।

दसकत्त रिठाण गदं णिविच्छे णत्थि णिब्बाणं ॥

—भद्रबाहु क्रियासार २५

५. (अ) उत्तरा० २६।२३, दशवैकालिक—४ सूत्र—२३, ५।६८-७८

स्थानांग—५-१९१, कल्पसूत्र—२।२९, ३।१४, १५, निशीथ—४।२३

रूप से निशीथभाष्य आदि में रजोहरण और पायपुच्छन (पादप्रोच्छन) का पर्यायवाची ही माना गया है। वैसे कुछ आचार्यों ने इन शब्दों के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के आधार पर पादप्रोच्छन, पात्रप्रोच्छन और रजोहरण इन तीनों को अलग-अलग उपकरण माना है। उनके अनुसार पादप्रोच्छन-पाँव पोंछने के लिए, पात्रप्रोच्छन-पात्रों की सफाई के लिए और रजोहरण-धूल और जीव-जन्तुओं के प्रमार्जन के लिए उपयोग में लाया जाता है। यद्यपि वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा में ये तीनों अलग-अलग रखे जाते हैं किन्तु प्राचीन काल में ये तीन स्वतन्त्र उपकरण रहे होंगे, यह मानना कठिन है अन्यथा आगमिक व्याख्याकार इन्हें पर्यायवाची नहीं मानते। मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल' ने निशीथसूत्र के दूसरे उद्देशक के प्रारंभ में दशवैकालिक अध्ययन-४ तथा प्रश्नव्याकरणसूत्र अध्याय-५ के आधार पर इन्हें अलग-अलग उपकरण कहा है।^१ किन्तु दशवैकालिक में जहाँ रजोहरण, पायपुच्छन और गोच्छन शब्द का प्रयोग हुआ है उस स्थल को देखने से ऐसा लगता है कि ये पर्यायवाची भी रहे होंगे क्योंकि वहाँ पीढक, फलक, शय्या और संधारग ये चार शब्द मुख्यतया पर्यायवाची रूप में ही प्रयुक्त हैं। ये चारों विकल्पात्मक हैं। अतः दशवैकालिक के आधार पर इन तीन को अलग-अलग उपकरण मानना उचित नहीं लगता। वर्तमान में भी ये तीनों आकार-प्रकार आदि को छोड़कर स्वरूप की दृष्टि से एक समान ही हैं। वस्तुतः जैसे-जैसे साफ-सफाई का विवेक अधिक होता गया वैसे-वैसे इन्हें अलग-अलग कर दिया गया। सम्भवतः जिससे धूल साफ की जाती हो उससे पाँव साफ करना और जिससे पाँव साफ किया जाता हो उससे पात्र साफ करना उचित प्रतीत नहीं हुआ होगा इसलिए ये तीन अलग-अलग उपकरण बना लिए गये। मूल में तो ये एक ही थे और इनका प्रयोजन स्थान, पात्र, उपकरण अथवा शरीर आदि को रज आदि से रहित करना था। यहाँ ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य प्राचीन आगम आचारांग, आचारांगचूला, सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा आदि में मुख्यतः पाय-

(ब) कप्यह निर्गंधाण वा निर्गंधीण वा इमाइं पंच रयहरणाइं धारित्तए वा परिहारित्तए वा, तं जहा-१-ओणिए, २-उट्टिए, ३-साणए ४-वच्चाचिप्पए ५-मुंजचिप्पए नामे पंचमे। बृहत्कल्पसूत्र-२।३०

१. निशीथसूत्रम्, संपा० मधुकरमुनि, व्यावर १९९१, अनु० कन्हैयालाल-
'कमल'-पृ० ३२-३३

पुंछन शब्द का ही उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययन^१ में 'पायकंबल' ऐसा प्रयोग मिलता है। इसे अलग-अलग दो शब्द मानने पर पात्र और कंबल ऐसे दो उपकरण फलित होते हैं किन्तु उसे एक ही शब्द मानने पर इसका अर्थ भी पात्रप्रोञ्छन हो सकता है। टीकाकार ने यही अर्थ किया है क्योंकि प्राचीन उल्लेखों के अनुसार पात्रप्रोञ्छन एक हाथ लम्बा-चौड़ा कम्बल का टुकड़ा होता था। रजोहरण शब्द का प्रयोग अपेक्षा-कृत परवर्ती आगम आवश्यकसूत्र, दशवैकालिक, बृहत्कल्पसूत्र, निशीथ, स्थानांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृतदशा और प्रश्नव्याकरण में उपलब्ध है। गोच्छक शब्द का उल्लेख दशवैकालिक के अतिरिक्त उत्तराध्ययन, भगवती और कल्पसूत्र में भी हुआ है।^२ यदि हम इन ग्रंथों के कालक्रम को ध्यान में रखकर इसकी चर्चा करें तो हमें यह मानना होगा कि आचारांग में रजोहरण या पिच्छी का उल्लेख नहीं है मात्र पायपुंछन का उल्लेख है। प्रारम्भ में पात्रप्रोञ्छन के रूप में कम्बल के टुकड़े का प्रयोग हुआ होगा। बाद में सम्भवतः उसे गोलाकार लपेटकर तथा उसके अग्रभाग को खोलकर रजोहरण बनाया जाता था। फिर लपेटे गए हिस्से के ऊपर के भाग में मोटे घास के तिनकों को डालकर अगला भाग कठोर बनाया गया, यह रजोहरण या प्रतिलेखन कहलाया। बाद में भेड़ एवं ऊँट के ऊन आदि से रजोहरण बनने लगे, स्थानांग एवं बृहत्कल्प में पाँच प्रकार के रजोहरण का उल्लेख है—भेड़ के ऊन का, ऊँट के ऊन का, सन का, विशेष प्रकार की घास का और मूँज^३ का। इससे यह ज्ञान होता है कि इन पाँचों में से किसी का भी रजोहरण ग्रहण किया जाता था। किन्तु पूर्व की अपेक्षा उत्तरवर्ती का ग्रहण करना अपराध माना जाता था रजोहरण गुच्छक के रूप में होता था अतः उसे ही गोच्छक कहा गया। इस प्रकार पायपुंछन, रजोहरण और गोच्छक शब्द प्रचलित हुए। मेरी दृष्टि में प्रारम्भ में ये तीनों ही पर्यायवाची थे। जहाँ तक पिच्छी का प्रश्न है सचेल और अचेल परम्परा के प्राचीन ग्रंथों में कहीं भी पिच्छी का उल्लेख नहीं मिलता। उसका प्रथम उल्लेख छठी-सातवीं शती के बाद के ग्रंथों में ही मिलता है। यद्यपि यापनीय परम्परा

१. उत्तराध्ययन—१७।९

२. दशवैकालिक—४।२३, उत्तराध्ययन—२०।२३, भगवद्—८।२५०

कल्प० ३।१४, १५

३. बृहत्कल्पसूत्र—२।३०

में प्रतिलेखन के रूप में मयूरपिच्छी का प्रयोग होता रहा है किन्तु आश्चर्य है कि यापनीय ग्रन्थ मूलाचार और भगवती आराधना के मूल में कहीं भी पिच्छी शब्द का उल्लेख न होकर सर्वत्र प्रतिलेखन का ही उल्लेख मिलता है।

मूलाचार और भगवती आराधना में संयमोपकरण के प्रसंग में मुनि के लिए प्रतिलेखन रखने का स्पष्ट विधान किया गया^१।

पापपुञ्जन पात्रप्रोञ्छन

मूलाचार तो स्पष्ट रूप से संयमोपकरण के रूप में प्रतिलेखन का उल्लेख करता है। बोटिकों अथवा यापनीयों ने प्रारम्भ में प्रतिलेखन (पिच्छी) का ग्रहण किया था या नहीं इस सम्बन्ध में पंडित दलसुख भाई ने अपने लेख “क्या बोटिक दिगम्बर हैं” में शंका उपस्थित की है। उनका कथन है कि यदि पिच्छी का ग्रहण किया होता तो आचार्य जिनभद्र, विशेषावश्यकभाष्य में अपनी चर्चा में उसे भी परिग्रह क्यों न माना जाय—यह प्रश्न अवश्य ही उठते। ऐसा नहीं करके उन्होंने यदि वस्त्र परिग्रह है, तो शरीर को भी परिग्रह क्यों नहीं मानते इत्यादि जो दलीलें दी हैं उन्हें वे पिच्छी की चर्चा के बाद ही देते^२। किन्तु इस चर्चा के आधार पर पिच्छी या प्रतिलेखन का प्रयोग प्रारम्भ में बोटिकों ने नहीं किया था, ऐसा स्पष्ट निर्णय नहीं किया जा सकता। पं० दलसुख भाई की शंका के सम्बन्ध में एक उत्तर यह हो सकता है कि सम्भव है प्रतिलेखन के (पिच्छी) उभय सम्मत होने से उस सम्बन्ध में कोई भी चर्चा नहीं उठाई गई हो। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में जैनाभासों के जिन पाँच वर्गों की चर्चा है, उनमें निष्पिच्छिकों के एक वर्ग का भी उल्लेख मिलता है, जिसे माथुर संघ भी कहा जाता था। किन्तु समस्या यह है कि उस श्लोक में इन्हें यापनीयों से भिन्न एवं परवर्ती बताया गया है^३। यह सम्भव है कि अपरिग्रह के अत्यधिक आग्रह के कारण यापनीयों की एक शाखा जो आगे

१. (अ) भगवती आराधना—९८

(ब) मूलाचार—१०।१९

२. जैन विद्या के आयाम खण्ड—२, पं० बेचरदासदोशी स्मृतिग्रन्थ, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी—हिन्दी विभाग, पृ० ७२

३. गोपुच्छिकाः श्वेतवासाः द्वाविडो यापनीयकाः।

निः पिच्छिकश्चेति पञ्चते जैनाभाषाः प्रकीर्तिता ॥

चलकर माथुर संघ कहलायो निष्पिच्छिक रही हो । निष्पिच्छिक संघ को माथुर संघ भी कहा जाता है और इसको उत्पत्ति रामसेन द्वारा विक्रम सं० ९५३ में बताया गया है ।^१ स्मरण रहे कि बोटिक (यापनीय) और माथुर संघ (निष्पिच्छिक संघ) दोनों ही मथुरा क्षेत्र से सम्बन्धित हैं तथा दोनों को ही जैनाभास बताया गया है । पुनः यापनीयों का एक नाम गोप्य संघ भी है । मथुरा, आगरा, ग्वालियर, झाँसी आदि के आसपास का प्रदेश, प्राचीन काल में गोपाञ्चल कहा जाता था, उसी क्षेत्र से सम्बन्धित होने के कारण यापनीय गोप्य कहलाये । अतः माथुर संघ और गोप्य संघ (यापनीय संघ) क्षेत्र की दृष्टि से परस्पर सम्बन्धित प्रतीत होते हैं, किन्तु कालिक दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है । यद्यपि यह सत्य है कि माथुर संघ का विकास परम्परा की दृष्टि से यापनीयों से हुआ है जिसकी चर्चा 'माथुर संघ और यापनीय' नामक शीर्षक के अन्तर्गत द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है । किन्तु इस आधार पर यह कहना युक्तिसंगत नहीं होगा कि यापनीय भी माथुर संघ के समान निष्पिच्छिक थे । क्योंकि मूलाचार और भगवती आराधना में जो यापनीय संघ के ग्रंथ हैं, में प्रतिलेखन का स्पष्ट उल्लेख है । मात्र यही नहीं इन दोनों ग्रंथों में प्रतिलेखन के गुण भी बताये गये हैं ।^२ यद्यपि बोटिकों या यापनीयों ने अलग होते समय प्रारम्भ में पिच्छी ग्रहण की थी या नहीं इसके प्रमाण के अभाव में इस सम्बन्ध में निर्णयात्मक कथन करना कठिन है, किन्तु कालान्तर में वे प्रतिलेखन अवश्य रखते थे इसमें संशय नहीं किया जा सकता । क्योंकि पूर्वोक्त यापनीय परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परा के बोटिकों की चर्चा करने वाले ग्रन्थों में भी बोटिक मुनियों की सामग्री (उपधि) के प्रसंग में प्रतिलेखन या पिच्छी की चर्चा मिलती है । मेरी दृष्टि में तो यापनीय प्रारम्भ से ही प्रतिलेखन (पिच्छी) रखते थे क्योंकि विशेषावश्यकभाष्य के पूर्ववर्ती या कम से कम समकालिक यापनीय ग्रन्थ भगवती आराधना और मूला-

(ब) माथुरसंघे मूलतोऽपि पिच्छिका नाद्रता इन्द्रनन्दी ।

—षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्न टीका, पृ० १६१

१. देखें—इसी पुस्तक का अध्याय—२ पृ० ६०

२. रजसेदाणमग्रहणं मद्दव सुकुमाहवा लहृत्तं च ।

जत्थेदे पंचगुणा तं पड्विहण पसंसति ॥

—मूलाचार-१०।१९, भगवती आराधना-९७

चार में मुनि के उपकरणों की चर्चा के प्रसंग में प्रतिलेखन और उसके गुणों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। प्रतिलेखन में पाँच गुण होने चाहिए— धूलि (रज) एवं स्वेद को ग्रहण नहीं करना, मृदुता—अर्थात् आँख में घुमाने पर भी पीड़ा न हो, सुकोमलता और हल्कापन। विशेषावश्यक में जो पिच्छी की चर्चा नहीं की गई है उसका एकमात्र कारण उसका उभय-सम्मत संयमोपकरण होना ही है।

यापनीय या बोटिकों के उपरि सम्बन्धी विवरण में आचारांग चूर्ण में 'धम्मकुच्चग' का उल्लेख उपलब्ध है।^१ यहाँ 'धर्मकूर्चक' पिच्छी या प्रतिलेखन का सूचक है। शीलार्क ने अपनी आचारांग की टीका में^२ बोटिकों के उपकरणों की चर्चा के प्रसंग में 'अश्वबालधिबालादि' का उल्लेख किया है। इसमें अश्वबाल पिच्छी या प्रतिलेखन का पर्यायवाची रहा है। इस प्रसंग में कुच्चग (कूर्चक) और अश्वबाल पर कुछ अधिक चर्चा अपेक्षित है। अभिलेखीय सूचनाओं से विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में निर्ग्रन्थ संघ, मूलसंघ, कूर्चक, यापनीय और श्वेतपट—ऐसे पाँच जैन सम्प्रदायों के उल्लेख मिलते हैं।^३ इनमें निर्ग्रन्थ (दिग्म्बर) श्वेतपट (श्वेताम्बर) और यापनीय ये तीन स्पष्ट हैं। किन्तु कूर्चक कौन से यह विचारणीय है। पं० नाथूरामजी प्रेमी और डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने इन्हें दाढ़ी-मूँछ रखने वाले जैन मुनि माना है।^४ किन्तु मेरी दृष्टि में दाढ़ी-मूँछ के कारण नहीं अपितु कुच्चग (कूर्चक) रखने के कारण ही वे कूर्चक कहलाते होंगे। आचारांगचूर्ण में धम्मकुच्चग शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि यह धार्मिक उपकरण था। दाढ़ी-मूँछ धार्मिक उपकरण नहीं हो सकते हैं, अतः कूर्चक वे हैं जो प्रतिलेखन के हेतु कूर्चक (कुच्चग) रखते थे। पं० नाथूराम जी प्रेमी और प्रो० उपाध्ये ने उन्हें जो दाढ़ी-मूँछ रखने वाले जैन मुनि माना है—यह मेरी दृष्टि में भ्रान्त है। शायद उन्हें भी आचारांगचूर्ण का यह उल्लेख ज्ञात होता तो वे ऐसा निष्कर्ष निकालने की भूल नहीं करते। यह स्पष्ट है कि

१. आचारांग चूर्ण—पृ० ८२

२. आचारांग (शीलार्क टीका) आगमोदय समिति, पृ० १३५

३. जैनशिलालेख संग्रह भाग—२, अभिलेख क्रमांक, ९९, १०२, १०३

४. जैन इतिहास और साहित्य, पं० नाथूरामप्रेमी, द्वितीय संस्करण,

‘रजोहरण’ या ‘पिच्छी’ को जैन परम्परा में संयमोपकरण माना जाता है। मेरी दृष्टि में धम्मकुच्चग एक विशिष्ट प्रकार का प्रतिलेखन ही था, जो सजीव प्राणियों के पूँछ के बालों, रोमों या पंख के स्थान पर पटसन आदि प्रासुक वानस्पतिक पदार्थों के रेशों से बनाया जाता होगा। एक ही अभिलेख में कूर्चकों और यापनीयों के अलग-अलग उल्लेख से ऐसा लगता है कि बाह्यलिङ्ग में पिच्छी के प्रकार की भिन्नता के कारण ये अलग-अलग बने होंगे। पिच्छी के प्रकार-भेद के आधार पर जैन संघ में सम्प्रदाय भेद हुए हैं—जैसे—निष्पिच्छक, गोपिच्छक आदि। आचार्य हरिभद्र के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्नसूरि लिखते हैं कि काष्ठासंघ में चमरी गाय के बालों की पिच्छी, मूलसंघ और गोप्यसंघ (यापनीय) में मयूरपिच्छी और माथुरसंघ में किसी प्रकार की पिच्छी नहीं रखी जाती है।^१ बीस पच्चीस वर्ष पूर्व तक लेखक ने श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा के धर्म स्थानकों में इस प्रकार की पटसन की बनी हुई कूचियों का प्रतिलेखन के रूप में प्रयोग होते देखा है। पञ्चेन्द्रिय प्राणियों के बालों अथवा पक्षियों की पूँछों से बने रजोहरण और पिच्छी की अपेक्षा इसे अधिक निरवद्य एवं अल्पमूल्य का मानकर प्रयोग किया जाता होगा। अश्वबाल-गोपिच्छ भी क्रमशः छोड़े या चमरी गाय की पूँछ के बालों से बने प्रतिलेखन (पिच्छी) ही थे किन्तु ये बहुमूल्य एवं अहिंसक वृत्ति के प्रतिकूल थे तथा इनमें प्रतिलेखन हेतु आवश्यक सभी गुण पूर्णतः नहीं पाये जाते थे। यह स्पष्ट है कि अचेलक परम्परा में अश्व-पिच्छ, गोपिच्छ, मयूर-पिच्छ, गृद्धपिच्छ धारण किये जाते थे और इनके आधार पर उनमें सम्प्रदाय भेद भी था। श्वेताम्बर चूर्णिकारों या टीकाकारों ने इस सम्प्रदाय भेद को ध्यान में रखकर धम्मकुच्चग एवं अश्व बाल का जो बोटिकों के प्रसंग में उल्लेख कर दिया होगा, वह उनकी असावधानी का ही सूचक है। गुणरत्नसूरि ने षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में यापनीयों को स्पष्टतः मयूरपिच्छी रखने वाला बताया है। मेरी दृष्टि में यह सत्य ही है।

१. षड्दर्शनसमुच्चय टीका दिगम्बरा पुनर्नाम्न्यालिङ्गाः पाणिपात्राश्च । ते चतुर्धा काष्ठासं-मूलसंघ-माथुरसंघ-गोप्यसंघ भेदात् । काष्ठासंघे चमरी-बालैः पिच्छिका, मूलसंघे मायूरपिच्छैः पिच्छिका, माथुरसंघे मूलतोऽपि पिच्छिका नादृता, गोप्या मायूरपिच्छिकाः ।

हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय, चतुर्थोधिकारः का० ४४/२, पृ० १६१

भगवतीआराधना एवं मूलाचार के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें सामान्यतः न तो दिगम्बर सम्मत पिच्छी शब्द का उल्लेख है और न श्वेताम्बर सम्मत रजोहरण शब्द का उल्लेख है अपितु उसके स्थान पर उसमें प्रतिलेखन (पडिलेहण) शब्द का प्रयोग है। भगवती आराधना में टीकाकार अपराजित^१ भी मुख्यतः इसी शब्द का प्रयोग करते हैं।

इससे ऐसा फलित होता है कि प्रारंभ में यापनीयों में यह आग्रह नहीं रहा होगा कि यह प्रतिलेखन किस वस्तु का बना हुआ हो। मथुरा में मुनियों की या साध्वियों की जो प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं उनमें विविध आकार एवं प्रकार के प्रतिलेखन/रजोहरण/पिच्छी हैं। मेरी दृष्टि में आगे चलकर रजोहरण या पिच्छी के आकार एवं प्रकार को लेकर विवाद उत्पन्न हुए होंगे और प्रत्येक संप्रदाय या उपसंप्रदाय ने विशिष्ट आकार-प्रकार के एवं विशिष्ट वस्तु के बने हुए प्रतिलेखन/रजोहरण/पिच्छी ग्रहण करने का नियम बनाया होगा।

मथुरा के पश्चात् जो उत्कृष्ट जैन शिल्प खजुराहो में उपलब्ध होता है—उसमें अचेल मुनियों की प्रतिमाएँ भी हैं। उनके उपकरणों में लम्बे प्रतिलेखन अंकित हैं। यद्यपि वे मयूर-पिच्छ के भी हो सकते हैं किन्तु आकार में वे बैसे ही हैं जैसे कि वर्तमान में श्वेताम्बर स्थानकवासी मुनि रखते हैं। यह सब इस बात का सूचक है कि विशिष्ट प्रकार का रजोहरण या विशिष्ट आकार प्रकार की पिच्छी परवर्ती काल के आग्रह हैं।

भगवती आराधना और मूलाचार में जो हमें पिच्छी या रजोहरण के स्थान पर पडिलेहण/प्रतिलेखन का उल्लेख मिलता है, वह उस वस्तु के कार्य का सूचक है—विशिष्ट वस्तु या विशिष्ट आकार का सूचक नहीं है। आश्चर्य यह है कि दोनों ग्रन्थों में (मूल में) कहीं भी मयूर-पिच्छी का निर्देशन नहीं है। यद्यपि दोनों ही ग्रन्थों में प्रतिलेखन के पाँच गुण—धूलि एवं पसीने से अलिप्त रहना, मृदुता, सुकुमारता और लघुता (हल्कापन) माने गए। यह भी कहा गया है कि जिसे नेत्र में धुमाने से पीड़ा न हो ऐसे सूक्ष्म एवं हल्के प्रतिलेखन (पडिलेहण) ग्रहण करना चाहिए। इन दोनों ग्रन्थों के उपलब्ध उल्लेख से यह स्पष्ट है कि यापनीय प्रतिलेखन रखते थे, यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि वह किस वस्तु का था। मात्र तेरहवीं शती के गुणरत्नसूरि की षट्दर्शनसमुच्चय

१. भगवती आराधना, भाषा ९७ की विजयोदया टीका

टीका से यह स्पष्ट होता है कि वे मयूरपिच्छी रखते थे। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि भगवती आराधना के यापनीय टीकाकार अपराजित सूरि (८-९ वीं शती) 'पडिलेहण' का अर्थ सदैव ही प्रतिलेखन करते हैं।^१ ज्ञातव्य है कि अपराजित की सम्पूर्ण टीका में केवल एक-दो स्थानों पर ही पिच्छी शब्द का प्रयोग हुआ है।^२ जबकि मूलाचार के दिगम्बर टीकाकार वसुनन्दी (१२ वीं शती) पडिलेहण का अर्थ सदैव ही पिच्छी करते हैं।^३

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामान्यतया जैन परम्परा में और विशेष रूप से यापनीय परम्परा में भी प्रारम्भ में तो प्रतिलेखन, पिच्छी, रजोहरण के स्वरूप अर्थात् वह किस वस्तु का बना हुआ हो, उसका आकार-प्रकार क्या हो, इसे लेकर एकरूपता का अभाव ही रहा है—किन्तु कालक्रम में प्रत्येक सम्प्रदाय ने किन्हीं विशिष्ट आकार प्रकार की पिच्छी, रजोहरण रखना प्रारम्भ कर दिया। यापनीय परम्परा में ही मयूरपिच्छी का प्रचलन रहा हो इसमें वैमत्य का प्रश्न नहीं उठता है, क्योंकि भगवती आराधना और मूलाचार में प्रतिलेखन, पिच्छी के जो गुण बताये गये हैं, वे मयूरपिच्छ में पाये जाते हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्राचीन श्वेताम्बर आगमों में भी रजोहरण के रूप में मयूरपिच्छ के ग्रहण का कोई विरोध नहीं है। निशीथ-चूर्ण (गा० ८२२) में स्पष्टतः आपवादिक स्थिति में मयूरपिच्छी रखने का उल्लेख है। प्रारम्भ में श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित काष्ठदण्ड के रजोहरण निषिद्धार्थ छेदसूत्रों में रजोहरण में काष्ठ-दण्ड लगाने का न केवल स्पष्ट निषेध है अपितु जो उसका प्रयोग करता है, उसे दण्ड देने की भी व्यवस्था है।^४

पात्र (कभण्डलु)

यापनीय परम्परा को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ने पाणितल-भोजी कहा है। इसका उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि आचारांग चूर्ण में श्वेताम्बर आचार्यों ने उनके उपकरणों

१. मूलाचार १०।१९, भगवती आराधना, गाथा ९८

२. भगवती आराधना, विजयोदया टीका-गाथा ९८

३. मूलाचार टीका (वसुनन्दि) १०।१९

४. जे भिक्खु दारुदंठयं पायपुंछणं करेति करे तं वा सातिज्जति—

की सूची में कुण्डिका का उल्लेख किया है। यापनीय ग्रन्थ मूलाचार में शौचोपधि के रूप में पात्र का उल्लेख हुआ है। इस सब से यही फलित होता है कि यापनीय भोजन तो हाथ में ही ग्रहण करते थे, किन्तु शौचादि हेतु जल रखने के लिए पात्र अवश्य रखते थे। यह परम्परा आज भी दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित है। यहाँ यह विचारणीय है कि पात्र रखने की परम्परा का विकास महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में किस प्रकार हुआ। पार्श्व की परम्परा में पात्र रखा जाता था या नहीं? इस प्रश्न का समाधान उत्तराध्ययन की केशी—गौतम चर्चा में अनुपलब्ध है, यद्यपि पार्श्वपत्तियों के जो उल्लेख अन्यत्र उपलब्ध हैं उनसे ऐसा लगता है कि उनमें पात्र रखे जाने की परम्परा रही होगी। महावीर के सम्बन्ध में श्वेताम्बर साहित्य में जो उल्लेख उपलब्ध हैं—उनसे निम्न फलित निकलते हैं—

(१) प्रव्रज्या ग्रहण करते समय महावीर ने मात्र एक वस्त्र ग्रहण किया था, पात्र रजोहरण (पिच्छे) आदि अन्य उपकरण नहीं लिए थे। यदि लिये होते तो आचारांग में अवश्य उनका उल्लेख होता।

(२) चूर्ण साहित्य से यह भी स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में महावीर गृही-पात्र में भोजन कर लेते थे, किन्तु लगभग आठ मास पश्चात् उन्होंने उसका भी त्याग कर दिया और वे पाणि-तल भोजी हो गये। चूर्ण में उल्लेखित इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि—महावीर ने दीक्षित होते समय पात्र नहीं रखा था, दूसरे यह कि पहले वे गृही-पात्र में भोजन करते थे और बाद में पाणितल भोजी हुए।^१

(३) महावीर के श्रमण प्रारम्भ में पात्र रखते थे या नहीं—इसका निश्चयात्मक उत्तर देना कठिन है। आचारांग जैसे प्राचीन स्तर के ग्रन्थ में भी दोनों तरह के सन्दर्भ उपलब्ध हैं, आचारांग में यह भी कहा गया है कि वर्षा आ जाने पर भिक्षु अपने भोजन को कांख में दबाले या फिर हाथों से उसे सम्पुट कर ले। इससे फलित होता है कि वे पात्र नहीं रखते थे। किन्तु आगे इसी ग्रन्थ में पात्र रखने के भी उल्लेख हैं। मात्र यही नहीं, कैसा पात्र लेना और कैसा नहीं लेना, इसका भी उल्लेख है।

श्वेताम्बर उल्लेखों के अनुसार आर्यरक्षित तक मात्र एक ही पात्र

१. पंच अभिग्गहा गहिता, तं जहा... पाणीसु भोत्तव्व ।...तेण पढम पारणगे परपत्ते भुत्ते तेन परं पाणिपत्तं ।—आवश्यकचूर्ण पृ० २७९

रखा जाता था। भोजन, जल तथा शौच के लिए उसी का उपयोग किया जाता था, उन्होंने सर्वप्रथम मात्रक के नाम से एक और पात्र रखने की अनुमति दी। मात्रक, जैसा कि आज समझा जाता है—मल-मूत्र विसर्जन का या शौच का पात्र था—यह प्रश्न विचारणीय है। यदि मह मल-मूत्र विसर्जन का पात्र था तो सर्व प्रथम अतिवृद्ध और रोगी भिक्षुओं के लिए इसका प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा।

पात्र की आवश्यकता शौचोपधि के रूप में तो प्रारम्भ से ही रही होगी—क्योंकि सचित्त जल के प्रयोग का निषेध तो जैन संघ में प्रारम्भ से ही था, अतः जैन श्रमण नदी, जलाशय आदि के आसपास मल-निवृत्ति करके भी उससे शुद्धि कर नहीं सकते थे। यह भी कुछ अटपटा सा लगता है कि वे मल-मूत्र विसर्जन के अंगों की शुद्धि किये बिना रहते होंगे। सम्भव है कि मल-विसर्जन के उपरान्त स्वमूत्र या सूखे पत्ते आदि से मल-शुद्धि कर लेते होंगे। कुछ समय पूर्वतक स्थानकवासी परम्परा में रात्रि में जल नहीं रखते थे—रात्रि में मल विसर्जन की स्थिति होने पर वे स्वमूत्र या जीर्णवस्त्र खण्ड से ही मल शुद्धि करते थे। पश्चिमी देशों में आज भी कागज से ही मल द्वार की शुद्धि की जाती है। वे लोग इस हेतु जल का उपयोग नहीं करते हैं। किन्तु भारत में प्राचीन काल से ही मल-द्वार की शुद्धि जल से करने की परम्परा रही है। 'मूलाचारप्रदीप' नामक ग्रन्थ में झरने आदि के जल को प्रासुक मानकर उससे मल शुद्धि करने का उल्लेख है। अतः चाहे आहार के लिए पात्र न रखा जाता हो किन्तु शौच के लिए अवश्य रखा जाता होगा। फिर भी स्पष्ट साक्ष्यों के अभाव में पात्र के सम्बन्ध में निग्रन्थ संघ की प्रारम्भिक स्थिति क्या थी यह कहना कठिन है। यद्यपि सभी श्वेताम्बर एवं यापनीय आगमों में पात्र, सम्बन्धी उल्लेख हैं, किन्तु यापनीय परम्परा में उसका उपयोग शौच के लिए ही किया जाता था, भिक्षा के लिए नहीं। यापनीय ग्रन्थों में उसे शौचोपधि ही कहा गया है।

पात्र शौचोपधि के रूप में ग्राह्य था, किन्तु यापनीय आगम भगवती आराधना में ग्लान, अति वृद्ध या रोगी मुनियों को पात्र में आहार लाकर देने की प्रथा रही है। मथुरा में लगभग प्रथम शती का एक ऐसे मुनि का अंकन मिलता है जो नग्न है, किन्तु एक हाथ में प्रतिलेखन (पिच्छी/ रजोहरण) और दूसरे हाथ में क्षोली में पात्र लिए हुए हैं। यह प्रतिमा

यापनीयों और श्वेताम्बरों के अलग-अलग होने के पूर्व की है और ईस्वी पूर्व उत्तर भारत में निग्रन्थ संघ की क्या स्थिति थी, उसकी सूचक है। इससे भगवती आराधना में वृद्ध या रोगी साधु को आहारादि लाकर देने की जो बात है उसको भी पुष्टि हो जाती है।

पंचमहाव्रत और उनकी भावनाएँ—पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का उल्लेख श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय तीनों परम्पराओं में पाया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा में आचारांग के द्वितीय श्रुत स्कन्ध, समवायांग, आवश्यकचूर्णि एवं आचारांगचूर्णि में अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाओं के रूप में ईर्या-समिति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, आदान-भाण्ड निक्षेपण समिति, और आलोकित पान-भोजन ऐसी पाँच भावनाओं का उल्लेख हुआ है।^१ इन्हीं पाँच भावनाओं का उल्लेख दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ तथा कुन्दकुन्द के चरित्र-पाहुड में भी हुआ है।^२ श्वेताम्बर परम्परा के उपलब्ध प्रश्नव्याकरणसूत्र, जो कि परवर्ती है और लगभग छठी सदी की रचना है, में आलोकित पान-भोजन का उल्लेख नहीं है, उसके स्थान पर एषणा-समिति का उल्लेख है। इस सन्दर्भ में यापनीय परम्परा की स्थिति भिन्न है। इसके ग्रन्थ मूलाचार एवं भगवती आराधना में आचारांग आदि श्वेताम्बर परम्परा के ग्रंथों में उल्लिखित अथवा कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टोका में उल्लिखित वचनगुप्ति का अभाव है और उसके स्थान पर प्रश्नव्याकरण की एषणा समिति को मान्य किया गया है। यहाँ मूलाचार और भगवती आराधना, तत्त्वार्थभाष्य का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं।^३ यह बात हम पूर्व में भी कह चुके हैं कि अनेक सन्दर्भों में यापनीय आचार्य तत्त्वार्थ-भाष्य का अनुसरण करते हैं। आश्चर्य यही है कि जहाँ कुन्दकुन्द इस प्रसंग में आचारांग, समवायांग आदि श्वेताम्बर आगमों का अनुसरण कर रहे हैं वहाँ यापनीय परवर्ती आगम प्रश्नव्याकरण एवं तत्त्वार्थभाष्य का

१. (i) आचारांग २।१५
(ii) आवश्यकचूर्णि-प्रतिक्रमण अध्ययन १
(iii) आचारांगचूर्णि-मू० पा० टि० पृ० २७९
२. (i) तत्त्वार्थसूत्र-७।३
(ii) चरित्तपाहुड ३१
३. (i) मूलाचार ५।१४०
(ii) भगवती आराधना १२००

अनुसरण करके अहिंसा महाव्रत की भावना के रूप में वचनगुप्ति के स्थान पर एषणा समिति को स्थान देते हैं, ऐसा लगता है कि जब निर्ग्रन्थ संघ में पात्र में भिक्षा ग्रहण करने की परम्परा प्रचलित हुई होगी तो उसके परिणामस्वरूप अहिंसाव्रत की भावना में से वचनगुप्ति को हटाकर उसके स्थान पर एषणा समिति को रख दिया गया होगा।

जहाँ तक द्वितीय महाव्रत की भावनाओं का प्रश्न है क्रमभेद को छोड़कर सामान्यतया आचारांग आदि सभी आगमों, चूर्णियों तथा तत्त्वार्थसूत्र में एकरूपता ही पायी जाती है। यापनीय ग्रन्थ मूलाचार, भगवती आराधना में भी आगम, भाष्य और चूर्णियों का ही अनुसरण पाया जाता है। सर्वत्र क्रोध, भय, लोभ और हास्य के वर्जन के साथ अनुवीची भाषण को सत्यानुवर्ती भावना कहा गया है। इस प्रसंग में मात्र कुन्दकुन्द ऐसे हैं जो चरित्रपाहुड में अनुवीची भाषण के स्थान पर मोह त्याग का उल्लेख करते हैं। अतः इस सन्दर्भ में हम यही कह सकते हैं कि द्वितीय महाव्रत की पाँच भावनाओं में श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा में एकरूपता है जबकि कुन्दकुन्द के अनुवीची भाषण और मोहत्याग को लेकर उनमें मतभेद है।

जहाँ तक तृतीय महाव्रत की भावनाओं का प्रश्न है श्वेताम्बर परंपरा में आचारांगसूत्र में जिन पाँच भावनाओं का उल्लेख है उनका श्वेताम्बर परम्परा के ही आगम समवायांग, आवश्यकचूर्ण और आचारांग-चूर्ण से मूल भावना को एकरूपता होते हुए भी आंशिक रूप में अन्तर है। जहाँ आचारांग में प्रथम भावना विचारपूर्वक सीमित स्थान की याचना करना है वहाँ समवायांग में स्थान की बार-बार याचना करना है। इसी प्रकार आचारांग में जहाँ द्वितीय भावना अनुज्ञापित पान-भोजन-भोजी है वहाँ समवायांग, आचारांगचूर्ण और आवश्यकचूर्ण में अवग्रह की सीमा जानना या अवग्रह (स्थान) की याचना करना है। आचारांग में तीसरी भावना सीमा और समय के उल्लेखपूर्वक स्थान की याचना करना है। यद्यपि यह भावना समवायांग, आचारांगचूर्ण, आदि में समान रूप से पायी जाती है। आचारांग में चौथी भावना स्थान के लिए बार-बार याचना करना है। जबकि समवायांग में उसे सार्धमियों के स्थान का भी उनकी आज्ञापूर्वक उपयोग करना बताया गया है, किन्तु आचारांगचूर्ण एवं आवश्यकचूर्ण में इसके स्थान पर गुरु की आज्ञापूर्वक आहार-पानी का उपयोग करना कहा गया है। पाँचवीं

भावना-विचारपूर्वक साधर्मियों से सीमित स्थान की याचना करना है। आचारांगचूर्ण और आवश्यकचूर्ण में इसका इसी रूप में उल्लेख है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में भी आचारांग से प्रारम्भ करके समवायंग के काल तक इन भावनाओं में परिवर्तन हुआ है और इनके क्रम और अर्थ में भी अन्तर आया है। आचारांग का अनुज्ञापित पान-भोजन आगे चलकर गुरु की आज्ञापूर्वक पान-भोजन बन गया। जब उपाश्रयों में भोजन करने की परम्परा शुरू हुई होगी तभी इसके अर्थ में परिवर्तन आया होगा। श्वेताम्बर परम्परा में प्रश्न-व्याकरण के काल में आकर तो तृतीय महाव्रत की पाँचों भावनाओं के स्वरूप में परिवर्तन आ गया। उसमें निर्दोष उपाश्रय, निर्दोष संस्तारक, शय्या परिकर्मवर्जन, अनुज्ञात पान-भोजन और साधर्म विनय इन पाँच भावनाओं का उल्लेख मिलता है।^१ यहाँ याचना शब्द के स्थान पर निर्दोषता शब्द पर अधिक बल दिया गया। निर्दोष संस्तारक और शय्या परिकर्मवर्जन में ये-दो नई भावनाएँ जुड़ीं। अन्य तीन भावनाओं के अर्थ में भी अन्तर आया। तत्त्वार्थसूत्र (सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ) में इनके स्थान पर शून्यागारवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भिक्षाशुद्धि और सधर्म अविस्वादि दिये गए हैं। ज्ञानव्य है कि जहाँ तत्त्वार्थभाष्य में क्रम-भेद को छोड़कर इस महाव्रत की पाँचों वही भावनाएँ हैं जिनका उल्लेख श्वेताम्बर आगमों में पाया जाता है वहीं इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा के तत्त्वार्थ के सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में इन्हें भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने चरित्तपाहुड में इन्हीं का अनुसरण किया है। श्वेताम्बर परम्परा में भी प्रश्नव्याकरण के उपलब्ध परवर्ती संस्करण में इन्हें किंचित परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया गया—जैसे शून्यागारवास के स्थान पर निर्दोष उपाश्रय तथा परोपरोधाकरण के स्थान पर शय्यापरिकर्मवर्जन है। यहाँ निर्दोष संस्तारक और शय्यापरिकर्मवर्जन बिलकुल अलग है। भिक्षाशुद्धि और सधर्मअविस्वादि के स्थान पर अनुज्ञात भक्तपान आदि है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीसरे व्रत की भावनाओं के सन्दर्भ में एक ही सम्प्रदाय में भी भिन्न-भिन्न परम्पराएँ पायी जाती हैं। यदि इसी सन्दर्भ में यापनीय दृष्टिकोण परविचार किया जाय तो ऐसा लगता है कि यापनीय दृष्टिकोण किंचित रूप से आगम का अनुसरण करता है और किंचित रूप में भिन्न भी है। उसके अनुसार याचनापूर्वक स्थान आदि का ग्रहण समनोज्ञ व्यक्तियों

१. प्रश्न व्याकरण-तृतीय संवर द्वार

के साथ अनन्यभाव से रहना, व्यक्त वस्तु का ही ग्रहण करना और साधर्मि के उपकरणों का विचारपूर्वक सेवन करना है। यहाँ स्पष्ट है कि मूलाचार और भगवती आराधना में किंचित् परिवर्तन के साथ आगमिक परम्परा का ही अनुसरण हुआ है। ज्ञातव्य है कि मूलाचार और भगवती आराधना जो एक ही परम्परा के ग्रन्थ है, में भी इन पाँचों भावनाओं को लेकर परस्पर अन्तर है।

जहाँ तक चतुर्थ महाव्रत की भावनाओं का प्रश्न है आचारांग, समवायांग, तत्त्वार्थभाष्य, मूलाचार, भगवती आराधना और चरित्तपाहुड इन सभी में वे समान रूप से ही वर्णित हैं केवल शाब्दिक भिन्नता को छोड़कर उनमें कहीं भी भावगत भिन्नता नहीं है, यद्यपि क्रम में किंचित् अन्तर भी पाया जाता है। जहाँ आचारांग में स्त्रीकथा निषेध को प्रथम स्थान दिया गया है वहाँ मूलाचार में उसका स्थान चौथा है। इसी प्रकार जहाँ स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से संसक्त शय्या और आसन का निषेध आचारांग में पाँचवें स्थान पर है वहीं मूलाचार और भगवती आराधना में वह तीसरे स्थान पर है। इस प्रकार क्रम सम्बन्धी अन्तर को छोड़कर कहीं कोई विशेष अन्तर पारलक्षित नहीं होता। यहाँ भी यापनीय परम्परा ने आगमिक परम्परा का ही अनुसरण किया है।

जहाँ तक पञ्चम महाव्रत का प्रश्न है आचारांग, समवायांग, तत्त्वार्थसूत्र मूलाचार एवं भगवती आराधना में इस व्रत की भावनाओं के नामों में कोई अन्तर नहीं है। सभी पाँच इन्द्रियों के विषयों के सेवन के निषेध को ही परिग्रह व्रत की पाँच भावनाओं के रूप में स्वीकार किया गया। यहाँ भी आगमिक एवं यापनीय परम्परा में कालक्रम का अन्तर है। आचारांग में क्रम है—मनोज्ञ, शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के प्रति राग-द्वेष का निषेध। जबकि—मूलाचार और भगवती आराधना में—शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध यह क्रम दिया गया है। मूलाचार और भगवती आराधना का यह क्रम अन्य दर्शनों में पञ्चीकरण में पंच-महाभूतों के दिये गए क्रम के अनुरूप ही है। जबकि आचारांग आदि में यह क्रम इस रूप में उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि पंचमहाव्रतों और उनकी पाँच-पाँच भावनाओं को लेकर आगमिक परम्परा और मूलाचार तथा भगवती आराधना की यापनीय परम्परा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। मात्र क्रम आदि का भेद है जो एक ही परम्परा के ग्रन्थों में भी पाया जाता है। छठे व्रत के रूप में आगमिक परम्परा में

जिस रात्रि-भोजन का निषेध है उसका भी व्रत, अणुव्रत के रूप में उल्लेख यापनीय परम्परा में मिलता है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे—

रात्रि-भोजन-निषेध-छठाव्रत

दिगम्बर, श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं में जैनाचार की अपेक्षा से विवाद का मुख्य विषय तो वस्त्र-पात्र के ग्रहण को लेकर ही रहा जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं, साथ ही यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि इस संबंध में इन तीनों परम्पराओं की मूलभूत मान्यताओं में क्या अन्तर था ? जहाँ तक पंचमहाव्रतों और रात्रि-भोजन-निषेध नामक छठे व्रत का प्रश्न है पंच महाव्रतों का सामान्य विवरण सभी परम्पराओं में समान है, उनके नाम एवं क्रम भी वही हैं। श्वेताम्बर परम्परा में सर्व-प्रथम आचारांग में इन पाँच महाव्रतों और उनकी पाँच-पाँच भावनाओं का उल्लेख मिलता है। भावनाओं का यह उल्लेख उसके द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के अंतिम अध्याय में है। उसमें रात्रि-भोजन निषेध का स्वतन्त्र उल्लेख व्रत के रूप में नहीं है किन्तु सूत्रकृताङ्ग में उपलब्ध वीरस्तुति से यह ज्ञात होता है कि महावीर ने जिस प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्य पर बल देकर उसे स्वतन्त्र स्थान दिया था उसी प्रकार उन्होंने रात्रि-भोजन निषेध पर भी विशेष बल देकर उसको भी स्वतन्त्र स्थान दिया होगा।^१ यही कारण है कि दशवैकालिक आदि आगमों में रात्रि-भोजन निषेध को एक स्वतन्त्र व्रत के रूप में ही गिनाया गया है।^२ इस सम्बन्ध में जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है उसके ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण करते हुए पाँच महाव्रतों का ही विवेचन उपलब्ध होता है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में प्रथम महाव्रत को आलोकित पान भोजन नामक भावना के रूप में रात्रि-भोजन निषेध का उल्लेख है परन्तु तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं और अन्य दिगम्बर ग्रन्थों में उसकी गणना स्वतन्त्र व्रत के रूप में नहीं की गई है। यहाँ तक कि अनेक सन्दर्भों में आगमिक परम्परा का अनुसरण करने वाले कुन्दकुन्द ने भी रात्रि-भोजन-निषेध का छठे व्रत के रूप में कहीं उल्लेख नहीं किया है। श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य में दशवैकालिक आदि से प्रारम्भ करके परवर्ती अनेक ग्रन्थों में रात्रि-भोजन-निषेध का स्वतन्त्र व्रत के रूप में उल्लेख हुआ है और उसे छठा व्रत कहा गया है। जबकि पूज्यपाद अकलंक, विद्यानन्द आदि दिगम्बर

१. से वारिया इत्थि सराह मत्त ।—सूत्रकृतांग १।६।२८

२. अहावरे छट्ठे भंते वए राईभोयणाओ वेरमणं सव्वं**** । दशवैकालिक ४

आचार्यों ने अपना अपना तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में स्पष्टतया इस बात का निषेध किया है कि रात्रि-भोजन-विरमण छठा व्रत है।^१ इससे यह भी फलित होता है कि इन आचार्यों के समक्ष एक ऐसी परम्परा थी जो रात्रि-भोजन निषेध को स्वतन्त्र व्रत या अनुव्रत मानती थी, जिसका उन्हें अपनी कृतियों में खण्डन करना पड़ा। स्पष्ट है कि उस समय श्वेताम्बर परम्परा और यापनीय परम्परा उसे छठा व्रत मानती थी।

इसी संदर्भ में यदि हम यापनीय ग्रन्थों को देखते हैं तो मूलाचार और भगवती आराधना में रात्रि-भोजन का स्वतन्त्र व्रत के रूप में उल्लेख नहीं है परन्तु मूलाचार में इन व्रतों की रक्षा के लिए 'रात्रिभोजन-निवृत्ति' का विधान किया गया है।^२ फिर भी पाँच महाव्रतों की चर्चा के साथ इसका उल्लेख होने से यह आगमिक मान्यता के निकट ही है। मात्र यही नहीं भगवती आराधना की टीका, प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी, छेदपिण्ड शास्त्र आदि यापनीय ग्रन्थों में रात्रि भोजन निषेध को स्पष्टतः छठा व्रत कहा गया जबकि दिगम्बर परम्परा में रात्रि-भोजन निषेध को न तो स्वतन्त्र व्रत ही कहा गया है और न उसको गणना मूलगुणों में ही हुई है अपितु उसे एकभक्त के अन्तर्गत अथवा आलोकित पान भोजन के अन्तर्गत ही समाविष्ट मान लिया गया है। जहाँ तक श्वेताम्बर परम्परा का प्रश्न है, उसमें आचारांग और तत्त्वार्थभाष्य को छोड़कर दशवैकालिक आदि अन्य ग्रंथों में रात्रि-भोजन निषेध को प्रायः छठा व्रत कहा गया है।

इस प्रकार जहाँ श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय ने रात्रि-भोजन निषेध को छठा व्रत कहा, वहाँ यापनीय सम्प्रदाय से विकसित कृष्ठासंध में रात्रि-भोजन निषेध को छठा अनुव्रत स्वीकार किया गया किन्तु दिगम्बर परम्परा की तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में उसे स्वतन्त्र व्रत न मानकर उसका समावेश प्रथम महाव्रत की आलोकित भोजन-पान नामक भावना

१. (अ) ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तद्विहोप संख्यातव्यम् ।
नभावनास्वन्तर्भावात् । —सर्वार्थसिद्धि ७।१

(ब) तत्त्वार्थवार्तिक—अकलंक, ७।१ की टीका

(स) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—विद्वानन्द ७।१ की टीका

२. तेसिं श्वेव वदानं रक्खट्ठं रादिभोयण नियती ।

—मूलाचार (माणिकचन्द्र) ग्रन्थमाला ५।९८

में किया गया है। ज्ञातव्य है कि सर्वप्रथम दशवैकालिकसूत्र में ही रात्रि भोजन निषेध को स्पष्टतः छठा व्रत कहा गया है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह परम्परा अति प्राचीन है। हम पूर्व में ही यह बता चुके हैं कि पार्श्वनाथ की परम्परा में महावीर द्वारा किये गये आचार संबंधी प्रमुख संशोधनों में एक संशोधन रात्रि-भोजन निषेध का स्पष्ट विधान करना भी था। श्वेताम्बर आचार्य जिनदास गणि की दशवैकालिक चूर्णि और यापनीय आचार्य अपराजितसूरि की भगवती आराधना की विजयोदया टीका में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया गया है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के तीर्थ में रात्रि-भोजन-विरमण को छठा व्रत माना जाता है और पाँच महाव्रतों के पालनार्थ ही रात्रि-भोजन-विरमण नामक छठे व्रत का विधान किया जाता है। ज्ञातव्य है कि जहाँ दिगम्बर परम्परा रात्रि-भोजन निषेध को अहिंसा महाव्रत की भावनाओं में समाहितकर मात्र उसे अहिंसा महाव्रत के रक्षण के लिए ही आवश्यक मानती है वहाँ श्वेताम्बर और यापनीय परम्परायें पाँचों महाव्रतों के रक्षणार्थ रात्रि-भोजन का निषेध करती हैं। जहाँ दिगम्बर परम्परा उसे प्रथम महाव्रत के आलोकित भोजन पान में अन्तर्भुक्त मानती है, वहाँ श्वेताम्बर और यापनीय परम्परायें उसे एक स्वतन्त्र व्रत भी मानती हैं।

इस संदर्भ में श्वेताम्बर यापनीय काष्ठासंघीय और दिगम्बर परम्पराओं में जो-जो सूक्ष्म अन्तर हैं उन्हें भी हमें समझ लेना चाहिए। जहाँ श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा उसे छठा व्रत कहती हैं, वहाँ काष्ठासंघीय उसे छठा अणुव्रत कहते हैं किन्तु दिगम्बर परम्परा उसे न तो व्रत कहती है और न अणुव्रत, अपितु उसका अन्तर्भाव प्रथम महाव्रत की आलोकित भोजन-पान नामक भावना में करती है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक अध्यायन में तथा समवायांग, मूलाचार और तत्त्वार्थ भाष्य में प्रथम महाव्रत की भावनाओं में आलोकित भोजन-पान का उल्लेख है, किन्तु प्रश्नव्याकरण में इसका उल्लेख नहीं है। मूलाचार

१. (अ) आचारांग, २।१५
- (ब) समवायांग २५वां समवाय
- (स) मूलाचार, ५।१४०
- (द) तत्त्वार्थभाष्य, ७।३

में भी प्रथम महाव्रत की भावनाओं में वचनगुप्ति का उल्लेख न होकर आलोकित पान भोजन का ही उल्लेख हुआ है।

जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि सर्वप्रथम दशवैकालिक के चतुर्थ अध्याय में 'अहावरे छट्ठे भन्ते वये रायभोअण विरमण'^१ कहकर रात्रि-भोजन निषेध को छठा व्रत कहा गया है। दशवैकालिक की चूर्णि में कहा गया है कि जिन-प्रवचन में पाँच महाव्रत ही प्रसिद्ध हैं तो फिर महाव्रतों की चर्चा के प्रसंग में रात्रि-भोजन का वर्णन क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि 'प्रथम और अन्तिम जिनवरों के काल में पुरुषों का स्वभाव क्रमशः ऋजुजड़ और वक्रजड़ होने के कारण पाँच महाव्रतों के बाद छठे व्रत के रूप में रात्रि-भोजन-निषेध का अलग से विवेचन किया जाता है और उसे महाव्रत के समान ही माना जाता है। जबकि मध्यकाल के तीर्थंकरों के काल में इसे उत्तर गुणों में समाविष्ट किया जाता है। यहाँ—'मह्व्वयमिव मन्नतां'^२ यह कथन विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इसी की पुष्टि अपराजितसूरि ने भगवती-आराधना की विजयोदया टीका में की है। वे कहते हैं कि—'प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के काल में पाँच महाव्रत और छठा रात्रि-भोजन विरमणव्रत होता है'^३। पाँच महाव्रतों के पालन के लिए ही रात्रि भोजन विरमणव्रत का विधान किया जाता है। यह दृष्टिकोण भगवती आराधना की गाथा ११७९ और ११८० में तथा मूलाचार की गाथा २९५ और २९६ में समानरूप से उपलब्ध है। दोनों की गाथाएँ शब्दशः समान हैं। इससे स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध में भगवती आराधना और मूलाचार का दृष्टिकोण वही है जो कि दशवैकालिकसूत्र और उसके चूर्णिकार का है। रात्रि-भोजन त्याग के अभाव में पाँचों महाव्रतों का किस प्रकार खण्डन होता है—इस सम्बन्ध में भगवती आराधना और श्वेताम्बर आगमों के टीकाकारों का दृष्टिकोण समान ही है। भगवती आराधना और उसकी विजयोदया टीका में कहा गया है—'यदि मुनि रात्रि में भिक्षा के लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवों का घात करता है, क्योंकि रात्रि में उनको देख सकना कठिन है।

१. दशवैकालिक अध्याय, ४/६

२. दशवैकालिक अगस्त्यसिंहचूर्णि (प्राकृतटेक्स्ट सीसाइटी) पृ० ८६

३. भगवती आराधना भाग १ (पं० कैलाशचंद्र) गाथा ४२३ की टीका पृ० ३३०

रात्रि में देनेवाले के आने का मार्ग, उसके अन्न रखने का स्थान, अपने उच्छिष्ट भोजन के गिरने का स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा नहीं—ग्रह सब भिक्षु कैसे देख सकता है ? दिन में भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवों का परिहार रात्रि में कैसे कर सकता है ? करछुल, अथवा देने वाले का हाथ अथवा पात्र को देखे बिना कैसे आहार शोधन कर सकता है ? इन सबकी सम्यक् रूप से परीक्षा किये बिना पद विभागी एषणा समिति की आलोचना न करने पर साधु का व्रत कैसे रह सकता है ? दान का स्वामो सोया हुआ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहार को किसी अन्य के हाथ से लेने पर अदत्तादान (बिना दो हुई वस्तु का ग्रहण) कहलायेगा । किसी भाजन में दिन में लाकर रखे और रात्रि में भोजन करे तो अपरिग्रह का लोप होगा, किन्तु रात्रि-भोजन का त्याग करने से सब व्रत सम्पूर्ण रहते हैं ।^१

दशवैकालिक में रात्रि-भोजन निषेध की चर्चा करते हुए कहा गया है कि "सभी बुद्धों (तीर्थंकरों) ने एक समय भोजन को लज्जायुक्त वृत्ति और नित्य तप कर्म कहा है । जो व्रस और स्थावर अतिसूक्ष्म प्राणी हैं उन्हें रात्रि में नहीं देख पाने के कारण मुनि आहार गवेषणा कैसे कर सकता है ? उदक से आर्द्र बीजों से संसक्त आहार से या पृथ्वी पर रहे हुए सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा से दिन में ही बचा जा सकता है, रात्रि में नहीं । अतः रात्रि में भिक्षाचर्या कैसे की जा सकती है ? इन्हीं दोषों को देखकर ज्ञातपुत्र महावीर ने यह कहा है कि निर्ग्रन्थ सब प्रकार का आहार रात्रि में नहीं करता है । रात्रि में भोजन से न केवल प्राणियों की हिंसा होती है अपितु उससे अन्य व्रत भी भंग होते हैं । यथा—यदि रात्रि में भिक्षाटन करने जायेगा तो अन्धकार हो जाने से निर्लज्जता भी बढ़ सकती है, फलतः मैथुनादि दाषों का प्रसंग भी उपस्थित होना सम्भव है । कभी-कभी स्वार्थसिद्धि के लिए असत्य का प्रयोग भी कर सकता है । अदत्तादान और परिग्रह का भाव भी रात्रि में गृहस्थों के घरों में जाने से हो सकता है, अतः रात्रि में आहार-विहार से संयम विराधना के अन्तर्गत ये सब दोष उत्पन्न हो सकते हैं^२ ।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि रात्रि-भोजन से सभी महाव्रत भंग होते हैं, इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर और यापनीयों

१. भगवती आराधना—गाथा ११७९-११८० की टीका ।

२. दशवैकालिक, ६/२३-२६

का दृष्टिकोण समान ही था। श्वेताम्बर परम्परा में यह प्रश्न भी उठाया गया था कि रात्रि-भोजन मूलगुण है अथवा उत्तरगुण है। दश-वैकालिक नियुक्ति^२ में रात्रि-भोजन विरमण को व्रतषटक् में सम्मिलित किया गया है और यह माना गया कि रात्रि-भोजन विरमण मूलगुण नहीं है किन्तु मूलगुणों की रक्षा के लिए आवश्यक होने से उसका प्रतिपादन मूलगुणों के साथ ही किया गया है। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में मध्य-वर्ती तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए रात्रि-भोजन विरमण उत्तरगुण होता है, जबकि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर श्रमणों के लिए वह मूलगुण होता है^३। रात्रि-भोजन विरमण के साथ एक समय भोजन का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। दशम्बर और यायनीय परम्परा के प्रश्नों में एक समय भोजन को मूलगुण माना है। श्वेताम्बर मान्य दशवैकालिक (६।२३) भी स्पष्ट रूप से तो एक समय भोजन का ही विधान करता है। परवर्ती श्वेताम्बर परम्परा में जो सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के पूर्व तक पूरे दिन भोजन ग्रहण करने की अनुज्ञा परिलक्षित होती है, वह भी अपवाद मार्ग के रूप में ही मान्य हुई थी, किन्तु आज वह सामान्य नियम बन गई है।

न केवल जैन परम्परा अपितु बौद्ध और वैदिक परम्परायें भी रात्रि भोजन का निषेध करती हैं तथा भिक्षु के दिन में भी एक ही समय भोजन का प्रतिपादन करती हैं। उनमें भिक्षु के लिए 'विकाल' भोजन अर्थात् मध्यकाल के पश्चात् भोजन करना निषिद्ध है।

बौद्ध परम्परा में भिक्षुओं के लिए विकाल भोजन एवं रात्रि-भोजन को त्याज्य बताया गया है। मज्झिमनिकाय (कीटागिरिसुत्त ७०) में बुद्ध कहते हैं—हे भिक्षुओ ! मैंने रात्रि-भोजन को छोड़ दिया है, उससे मेरे शरीर में व्याधि कम हो गई है, जाड्य कम हो गया है, शरीर में बल आया है, चित्त को शान्ति मिली है। हे भिक्षुओं ! तुम भी ऐसा ही आचरण रखो। यदि तुम रात्रि में भोजन करना छोड़ दोगे तो तुम्हारे शरीर में व्याधि कम होगी, जाड्य कम होगा, शरीर में बल आयेगा और तुम्हारे चित्त को शान्ति मिलेगी। बौद्ध परम्परा में दिन के बारह बजे के पश्चात् से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व तक का समय 'विकाल' माना जाता है। उस समय के बीच भोजन करना बौद्ध भिक्षु के लिए वर्जित है।

सुत्तनिपात में कहा गया है कि रात्रि के बीत जाने पर ही भिक्षु भिक्षा के लिए ग्राम में प्रवेश करे। वह न तो किसी का निमन्त्रण स्वी-

कार करे और न किसी के द्वारा सम्मुख लाये हुए भोजन को ही स्वीकार करे। पुनः सुत्तनिपात (२५।२६) में ही पंचशीलों को चर्चा के साथ-साथ षष्ठशील के रूप में रात्रि-भोजन का निषेध करते हुए कहा गया है कि भिक्षु रात्रि में विकाल-भोजन न करे। इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार जैन-परम्परा में पाँच महाव्रतों के साथ छठे व्रत के रूप में रात्रि-भोजन का निषेध किया गया था उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में पंचशीलों के साथ षष्ठशील के रूप में रात्रि-भोजन का निषेध किया गया था।

जैन और बौद्ध परम्पराओं के समान ही वैदिक (ब्राह्मणीय) परम्परा में भी संन्यासी के लिए रात्रि-भोजन का निषेध है। महाभारत के शान्तिपर्व में मारकण्डेय ऋषि कहते हैं कि—हे राजन् ! रात्रि में भोजन क्रिया का निषेध किया गया है। जो सूर्यास्त के पूर्व भोजन कर लेता है, उसे महान् पुण्य प्राप्त होता है। एक बार भोजन करने वाला अग्नि-होत्री के बराबर पुण्य प्राप्त करता है और जो सूर्यास्त के पूर्व भोजन करता है वह तीर्थयात्रा के फल को प्राप्त करता है। यदि स्वजन की मृत्यु पर सूतक होता है तो फिर दिवानाथ सूर्य के अस्त हो जाने पर भोजन कैसे किया जा सकता है। सूर्यास्त के बाद जलपान-रुधिरपान के समान और अन्न को मांस के समान कहा गया है^३। स्कन्दपुराण^४ से भी इन्हीं तथ्यों की पुष्टि होती है।

इस प्रकार जहाँ श्वेताम्बर और यापनीय इसे छठे व्रत के रूप में स्वीकार करते हैं, वहाँ अचेल परम्परा का काष्ठासंघ जो कि यापनीय परम्परा से ही विकसित हुआ है, उसे छठा अणुव्रत कहता है। हम पूर्व में इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि काष्ठासंघ की जो विशेषताएँ दर्शनसार में बताई गई हैं उनमें स्त्रियों की पुनर्दीक्षा, क्षुल्लकों की वीरचर्या तथा रात्रि-भोजन-निषेध को छठा अणुव्रत माना गया है। यह ध्यान रखना चाहिए कि काष्ठासंघ से सम्बन्धित जैन विद्वानों भी रात्रि-भोजन निषेध को छठे अणुव्रत के रूप में ही उद्धृत करते हैं। पं० आशाधर जी ने यह प्रश्न उठाया है कि इसे महाव्रत न कहकर अणुव्रत क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि केवल रात्रि में भोजन का त्याग होने से और दिन में ग्रहण किये जाने की अनुमति होने से काल की दृष्टि से इसका पालन आंशिक होता है, अतः इसे अणुव्रत कहा गया है^५ किन्तु हम स्पष्ट कर चुके हैं कि उसे अणुव्रत कहने

३. स्कन्दपुराण-स्कं०-७, अध्याय ११, श्लोक २३३

की यह परम्परा काष्ठासंघीय है, यापनीयों या श्वेताम्बरों की नहीं। वे इसे महाव्रत नहीं, मात्र व्रत ही कहते हैं।

दिगम्बर परम्परा में प्राकृत-भाषा में निबद्ध जो 'मुनि प्रतिक्रमणसूत्र' उपलब्ध है उसमें 'अहावरे छट्टे अणुवदे राई भोजनादो वेरमण' कहकर इसे छठा अणुव्रत कहा गया है। मेरी दृष्टि में यह मुनि प्रतिक्रमण वस्तुतः यापनीय परम्परा से ही काष्ठासंघ के माध्यम से दिगम्बर परम्परा को प्राप्त हुआ है। यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द की परम्परा में प्रतिक्रमण आदि बाह्य क्रियाओं का कोई स्थान नहीं था, क्योंकि कुन्दकुन्द ने तो उसे विष-घट कहा था। अतः प्रतिक्रमण की परम्परा यापनीय और उनसे विकसित अन्य अचेल परम्पराओं में रही है और उन सभी में रात्रि-भोजन निषेध को छठे अणुव्रत के रूप में उल्लिखित किया गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा उसे छठा व्रत या छठा अणुव्रत नहीं मानती है। न केवल यापनीय प्रतिक्रमण पाठों में, अपितु यापनीय प्रायश्चित्त ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख षष्ठव्रत के रूप में हुआ है। छेदपिंड और छेदशास्त्र दोनों में ही इसे षष्ठव्रत कहा गया है, यद्यपि षष्ठव्रत का यह उल्लेख उनकी पुष्पिका में है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ श्वेताम्बर इसे महाव्रत सम षष्ठ-व्रत यापनीय षष्ठव्रत और काष्ठासंघीय षष्ठ अणुव्रत कहकर उसे स्वीकार करती है वहाँ दिगम्बर परम्परा, इसे स्वतन्त्र रूप से न तो व्रत मानती है और न अणुव्रत। यह हम पूर्व में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं में यह प्रश्न भी उठाया गया है कि रात्रि-भोजन त्याग मुनि का छठा अणुव्रत है, अतः इसकी गणना (व्रतों में) करनी चाहिए। किन्तु सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद राजवार्तिक में अकलकदेव तथा श्लोकवार्तिक में विद्यानन्द ने इसे स्वतन्त्र व्रत न मानकर इसका अन्तर्भाव आलोकित पान-भोजन नामक प्रथम महाव्रत की भावना में ही किया है। इससे स्पष्ट फलित होता है कि कोई भी दिगम्बराचार्य इसे स्वतन्त्र महाव्रत मानने के पक्ष में नहीं है।

डॉ० कुसुम पटोरिया ने अपने ग्रन्थ "यापनीय और उनका साहित्य" में रात्रि-भोजन विरमण के सम्बन्ध में लिखा है कि—'दुग्ध के समय उत्तर-भारत के श्रमण रात्रि में भोजन लेने लगे होंगे या रखने लगे होंगे जैसा कि बृहद्कथाकोश की भद्रबाहु कथा से संकेत मिलता है, तभी उसके परिहार के लिए रात्रि-भोजनपरित्याग को छठे व्रत के रूप में परि-

गणित किया गया होगा किन्तु मेरी दृष्टि में उनकी यह धारणा समुचित नहीं है क्योंकि रात्रिभोजन-स्याम को विशेष महत्त्व देने और उसे छोटे व्रत के रूप में परिगणित करने की परम्परा अतिप्राचीन है। सूत्रकृतांग की वीर स्तुति में तथा दशवैकालिक में इस सम्बन्ध में उल्लेख उपलब्ध होने से इसे भद्रबाहुकालीन नहीं माना जा सकता क्योंकि ये दोनों ही ग्रन्थ भद्रबाहु प्रथम के पूर्व के हैं और हरिषेण के बृहद्कथाकोश की अपेक्षा तो १००० वर्ष से भी अधिक प्राचीन हैं। वस्तुतः रात्रिभोजन विरमण को महत्त्व देने एवं स्वतन्त्र व्रत के रूप में मान्य करने की परम्परा स्वयं महावीर की ही देन है। क्योंकि पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में महावीर ने ब्रह्मचर्य और रात्रिभोजन निषेध को स्वतंत्र व्रत के रूप में जोड़ा था।

इस समस्त चर्चा का निष्कर्ष यही है कि रात्रि-भोजन निषेध को षष्ठव्रत के रूप में स्वीकार करने की परम्परा श्वेताम्बर और यापनीय ही है। दिगम्बर परम्परा उसे षष्ठव्रत के रूप में स्वीकार न करके उसका अन्तर्भाव आलोकित भोजनपान नामक प्रथम व्रत की भावना में करती है।

इस प्रकार ये कुछ प्रमुख विचारणीय प्रश्न हैं जिनके सम्बन्ध में यापनीय परम्परा का दृष्टिकोण श्वेताम्बर या दिगम्बर परम्पराओं से भिन्न रहा है, इनकी हमने यहाँ चर्चा की है। शेष दार्शनिक एवं आचार सम्बन्धी प्रश्नों पर यापनीयों का दृष्टिकोण अन्य दोनों सम्प्रदायों के समान ही है अतः उनको चर्चा करना यहाँ अपेक्षित नहीं है।



शब्दानुक्रमणिका

अकलंक, १४९, १५८, २४६, २५८, २६७,
२७०, २८१, ३०८, ३१०, ३११
अर्ककीर्ति, २८, ३६, ६३, २०४
अजितनाथ, १८३, २१६
अर्द्धस्फालक, १५, १६९
अंदरगुंघि, ३८
अध्यात्ममतपरीक्षा, २०१
अनन्तनाथपुराण, १४५, १८६, १८९
अनन्तवीर्य, १८९
अन्तकृद्दशा, १७६
अत्रिकापुत्र, १६९
अनागत वंश, ११९
अनुयोगद्वार, १०१, १३६, २१०, ३२०,
३२१, ३२२
अपराजित, ७१, ११५, १२३, १२४, १५४,
१५८, १६५, २०२, ३२७, ३३०, ३६६
अप्यपोट्टि, ४२
अभयनन्दि, १४९
अभिधान चिन्तामणि, १८२
अमरमुदल गुरु, २८
अमरचन्द, १३३
अम्मराज द्वितीय, २८
अमृतचन्द्र, ६१, ३०८, ३३८
अमितगति, १२५, ३३८
अमोघवर्ष, २८, २०४
अमोघवृत्ति, ३२, १२५, २००, २०२, २०३,
२०४, ३११
अय्यपार्य, १४६
अरुंगल अन्वय, १४९
अश्वमित्र, १३

अशोक, ३६९

अष्टक, २२५

अहमदनगर, ३७९

अहिबरण, ३७४, ३७६

अर्हन्नन्दि, २९, ३८

अर्हन्मुनि, १७८

आ

आउरपच्चक्खाण, १३५

आगरा, ६०

आचाराङ्ग, ९, १०, १५, ५२, २०९, २१०,
२६३, २७४

आचाराङ्गवृष्णि, ५७

आचारकल्प, १४२

आचार्य कालक, ८५ १३९

आचार्य गोशर्मा, १९

आचार्य जटिल, २३७

आचार्य देवगुप्त, २६४

आचार्य राहु, २१८

आचार्य विजय, २१८

आचार्य सर्पसेन (नागसेन), २०

आतुरप्रत्याख्यान, ११०, १९२, १९३

आत्मारामजी, २४५, २६२, २६३, २८६, ३१९

आदिपुराण, १२१, १८६, ३३९, ३४०, ३५१

आन्ध्रप्रदेश, ९३

आप्तपरीक्षा, २४३

आप्तमीमांसा, ३१४

आप्टे, १६६

आपुलीसंघीय, १८१

आर्यकुल, १९, २०

आर्यकृष्ण, १५, १६, २०, २३, ८५, ३६२,
३६९, ३७१, ३७२
आर्य गुणधर, ८८, ९१
आर्यघन, १९, २०
आर्यिका ज्ञानमती, १३१
आर्यधर्म, २३१
आर्यनाग, २०, २१८, २१९
आर्य नागहस्ति, ८७, ८८, ९१, ९२, ३४४
आर्य नक्षत्र, १८, २०
आर्य नन्दि, ९२
आर्य नन्दिल, ८३, ८४, ८५, ९५
आर्यभद्र, १८, १९, २०, २१९, २३६
आर्य महागिरि, ३५३
आर्य मंशु, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८,
९२, १११, ११२, ३४४
आर्य रक्ष, १९, २०
आर्यरक्षित, २५, २१९, ३८२
आर्यिका रात्रिमतीकन्ति, ३१
आर्य वज्र, ९५, ९६, १४५, २१८, २१९, ३७०
आर्य वृद्ध, २३५, २३६
आर्य वृद्धहस्ति, २३१
आर्य श्याम, ११२
आर्य स्कन्दिल, २३०
आर्य स्वामी, २१९
आर्य हस्ती, ८४
आराधना कोष, ११५, १३७
आवश्यक, १४१
आवश्यक चूर्ण, ८, २१
आवश्यक निर्युक्ति, १३, १६, १०६, १०९,
१९३, २००, २०२, २१५, ३२६,
३२७, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३६९
आवश्यक मूल भाष्य, १४
आवश्यक हारिभरीय वृत्ति, २१६
आशाधर, ६१
आषाढ, १३

ऑस्पेक्ट्स ऑफ जैनालॉजी, II, ८

इ

इन्द्र, १४५, १७८
इन्द्रगुठ, १४६
इन्द्रनन्दि, २४, ३३, ९०, ९१, ९२, १४३,
१४४, १८९, २०२, २५४, २६२
इन्द्रनन्दि संहिता, १४६, १४८
इन्द्रभूति, १८०

उ

उगाहिणी, ३७१
उच्चकल्पनगरी, ३७७
उच्चैर्नागर (उच्चनागरी शाखा), ९६,
१४०, २३६, ३४९, ३५५, ३६१,
३६२, ३६३, ३६४, ३७०, ३७३,
३७५, ३७६, ३७८, ३७९, ३८०
उज्जयिनी, ३१७
उज्जंतगिरि, ९४
उत्तरपुराण, १८२
उत्तराध्ययन, ९, १०, १३६, २००, २०१,
२६३, २७२, २७४, २७५, ३१३,
३१८, ३१९, ३४६
उदयगिरि, १९
उद्योतनसूरि, १७९, १८६
उपासकाध्ययन, ३३८
उपासकवशा, ११४, २१२, ३३४, ३३५,
३३६, ३३७, ३४०
उभयसिद्धान्त चक्रवर्ती, ३१
उमास्वाति, ९९, ११३, २०६, २३१, २३६,
२४०, २४४, २४५, २४६, २४८, २४९,
२५२, २५७, २६०, २६२, २६४, २६५,
२६६, २६७, २७०, २७२, २७३, २७५,
२७८, २८१, २९९, ३००, ३०१, ३०५,
३११, ३१८, ३१९, ३२०, ३३०, ३३१,
३३६, ३३७, ३३८, ३४०, ३४४, ३४९,

- ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५,
३५६, ३६२, ३६३, ३६६, ३६७, ३७१,
३७२, ३७३, ३७८, ३७९, ३८०, ३८२
- ऊ**
ऊँचाहार, ३७६
ऊँचेहरा, ३७६, ३७७, ३७९, ३८०
- ऋ**
ऋषभ, २११, २१३
ऋषिगुप्त, १९
ऋषिभासित, १७६
- ए**
एकवीर, ३०, ३९
एकसम्बि, ३१
ए. एन. उपाध्ये, १, ५, ३३, २१५, २२३,
२२४, २३२, २३३, २३६, ३५७
ऐरेगित्तर गण, ३५
- ऐ**
ऐतिहासिक स्थानावली, ३७७
ऐरावत क्षेत्र, २१४
- औ**
औपपत्तिक, ३३५, ३३६, ३३७, ३४०
- अं**
अंगप्रज्ञप्ति, ३१८
अंगबाह्य साहित्य, २४५
अंगसाहित्य, २४५
- क**
कगवाड, ३२
कयाकोष प्रकरण, ९४
कनकनन्दि, १४७
कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण, ३४, ३५, ४१
कनिंघम, १४९, ३७४, ३७६
कनिष्क, ३७०
कम्मपयडी चूर्णि, ११४
कण्डूरगण, ३२, ३७
कमठ, १९९
कमलभवन, १८७
कर्मशास्त्र, १४८
कटकाभरण, ४१, २४८
कडव, ३५, ३६, २०४
कण्ठ, १९९
कणप, ९३
कर्णाटक, २६, ३९, ६३, ९३, १६६, १६७,
१८३, २३६
करहाटक, २३
कवि परमेश्वर, १७७
कल्लाप्पा भरमप्पा नितवे, २९४
कल्की, ११३
कल्प, १०, २१०
कल्पसूत्र, ११, १२, १३, १५, २०, २३,
५२, ८७, ३५५, ३६२, ३६४,
३७०, ३७३, ३७६, ३८४
कल्पभावि, ४०
कल्याण विजयजी, ८५, २१४, २१९,
२४८, ३७४, ३७५
कसायपाहुड, ४७, ८१, ८२, ८८, २४५,
२४६, २५०, ३४४, ३४९, ३५०,
३६०, ३७०
कार्तिकेयाणुप्रेक्षा, ३३९
काणूरगण, १८९
कालण, ३१
कालिदास, २३०
काष्ठासंघ, ५६, ५७, ११५, १४४
काष्ठाग्राम, ५७
काश्यपीय अर्हत्, १८
काश्यपीय गोत्र, १८
काशी, २०
कित्याचार्य, ३५
कित्तर, १६७

कीर्ति, १८०
 कीर्तिनन्दि, ३५
 कीर्तिसेन, ९१
 कीरप्पाकम, ३५
 कुन्दकुन्द, ४७, ७०, ९८, ९९, १९४, १९८,
 २१०, २१२, २३७, २४०, २४५,
 २४६, २४७, २४८, २५२, २७५,
 २७६, २८७, ३१३, ३१६, ३१७,
 ३१८, ३१९, ३३७, ३३८, ३३९, ३५१
 कुन्दकुन्दान्वय, ५५, १००, १८९
 कुम्पदूर, ३८
 कुमरनगरी, ७८
 कुमरिपुर, ४३
 कुमारकीर्ति, ३१
 कुमारकीर्ति पण्डितदेव, ३६
 कुमारदत्त, २७
 कुमारसेन, ५६
 कुमुदिगण, ३०, ३९
 कुमुलिगण, ३९
 कुलमण्डनसूरि, ९४
 कुवल्लयमाला, ९४, १८६
 कुविलाचार्य, २८, ३७, ६३
 कुसुम पटोरिया, ४२, ५८, ६१, १४५, २२१,
 २२३, २६८, २७१, २७३, २७७
 कूर्चक, ४८
 कूर्चक संघ, १८५
 कूर्चि भट्टारक, १७७
 कृष्ण, १८०
 कृष्णवर्मा, २७
 कृष्णराज, १४९
 कृष्णा, ३७६
 के. डी. वाजपेयी, ३७९
 के. पी. पायक, २००
 के. शिवभक्ति प्रकरण, २००, २०२, २०५
 के.शवलन्दि, ४२

कैलाशचन्द्र शास्त्री, १५, ७१, ७४, ७६, ७७,
 १२२, १५८, २४४, २८२, ३०७,
 ३४५, ३४८

कोट्टवीर, १७, २२, ३६९
 कोटिकगण, २३५, २३६, २६४, ३७३
 कोटिमडुवगण, २८, ४०, २३८
 कोटिवर्षिया, ३५५
 कोडम्बानी, ३७४
 कोरयगण, ३९
 कोपल, १८९, १९०
 कोल, २७
 कोल्हापुर, ३५, ३६, १६६, २९४
 कौटिलीय अर्थशास्त्र, ३१०
 कौडिन्य, १७, २२, ३६९
 कौशांबिया, ३७४
 कौशांबी, ३७७, ३७८

ख

खाण्डिलगच्छ, ८५
 खोह, ३७७
 खंडलक, १५७

ग

गजसुकुमाल, १७६
 गण्डरादिव्य, ३६
 गिरिनगर, ९८
 गिरिनार, ९५
 गुजरात, ६४
 गुणचन्द्र, १८९
 गुणचन्द्र महामुनि, ४१
 गुणधर, ८२, ८६, ९२
 गुणन्धर, ८५
 गुणभद्र, १००, १७७, १७९, १८०
 गुणरत्न, ६०
 गुणवर्म द्वितीय, १८७
 गुरुमूल, ३६३

गुलाबचन्द्र चौधरी, ३४, ३५, ४२
 गृह्यपिच्छाचार्य, २४०, २४१, २४२, ३५१,
 ३८०
 गोदास, १८
 गोदासगण, ३५५
 गोपगिरि, ७८
 गोपाञ्चल, ५६०
 गोपिच्छक, ५७
 गोम्मतसार, १४५
 गोरवङ्गि, ३९
 गोविन्दराज, III, ३६
 गोष्ठमाहिल, १३
 गौतम, १६०, २०९
 गंग, १३
 ग्वालियर, २०, ६०, १४९, ३७८

घ

घोषनन्दि, ३६१, ३७१

च

चउपत्रमहापुरिसचरियं, १७७
 चन्द्रक्रषि, १३९
 चन्द्रक्षान्त, ४९, ५४
 चन्द्रगुप्त, ३६९
 चन्द्रगुप्त द्वितीय, २३०, २३१
 चन्द्रगुप्त मुनि, १६९
 चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, २३६
 चन्द्रगुफा, ९५
 चन्द्रनन्दी, ३५, १५५
 चन्द्रनागरी, ३७४
 चन्द्रप्रभदेव, १६१
 चन्द्रर्षि महत्तर, ८६
 चन्द्रावेध्यक, १३५
 चाकीराज, ६३
 चाणक्य, ३१०
 चामुण्डराय, १७७

चारुकीर्ति, ३७
 चिंगलपेट, २८
 चितकाचार्य, ३५
 चुमुदवाड, ३०
 चेलुक्षण, २०

छ

छेदनवनति, १७४
 छेदपिण्डशास्त्र, १८९
 छेदसूत्र, १५३, २००, २०२

ज

जगदीशचन्द्र शास्त्री, ३०७
 जन्न, १४५, १८९
 जटासिंहनन्दि, ५०, १४५, १८५, १८९,
 १९०, १९१, १९४
 जटिलमुनि, १८६
 जम्बू, १७७
 जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, २११
 जम्बूद्वीपसमाप्त, ५५४
 जम्बूस्वामी, २१, २०८, २०९, २१०
 जयकीर्ति, २९, ३६
 जयकीर्ति प्रतिहार, २७
 जयधवला, ८२, १११, ३०७, ३०८, ३५७
 जयानन्द, ३५३
 जामालि, १३
 जालमंगल, ३६
 जुगलकिशोर मुञ्जार, २०६, २२३, २२६,
 २२८, २४३, २४४, २७८, २८७, २८८,
 २८९, २९०, २९१, ३१६, ३१७, ३१९,
 ३२०, ३२४, ३३२, ३३५, ३३६,
 ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४८
 जिन, २२
 जिनकल्प, ९
 जिनकल्पसूत्र, २०६
 जिनचन्द्र, ४०, ९९, ३५१

जिनदास शास्त्री, १२५, १२८
 जिनदेवसूरि, ३१
 जिननन्दि, ४०, ११४, १२०, १२४, २६८,
 ३६२
 जिनभद्र, ८, ८१, २२३, २२६, ३५३
 जिनभद्रगणि, ३११, ३५३
 जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, ११३
 जिनवागी जीर्णोद्धारक संस्था, १६०
 जिनसेन, ५०, ५६, ६२, ९१, १००, १७०,
 १७९, २२३, २२६, ३५४
 जिनसेन द्वितीय, १८६
 जिनेन्द्र, २१
 जिनेश्वरसूरि, ९४
 जीतकल्प, १४२
 जीतकल्प चूर्णि, २१७
 जीतकल्पभाष्य, १२६, १७२
 जीवसमास, १३१, १३६
 जीवाभिगम, २६३
 जोहरापुरकर, ५६, ६२
 जैन साहित्य और इतिहास, १५४, २०१
 जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, १, ५,
 ११७, १४९
 जैन साहित्य की पूर्व पीठिका, ७२
 जैन साहित्य भास्कर, ७८
 जैन शिलालेख संग्रह, ४२
 जैनाज इन साउथ इण्डिया, ४१
 जैनेन्द्र न्यास, ३११
 जैनेन्द्र व्याकरण, २०७, २३०
 जंबुद्वीवपण्णति, ३५७
 ज्वालिनी कल्प, १४९

त

तत्त्वार्थभाष्य, १६०, २१३, २४१, २४२, २४३,
 २४५, २४६, २५७, २५८, २६१, २६२,
 २६४, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१,

२७३, २७४, २७५, २७७, २७८, २७९,
 २८०, २८१, २८७, २९२, २९९, ३०२,
 ३०३, ३०५, ३०६, ३०८, ३१०, ३२०,
 ३२३, ३२७, ३२९, ३३१, ३३६, ३४१,
 ३४२, ३४३, ३४८, ३४९, ३५३, ३५८,
 ३६२, ३७०, ३७१, ३८०
 तत्त्वार्थराजवार्तिक, ३१४, ३६८
 तत्त्वार्थवार्तिक, ३०६, ३०७
 तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, २४१
 तत्त्वार्थसारसूत्र, २०६, २११, ३०८
 तत्त्वार्थसूत्र, ११२, ११६, २०४, २०६, २०७,
 २०८, २१३, २१४, २३१, २३९, २४४,
 २४५, २४६, २४८, २४९, २५२, २५४,
 २५७, २५९, २६०, २६२, २६३, २६४,
 २६६, २६७, २७१, २७२, २७३, २७४,
 २७५, २७७, २७८, २८१, २८६, ३००,
 ३१०, ३११, ३१३, ३१५, ३१६, ३१८,
 ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४,
 ३२५, ३२६, ३२७, ३२९, ३३०, ३३१,
 ३३२, ३३४, ३३५, ३३६, ३३८, ३४०,
 ३४१, ३४२, ३४५, ३४८, ३४९, ३५०,
 ३५२, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३८०,
 ३८१, ३८३
 तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय, २४५, २६२,
 २८६, ३१७
 तत्त्वार्थसूत्र का मूल पाठ, २६२
 तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज, २४५
 तत्त्वार्थाधिगम भाष्य, २३५
 तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, २४०, २६२, २६४,
 २८२, ३२७, ३८०, ३८३
 तपागच्छपट्टावली, ३५३
 तमिलानाडु, २८, ३९
 ताम्रलिप्तिका, ३५५
 तिलीयपण्णति, ४७, ७८, ९२, १०९, १७६,
 २११, २१३, २१४, २१६, २४५,

३२३, ३२४, ३५१, ३६१
 तीर्योद्गालिक प्रकीर्णक, ११०, ११७
 तिष्यगुप्त, १३
 तुची, २२५
 द
 दयापाल् मुनि, २००
 दरबारीलाल कोठिया, १६६, ३४५, ३४६,
 ३४८
 दलसुख मालवगिया, ८, ११७, २१०,
 २२५, २५०
 दशपूर्वी, ७०
 दशवैकालिक, १०, ५९, १३६, १५८,
 १६५, २१०, २७४, ३१५, ३१६
 दशवैकालिक चूर्ण, १७२
 दर्शनपाहुड, ३१८, ३१९
 दर्शनसार, १७, ५५
 दशाश्रुतस्कंध, १४२, २१०
 दससूत्र, २०६
 दामनन्दि, ३०, ३९
 दामकीर्ति, २७
 दिवाकर मुनि, ४१
 दिवाकर यति, १७८
 दुर्जयन्त, २५
 डम्पसट्ट, ११८
 दुःषमाकालश्रमणसंघस्तोत्र, ३५३
 देवकी, १८२
 देवगङ्ग, २०
 देवगिरि, २७, ४३
 देवर्द्धिगणिकामाश्रमण, १३, २०, ८५, २३१,
 २३५, २३८
 देवनन्दि, १००, १७४
 देवरहसि, ३५
 देववर्मा, २८
 देवविमल, ३५३

देवसेन, २३, ५५, ५९, ६०
 देवसंघ, ३३
 देवागम, १४०
 देविन्दत्थव, १४०, २०९
 देशवल्लभ, ३९
 ब्रविङ्गसंघ, ३९, ५५, १४४
 द्वात्रिंशिकाएँ, २२५, २२७, २२८
 दृष्टिवाद, १०२
 द्रोणि ३७
 द्रोण, १९९
 द्रौपदी, १७६
 घ
 घनगिरि, २५
 घनभूति, ३८०
 धर्मकथा, १४१
 धर्मकीर्ति ३२, २२५
 धर्मघोषसुरि, ३५३
 धर्मपुरी, ४१
 धर्मसागर, ३५२, ३५३
 धर्माचार्य, १८
 धर्मानृत, १८६
 धरसेन, ६४, ९०, ९१, ९२, ९३, ९५, ९६, ९७
 धवल कवि, १८६
 धवला, ८१, ९६, ९७, २४३, २९७, ३४९, ३५१
 धारवाङ्ग, ३०
 न
 नचना, ३७९
 नखन्ता, ४२
 नन्दि, ३३
 नन्दिक, ८४
 नन्दिगच्छ, २८
 नन्दिसंघ पुष्पागवृक्षमूलगण, २०४
 नन्दी बागङ्ग गच्छ, ५६
 नन्दी मुनीश्वर, १७७

नन्दीसूत्र, १२, १३, ८७, ११४, २०१,
२०३, २१८, २१९, २२०, ३५५
नन्दी संघ, २८, ९०, ९२, ९६, १४४,
३५१, १६२
नन्दीषेणमुनि, ६२, ७२
नयनसेन, १८६
नयवृत्तिनाथ, ३९
नरेन्द्रकीर्ति ३९
नवतत्त्वप्रकरण, २८६
नागकुमार देव, १७९
नागकेसर, १६७
नागचन्द्र, ३२, ४०
नागदेव, ३५, ४१
नागर शाखा, ३६२
नागली शाखा, ९६
नागविक्रि, ३९
नागहस्ती, ८३, ८४, ८५, १११, ११२
नागार्जुन, ३११
नागिल शाखा, २१८, २२१
नागेन्द्र वंशानन्दीकर, २१८
नागोद, ३७९, ३८०
नाथुराम प्रेमी, १, १५, ३६, ६२, ६९, ७७,
१०९, ११३, ११६, १३५, २०१,
२०२, २०४, २१५, २२१, २४२,
२४७, २५८, २६७, २८२, ३०५,
३५०, ३५१, ३५४, ३५६, ३५७,
३५८, ३६१, ३६४, ३६७, ३८४
नाभिराय, २११
नाथधम्मकहा, ५, १४२, २१६
नारद, १७६
नादेड, ५७
निर्ग्रन्थसंघ, ४४
निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ, ३७२
नियमसार, २४५
निरवद्यकीर्ति, ३०

निशीथचूर्णि, ९४, २२६
निहन्व, १३, १४
नीतिसार, २४, ३३, १४४, १४८
नुकुलादेवी, २३
नेमिचन्द्र, ३२, ९९, १४८, २४४, २४७
नेमिदत्त, ११५
नेमिनाथ, २९, ३२
नेमिनाथ पुराण, १८७
नेल्लोर, २३८
नेणमंगल, ४५
न्यायकुमुदचन्द्र, २९, १६१, २०१, २०४,
२०६, २०७, २०८
न्यग्रोधिका, ३७८, ३७९
न्यायविनिश्चय, ३११
न्यायसूत्र, २३९, २७२
न्यायावतार, २२५, २२६, २२७, २२८

प

पउमचरियं, १४२, १७७, १७८, १७९, १८०,
२०८, २०९, २१०, २११, २१२,
२१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८,
२१९, २२०
पच्यक्खाण, १४०
पत्रा, ३७९
पद्म (रामचन्द्र), १८२
पद्मचरित, १४५, १७९
पद्मनन्दि, ३३९, ३५१
पद्मपुराण, २२३
पद्मावती, २१५
पद्मालाल साहित्याचार्य, १७५
पभोसा, १८
पम्प, १८६
पटना, ३७८, ३७९, ३८०
पट्टावलीसारोद्धार, ३५३
पटेल कृष्णय्य, ३५

- पण्णसवन, मुनि, ९३, ९५
परमानन्द शास्त्री, ५६, २१३, २४४, २४५
पराशर, १९९
परिकर्म, १००
परिसव्य, २९
पल्लीवाल गच्छीय, ८५
पहाड़पुर, १८, २०, ३७८
पाक्षिकसूत्र, १३९
पाटलिपुत्र, ३११, ३६४, ३७७, ३७८
पाणिनी, २०३
पाल्यकीर्ति शाकटायन, ३२, २००, २०२,
२०३, २०४, २०५
पार्थ, ४८
पार्थनाथचरित, २४१
पार्थपण्डित, १८६
पार्थपुराण, १८६
पार्थनाथ विद्याश्रम, ८
पाहुडशास्त्र, ९४
पिण्डछेदशास्त्र, १४३, १४८
पिण्डनिपुक्ति, १३६
पी. बी. देसाई, ३८, ४१
पुत्रागवृक्षमूलगण, २८, ३२, ३४, ३५, ३७,
१६६
पुत्राट संघ, ६, १६६, १७९
पुराण, ५०
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३३८
पुलिकल गच्छ, ३५
पुष्पदन्त, ९०, ९३, ९७, ९८
पुष्पदन्त पुराण, १८७
पुष्पसेन, १४९
पुष्यमित्र, ३५३
पुष्यार्हन्दिगच्छ, २३८
पुसगिरि, ९६
पूजाक्रम, १४७
पूज्यपाद, ५५, १००, १५८, २०७, २१३,
२३०, २३१, २४६, २४९, २५१,
२५३, २५४, २५८, २६०, २६१,
२६२, २६७, २७०, २८१, २९२,
२९७, ३०३, ३१०, ३१३, ३८३
पृथुवीकोङ्गणि, १५५
प्रतिक्रमणसूत्र, १६०
प्रतिष्ठाकल्प, १४९
प्रतिष्ठानपुर, ४४, २३६
प्रतीन्द्र, १७९
प्रबन्धकोश, २३५
प्रभव, १७७, १७९, १८०, २०८, २०९
प्रभावकचरित, ९४, २३०, २३५
प्रभाचन्द्र, १२६, १३३, १७०, १८९, २०१,
२०४, २०६, २०७, २०८, २६९, २७०
प्रभाचन्द्रदेव, २९, ३८
प्रभाचन्द्र (पण्डित), १६०, १६१, १६४
प्रभाशशांक, ३०, ३९
प्रमेयकमलमार्तण्ड, २९, १२६, १३२, २०१,
२०६
प्रवचनसार, २४५
प्रवचनसारोद्धार, २६८, २६९, ३२६
प्रशमरति, २६४, २६७, २६८, २६९, २७०,
२७१, २७२, २७३, २७४, २७५,
२७६, २७७, २७८, २९२, ३०८, ३५७
प्रज्ञापना, १०२, १०८, ३१३
प्राकृतलोक विभाग, ११४
प्रायश्चित्तसंग्रह, १४३
पंचकल्प महाभाष्य १३९
पंचाचाराधिकार, १४२
पंचवस्तु, २२६
पंचविंशति, ३३९
पंचसंग्रह, ८६, ११०, १३९
पंचस्तूपान्वयी, १८६
पंचास्तिकाथ, १३९, २११, २४५, २७५,
२७६, ३१९, ३३७

पँवाया, ३७८

फ

फलगुमित्र, २५, २४०, २५२, २५७
 फूलचन्द्र शास्त्री, ७८, १०९, ११६, २१७,
 २४०, २४३, २४४, २४५, २५७,
 २५८, २७८, २७९, २९२, २९४,
 २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१,
 ३२२, ३४५, ३४८, ३८०

ब

बड्वाणा, ६४
 बअनन्दी, ५५
 बन्दिलके, ३८
 बन्दियूरगण, ४१
 बन्धुसेन, २७
 बप्पनन्दी, १४९
 बप्पभट्टि, १४९
 बम्मगउण्ड, ३६
 बरण, ३७४
 बलगार गण, ४२
 बलदेव, ६२
 बलदेवसुरि, १५५
 बलहारीगण, ४२
 बलात्कारगण, ४२, १००
 बलिससद, ३५३
 बल्लादेव, ३६
 बहुल, ३५३
 बागङ्गछ, ५०
 बालघन्त्र, ३९
 बालघन्त्र शास्त्री, ७९, ३२३
 बाहुबली, ३१
 बाहुबलिदेव, २९, ३८
 बीड, ४१
 बुन्देलाखण्ड, ६०
 बुद्धवादी, २३०

बुलन्दशहर, ३७४, ३७५, ३७६
 बृहत्कयाकोश, ६२, ६३, ११५, १६५
 बृहत्प्रभाचन्द्र, २०४, २०६
 बृहद्विष्णुणिका, ९३
 बेंगलि, ४१
 बेधरदास दोशी, ८, ९३, २२३, २२५, २३१
 बेलागाँव, २९, ३१, ४२
 बोटिक, ९, १०
 ब्रह्मदासिक कुल, ९६
 ब्रह्मदेव, ४१
 ब्रह्मसूत्र, २३१
 बंशीधर, २९४

भ

भक्तपरिज्ञा, १९२
 भगवती, ३, ४, १०३, ११८, ३१३, ३६०
 भगवती-आराधना, ४८, ६३, ११४, १२०,
 १६५, १९७, १९९, २०३, २०७,
 २५९, २६९, २७०, २८२, ३२७,
 ३३०, ३४०, ३५६, ३५८, ३६१
 भगीरथ, १८३
 भद्रबाहु, १८, ४५, ११८, १२८, १६९,
 ३५४, ३५५, ३६१, ३६९
 भद्रबाहु द्वितीय, १३८, २३६
 भद्रबाहु कथा, ६३
 भद्रबाहु चरित, २३
 भद्राचार्य, १६९
 भद्रान्वय, १९, २०
 भद्रणराज, १२६
 भट्टारक, ३१
 भट्टारक बाल चन्द्रदेव, ३६
 भरत, १७९, २१३, २१४, २१६
 भरहुत, ३७७
 भरुकछ, ३७७
 भाणकेसली, ३१

भावप्राभृत, ३१९

भीम, १८३

भूतिदत्र, ९६, २१८

भूतबलि, ९०, ९३, ९७, ९८

भृगु, ४

म

मइलापान्वय, ४०

मर्करा, ४०, २४७

मथुरा, २०, २३, ५५, ५७, ६५, ८४, ८५,
८७, ९६, २२१, २३१, २४३, ३५५,
३६२, ३७०, ३७१, ३७३, ३७६, ३७८

मदनूर, ४०, २३८

मधवा चक्रवर्ती, १८०

मधुसूदन ढांकी, ११, १२, ७५, ९७, २२५,
२३१, २४८, ३७२, ३८१

मध्यदेश, १७०

मन्त्रघूडामणि, ३०

मनोलि, ३२

मन्दिरदेव, २३८

महुवगण, ४१

मरणविभक्ति, १०, १३७, ३५८

मरणविशोधि, १३७

मरणसमाधि, १३७

मरुदेवी, २१५

मलधारगच्छ, ९४

मलयगिरि, ८६, २०१, २०३

मल्लवादी, २३०

मल्लियपुण्डी, २८

मल्लितीर्थकर, १६२

महाश्रमणसंघ, ३७२

महाकर्म प्रकृति प्राभृत, ९०

महादेवी, १६८

महापद्मबन्धन, ११०, १३५

महापुराण, ३५१

महाबल कवि, १८७

महाभारत, ३७६

महाराष्ट्र, ३०, ९३, ३७९

महावीर, १२, १३, १६, ३०, ३९, ४८, १८०

महावीर पण्डित, ४१

महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, २०७, ३०७

माघनन्दि, ९९, १८९

माधुरगच्छ, ५६

माधुरसंघ, ४७, ६०, १४४

माधवेन्द्र, ३९

माध्यमिका, ३७४

मानखेड़, १४९

मालवा, ६४

मित्रनन्दी, ११४, १२०, १२४, ३६२

मुगद, ३०, ३९

मुण्डपाद, ३५२

मुनिचन्द्र, ३७, ३८, १८९

मुनिचन्द्रदेव, ३२

मुनिपुंगव दिवाकर, २८

मुडबिंद्री, ७९

मूल, ३६२

मूलगण, ३१, ३४, ३६३

मूलनन्दी, ३६२, ३६३

मूलसंघ, ३१, ३४, ४६, १४४, १८९

मूलाचार, ४८, ५१, ६६, १०९, १३०,
१९३, २०७, २३७, ३५७, ३५८

मूलाराधना, ६६

मुगेशवर्मा, ४३, ४८

मेघनन्दि भट्टारक, ४२

मेतार्य, १२५, १६९

मेरठ, ३७६

मेरु, १८०

मैलापतीर्थ, ४०

मोतीचन्द गौतमचन्द कोठारी, १६०, २९४

मोनिदेव, २९

य

यतिवृषभ, ८२, ८३, ८५, ८७, ८८, १०८,
११३
यशक्रीर्ति, १७, ७८
यशोदा, ६२
यशोदेव, ३५३
यशोविजय, २०१
याकिनीसुनु हरिभद्र, २६४
यापनीयतंत्र, २०२
यापनीय और उनका साहित्य, १५५
यापनीयों का साहित्य, १२३
यू. पी. शाह, २०
योगसूत्र, २३९
योनिप्राभृत, ९३

र

रत्नकरंडकश्रावकाचार, २२५, ३४०
रत्ननन्दी, २३
रत्नप्रभ, २०१
रत्नाकरावतप्रिका, २०१
रथवीरपुर, १६, २१
रड्डवग्ग, ३६, १६६
रविचन्द्रस्वामी, २९, ३८
रविप्रभ, ३५३
रवि वर्मा, ३३, ४९
रविवर्द्धनगणि, ३५३
रविषेण, १४५, १७८, १७९, १८०, २१६,
२१७, २२०, २२१, २२३, २२६
रहवीरपुर, ३७९
राचमल्ल, १८६
राजमल्ल, ६०, ३३९
राजवार्तिक, २४६, २५८, २८७, ३२३,
३६४
राजस्थान, ६०, ६४
राम, १८०, १८२

रामकथा, १७७
रामनगर, १४९
रामगुप्त, १९
रामचन्द्र, ३९
रामचन्द्रदेव, २९
रामसेन, ६०
रामिल्ल, १६९
रावण, १७९
राहुरी, ३७९
रुक्मिणी, १६७
रोहगुप्त, १३
रोहिणी, १६७, १६८

ल

लघीयस्त्रय, ३११
ललितविस्तरा, १८, २०२
लक्ष्मणसेन, १७८
लाङ्गबागङ्गच्छ, ५६, ६४
लाटी संहिता, ६०, ६१, ३३९
लिङ्गप्राभृत, १९८
लोकप्रकाश, ३५३
लोकापुर, ३१, ३८
लोहार्य, ५७, ९०, ९७

व

वर्द्धमानपुर, ६४
वज्रयश, ९५
वज्रसूरि, १७४
वज्रसेन, २१८, २१९
वज्रीशाखा, ९६
वट्टकेरि, १३४, २०२, २३७
वड्डाचार्य, ३०
वडनगर, ३७५
वरांगचरित, ५०, १८५, १९०, २३७
वराहमिहिर, २३६
क्लभी, १७, २४६, २५२, २५७

वशिष्ठगोत्रीय, १९
 वसुदेवहिण्डी, २०८, २०९
 वसुनन्दी, ६०, ६९, १४०
 वसुन्त वाटक, ४९
 वसिष्ठ, १९९
 वाचक घोषक, ३७१
 वाचक वंश, ९६, ३५०
 वात्सी, ३८०
 वादिराजसूरि, २४१
 वादि वेताल शान्तिसूरि, २०१
 वाडिचूरगण, ४१
 वारणगण, ३७४
 वारणावर्त, ३७४, ३७६
 वाराणसी, ३७७, ३७८
 वारिषेण, ४८, ५४
 वासुदेव, ३७०
 विक्रमादित्य, २३०
 विग्रहव्यावर्तिनी, ३११
 विचारसारप्रकरण, १८२
 विचारामृतसंग्रह, ९४
 विजयकीर्ति, २८, ६१, ६३, १६७, २०४
 विजयादित्य, ३१
 विजयेन्द्र कुमार माथुर, ३७७
 विदिशा, १८, २०, ३७७
 विद्यमनन्द, २४१
 विद्यानन्दि, २४३, २४४
 विद्याधर शाखा, २३६
 विद्याधर कुल, २३२, २३५
 विनयपिटक, ५
 विण्टरनिन्ज, ३६९
 विधिमार्गप्रपा, ७१
 विनयंधर, ९१
 विनयसेन, ५६
 विनय विजय गणि, ३५३
 विशिका, २२५

विपाकसूत्र, ११६
 विपुलाचल पर्वत, २१५
 विबुधप्रभ, ३५३
 विमल, १७९, १८०
 विमलचन्द, १४९
 विमलनन्दि, ३५
 विमलसूरि, १७७, १७८, २०८, २०९, २११,
 २१४, २१८, २२०, २२२
 विमलादिव्य, ३६
 विशाखाचार्य, १७०
 विशेषावश्यकभाष्य, ८, ९, १६, २१, ९४,
 ३११, ३६९
 विष्णु, १७७
 विष्णुगुप्त, ३१०, ३११
 विवाह पण्णत्ति, ११८
 वी. एम. कुलकर्णी, २०८
 वीरचर्या, ६१
 वीरनन्दि, १४९
 वीरसेन, २२६, २४१, ३०७, ३०८, ३१०
 वीरस्तव, १४०
 वृत्तीन्द्र, ३९
 वृन्दाकनदास, १२७, १३३
 वेन्नेलकरणि, ४३
 वैरा शाखा, ८४
 वैशाली, ३७७, ३७८
 वैशेषिकसूत्र, २३९, २७२
 व्यवहार, १०
 व्याख्या प्रज्ञप्ति, ३२५, ३४६
 व्यास, १९९

३

शब्दानुशासन, २९, ३२, २००, २०२, २०३,
 २०४
 शय्यम्भव, १६०
 शाकटायन, २९, ८७, १२१, १२५, १४६,

१४८, १८९, ३११

शाकटायन-न्यास २०३, २०७
 शाकटायन व्याकरण, २००, २०२
 शान्त्यच्छर्ष, १०
 शान्तिवर्म, २९
 शान्तिवर्मा, ४३
 शान्तिश्रौणिक, ३५५, ३७०, ३७३
 शान्तिसेन, ९६
 शास्त्रवार्तासमुच्चय, २०१
 शिलाग्राम, ३६
 शिव, ३६१, ३६२, ३६९, ३७२
 शिवकोटि, १२१
 शिवभूति, ९, ११, १५, १७, २०, २२, ५२,
 ५४, ८५
 शिवरथ, ४९
 शिवशर्मसुरि, ११२, १४०
 शिवश्री, ३५२, ३६२, ३६३, ३७१
 शिवस्वामी, २३७
 शिवार्य, ११४, २०३, ३६२
 शीलांक, १७७
 शुभकीर्ति, ४०
 शुभचन्द्र, २९, ३८
 श्रावकाचार, ६०, ३३८, ३४७
 श्रावस्ती, ३७७
 श्रीकलश, २३
 श्रीकलश मुनि, १७
 श्रीकीर्ति, २०४
 श्रीमन्दिर देव, २८
 श्रीमूलमूलगण, ३५, ४१
 श्रीविजय कीर्ति, ३६
 श्रुतावतार, ९०, १४४, १४८, ३५१
 श्रेणिक, २०९
 शांतिनाथ पुराण, १८७
 श्लोकवार्तिक, २४३, २८७, ३६४

ष

षट्खंडागम, ४७, ६४, ८१, १०८, २१३,
 २१४, २२३, २४५, २४६, २५१, २५२,
 २९२, २९३, २९७, ३२१, ३२२, ३२६,
 ३२९, ३३०, ३३२, ३४४, ३४९, ३५०,
 ३६०, ३६८, ३७०, ३८२

षट्खंडागम परिशीलन, ७९

षट्दर्शनसमुच्चय, ६०

षोण्ड्वर्धनिका, ३५५

षोडशक, २२५

स

सकलचन्द्र, ४२

सकलेन्दु-सैद्धान्तिक, ३२

सगर, २१६

सगर चक्रवर्ती, १७९

सतकचूर्णि, १०९

सतना, ३७७

सतीर्थ, ५६

सत्कर्म, ८६

सदासुखदास, १२५, १२६

सनत्कुमार चक्रवर्ती, १८०

सन्मतितर्क, १८७, १९०

सन्मतिसूत्र, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७,
 २२८, २२९, २३३

सप्ततिका, ८६

समन्तभद्र, १००, १२१, १२४, १४०, १४९,
 १७४, २२५, २२६, ३१४, ३४७

समयसार, ७८, १३९, २४५, २८७

समवायांग, १६३, १६४, २१०, २५१, २९१,
 ३२५, २६९, ३६८, ३७०

सम्प्रति, ३६९

सम्भोगकल्पसूत्र, १५

सरस्वतीगच्छ, १००

सर्वगुप्त, २०३

- सर्वगुप्तगणि, ११४, १२०, १२१, १२४, १२५
 सर्वनन्दी, ११४
 सर्वमित्र, ११८
 सर्वलोकाश्रय, ४२
 सर्वार्यसिद्धि, १९४, २१३, २१४, २४६, २५१,
 २५४, २५७, २५८, २५९, २६०, २६२,
 २७९, २८१, २८७, २९२, २९३, २९५,
 २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२,
 ३०३, ३०५, ३०८, ३१०, ३२३, ३२५,
 ३४५, ३५६, ३६४
 संग्रहणी, १३९
 संघदासगणि, २०८
 संयमश्री, १६८
 संलेखनाश्रुत, १३७
 संस्कृत हिन्दी कोश, १६६
 सागरानन्द सुरीधर, २६३
 सागरधर्माभूत, ६१, ३४०
 सांख्यसूत्र, २३९, २७२
 सांची, २०
 सित्तरी घूर्णि, १०९
 सित्तरी पत्र, ८६
 सिद्धनन्दि, ३५, १४५, १४८
 सिद्धवसति, ९८
 सिद्धसेन, ८१, ९४, १७४, १८७, १९०, १९१
 सिद्धसेनगणि, १६०, २२९, २५७, २६१,
 २६२, २६४, २६६, २६७, २८०, २८६,
 २८७, २८८, २९०, २९१, २९२, ३२३,
 ३२७, ३३१, ३३२, ३३४, ३३५, ३३६,
 ३४२, ३४३, ३४९, ३५४, ३५८, ३६०,
 ३६५
 सिद्धसेन दिवाकर, २२३, २२४, २२५, २२६,
 २२७, २२८, २२९, २३०, २३१,
 २३२, २३५, २३६
 सिद्धर्षि, २२५, २२९
 सिद्धसेनसुरि, २६९
 सिद्धान्तग्रंथ, १४७
 सिद्धान्तदेव, २९
 सिद्धिविनिश्चय, २३७, ३११
 सिरिकीर्ति, ३९
 सिंह, ३३, ४९
 सिंह गुरु, ३७०
 सिंहनन्दि, १८९
 सीता, १७९, २२१
 सीलपाट्ट, ३१८
 सुखलाल संघवी, २२३, २२५, २३०, २३१,
 २४३, २४४, २४५, २५३, २६२, २६४,
 २६५, २६६, २७७, २८६, २९०, २९१,
 २९९, ३७४, ३७५
 सुजिका ओहिरो, २५३, २५४, २५५, २५६,
 २६२
 सुतपाट्ट, ४७
 सुधर्मा, १८०, २०८, २०९, २१०
 सुलसा, १८२
 सुलतानपुर, ६१
 सुव्रत मुनि, २१६
 सुस्थित, २३५
 सुहस्ति, १९, ३६९
 सूत्रकृतांग, १४०, १६३, १६४, २१०
 सूत्रप्राभूत, १९८
 सेन, ३३
 सेनसंघ, २३५
 सोदति, २०४
 सोनागिर, ११५
 सोमदेव, ८५, ३३८
 सोमिल, ३
 सोलापुर, २९४
 सौदत्ति, ३७, १६१
 सौराष्ट्र, १७, ६३, ६५, ९८
 सौराष्ट्रिका, ३७४
 स्कंदिल, ७५, २३५, २४०, २५२

स्थविर विद्याधर गोपाल, २३५
 स्थानांग, १३, १६, १०५, २१०, २८६,
 ३१९, ३२२, ३२३, ३२५, ३६०
 स्थानांग, अभयदेव वृत्ति, १७२
 स्थूलभद्र, १३, ११८, १६९
 स्वयम्भू, ७०, १७८, १७९, १८०, २१५,
 २२०, २२१
 स्वाति, ३५२
 स्त्रीमुक्ति प्रकरण, २००, २०२, २०५

ह

हरिणोगमेसीदेव, १८२
 हरिभद्र, ८, १४, २०२, २२३, २२५,
 २२७, २३०, २३२, २५७, २६४,
 २६६, २८०, ३५३, ३६५
 हरियाणा, ६०
 हरिवल्लभ भाषाणी, १८१, १८४
 हरिवंशपुराण, ६२, ९१, १६६, १७०,
 २२३, ३३९, ३४०, ३५१, ३५४
 हरिषेण, ६२, १६५, १७०, १८०, २१५, २२६
 हल्ली, ३३
 हविनवागे, २९
 हास्तिनापुर, ३७६
 हासूर, १६६
 हुकेरि, ३२

हुलि, ३६, १६६
 हुविष्क, २३१, ३७०
 हिस्ट्री ऑफ मिडिवल स्कूल ऑफ इण्डियन
 लॉजिक, ३६९
 हिंडोन, ३७६
 हीरालाल जैन, १०९, ११२, ११४, २१५,
 ३१३, ३७९
 हीरालाल रसिकलाल कापड़िया, २६२,
 २६६, ३६८, ३७४
 हेमचन्द्र, ९४, १७७, २०३, ३६९

क्ष

क्षपणक, २३०

त्र

त्रिपर्वत, २८
 त्रिभुवन मल्लदेव, ३१
 त्रिलोकप्रज्ञप्ति, १८३
 त्रिलोकसार, १७६
 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १४१, १७७
 त्रैकीर्ति, ३२
 त्रैविद्यभट्टारक, ३०, ३७

ज्ञ

 ज्ञाताधर्मकथा, ३, ४, २१५, ३२९, ३३१,
 ३३२, ३६०
 ज्ञातासूत्र, १६२

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

१. अंतकृद्दशांग, संपादक - मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई० स० १९८१.
२. अध्यात्ममतपरीक्षा, यशोविजय, साधु अमीचंद पत्रालाल जैन ट्रस्ट, बम्बई, ई० स० १९५४.
३. अनुयोगद्वारसूत्र, संपादक - मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई० स० १९८७.
४. अनेकान्त, त्रैमासिक पत्रिका, वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली.
५. अमितगतिश्रावकाचार, पं० भागचंद की वचनिका सहित, बम्बई, वि० सं० १९७९.
६. आचारांग (शीलांक टीका), सूरत, ई० स० १९३५.
७. आचारांगचूर्ण, जिनदास गणि, रतलाम, ई० स० १९४१.
८. आचारांगसूत्र, संपादक - मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई० स० १९८०.
९. आदिपुराण, जिनसेन, संपादक - पत्रालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, चतुर्थ संस्करण, ई० स० १९९३.
१०. आदिपुराण - भाग-२, जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई० स० १९५१-५४.
११. आप्तमीमांसा, समन्तभद्र, अनुवादक - उदयचन्द्र जैन, गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वी० नि० सं० २५०१.
१२. आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्रीय वृत्ति), बी० के० कोठरी, रिलीजियस ट्रस्ट, बम्बई, द्वितीय संस्करण, ई० स० १९८१.
१३. इन्द्रनन्दि संहिता, इन्द्रनन्दि, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई.
१४. उत्तराध्ययन टीका - शान्तिसूरि, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार समिति, सूरत, ई० स० १९१६.
१५. उपासकदशांग, संपादक - मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई० स० १९८०.
१६. ऋग्वेद, संपादक - दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, दिल्ली.

१७. ऋषिभाषित, संपादक — म० विनयसागर, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, ई० स० १९८८.
१८. ऐतिहासिक स्थानावली, विजयेन्द्र कुमार, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, ई० स० १९६९.
१९. ओघनिर्युक्ति (भाष्य), टीका — ब्रोगाचार्य, बम्बई, ई० स० १९१९.
२०. कल्पसूत्र, प्राकृतभारती अकादमी, जयपुर, द्वितीय संस्करण, ई० स० १९८४.
२१. कसायपाहुड, संपादक — हीरालाल जैन, वीर शासन संघ, कलकत्ता, ई० स० १९५५.
२२. कुवलयमाला, उद्योतनसुरि, संपादक — ए० एन० उपाध्ये, भारतीय विद्या भवन, बम्बई भाग १, २; ई० स० १९५९, १९७०.
२३. गोम्मतसार, पं० खूबचन्द जैन, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, वि० सं० २०२२.
२४. चउपनमहापुरिसचरियं — शीलांकाचार्य, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, ई० स० १९६१.
२५. चरित्तपाहुड (अष्टप्राभृत), परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, ई० स० १९६९.
२६. छेदपिण्डशास्त्र, रचनाकार इन्द्रनन्दि, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई.
२७. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, संपादक — मधुकर मुनि, जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, वि० सं० १९९८.
२८. जयधवला, संपादक — पं० महेन्द्र कुमार, भारतीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, ई० स० १९४४.
२९. जीतकल्पसूत्र, संशोधक — मुनिपुण्यविजय, अहमदाबाद, ई० स० १९८२.
३०. जीवसमास, अनुवादक — अमितयशविजय महाराज, श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई, वि० सं० २०४२.
३१. जैनतत्त्वज्ञानमीमांसा, डॉ० दरबारीलाल कोठिया, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, वाराणसी, ई० स० १९८३.
३२. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, डॉ० दरबारीलाल कोठिया, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, वाराणसी, ई० स० १९८०.
३३. जैन विद्या के विविध आयाम, भाग-३, पं० दलसुखभाई मालवणिया अभिनंदन ग्रंथ, संपादक — प्रो० एम० ए० ढाकी एवं डॉ० सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, ई० स० १९९१.

३४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-३, संग्रहकर्ता - पं० विजयमूर्ति, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई, वि० सं० २०१३.
३५. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग-४, संपादक - डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वी० नि० सं० २४९१.
३६. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग-५, संपादक - डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ई० सं० १९७१.
३७. जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ६, अंक ४.
३८. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, द्वि० संस्करण, बम्बई, ई० सं० १९५६.
३९. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पं० जुगल किशोर मुख्तार, वीर शासन संघ, कलकत्ता, ई० सं० १९५६.
४०. जैन साहित्य का इतिहास (पूर्व पीठिका), पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, ई० सं० १९६२.
४१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-५, अंबालाल पी० शाह, पार्थनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, ई० सं० १९६९.
४२. जैनसिद्धान्तभास्कर, संपादक - हीरालाल जैन, भाग-११, अंक १, आरा, जून, ई० सं० १९४४.
४३. जैन हितैषी, नाथूराम प्रेमी, भाग-१३.
४४. ज्ञाताधर्मकथा, संपादक - मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई० सं० १९८१.
४५. तत्त्वार्थवार्तिक, संपादक - महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई० सं० १९५७.
४६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, भट्ट अकलंक, संपादक - पं० महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई० सं० १९५७.
४७. तत्त्वार्थसूत्र, संपादक - जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, सहारनपुर, ई० सं० १९४४.
४८. तत्त्वार्थसूत्र (जैनगम समन्वय), उपाध्याय आत्मारामजी, दिल्ली, ई० सं० १९३४.
४९. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य और सिद्धसेनगणि की टीका सहित), जीवचंद्र, साकरचंद्र झवेरी, सुरत, ई० सं० १९३०.
५०. तिलोयपण्णत्ति, यति वृषभाचार्य, जैन साहित्य संरक्षक संघ, शोलापुर, ई० सं० १९४३.

५२० : जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय

५१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, सागर, ई० स० १९७४.
५२. त्रिलोकसार — नेमिचन्द्र, संपादक — पं० मनोहरलाल शास्त्री, हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, ई० स० १९१८.
५३. दशवैकालिक, भारतीय प्राच्य प्रकाशन समिति, पिंडवाडा, वि० सं० २०३७.
५४. दशवैकालिक, संपादक — मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई० स० १९८५.
५५. दर्शनसार, संपादक — नाथूराम प्रेमी, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, ई० स० १९७४.
५६. दीघनिकाय, अनुवादक — राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश काश्यप, महोबोधि सभा, बनारस, ई० स० १९३६.
५७. द्वादशारनयचक्र (मल्लवादि), संपादक — मुनि जंबूविजय, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, ई० स० १९६६.
५८. धर्माभूत (सागार), आशाधर, संपादक — कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, ई० स० १९७८.
५९. नंदीसूत्र, संपादक — मधुकर मुनि, जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई० स० १९८२.
६०. नवपुत्राणि, संपादक — युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं, ई० स० १९६७.
६१. नियमसार, अनुवादक — आर्यिका ज्ञानमती, वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला, हस्तिनापुर, ई० स० १९८४.
६२. निर्युक्ति संग्रह, संपादक — श्री विजयजिनेन्द्रसूरि, श्रीहर्ष पुष्पाभूत जैन ग्रंथमाला, सौराष्ट्र, ई० स० १९८९.
६३. निशीथचूर्णि, संपादक — श्री अमरचंदजी महाराज, भारतीय विद्या प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, ई० स० १९८२.
६४. निशीथसूत्रम्, संपादक — मधुकर मुनि, जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई० स० १९९१.
६५. नीतिसारसमुच्चय — इन्द्रनन्दि, संपादक — सिद्धान्तशास्त्री पं० गौरीलाल, प्रकाशक धर्मवीर सेठ, लालचंद जी जैन, ई० स० १९७८.
६६. न्यायकुमुदचन्द्र, पं० महेन्द्रकुमार, माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, ई० स० १९३८.

६७. पंचास्तिकायसार, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, वि० सं० २०२५.
६८. पडण्णयसुत्ताई, तित्थोगाली महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, ई० सं० १९८४.
६९. पउमचरित, अनुवादक — देवेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई० सं० १९५७.
७०. पण्णवणासुत्त, द्वितीय भाग, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, ई० सं० १९७१.
७१. पट्टावलीपरागसंग्रह, कल्याण विजय शास्त्र संग्रह समिति, जालोर, प्रथम संस्करण, ई० सं० १९६६.
७२. पद्मचरित, अनुवादक — पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई० सं० १९५८.
७३. पाइयसईमहण्णव, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, ई० सं० १९६३.
७४. पुरुषार्थसिद्धचुपाय, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, वी० नि० सं० २४३१.
७५. प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी (प्रभाघन्द्र की टीका सहित), संपादक — पं० मोतीचंद गौतमचंद कोठारी, दिगम्बर जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था, कोल्हापुर, ई० सं० १९७३.
७६. प्रबन्धकोश, राजशेखरसूरि, संपादक — मुनि जिनविजय जी, शान्ति निकेतन, कलकत्ता, ई० सं० १९३५.
७७. प्रबन्धचिन्तामणि — मेरुतुंग, अनुवादक — हजारी प्रसाद द्विवेदी, शान्तिनिकेतन, कलकत्ता, ई० सं० १९४०.
७८. प्रभावकचरित, संपादक — मुनि जिनविजय, शान्तिनिकेतन, कलकत्ता, ई० सं० १९४०.
७९. प्रमेयकमलमार्तण्ड, अनुवादक — जिनमति, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, वि० सं० २०४१.
८०. प्रवचनसारोद्धार, नेमिचन्द्रसूरि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, ई० सं० १९२२.
८१. प्रायश्चित्तसंग्रह, नाथूराम प्रेमी, माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, ई० सं० १९७८.
८२. बृहत्कथाकोश, संपादक — ए० एन० उपाध्ये, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि० सं० १९९९.
८३. बृहत्कल्पसूत्र (लघु भाष्य), संघदास गणि, आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, ई० सं० १९३३-३८.

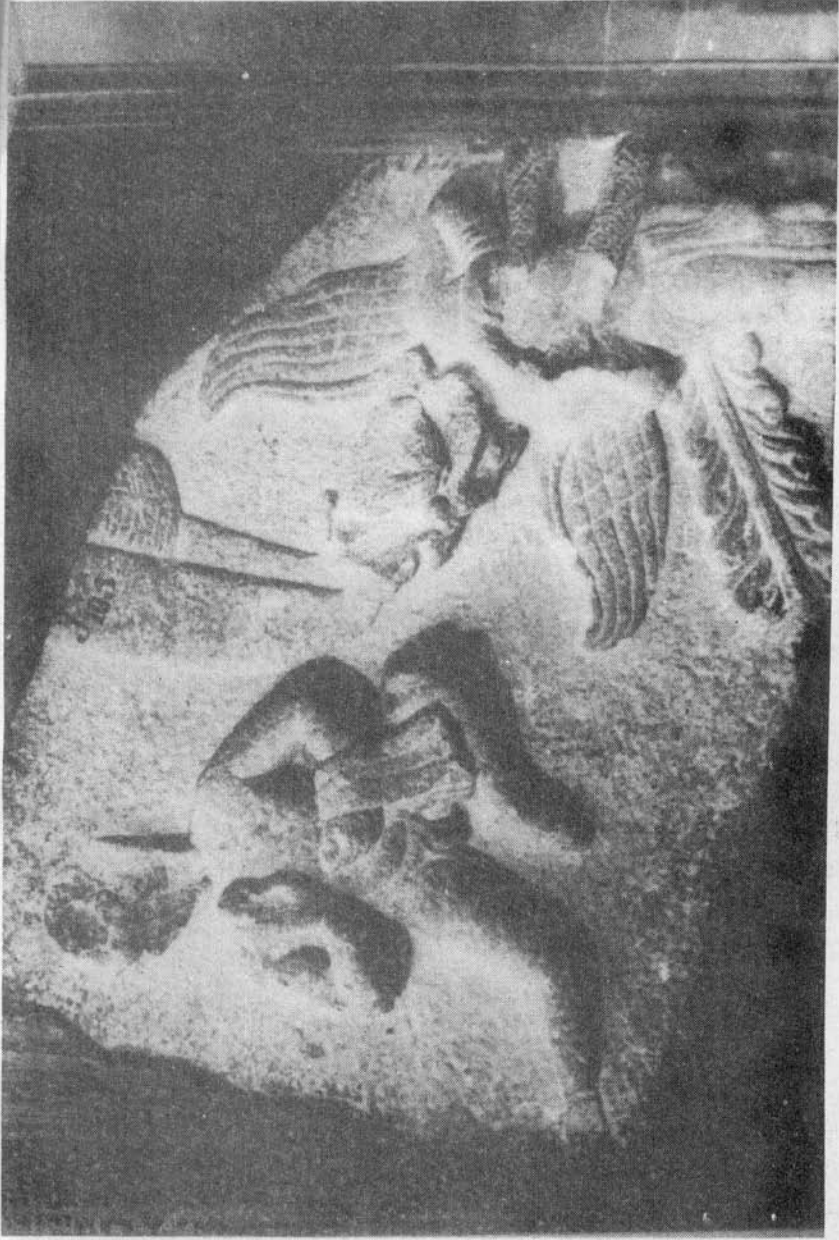
८४. बृहद् हिन्दी कोश, कालिका प्रसाद, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, ई० स० १९५२.
८५. बोधपाहुड (अष्टप्राभृत), परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, ई० स० १९६९.
८६. भगवई, संपादक — युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, प्रथम संस्करण, ई० स० १९७४.
८७. भगवतीआराधना (विजयोदया टीका); संपादक — सिद्धान्तशास्त्री पं० कैलाशचंद्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, प्रथम संस्करण, ई० स० १९७८.
८८. भट्टारक सम्प्रदाय, विद्याधर जोहरापुरकर, गुलाबचंद दोशी, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, ई० स० १९५८.
८९. भद्रबाहुचरित, अनुवादक — उदयलाल कासलीवाल, जैनभारती भवन, बनारस सिटी, वी० नि० सं० २४३७.
९०. भरहुत, डॉ० रमानाथ मिश्र, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, ई० स० १९७१.
९१. भावपाहुड (अष्टप्राभृत), आचार्य कुन्दकुन्द, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, ई० स० १९६९.
९२. महापुराण (टिप्पण युक्त), अनुवादक — देवेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण, ई० स० १९७९.
९३. महावग्गो, संपादक — भिक्षु जे० काश्यप, पाली पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार, प्रथम संस्करण, ई० स० १९५६.
९४. मूलाचार (दो भाग), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, ई० स० १९८४-१९९२.
९५. यापनीय और उनका साहित्य, डॉ० कुसुम पटोरिया, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, ई० स० १९८८.
९६. रत्नाकरावतारिका, संपादक — पं० दलसुख मालवगिया, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, ई० स० १९७२.
९७. लाटीसंहिता, संपादक — पं० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, वि० सं० १९८४.
९८. लिंगपाहुड (अष्टप्राभृत), परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, ई० स० १९६९.
९९. वरांगचरित, जटासिंहनंदि, संपादक — ए० एन० उपाध्ये, माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, मुंबई, वी० नि० सं० २४६५.

१००. विचारामृतसंग्रह, कुलमण्डनसूरि, सूरत, ई० स० १९३६.
१०१. विधिमार्गप्रपा, संपादक — मुनि जिनविजय, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, ई० स० १९४१.
१०२. विशेषावश्यक भाष्य, जिनभद्रगणि, आगमोदय समिति, बम्बई, ई० स० १९२७.
१०३. शाकटायन व्याकरण (अमोघवृत्ति), संपादक — पं० शम्भूनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, ई० स० १९७१.
१०४. शास्त्रवार्तासमुच्चय, टीका — यशोविजय, चौखम्बा ओरियण्टलिया, वाराणसी, ई० स० १९७७.
१०५. श्री तत्त्वार्थकर्तृतन्मतनिर्णय, सागरानन्दसूरि, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, वी० नि० सं० २४६३.
१०६. श्रीमद्भागवत, गीता प्रेस, गोरखपुर.
१०७. श्रीललितविस्तरा, हरिभद्र, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, वी० नि० सं० २४६१.
१०८. श्रुतावतार (सिद्धान्तलारादि संग्रह), संपादक — पन्नालाल सोनी, माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, मुंबई, प्रथम संस्करण, ई० स० १९७९.
१०९. षट्खण्डागम, पुष्पदंत-भूतबली प्रणीत, संपादक — ब० सं० समतिबाईशहा 'न्यायतीर्थ', श्रुतभण्डार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण, ई० स० १९३५.
११०. षट्खंडागम (धवला टीका समन्वित), संपादक — हीरालाल जैन, अमरावती, ई० स० १९३९.
१११. षट्खण्डागम परिशीलन, संपादक — पं० बालचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, ई० स० १९८७.
११२. षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्नटीका, संपादक — महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, ई० स० १९८१.
११३. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, ई० स० १९८४.
११४. सन्मतिप्रकरण, संपादक — पं० सुखलाल जी एवं बेचरदास जी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, ई० स० १९६३.
११५. सन्मतिसूत्र, सिद्धसेन दिवाकर, अनुवादक — पं० सुखलाल जी एवं बेचरदास जी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद.
११६. समवायांग, संपादक — मधुकर मुनि, जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई० स० १९८२.

५२४ : जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय

११७. सर्वार्थसिद्धि, संपादक — पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई० स० १९५५.
११८. सूत्रप्रभृत (अष्टप्रभृत), परमश्रुत प्रभावकं मण्डल, अगास, ई० स० १९६९.
११९. स्कन्दपुराण, महर्षि व्यास, वाणीलेखा प्रेस, कलकत्ता, ई० स० १९६२.
१२०. स्थानांग, संपादक — मधुकर मुनि, जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई० स० १९८१.
१२१. स्वामिकार्तिकयानुप्रेक्षा, संपादक — ए० एन० उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, वि० सं० २०३४.
१२२. हरिवंशपुराण, जिनसेन, संपादक — पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई० स० १९६२.
123. Annual Report of South Indian Inscriptions, 1951-52.
124. Epigraphia India, Vol. X, The Director General Archaeological Survey of India, New Delhi.
125. Gender and Salvation, Padmanabh S. Jaini, Munshiram Manoharlal Publisher Pvt. Ltd., New Delhi.
126. Indian Antiquary, Vol. VII, Swati Publications, Delhi, 1984.
127. Jaina Stupas and Other Antiquities of Mathura, Indological Book House, Delhi, 1969.
128. Jainism in South India, P. B. Desai, Gulabchand, Hiralal Doshi, Jaina Sanskriti Samrakshaka Sangh, Solapur, 1957.
129. Journal of Bombay Historical Society, Vol. 3.
130. Journal of Oriental Institute, Baroda, Vol. 18, 1969.
131. Journal of the Karnatak University, Vol. X, 1965.
132. Journal of the University of Bombay, A. N. Upadhye, Vol. I-VI., 1959.
133. Karnataka Inscriptions, Vol. 1, 1941.
134. Sidhasena's Nyayavatara and Other Works — A. N. Upadhye, Jain Sahitya Vikas Mandal, Bombay.
135. South Indian Inscriptions, Vol XII, No 65-78, Madras, 1940.
136. The Ancient Geography of India — Cunningham.

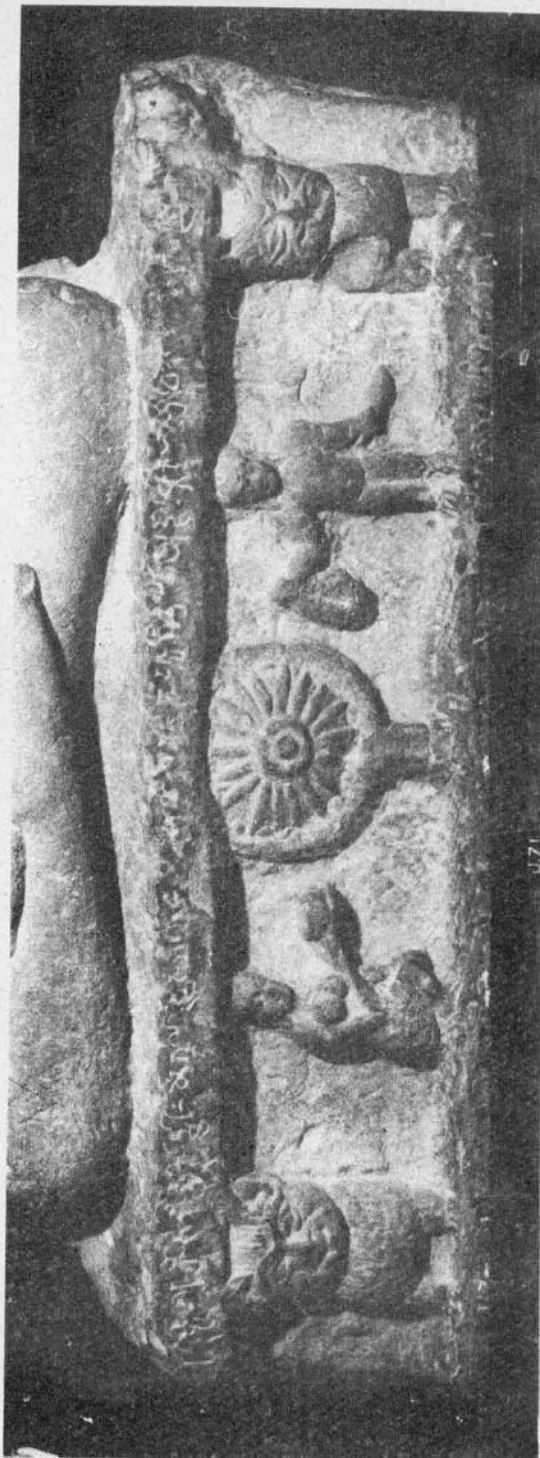




चित्र सं० १

विद्याचारी मुनि जो नग होते हुए भी अपने बायें हाथ पर कम्बल लिये हुए है। (ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी)

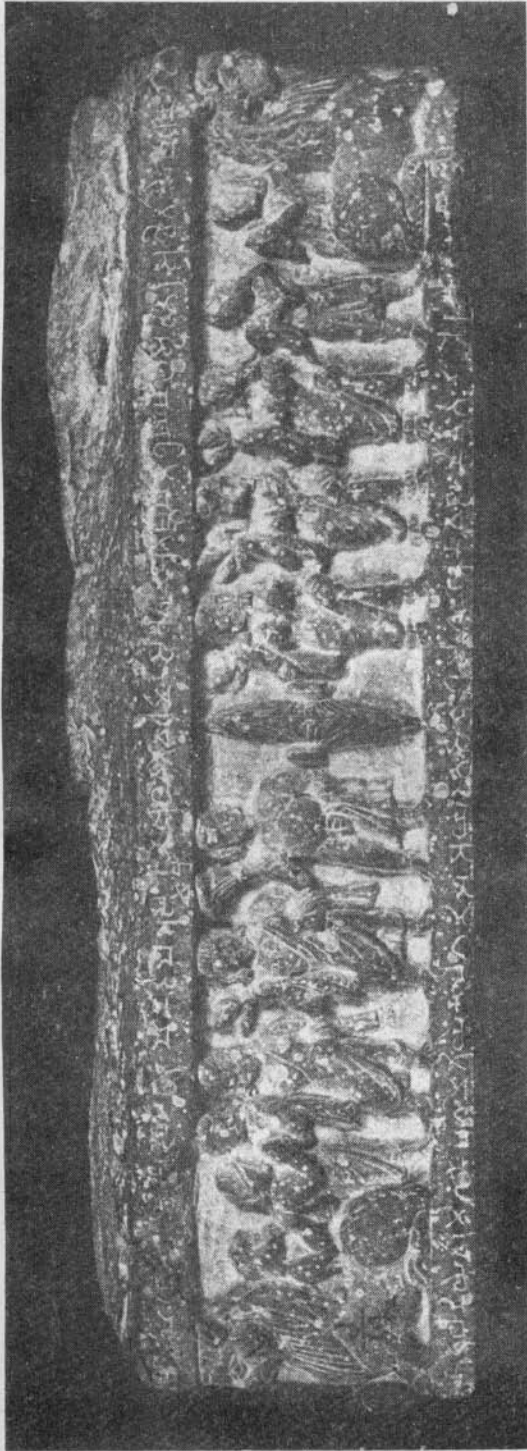
सौजन्य : अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज रामनगर, वाराणसी।



चित्र सं० २

नग्नमुनि जो एक हाथ में प्रतिलेखन एवं दूसरे हाथ में पात्र युक्त झोली लिये हुए हैं। धर्मचक्र के दाहिनी ओर एक साध्वी का अंकन है जो हाथ में पात्र लिये हुए है। (ईस्वी सन् प्रथम-द्वितीय शती)

सौजन्य : अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज़, रामनगर, वाराणसी।



चित्र सं० ३

जिन प्रतिमा की पादपीठ पर धर्मचक्र के बाईं ओर मुनि का अंकन है जो अपने एक हाथ में मयूर पिच्छ का प्रतिलेखन एवं दूसरे हाथ में कम्बल लेते हुए अपनी नग्राता को छिपा रहा है। (ईस्वी सन् द्वितीय शताब्दी)

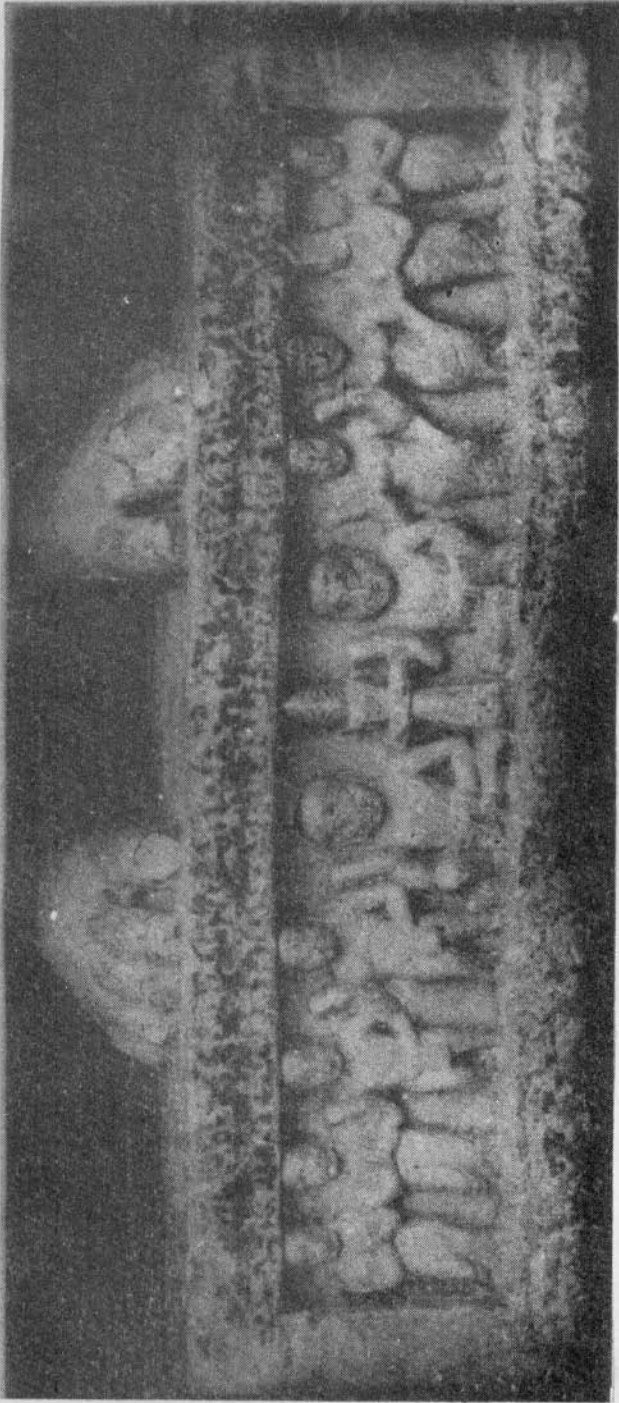
सौजन्य : अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज़, रामनगर, वाराणसी।



चित्र सं० ४

धर्मचक्र के दाहिनी ओर मुनि का अंकन है जिसके बाएँ हाथ में प्रतिलेखन और दाहिने हाथ में कम्बल है जिससे वह अपनी नग्नता छिपाए हुए है। (ईस्वी सन् द्वितीय शताब्दी)

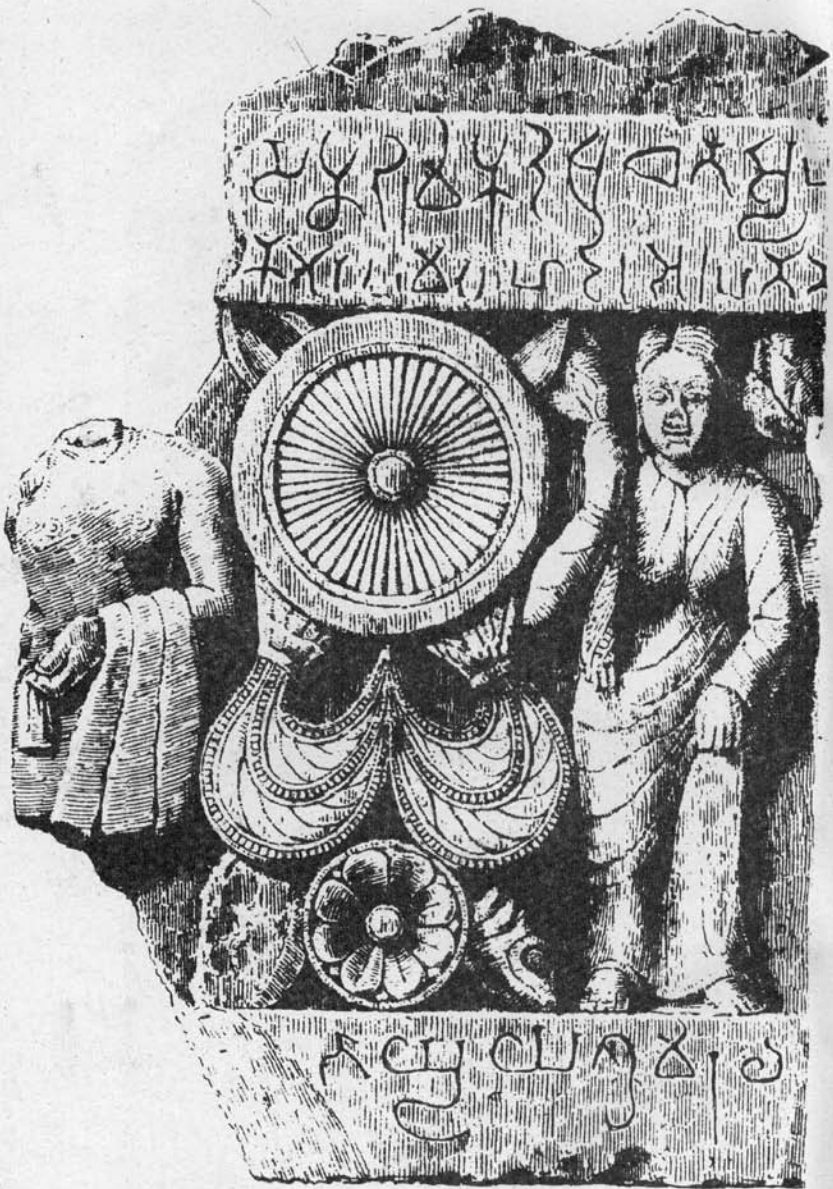
सौजन्य : अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज़, रामनगर, वाराणसी।



चित्र सं० ५

धर्मचक्र के दोनों ओर मुनियों की दो बैठी हुई प्रतिमाएँ हैं जिनके बाएँ हाथों में रजोहरण और दाहिने हाथों पर कम्बल प्रदर्शित है। बाएँ हाथ की ओर पुनः दो मुनियों के अंकन हैं जिनके बाएँ हाथों में रजोहरण एवं दाहिने हाथों में कम्बल प्रदर्शित है। इसी प्रकार दाहिनी ओर दो साध्वियों की प्रतिमाएँ हैं जो अपने बाएँ हाथ में रजोहरण लिये हुए हैं। (ईस्वी सन् द्वितीय शताब्दी)

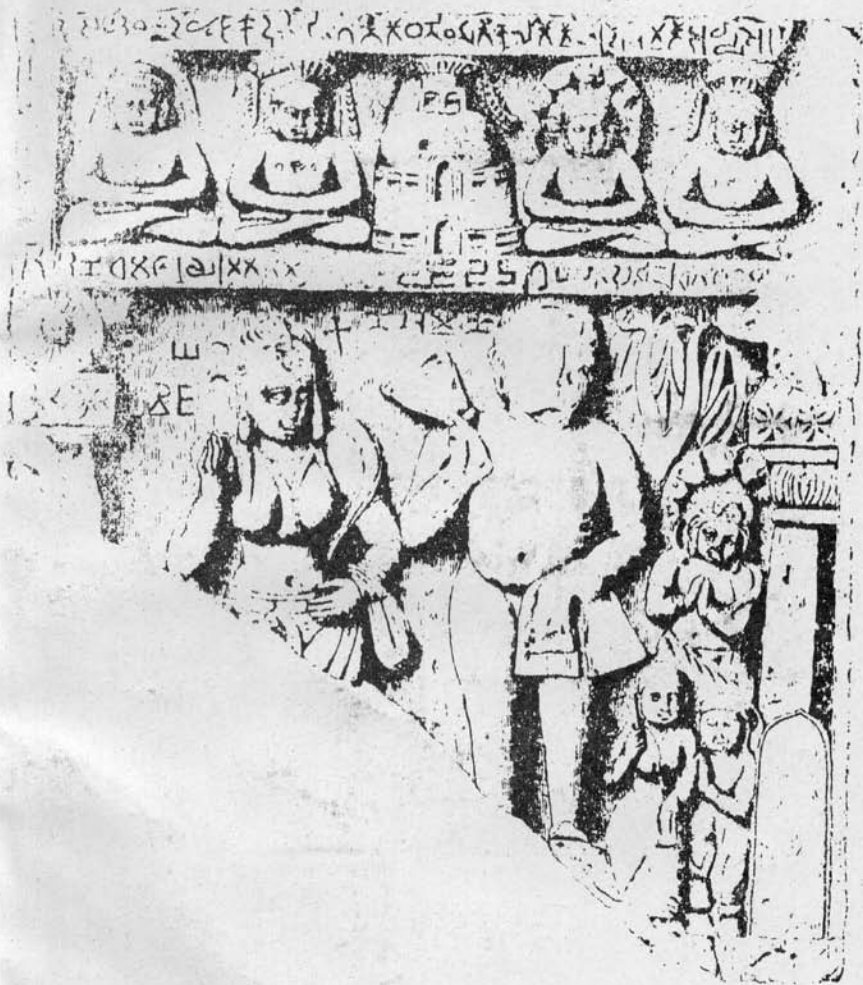
सौजन्य : अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज़, रामनगर, वाराणसी।



चित्र सं ६

मथुरा से प्राप्त जिन की पादपीठ पर धर्मचक्र के बाईं ओर मुनि का अंकन जो अपने हाथ में कम्बल और मुखवस्त्रिका लिये हुए हैं। (ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी)

सौजन्य : The Jaina Stupa and other Antiquities of India
by Vincent A. Smith.



चित्र सं० ७

मथुरा से प्राप्त जैन श्रमण आर्य कृष्ण (कण्ह) का अंकन जो अपने बाएँ हाथ में प्रतिलेखन और दाहिने हाथ में कम्बल लिये हुए है। (ईस्वी सन् द्वितीय शताब्दी)

सौजन्य : The Jaina Stupa and other Antiquities of India,
by Vincent A. Smith

पुस्तक

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं के मध्य एक योजक कड़ी के रूप में विकसित यापनीय सम्प्रदाय ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी जनसाधारण एवं विद्वत् वर्गों में अज्ञात ही बना रहा। इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में सम्पूर्ण और प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध कराने वाली इस कृति में लेखक ने इस सम्प्रदाय के उद्भव, विकास, उसके गच्छों, कुलों, अन्वयों, प्रमुख कृतियों एवं सिद्धान्तों आदि के गहन चिन्तन के पश्चात् एक तर्कपुरस्सर विवरण प्रस्तुत किया है। अनेक ग्रन्थ जिन्हें जैनों के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय अपनी-अपनी परम्पराओं से सम्बद्ध मानने का दावा प्रस्तुत करते रहे हैं या फिर एक परम्परा उनपर अपना प्रभुत्व जताने के व्यामोह से ग्रस्त रही है, के सम्बन्ध में लेखक के निष्कर्ष एक नवीन दृष्टि प्रदान करते हैं। जहाँ तक यापनीय सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक मान्यताओं का प्रश्न है लेखक ने न केवल उनका प्रस्तुतीकरण किया है अपितु उनके ऐतिहासिक विकास-क्रम को भी संजोने का प्रयास किया है जिससे सम्प्रदायों के विकास-क्रम को सम्यकरूपेण समझा जा सके। लेखक का यह निष्कर्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की सही समझ आज भी जैनों के श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के मध्य की खाई को पाट सकती है। प्रस्तुत कृति यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित सम्पूर्ण तथ्यों को साहित्यिक एवं अमिलेखीय साक्ष्यों की कसौटी पर कवते हुए, साम्प्रदायिक व्यामोहों से ऊपर उठकर उनका दो दृक विवेचन प्रस्तुत करती है और यही इसकी विशेषता है।

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. Studies in Jain Philosophy — Dr. Nathmal Tatia Rs. 100.00
2. Jain Temples of Western India — Dr. Harihar Singh Rs. 200.00
3. Jain Epistemology — I. C. Shastri Rs. 150.00
4. Concept of Panchashila in Indian Thought —
Dr. Kamala Jain Rs. 50.00
5. Concept of Matter in Jain Philosophy —
Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
6. Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
7. Jaina Perspective in Philosophy and Religion —
Dr. Ramjee Singh Rs. 100.00
8. Aspects of Jainology, Vol.1 to 5 (Complete Set) Rs. 1100.00
9. An Introduction to Jaina Sadhana —
Dr. Sagarmal Jain Rs. 40.00
10. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सात खण्ड) सम्पूर्ण सेट Rs. 560.00
11. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (दो खण्ड) Rs. 340.00
12. जैन प्रतिमा विज्ञान - डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी Rs. 120.00
13. जैन महापुराण - डॉ० कुमुद गिरि Rs. 150.00
14. वज्जालग (हिन्दी अनुवाद सहित) - पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 80.00
15. धर्म का मर्म - प्रो० सागरमल जैन Rs. 20.00
16. प्राकृत हिन्दी कोश - सम्पादक डॉ० के० आर० चन्द्र Rs. 120.00
17. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय - डॉ० भिखारी राम यादव Rs. 70.00
18. जैन धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ -
डॉ० हीराबाई बोरदिया Rs. 50.00
19. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म -
डॉ० (श्रीमती) राजेश जैन Rs. 160.00
20. जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास -
डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र Rs. 100.00
21. महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श -
भगवतीप्रसाद खेतान Rs. 60.00
22. गाथासप्तशती (हिन्दी अनुवाद सहित) -
पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 60.00
23. सागर जैन-विद्या भारती भाग १, २
(प्रो० सागरमल जैन के लेखों का संकलन) Rs. 200.00
24. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन - डॉ० फूलचन्द जैन Rs. 80.00

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी - ५